समाज-दर्शन की भूमिका

डॉ० जगदीशसहाय श्रीवास्तव



समाज-दर्शन की भूमिका

जगदीशसहाय श्रीवास्तव
एम०ए०, पी-एच० डी०
भूतपूर्व प्रोफेसर, दर्शन विभाग.
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद



विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

SAMAJ DARSHAN
KI
BHOOMIKA

by

J.S. Srivastava, M.A., Ph.D.

ISBN : 81-7124-311-8

षष्ठ संशोधित तथा परिवर्धित संस्करण : २००२ ई०

मूल्य : एक सौ पचास रुपये

प्रकाशक

विश्वविद्यालय प्रकाशन

चौक, वाराणसी-२२१ ००१

फोन व फैक्स : (०५४२) ३५३७४१, ३५३०८२

E-mail : vvp@vsnl.com ● E-mail : vecppl@satyam.net.in

मुद्रक

वाराणसी एलेक्ट्रॉनिक कलर प्रिण्टर्स प्रा० लि०

चौक, वाराणसी-२२१ ००१

सहधर्मिणी

श्रीमती शुभा श्रीवास्तव

को

सस्नेह

प्राक्कथन

हिन्दी में हर तरह के शास्त्रीय साहित्य की बेहद कमी है। दर्शन के क्षेत्र में भी यही स्थिति है। डॉ० जगदीशसहाय श्रीवास्तव दर्शन के अधिकारी विद्वान् हैं; साथ ही वे हिन्दी की अच्छी जानकारी रखते हैं। कुछ पूर्व उनकी यूनानी दर्शन पर एक पुस्तक प्रकाशित हुई थी जो बड़ी उपयोगी सिद्ध हो रही है। उनकी वर्तमान पुस्तक भी निःसन्देह उपादेय सिद्ध होगी।

डॉ० श्रीवास्तव का आलोच्य विषय पर अच्छा अधिकार है। उनकी भाषा प्रांजल और शैली स्पष्ट तथा व्यवस्थित है। समाज-दर्शन अपेक्षाकृत एक अमूर्त्त और इसीलिए दुरूह विषय हैं; उस पर अच्छा साहित्य भी सुलभ नहीं है। डॉ० श्रीवास्तव ने उक्त विषय से सम्बन्धित सभी प्रश्नों पर समुचित विस्तार के साथ सुबोध शैली में विचार किया है, जिससे पुस्तक समाज-दर्शन के अध्येताओं विशेषतः विद्यार्थियों के लिए विशेष उपयोगी बन गई है।

आशा है इस पुस्तक का समुचित आदर होगा और डॉ० श्रीवास्तव इसी तरह हिन्दी के विचार-साहित्य की अभिवृद्धि में योग देते रहेंगे।

देवराज

अध्यक्ष
दर्शन विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
काशी

षष्ठ संस्करण का आमुख

'समाज-दर्शन की भूमिका' का प्रस्तुत संस्करण पंचम संस्करण का ही एक संशोधित एवं परिवर्धित रूप है। काल-परिवर्तन के साथ संसार में जो सामाजिक तथ्यों एवं सामाजिक विचारधाराओं में परिवर्तन हुए हैं उनकी यह पुस्तक सम्यक् अभिव्यक्ति करने का प्रयत्न करती है। आई०ए०एस०, पी०सी०एस० इत्यादि प्रतियोगी परीक्षाओं के अभ्यर्थियों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए कुछ अतिरिक्त अध्यायों जैसे— धर्मनिरपेक्षतावाद, सामाजिक परिवर्तन के सिद्धान्त, परम्परा एवं आधुनिकता, पारिस्थितिकी दर्शन इत्यादि को प्रस्तुत संस्करण में संयुक्त कर दिया गया है। इस प्रकार इसे भारतीय विश्वविद्यालयों तथा प्रतियोगी परीक्षार्थियों के लिए अधिक लाभकारी एवं उपयोगी बनाने का भरसक प्रयत्न किया गया हे। लेखक का विश्वास है कि पुस्तक अपने वर्तमान स्वरूप में विद्यार्थियों, परीक्षार्थियों एवं समाज-दर्शन में रुचि रखने वाले सुधी जिज्ञासुओं के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध होगी।

वर्तमान समय में सामाजिक विचारधाराओं जैसे—व्यक्तिवाद, समाजवाद, पूँजीवाद, साम्यवाद, राष्ट्रवाद, अन्तर्राष्ट्रीयवाद, कट्टरवाद-उदारवाद, धार्मिक श्रेष्ठतावाद-धर्मनिरपेक्षतावाद, एकसंस्कृतिवाद-बहुसंस्कृतिवाद इत्यादि के भँवरजाल में फँसे व्यक्तियों के मन में जो विपर्यय और दिग्भ्रम फैला हुआ है, उनसे उन्हें मुक्त कर सही दिशा-निर्देश करना पुस्तक का प्रमुख उद्देश्य है। लेखक का अपना विश्वास है कि विदेशी भोगवादी संस्कृतियों की अपेक्षा भारतीय योगवादी संस्कृति के अपनाने से हमारी समस्याओं का अधिक सुचारु रूप से समाधान किया जा सकता है। इसी दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए पाश्चात्य सामाजिक विचारधाराओं के समानान्तर तत्सम्बन्धी भारतीय विचारधाराओं की श्रेष्ठता का भी प्रदर्शन किया गया है।

प्रस्तुत संस्करण के निर्माण में मेरे दो सहयोगियों डॉ० नरेन्द्र सिंह और डॉ० जटाशंकर तिवारी ने मेरी पर्याप्त सहायता की है। लेखक हृदय से उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता है। पुस्तक यदि वर्तमान रूप में विद्यार्थियों के मन में समाज-दर्शन की विभिन्न समस्याओं के प्रति अभिरुचि एवं जिज्ञासा उत्पन्न कर सकी तो लेखक अपना परिश्रम सफल समझेगा।

जगदीशसहाय श्रीवास्तव

विषय-सूची

द्वितीय खण्ड

राष्ट्रीय व्यवस्था

तृतीय खण्ड
विश्व-व्यवस्था

चतुर्थ खण्ड

सामाजिक विचारधाराएँ

●

प्रस्तावना

विषय-प्रवेश—अरस्तू (Aristotle) ने कहा है—"मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है।"[1] वह समाज में जन्म लेता है और समाज में ही अपना जीवन-यापन करना चाहता है। इसके दो कारण हैं—प्रथम यह कि मनुष्य एक यूथचारी (Gregarious) जीव है; उसे एकाकीपन पसन्द नहीं; वह अपनी मूल-प्रवृत्ति के कारण समाज में रहने के लिए विवश है। वह दूसरों की प्रशंसा तथा उनका अनुकरण करता है और साथ ही उसकी यह भी इच्छा होती है कि दूसरे उसकी प्रशंसा तथा अनुकरण करें। वह दूसरों के दुःख से दुःखी व सुख से सुखी होता है और इसके साथ यह भी चाहता है कि अन्य लोग भी उसके दुःख-सुख द्वारा उसी प्रकार प्रभावित हों। तात्पर्य यह है कि सामाजिकता उसके स्वभाव का एक आवश्यक अंग है। सामाजिक मूल-प्रवृत्ति के अतिरिक्त उसकी सामाजिकता का एक तात्त्विक कारण भी है और वह यह है कि मनुष्य स्वयं में पूर्ण नहीं है; उसे दूसरों की महती आवश्यकता है। जगत् में परस्पर-निर्भरता अथवा परस्पर-पूरकता का सिद्धान्त लागू होता है। मनुष्य की विविध आवश्यकताएँ हैं और उसके अनन्त उद्देश्य हैं। इन आवश्यकताओं और उद्देश्यों की सिद्धि के लिए उसे समाज पर निर्भर रहना पड़ता है। इसी सत्य को ध्यान में रखकर अरस्तू ने कहा था—"वह व्यक्ति जो समाज में नहीं रह सकता अथवा जिसकी अपनी कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि वह स्वयं में पूर्ण है, अवश्य ही या तो पशु है अथवा परमात्मा"।[2]

मानवस्वभाव का एक दूसरा भी पक्ष है। अपनी आवश्यकताओं एवं उद्देश्यों की सिद्धि के क्रम में कभी-कभी उसे कई प्रकार के अवरोधों का भी सामना करना पड़ता है। जब अवरोध किसी चेतन-प्राणी द्वारा होता है तो उसके मन में उस प्राणी के प्रति घृणा, क्रोध व बैर के भाव उत्पन्न होते हैं। कुछ मनोवैज्ञानिकों के अनुसार युयुत्सा (Aggressiveness or Pugnacity) एक जन्मजात प्रवृत्ति है; किन्तु दूसरे मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि युयुत्सा एक अर्जित सामाजिक प्रवृत्ति (Acquired Social Motive) है जो मूल-प्रवृत्तियों के प्रकाशन में अवरोध के कारण उत्पन्न होती है। बात कुछ भी हो पर इस बात से कोई भी इनकार नहीं कर सकता कि मनुष्य के भीतर युयुत्सा या कलह की प्रवृत्ति अवश्य पाई जाती है। डॉ० फ्रॉयड ने इसे (Thanatos) कहा था। इस प्रकार प्रेम व घृणा, सहयोग व संघर्ष दोनों मानव-जीवन के आवश्यक अंग हैं। मानव-जीवन को सुचारु रूप से चलाने के लिए परस्पर सहयोग व संघर्ष की

---

1. Man is a social animal.
2. He who is unable to live in society or who has no need, because he is sufficient for himself, muss be either a beast or god.

प्रवृत्तियों में सामञ्जस्य होना नितान्त आवश्यक है। इसके लिए प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यवहार को नियमित व संयमित करने की आवश्यकता होती है। **संयम ही समाज का प्राण है।** समाज में एक व्यक्ति को दूसरे की जिस रूप में आवश्यकता है, उसी आवश्यकता के अनुसार समाज के नियमों की सृष्टि होती है। सामाजिक सदाचार का सबसे महत्त्वपूर्ण नियम है—"दूसरों के साथ ऐसा व्यवहार करो, जैसे व्यवहार की उनसे अपने प्रति तुम आशा करते हो।"[१] अर्थात् मैं दूसरों को उनके जीवन-यापन की वे सभी परिस्थितियाँ प्रदान करूँ जिनकी स्वयं अपने लिए इच्छा करता हूँ। यदि समाज में किसी को जीवित रहने और उन्नति करने की कामना है तो उसका कर्तव्य है कि समाज के अन्य व्यक्तियों को भी उसी प्रकार जीवित रहने और उन्नति करने का वह समुचित वातावरण तैयार करे। यदि वह इसके विपरीत आचरण करता है, तो समाज में उसके जीवित रहने तथा उन्नति करने का अधिकार छिन जाता है। प्रत्येक अधिकार का जन्म कर्त्तव्य से होता है। यही कारण है कि हमें अपने अधिकारों को सुरक्षित रखने के प्रयत्न की अपेक्षा कर्तव्य-पालन पर विशेष ध्यान देना चाहिए। कर्तव्य-पालन से अधिकार स्वतः सुरक्षित हो जाते हैं। इस तथ्य का ज्ञान मानवीय आचरण को संयत करने का एक विधान है। यदि सभी व्यक्ति समाज में अपने कर्तव्य का पालन करने लगें तो सबके अधिकार भी सुरक्षित हो जायँगे और सुन्दर समाज का निर्माण भी हो जायगा। **संक्षेप में—कर्तव्य-पालन सुन्दर समाजकी रचना का एक विधान है।** इसी प्रकार आदर्श-समाज-रचना के अन्य कई विधान हैं जिनका समाज-दर्शन अनुसंधान करता है। समाज के समस्त आचरण, व्यवहार के इन सामान्य नियमों द्वारा संचालित होने चाहिए। तभी आदर्श एवं उत्तम समाज की स्थापना हो सकती है और उसे सुगठित कहा जा सकता है। जिस समाज में संगठन नहीं, वह समाज नहीं, वरन् विविक्त इकाइयों का केवल समुच्चय मात्र है। यह संगठन, समाज की विविध इकाइयों में परस्पर-निर्भरता, परस्पर-सहयोग एवं परस्पर-सामञ्जस्य की मान्यता द्वारा ही सम्भव है। पर यह तभी हो सकता है जब हम सम्पूर्ण मानवीय एकता में अटूट विश्वास रखते हों और हमें इस बात का समुचित बोध हो कि हमारे जीवन के कुछ ऐसे मूल्य, लक्ष्य, उद्देश्य अथवा आदर्श हैं जिनकी सिद्धता प्राप्त करना प्रत्येक मनुष्य का श्रेयस् है। इन्हीं मूल्यों और आदर्शों का अध्ययन व अनुसंधान करना ही समाज-दर्शन का प्रमुख विषय है।

समाज-दर्शन

समाज-दर्शन, पहले समाजशास्त्र (Sociology) के अंग के रूप में लिया जाता था। यद्यपि समाज-दर्शन का समाजशास्त्र से घनिष्ठ सम्बन्ध है, पर उन दोनों में वही अन्तर है जो दर्शन-शास्त्र और अन्य विशिष्ट विज्ञानों में अन्तर होता है। समाजशास्त्र एक बहुत व्यापक शब्द है। यह मानवीय समुदायों के मूल, उनके नियम, रीति-रिवाज, भाषा, विश्वास, उनके चिन्तन, भावना एवं व्यवहारों के रूपों एवं संस्थाओं का अध्ययन

1. Do unto others, as you would have others do unto you.

करता है। मैक्स वेबर के अनुसार "समाजशास्त्र वह विज्ञान है जो सामाजिक क्रिया का व्याख्यात्मक बोध करने का प्रयत्न करता है, जिससे कि इसकी गतिविधि तथा परिणामों की कारण-सहित व्याख्या प्रस्तुत की जा सके।"[१] 'सामाजिक क्रिया' भी एक अस्पष्ट शब्द है—इसमें आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, शैक्षणिक, नैतिक इत्यादि सभी प्रकार की क्रियाओं का समावेश हो जाता है। समाजशास्त्र एक बहुत ही बृहद् विज्ञान है जिसके विभिन्न पक्षों की दक्षता प्राप्त करना एक व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं है; इसके भीतर अर्थशास्त्र, राजनीति-विज्ञान, धर्मशास्त्र, शिक्षा-विज्ञान, नीतिशास्त्र, अपराध-विज्ञान, मनोविज्ञान इत्यादि कई विज्ञान सम्मिलित हैं। इसके विपरीत, समाज-दर्शन का क्षेत्र निश्चित और सीमित है। इसे समाजशास्त्र से हम दो प्रकार से पृथक् कर सकते हैं—

१. समाज-दर्शन का समाजशास्त्र से वही सम्बन्ध है जो दर्शनशास्त्र का अन्य विशिष्ट विज्ञानों से सम्बन्ध होता है। गणित, भौतिक-विज्ञान, रसायन-विज्ञान, जीव-विज्ञान, वनस्पति-विज्ञान, मनोविज्ञान इत्यादि विज्ञान अपने-अपने विशिष्ट क्षेत्रों के विषय में सुसंगठित ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। अतः, उनके अध्ययन में 'विशेषज्ञ-दोष'आना अनिवार्य है। इसके विपरीत, दर्शनशास्त्र जगत् के समग्र, सम्पूर्ण, सर्वांग एवं पूर्णिक ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। यही बात समाजशास्त्र के विभिन्न पक्षों और समाज-दर्शन के विषय में भी समझ लेनी चाहिए। समाज-दर्शन, समाज में निहित उन सार्वभौम अनिवार्य और शाश्वत नियमों का अनुसंधान करता है जो किसी आदर्श-समाज के निर्माण में सहायक होते हैं। ये सम्पूर्ण समाज के सार-तत्त्व होते हैं।

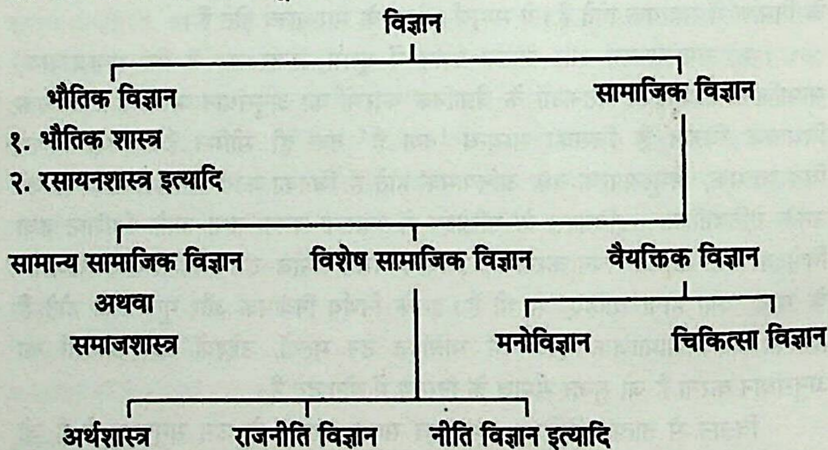
२. समाजशास्त्र और समाज-दर्शन में दूसरा अन्तर यह है कि समाजशास्त्र, सामाजिक जीवन की घटनाओं के वैज्ञानिक कारणों का अनुसंधान करता है। यह एक विधायक विज्ञान है जिसका सम्बन्ध 'क्या है' तक ही सीमित है। इसके निर्णय विवरणात्मक, अमूल्यपरक तथा अनियामक होते हैं जिनका कार्य मानवीय सम्बन्धों की उनके ऐतिहासिक उद्विकास के परिप्रेक्ष्य में व्याख्या करना तथा उनके विशिष्ट तथा विभेदक पक्षों का अध्ययन करना है। इसके विपरीत समाज-दर्शन का सम्बन्ध 'क्या है' के साथ 'क्या होना चाहिए' से भी है। इसके निर्णय नियामक और मूल्यपरक होते हैं जिनका कार्य सामाजिक जीवन में सन्निहित उन मूल्यों, उद्देश्यों और आदर्शों का अनुसंधान करना है जो सुन्दर समाज के निर्माण में योग देते हैं।

विज्ञान से तात्पर्य विशिष्ट तथ्यों एवं सामान्य सत्यों के उस समुच्चय से है जो एक सुसंगठित अनुसंधान-विधि द्वारा किसी निर्धारित सीमा के भीतर पाई जाने वाली वस्तुओं के विषय में होता है। विज्ञान के द्वारा जीवन और जगत् की वस्तुओं की व्याख्या करने एवं उन्हें समझने में हमें पर्याप्त सहायता मिलती है। हमारा सम्पूर्ण मानव-जीवन एक सामाजिक इकाई है जिसमें पाई जाने वाली सभी वस्तुओं एवं

---

1. Sociology is the science which attempts the interpretative understanding of social action in order thereby to arrive at a causal explanation of its course and effects.—*Max Weber*

व्यक्तियों का सामाजिक महत्त्व है। सामान्य रूप से विज्ञान दो भागों में विभाजित किया जाता है—१. प्राकृतिक विज्ञान और २. सामाजिक विज्ञान। 'प्राकृतिक विज्ञान'—भौतिकशास्त्र, रसायनशास्त्र इत्यादि—जड़-जगत् पर विचार करता है, पर 'सामाजिक विज्ञान'—अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र इत्यादि—चेतन-जगत् पर विचार करता है। यद्यपि यह भेद पूर्णतया सही नहीं है, पर वर्तमान सन्दर्भ में इसे मान लेने में कोई हानि नहीं है। प्राकृतिक विज्ञान एवं सामाजिक विज्ञान दो पृथक् विज्ञान हैं क्योंकि उनके दृष्टिकोण, उनकी प्रकृति और उनकी समस्याओं में पर्याप्त भेद पाया जाता है। प्राकृतिक विज्ञान जड़-जगत् में व्याप्त भौतिक नियमों का अनुसन्धान करते हैं; इसके विपरीत, सामाजिक विज्ञान का केन्द्र मनुष्य व मनुष्य-समुदाय है। प्राकृतिक विज्ञानों के जो मूल-तत्त्व हैं उनका पारस्परिक सम्बन्ध केवल भौतिक होता है, पर सामाजिक विज्ञानों के मूल-तत्त्वों का सम्बन्ध चेतन होता है। पुनः, प्राकृतिक विज्ञानों के मूल-तत्त्वों का विश्लेषण करके उन्हें पृथक्-पृथक् किया जा सकता है, पर सामाजिक विज्ञानों के मूल-तत्त्वों का विश्लेषण करके उन्हें पृथक् करना सम्भव नहीं है। कार्बन और नाइट्रोजन को अलग करके दिखा सकते हैं, पर मनुष्यों के भावों, संवेगों और प्रेरणाओं को अलग-अलग करके नहीं दिखाया जा सकता। सामाजिक विज्ञानों के सम्बन्ध में दो विकल्प हैं—इसमें 'समाज' को या 'व्यक्ति' को इकाई मानकर चल सकते हैं। विज्ञानों का वर्गीकरण निम्न चित्र से पूर्णतया प्रकट हो जाता है।



हम किसी भी विज्ञान को क्यों न लें, प्रत्येक का एक सामाजिक पक्ष होता है। कम-से-कम सामाजिक विज्ञानों के विषय में तो यह पूर्ण सत्य है। उसकी प्रत्येक वस्तु का एक सामाजिक महत्त्व है। समाज से सम्बन्धित मुख्य तथ्यों एवं महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का उद्घाटन करना ही समाज-शास्त्र का प्रयोजन है। मानव-जीवन के वैयक्तिक पक्ष को छोड़कर जितने अन्य पक्ष हैं, उन सभी का समावेश समाज-शास्त्र के भीतर हो जाता है। मानव-विज्ञान (Anthropology) वह विज्ञान है जो मानवता अर्थात् मानव-

सम्बन्धी किसी भी प्रकार की समस्या का सामान्य अध्ययन प्रस्तुत करता है। इसकी दो प्रमुख शाखाएँ हैं—(१) व्यक्तिशास्त्र (Idiotology) जो व्यक्ति के विषय में अध्ययन प्रस्तुत करता है; (२) समाजशास्त्र (Sociology) अथवा राजनीतिशास्त्र (Politology) जो व्यक्ति का व्यक्ति रूप में अध्ययन न कर उसका समाज या राज्य की एक इकाई के रूप में अध्ययन करता है। व्यक्तिशास्त्र और समाजशास्त्र के अन्तर्गत कई ऐसे विज्ञान आ जाते हैं जो मानव के विभिन्न पहलुओं का सुव्यवस्थित ज्ञान प्रस्तुत करते हैं। दर्शनशास्त्र (Philosophy) इन सब विज्ञानों से पृथक् है। यह व्यष्टि का समष्टि के परिप्रेक्ष्य में अध्ययन करता है। जब तक हम अंग को अंगी, अंश को अंशी तथा विशिष्ट को सामान्य के साथ संयुक्त नहीं करेंगे, तब तक अंग, अंश अथवा विशिष्ट का अध्ययन पूर्ण नहीं माना जायगा। दर्शनशास्त्र, अनुभव-जगत् के विशिष्ट तथ्यों एवं सत्यों की व्याख्या सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के एक पक्ष के रूप में प्रस्तुत करता है। इस प्रकार, अन्य विज्ञानों की अपेक्षा इसके निष्कर्ष अधिक व्यापक, सार्वभौम और अनिवार्य होते हैं। समाज-दर्शन, मानव-मात्र की सामाजिक एकता में विश्वास करता है और यह मानव-जीवन के किसी विशेष पक्ष के महत्त्व की व्याख्या उस सामाजिक एकता के सन्दर्भ में ही प्रस्तुत करना चाहता है। तात्पर्य यह है कि इसका प्रमुख लक्ष्य उन मूल्यों, उद्देश्यों, प्रयोजनों एवं आदर्शों का अध्ययन करना है जो किसी भी सुन्दर समाज में चरितार्थ होते हुए दिखाई देते हैं। समाज-दर्शन, समाज के आदर्शों का अध्ययन है। जहाँ तक इसके प्रदत्तों अथवा सामग्री का प्रश्न है, वह उसे विभिन्न विशिष्ट विज्ञानों से प्राप्त हो जाता है। समाज-दर्शन न तो तथ्यों का संकलन करता है और न उनका अनुसंधान ही—उसका कार्य केवल उन तथ्यों की अर्थपूर्ण व्याख्या करना ही है। यह किस प्रकार सम्भावित होता है, इसका वर्णन अगले अध्यायों में किया जायगा।

सामाजिक तथ्य जिनकी समाज-दर्शन अर्थपूर्ण व्याख्या करता है बड़े ही जटिल व परस्पर सम्बद्ध होते हैं। अतः, उन्हें एक-दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। किसी भी सामाजिक स्थिति के विभिन्न पहलू और सामाजिक जीवन के विभिन्न अंग एक-दूसरे से इतने संयुक्त होते हैं कि किसी एक को बिना दूसरे की सहायता से हम समझ ही नहीं सकते और बिना एक में परिवर्तन लाये दूसरे में परिवर्तन लाये ही नहीं जा सकते।

सामाजिक तथ्यों का पृथक्करण केवल सैद्धान्तिक दृष्टि से ही अवास्तविक नहीं वरन् व्यावहारिक दृष्टि से हानिकारक भी सिद्ध हो सकता है। समाज के विभिन्न विज्ञानों का सम्बन्ध मानव-सम्बन्धों एवं उनके जीवन की गतिविधियों से है। विभिन्न प्रकार के मानव-सम्बन्धों और गति-विधियों ने विभिन्न प्रकार के समाज-विज्ञानों को उत्पन्न किया। उदाहरण के लिए, समाज-विज्ञान, मानव-मात्र के सामाजिक सम्बन्धों की व्याख्या करता है; राजनीति-विज्ञान उनके राजनीतिक सम्बन्धों और गतिविधियों की व्याख्या प्रस्तुत करता है; नीति-विज्ञान मनुष्य के नैतिक सम्बन्धों का चित्रण प्रस्तुत करता है; इसी प्रकार अर्थ-शास्त्र हमारे आर्थिक सम्बन्धों और प्रतिक्रियाओं का वर्णन करता है। नीति-विज्ञान

में अर्थ-लाभ का कोई महत्त्व नहीं है; इसी प्रकार अर्थ-शास्त्र में नैतिकता का कोई विशेष मूल्य नहीं है। इस प्रकार प्रत्येक विज्ञान जीवन के अपने पक्ष पर तो ऐकान्तिक महत्त्व देता है पर अन्य पक्षों की उसी मात्रा में अवज्ञा भी करता है। अतः, उसके निर्णय सापेक्षिक, अर्द्ध-सत्, अपूर्ण और एकान्तवादी ही होते हैं।

समन्वय

विभिन्न समाज-विज्ञानों के निर्णय एवं निष्कर्षों की अपूर्णता के कारण ही उनमें समन्वय की महती आवश्यकता होती है। समाज-दर्शन इसी आवश्यकता की पूर्ति करता है। वह विभिन्न समाज-विज्ञानों द्वारा प्रस्तुत सामाजिक तथ्यों को अपना प्रदत्त मानकर सामाजिक मूल्यों एवं आदर्शों का अनुसन्धान करता है और पुनः उन सामाजिक तथ्यों के बीच सामञ्जस्य तथा समन्वय स्थापित करने की कोशिश करता है। इतना ही नहीं उन आदर्शों और मूल्यों के द्वारा सामाजिक तथ्यों का वह मूल्यांकन भी करता है। समाज के उच्चतम आदर्शों की स्थापना और फिर उनके द्वारा सामाजिक तथ्यों का मूल्यांकन यही समाज-दर्शन का लक्ष्य है। अतः, समाज-दर्शन समाजशास्त्र का स्थानापन्न न होकर केवल उसकी पूर्ति करता है। दोनों परस्पर-पूरक हैं। समाजशास्त्र विश्लेषणात्मक है, पर समाज-दर्शन संश्लेषणात्मक। इनमें विरोध का कोई कारण नहीं है। दोनों में संघर्ष की अपेक्षा सहयोग की अधिक आवश्यकता है।

आधुनिक युग में समाज-विज्ञानों की पर्याप्त प्रगति हुई है। पर इन विज्ञानों ने अपने एकान्तिक दृष्टिकोण पर इतना अधिक बल दिया कि उनके निष्कर्ष एकांगी ही रह गए। मानव-जीवन एक पूर्णिक इकाई हैं। अपनी विवशता व अपूर्णता के कारण हम भले ही इसका कृत्रिम विभाजन कर लें, पर इसके द्वारा हमें समग्रता व पूर्णता की प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती। मनुष्य के आर्थिक, सामाजिक, नैतिक एवं धार्मिक जीवन भिन्न नहीं हैं। वे एक ही वस्तु के विभिन्न पहलू हैं। अतः, उनमें समन्वय व सम्बन्धन अवश्य होने चाहिए। इसके द्वारा ही विभिन्न क्षेत्रों के परस्पर संघर्ष को मिटाकर पूर्ण ऐक्य स्थापित किया जा सकता है। जीवन के विभिन्न पहलुओं के पृथक्करण से मानव-जीवन का विघटन हो जाता है जिससे समाज में बड़े भयंकर परिणाम उत्पन्न हो जाते हैं। समाज-दर्शन सामाजिक जीवन की सम्पूर्णता में विश्वास करता है। वह मनुष्य को 'व्यक्ति' नहीं बल्कि 'मानव' रूप में देखना चाहता है। समाज-दर्शन उन आदर्शों की स्थापना करता है जिसे लक्ष्य में रखकर मनुष्य 'पूर्ण-मानव' के रूप में अपने को परिणत कर सकता है और साथ-साथ एक आदर्श-समाज के निर्माण में भी योग-दान दे सकता है।

समाज-दर्शन का सामान्य परिचय

समाज

समाज-दर्शन, समाज व सामाजिक जीवन के तात्त्विक पक्षों का अध्ययन है। समाज केवल विविक्त और पृथक् इकाइयों का पुंज ही नहीं है। समाज व्यक्तियों का समूह

मात्र नहीं है। समाज व्यक्तियों का वह समूह है जिसके पीछे कोई व्यवस्था होती है तथा जिसका कोई लक्ष्य व ध्येय होता है। 'समाज' व्यक्तियों के पारस्परिक 'सम्बन्धों' की उपज है जिसमें प्रत्येक को एक-दूसरे के विषय में 'ज्ञान' रहता है तथा जो 'समान स्वार्थ' पर आधारित होता है। यद्यपि 'समाज' के भीतर समानताएँ और विभिन्नताएँ दोनों पाई जाती हैं पर 'समानताएँ' मुख्य और विभिन्नताएँ गौण होती हैं। यदि किसी 'समूह' में उक्त विशेषताएँ पाई जाती हों तो वह अवश्य 'समाज' कहलाने का अधिकारी होगा। जब अकस्मात् ही केवल कौतूहलवश कोई जन-समूह एकत्रित हो जाए तो उसे हम 'समाज' की संज्ञा नहीं दे सकते क्योंकि उसमें न कोई 'व्यवस्था' और न कोई 'लक्ष्य' ही अन्तर्निहित होता है। इसके विपरीत, भारतीय-लेखक-संघ एक 'समाज' है क्योंकि इसका एक संविधान है और इसका एक निश्चित उद्देश्य भी है। इसी प्रकार अन्य समाजों के विषय में भी समझ लेना चाहिए। प्रत्येक समाज की मूलभूत बात यह है कि उसके कुछ सिद्धान्त होते हैं जिनका अनुसरण करने से वह अपने उच्चतम आदर्शों की प्राप्ति कर सकता है। इन उच्चतम आदर्शों की स्थापना करना एवं उनके अनुसार किसी समाज के निर्माण की प्रेरणा देना समाज-दर्शन का कार्यक्षेत्र है।

किसी विषय का सुव्यवस्थित विचारशील चिन्तन ही दर्शन कहा जाता है। इसकी सामग्री हमें अनुभव से प्राप्त होती है। विज्ञान अपने को अनुभव तक ही सीमित रखता है, पर दर्शन अनुभव के आधार पर अनुभवातीत आदर्शों एवं मूल्यों की ओर अग्रसर होने का भी प्रयत्न करता है। जो बात दर्शन के विषय में लागू होती है वह समाज-दर्शन के लिए भी सही है। समाज के विषय में विचारशील चिन्तनको समाज-दर्शन कहते हैं। समाज, व्यक्तियों का केवल समुदाय नहीं है, वरन् एक 'व्यवस्था' है जो किसी भावना या सिद्धान्त द्वारा ही संचालित होता है। व्यक्ति तो अनुभवगम्य है पर उनमें जो 'व्यवस्था' व्याप्त है वह अनुभवातीत व अमूर्त वस्तु है। इसे इन्द्रियानुभव द्वारा न जान कर 'दर्शन' द्वारा ही जाना जा सकता है। समाज जिस 'व्यवस्था' या 'सिद्धान्त' का अनुशीलन करता है अथवा जिसका उसे अनुशीलन करना चाहिए, वह किसी आदर्श अथवा उद्देश्य की प्राप्ति के लिए ही किया जाता है। ये आदर्श क्या है और किस सीमा तक उन्हें प्राप्त किया जा सकता है, इत्यादि बातें समाज-दर्शन की प्रमुख समस्याएँ हैं, जिन पर अब हम विचार करेंगे।

समाज-दर्शन की प्रमुख समस्याएँ

जहाँ तक समाज-दर्शन के क्षेत्र और प्रमुख समस्याओं की बात है, उनका सम्बन्ध सम्पूर्ण मानव-समाज से है। मानव-समाज के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन करने के लिए विभिन्न सामाजिक विज्ञान हैं। समाज-दर्शन का सम्बन्ध सामाजिक मूल्यों, आदर्शों, उद्देश्यों तथा लक्ष्यों से है। अतः उसकी निम्नलिखित समस्याएँ हैं—

१. समाज-दर्शन की प्रथम समस्या यह है कि समाज या सामाजिक संस्थाओं का आधार प्राकृतिक है अथवा कृत्रिम? यदि आधार प्राकृतिक है, तो समाज का कौन-सा

रूप स्थायी या शाश्वत है। साथ-साथ हमें यह भी देखना है कि समाज की वह कौन-सी विशेषता है जिसके कारण बाह्य परिवर्तनों के बावजूद उसमें एक सामान्य व स्थायी तत्त्व बना रहता है। यदि समाज का आधार कृत्रिम है तो समाज के अध्ययन का अर्थ उन परिस्थितियों का अध्ययन करना होगा जिनके कारण भिन्न काल में समाज का भिन्न रूप मिलता है। प्लेटो, एरिस्टॉटल एवं स्टोइक्स के अनुसार समाज का एक प्राकृतिक आधार है जो मनुष्यों के स्वभाव में निहित है। इसके विपरीत, सोफिस्ट्स के अनुसार समाज कृत्रिम आधारों पर निर्मित है। इस विवाद को ध्यान में रखकर उसके विषय में निर्णायक मत स्थित करना समाज-दर्शन की एक प्रमुख समस्या है।

२. समाज अथवा सामाजिक संस्थाओं के क्या उद्देश्य हैं? प्रत्येक सामाजिक संस्था किसी-न-किसी सामाजिक उद्देश्य की सिद्धि के लिए ही स्थापित की जाती है। समाज-दर्शन का यह पुनीत कर्त्तव्य है कि वह पता लगाए कि कोई सामाजिक संस्था, कहाँ तक उस उद्देश्य की सिद्धि कर रही है।

३. सामाजिक संस्थाओं के उद्देश्य क्या होने चाहिए? इसका निर्धारण भी समाज-दर्शन करता है। व्यक्ति और समाज में व्यक्ति का ही प्राधान्य है। व्यक्तियों के व्यवस्थित समूह को ही तो समाज कहते हैं। अतः, व्यक्ति और समाज के लक्ष्यों में एकरूपता होनी चाहिए। समाज, व्यक्ति के चरम उद्देश्यों की सिद्धि का एक साधन ही है। समाज-दर्शन का यह कर्त्तव्य है कि वह देखे कि कौन-सी सामाजिक संस्था व्यक्ति एवं समाज दोनों के युगपद् उत्कर्ष के लिए प्रयत्नशील है। यदि व्यक्ति और समाज के लक्ष्यों में संघर्ष है तो समाज-दर्शन के अनुसार वह समाज उपयोगी नहीं है।

४. प्रत्येक समाज-विज्ञान की पूर्व-मान्यताओं एवं प्राक्कल्पनाओं का विवेचन करना समाज-दर्शन का लक्ष्य है।

५. प्रत्येक समाज-विज्ञान के अध्ययन की अपनी वैज्ञानिक पद्धति होती है, जैसे कोई निरीक्षण-पद्धति को अपनाता है, तो कोई ऐतिहासिक पद्धति को। समाज-दर्शन इन तमाम वैज्ञानिक पद्धतियों का मूल्यांकन कर निश्चित करने का प्रयत्न करता है कि इसमें कौन-सी पद्धति समाज के उच्च आदर्शों की प्राप्ति में सहायक हो सकती है।

६. समाज के उच्चतम आदर्शों की स्थापना भी समाज-दर्शन का प्रमुख अंग है।

पद्धति

समाज-दर्शन अपेक्षाकृत, दर्शन की एक नवीन शाखा है जिसका शनैः-शनैः विस्तार किया जा रहा है। अतः, इसकी पद्धति के विषय में अभी तक कोई निश्चित धारणा नहीं बनाई जा सकती है। चूँकि समाज-दर्शन का सम्बन्ध वस्तु-जगत् की समस्याओं से है, अतः इसमें हम बुद्धि-जन्य स्वयं-सिद्धियों (Axioms) और अभ्युपगमों (Postulates) को अपने अध्ययन का आधार नहीं बना सकते। इसी प्रकार समाज-दर्शन अनुभवात्मक अध्ययन भी नहीं है, अतः तथ्यों के संकलन मात्र से हम अपने अध्ययन को आगे नहीं बढ़ा सकते। इसकी पद्धति न तो अनुभव-निरपेक्ष और न

अनुभव-सापेक्ष ही हो सकती है। कुछ दार्शनिकों के अनुसार यह नीति-विज्ञान का ही सातत्य अथवा विस्तार है, किन्तु अन्य दार्शनिक इसे एक स्वतन्त्र विज्ञान के रूप में ही देखना चाहते हैं।

जहाँ तक विभिन्न समाज दार्शनिकों द्वारा स्थापित पद्धतियों का प्रश्न है, इसके लिए हमें समाज-दर्शन के इतिहास पर दृष्टिपात करना होगा। सॉक्रेटीज के पूर्व ग्रीस में जितने दार्शनिक हुए उनकी दृष्टि भौतिक थी; उन्होंने भौतिक जगत् के विषय में विशेष चिन्तन किया। ग्रीक दर्शन के इतिहास में सोफ़िस्ट्स और सॉक्रेटीज के पूर्व 'मनुष्य' के विषय में कम चिन्तन किया गया है। अतः, समाज-दर्शन, जिसका व्यक्ति व समाज से विशेष सम्बन्ध है, सोफिस्ट्स व सॉक्रेटीज़ से ही प्रारम्भ होता है। इसमें सोफिस्ट्स का भी उतना विशेष महत्त्व नहीं है जितना सॉक्रेटीज़ का। सॉक्रेटीज़ को ही पश्चिम का प्रथम समाज दार्शनिक समझना चाहिए। अतः, समाज-दर्शन की वैज्ञानिक पद्धति की बात हम वहीं से प्रारम्भ करेंगे।

१. प्रत्ययात्मक अथवा परिभाषात्मक पद्धति (Conceptual or Definitional Method)—सॉक्रेटीज़ एवं प्लेटो के अनुसार किसी वस्तु का ज्ञान उसके प्रत्ययों अथवा परिभाषाओं में सन्निहित रहता है। जैसे, यदि हमें मनुष्य के विषय में ज्ञान प्राप्त करना है तो हमें 'मनुष्य' के प्रत्यय या 'मनुष्य' की परिभाषा का विश्लेषण करना होगा। हम जानते हैं कि प्रत्येक मनुष्य में बौद्धिकता और पशुता के गुण पाए जाते हैं। इन दोनों गुणों को मिलाकर हम मनुष्य के सामान्य प्रत्यय का निर्माण करते हैं। इसी प्रकार मनुष्य की प्रजाति (Genus) और उसके अवच्छेदक (Differentium) को संयुक्त कर उसकी परिभाषा निर्मित होती है। यही बात 'समाज' व समाज के आदर्शों के विषय में भी लागू होती है। समाज के विभिन्न प्रत्ययों के विश्लेषण से हमें समाज के आदर्शों के विषय में पर्याप्त ज्ञान हो सकता है। दर्शन में इसे प्रत्ययवाद (Conceptualism) कहा जाता है।

पर यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि प्रत्ययात्मक पद्धति गणित और तर्कशास्त्र जैसे विशुद्ध विज्ञानों (Pure Sciences) के लिए भले ही उपयुक्त हो पर यह दर्शन, विशेषकर समाज-दर्शन के लिए, तो बिलकुल ही अनुपयुक्त है; क्योंकि दर्शन का सम्बन्ध वस्तु-जगत् के मूर्त अनुभवों से है। प्रत्ययों के विश्लेषण मात्र से समाज की व्यावहारिक समस्याओं का समाधान नहीं किया जा सकता।

२. निरीक्षण-प्रणाली (Method of Observation)—इसे आगमन-प्रणाली (Inductive Method) भी कहते हैं। इसमें तथ्यों का संकलन, वर्गीकरण, आकलन, सामान्यीकरण तथा सत्यापन किया जाता है। इसमें अध्ययनकर्ता स्वयं अत्यन्त निकट से समाज के संगठन, कार्य-कलापों, सामाजिक घटना-चक्रों एवं संस्थाओं का पर्यवेक्षण करता है और उनके आधार पर सामाजिक सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा करता है। लॉर्ड ब्राइस ने 'दि अमेरिकन कॉमनवेल्थ' और 'दि माडर्न डेमॉक्रेसी' नामक ग्रन्थों को लिखते समय निरीक्षण प्रणाली का खूब उपयोग किया था। कई देशों की शासन-पद्धतियों का स्वयं निरीक्षण करके उन्होंने अपने मत का प्रतिपादन किया था। पर निरीक्षण-पद्धति के आधार

पर जो निष्कर्ष निकाले जाते हैं, कोई आवश्यक नहीं है कि वे पूर्ण सत्य हों। भारतीय संस्कृति का अध्ययन अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने भारत-भूमि में आकर किया, फिर भी वे भारतीय संस्कृति की मौलिक एकता के दर्शन नहीं कर सके। उनके लिए भारतीय संस्कृति का स्वरूप अनेकता का स्वरूप ही रहा, जो सही नहीं है।

३. ऐतिहासिक विधि (Historical Method)—सामाजिक संस्थाओं का निर्माण नहीं होता वरन् वे विकसित होती हैं। वे इतिहास की उपज हैं और उनके वास्तविक रूप को जानने के लिए हमें विकास की उन शक्तियों को भली-भाँति समझना आवश्यक है जिन्होंने उन्हें यह रूप प्रदान किया है। अतीत और वर्तमान का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करके ही हम आगामी 'कल' की आदर्श संस्थाओं का निर्माण कर सकते हैं। हमारी परिपाटियों और हमारी संस्थाओं का 'निर्धारण' हमारे लिए हमारा अतीत ही करता है। लास्की और कार्लमार्क्स इस पद्धति के प्रमुख समर्थक हैं। मार्क्स ने इतिहास द्वारा ही पूँजीपति-समाज के जन्म का निरूपण किया। पर सिजविक (Sidgwick) का कहना है कि प्रत्येक युग की अपनी निजी समस्याएँ होती हैं और प्रत्येक समस्या का हल उस समय के अनुकूल ही होना चाहिए जिसमें वे घटित होती है। इतिहास हमारे लिए केवल सामग्री प्रस्तुत करता है, उसका सामाजिक घटनाओं की अच्छाइयों या बुराइयों से कोई सम्बन्ध नहीं है।

४. तुलनात्मक प्रणाली (Comparative Method)—एरिस्टॉटल इस प्रणाली के मुख्य प्रतिपादक थे। इस विधि द्वारा हम समाज के आदर्शों, प्रकारों और उन्हें निर्धारित करने वाली शक्तियों का अध्ययन करते हैं। इसमें चयन (Selection), तुलना (Comparison) और परिहार (Elimination) विधियाँ शामिल होती हैं। तुलना द्वारा इस सामग्री को संगृहीत, क्रमबद्ध और वर्गीकृत करते हैं और पुन: एकीकरण तथा परिहार विधि द्वारा उसके परिणामों का सार निकालते हैं। उदाहरणार्थ, समाज-दार्शनिकों ने विभिन्न देशों में हुई क्रान्तियों के कारणों का विश्लेषण करके यह निर्धारित किया है कि अमुक परिस्थितियों के उत्पन्न होने पर क्रान्ति अवश्यम्भावी हो जाती है। इसी प्रकार विभिन्न देशों के प्रजातन्त्रात्मक शासनों का अध्ययन करके ऐसे सामान्य तथ्यों का निश्चय किया गया है जिनका अस्तित्व प्रजातन्त्र के लिए आवश्यक है। पर इतना होते हुए भी उन देशों के निवासियों की प्रवृत्तियों की भिन्नता का भी ध्यान रखना चाहिए। भारत, ब्रिटेन और अमेरिका तीनों जगह प्रजातान्त्रिक शासन है, पर प्रवृत्ति की भिन्नता के कारण भारत का राष्ट्रपति केवल संवैधानिक हैं, ब्रिटेन की रानी वंश-परम्परा पर आधारित हैं और अमेरिका का राष्ट्रपति निर्वाचित अध्यक्ष है।

५. सादृश्य-प्रणाली (Method of Analogy)—हर्बर्ट स्पेन्सर ने इस प्रणाली का प्रतिपादन किया है। उनका कथन है कि समाज अथवा राज्य तथा मानव-प्रणाली में जीवन-धारण, विस्तारक तथा नियामक क्रम होने के कारण साम्य है। दोनों का विकास समान रूप से होता है, दोनों जीवाणुओं के रूप में प्रारम्भ होते हैं। प्राणि-शरीर और समाज या राज्य के विकास की रचनात्मक जटिलताएँ भी प्राय: समान होती हैं। इसमें

सन्देह नहीं है कि सादृश्य-प्रणाली अच्छी और लाभदायक होती है; किन्तु बाह्य समानताएँ निश्चित निष्कर्ष की ओर प्रेरित नहीं करतीं। यह प्रणाली केवल सम्भावनाओं की ओर ही ले जाती है। इससे चीजों के स्पष्ट होने की अपेक्षा, हमारे मन में भ्रम अधिक उत्पन्न हो सकते हैं।

६. दार्शनिक-प्रणाली (Philosophical Method)—अब तक जिन प्रणालियों का वर्णन किया गया वे अनुभव-सापेक्ष (A-Posteriori) और आगमनात्मक (Inductive) थीं। वे निरीक्षण, प्रयोग व तुलना पर आधारित थीं। दार्शनिक विधि अनुभव-निरपेक्ष (Apriori) ओर निगमनात्मक (Deductive) है। प्लेटो, रूसो, काण्ट, बोसाँके और सिजविक इस प्रणाली के प्रबल समर्थक हैं। इसमें हम कतिपय सामान्य सिद्धान्तों या प्रमेयों से, जिन्हें सत्य मान लिया जाता है, विशिष्ट निष्कर्षों पर पहुँचने का प्रयास करते हैं। दार्शनिक विधि, कारण से कार्य एवं सामान्य सिद्धान्तों से उसके परिणामों पर विचार करने की विधि है।

दार्शनिक विधि की सबसे बड़ी कठिनाई उसके आधार-वाक्यों की सत्यता के सम्बन्ध में है। यदि आधार-वाक्य सत्य हैं तभी निष्कर्ष सत्य हो सकते हैं। पर अनुभव-निरपेक्ष वाक्यों से सत्यता प्रमाणित नहीं की जा सकती। अत:, हमारे निष्कर्ष बहुत कुछ काल्पनिक रह जाते हैं। यह ठीक है कि समाज-दर्शन का क्षेत्र कुछ सीमा तक काल्पनिक हैं; क्योंकि इसके अध्ययन का सम्बन्ध समाज के यथार्थों से न होकर उसके आदर्शों से है पर वे आदर्श समाज में चरितार्थ होने चाहिए। कम-से-कम चरितार्थ होने की सम्भावना तो वर्तमान होनी ही चाहिए। प्लेटो ने अपने रिपब्लिक में और सर टॉमस मूर ने यूटोपिया में ऐसे आदर्श राज्य का वर्णन किया है जो इतिहास के तथ्यों और मानव-स्वभाव के बिलकुल विपरीत है। 'क्या होना चाहिए' का यथा सम्भव, 'क्या हो सकता है' के साथ समन्वय होना चाहिए।

समाज-दर्शन का विभिन्न विज्ञानों से सम्बन्ध

समाज-शास्त्र के भीतर आने वाले विभिन्न विज्ञानों के साथ समाज-दर्शन का क्या सम्बन्ध है, इसे हम पहले ही देख चुके हैं। समाज-दर्शन का कार्य न तो तथ्यों का अनुसन्धान करना है और न संकलन; उसका प्रमुख कार्य, विभिन्न सामाजिक विज्ञानों द्वारा प्राप्त ज्ञान का मूल्यांकन एवं व्याख्या करना ही है।

समाज-दर्शन और सामान्य जीव-विज्ञान तथा मानव-विज्ञान

मानव-जाति स्पष्टत: जीवन का ही एक प्रकार है, अत: जीवन के सामान्य अध्ययन से उसके स्वभाव के विषय में पर्याप्त ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। समाज व्यक्तियों से ही निर्मित हुआ है। सामान्य जीवन, मानव-जीवन और सामाजिक जीवन तीनों परस्पर इस प्रकार सम्बद्ध हैं कि एक के ज्ञान से शेष दो के विषय में भी ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। यही कारण है कि सामान्य जीव-विज्ञान (General Biology), मानव-विज्ञान (Anthropology) और समाज-दर्शन (Social Philosophy) में इतना

घनिष्ठ सम्बन्ध है। डॉर्विन का **जैविक विकासवाद** (Organic Evolution), **प्राकृतिक-चयन-सिद्धान्त** (Principle of Natural Selection), **जीवन-संघर्ष** (Struggle for Existence), **योग्यतम की विजय** (Survival of the fittest), **पर्यावरण के साथ समायोजन** (Adaptation to Environment) इत्यादि ने मानव-समाज के विकास के सम्बन्ध में नई अव-धारणाओं को जन्म दिया है। हर्बर्ट स्पेन्सर के दर्शन की विशेषता यह है कि उसने पशु-जीवन और सामाजिक जीवन के बीच सादृश्यवाद और समानान्तरवाद की स्थापना की है। उसका कथन है कि पशु-जीवन के समान ही सामाजिक व्यवस्था में भी व्यक्ति को अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष करना चाहिए क्योंकि योग्यतम ही जीवित रहेगा और उसी को ही जीवित रहना चाहिए। स्पेन्सर के अनुसार समाज की रूप-रेखा मनुष्य की जैविक आवश्यकताओं पर निर्भर है। अतः, किसी भी समाज के मूल्यांकन के लिए जैविक आवश्यकताओं का ज्ञान आवश्यक है, जो जीव-विज्ञान से प्राप्त होता है।

मानव-जीवन की सबसे बड़ी विशेषता है—उसके भीतर मन अथवा चैतन्य का अस्तित्व। यह निम्न और उन्नत दोनों अवस्थाओं में पाया जाता है। मनोविज्ञान मन अथवा चैतन्य का विज्ञान है। मानव-समाज की प्रक्रियाओं और उनकी विवृद्धि के विषय में चिन्तन करते समय, उस समाज के व्यक्तियों की क्षुधा (Appetites), मूल-प्रवृत्तियों (Instincts) एवं संवेगों की अवज्ञा कभी नहीं की जा सकती। मानव-प्रकृति के इन पक्षों का अध्ययन सामान्य-मनोविज्ञान करता है। समाज-मनोविज्ञान (Social Psychology) मनोविज्ञान की ही एक प्रमुख शाखा है जिसका समाज-दर्शन से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज-मनोविज्ञान इस बात का अध्ययन करता है कि मनुष्य के विचारों, भावनाओं, इच्छाओं, एवं उसके व्यक्तित्व का समाज पर कितना प्रभाव पड़ता है और फिर समाज का मनुष्य के विचारों, भावनाओं, इच्छाओं एवं व्यक्तित्व पर कितना प्रभाव पड़ता है। यह मनुष्यों का उनके विविध सामाजिक सम्बन्धों के सन्दर्भ में अध्ययन करता है जैसे परिवार, राज्य इत्यादि। समाज की उत्पत्ति, विकास और कर्त्तव्य का आध्यात्मिक स्तर पर विचार करते समय समाज के यथार्थ स्वरूप, उसके संवेगों और भावनाओं का बहिष्कार नहीं किया जा सकता। जहाँ समाज-मनोविज्ञान समाज के यथार्थ रूप का वर्णन करता है, समाज-दर्शन इन सामाजिक रूपों की व्याख्या 'आदर्श' या 'मूल्य' के आधार पर करता है।

नीति-विज्ञान, उन उद्देश्यों और लक्ष्यों की व्याख्या करता है जो इस जीवन में लक्षित हैं। अतः, अन्य विज्ञानों की अपेक्षा, समाज-दर्शन से इसका अधिक सम्बन्ध है। वस्तुतः समाज-दर्शन को कभी नीति-विज्ञान का अंग माना जाता है और कभी स्वयं नीति-विज्ञान को समाज-दर्शन का अंग माना जाता है। नीति-विज्ञान उन व्यक्तियों के आचरण से सम्बन्धित है जो समाज या समुदाय में रहते हैं; इससे भिन्न समाज-दर्शन का सम्बन्ध उस समाज या समुदाय से है जो व्यक्तियों द्वारा संगठित होता है। अतः, व्यक्ति

एवं समाज दोनों का चरम लक्ष्य एक ही है। सच पूछा जाय तो समाज-दर्शन नीति-विज्ञान का ही एक विस्तार मात्र है। इनमें परस्पर विरोध नहीं है।

शिक्षा-विज्ञान का कार्य है उन प्रक्रियाओं का निर्देश करना जिनके अनुसार व्यक्ति, या तो प्राकृतिक विवृद्धि या बाह्य-पथ-प्रदर्शन द्वारा अपने व्यक्तित्व का इस प्रकार विकास करता है जिससे कि समाज के प्रति अपने निश्चित कर्त्तव्यों का पालन करते हुए वह उसका एक उत्तरदायी सदस्य बन सके। अतः समाज-दर्शन और शिक्षा-विज्ञान में घनिष्ठ सम्बन्ध है।

राजनीति-विज्ञान, राज्य के सिद्धान्तों का अध्ययन है। राज्य, समाज का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पहलू है। सभी समाज, सरकार के किसी-न-किसी रूप द्वारा शासित अवश्य होते हैं। अतः, किसी भी समाज का वर्णन तब तक पूर्ण नहीं माना जायगा जब तक कि उस शासन-प्रणाली का वर्णन न किया जाय जिससे कि वह समाज संचालित होता है। समाज के आदर्शों के अध्ययन में शासन या सरकार (Government) के आदर्शों का भी समावेश हो जाता है। इस दृष्टि से राजनीति-विज्ञान, समाज-दर्शन का अंग है; पर सरकार सम्बन्धी समस्याएँ इतनी जटिल और दुरूह होती हैं कि उनके विवेचन के लिए एक पृथक् विज्ञान की आवश्यकता है। राजनीति के सामान्य सिद्धान्तों का ही समाज-दर्शन में विवेचन सम्भव है।

समाज-दर्शन सामाजिक मूल्यों का विज्ञान है। सामाजिक मूल्यों में न्याय एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण सामाजिक मूल्य है जिसका सम्बन्ध विधि (Law) से है और जिसका अध्ययन विधि-शास्त्र करता है। इस प्रकार समाज-दर्शन और विधि-शास्त्र परस्पर सम्बद्ध विज्ञान हैं।

उद्योग तथा वाणिज्य मानवीय समाज की प्रक्रियाओं में इस प्रकार सन्निहित हैं कि किसी भी समाज-दर्शन में उनकी चर्चा होनी अनिवार्य है। समाज में जब हम उद्योग या व्यापार करते हैं तो उनकी भी कुछ मान्यताएँ होती हैं जिनको दृष्टि में रखना प्रत्येक उद्योगपति या व्यापारी के लिए आवश्यक होना चाहिए, अन्यथा सुन्दर समाज का निर्माण नहीं हो सकता। किन्तु इस विषय की भी कुछ ऐसी जटिल समस्याएँ हैं जिनके अध्ययन और विश्लेषण के लिए एक स्वतन्त्र विज्ञान अपेक्षित है—जिसे अर्थशास्त्र (Economics) कहते हैं। इस विषय के कुछ प्रश्न हैं जिनकी परिभाषात्मक व्याख्या सम्भव है और जो गणित के अन्तर्गत आ जाते हैं। किन्तु अर्थशास्त्र की अन्य समस्याओं का समाज से सीधा सम्बन्ध होता है : जैसे श्रम का पूँजी से क्या सम्बन्ध है? उत्पत्ति के विभिन्न साधन : भूमि (Land), श्रम (Labour), पूँजी (Capital), संगठन (Organisation) एवं साहस (Enterprise) में क्या सम्बन्ध है? व्यष्टिवाद (Individualism) एवं समाजवाद (Socialism) में क्या ग्रहणीय है और क्या अग्रहणीय है, इत्यादि समस्याएँ समाज-दर्शन और अर्थ-शास्त्र दोनों में आती हैं। अर्थ-शास्त्र के क्रिया-कलाप समाज-दर्शन द्वारा ही प्रेरित एवं संचालित होने चाहिए तभी अर्थ-शास्त्र अपने कार्य में सफल हो सकता है। इस प्रकार दोनों में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है।

संक्षेप में हमारे सामाजिक जीवन के विभिन्न पक्ष समय-समय पर परिवर्तित एवं विकसित होते रहते हैं। यह परिवर्तन, देश-काल की अनेक परिस्थितियों के द्वारा निश्चित एवं निर्धारित होता रहता है। सामाजिक विचार-धारा का इतिहास इस प्रकार की परिस्थितियों और परिवर्तनों की क्रम-बद्ध और कारण-सहित व्याख्या प्रस्तुत करता है। समाज-दर्शन इस व्याख्या में पर्याप्त योगदान करता है। बाह्य परिस्थितियों की विविधताओं और परिवर्तनों के कारण हमारी सामाजिक विचारधारा उच्छृंखल और निरंकुश भी हो सकती है, किन्तु समाज-दर्शन द्वारा निर्धारित शाश्वत सामाजिक मूल्य उस पर पर्याप्त नियन्त्रण रखते हैं। हमारे जीवन के कुछ विश्वास, आदर्श और प्रेरणाएँ जो धर्म के रूप में आती हैं, मानव इतिहास की अक्षय-निधि हैं। समाज-दर्शन इन पर शाश्वत दृष्टि रखकर सामाजिक विचार-धारा को जीवन प्रदान करता है। इस प्रकार समाज-दर्शन की महान् उपादेयता है।

●

१

समाज-दर्शन के मनोवैज्ञानिक आधार

प्राकृतिक विधान

हमारे चारों ओर अनन्त और अपरिमित ब्रह्माण्ड फैला हुआ है। यह अनेक जटिलताओं और रहस्यों का भण्डार है; पर फिर भी मानव-मस्तिष्क इन जटिलताओं और रहस्यों का उद्घाटन करने में संलग्न है। इसका एकमात्र कारण यह है कि हमारा विश्वास है कि जगत् में एक व्यवस्था है, क्रम है, विन्यास है, विधान है।[१] इतना ही नहीं बल्कि हमारा दूसरा विश्वास भी है कि ये जटिलताएँ ऐसी नहीं हैं कि हम उनका समाधान नहीं कर सकते। अर्थात् प्राकृतिक विधान का अनुसंधान और अन्वेषण किया जा सकता है; वे ज्ञेय हैं।[२] दूसरे शब्दों में—जगत् जटिल व सरल दोनों है क्योंकि यदि वह सरल न होता तो वह कभी ज्ञेय नहीं हो सकता था। उसके ज्ञेय होने से जगत् सुन्दर भी है; क्योंकि जिसमें व्यवस्था, सरलता और अभिज्ञता तीनों होती है वही सुन्दर भी होता है। यही विश्व का स्वरूप है।

ब्रह्माण्ड में मानव का स्थान

इस अपार और असीम ब्रह्माण्ड में हमारी पृथ्वी एक पिण्ड है जिस पर नाना प्रकार के जीवजन्तु पाए जाते हैं। इन तमाम जीव-जन्तुओं को यदि विकास की शृंखला में क्रम-बद्ध किया जाय तो मानव का स्थान सर्वोपरि होगा। मानव पृथ्वी का सर्वश्रेष्ठ प्राणी है क्योंकि उसके भीतर चैतन्य की पराकाष्ठा है और उससे श्रेष्ठतर प्राणी की कल्पना ही नहीं की जा सकती। मानव में भी विकास के लिए पर्याप्त स्थान है। वह श्रेष्ठ होते हुए भी इस जगत् की पार्थिव वस्तुओं में से केवल एक है। इसमें सन्देह नहीं है कि वह मिट्टी का सर्वश्रेष्ठ अंश है; पर है वह धरती का टुकड़ा ही। कभी-कभी उसके मन में देवत्व के भाव भी जागरित हो जाते हैं पर दूसरे क्षण ही पुनः वह पशुत्व की विचार-धारा में प्रवाहित हो जाता है। इस प्रकार वह सोचने के लिए बाध्य हो जाता है कि 'वह देवता है या पशु'। उसके भीतर पशुत्व और देवत्व दोनों भाव होने के कारण वह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि वह वास्तव में दोनों का सम्मिश्रण है। यदि वह स्वार्थी है तो परार्थी भी है, जड़ है तो चेतन भी है, भोगी है तो साथ-साथ योगी भी है। यद्यपि उसका भौतिक अस्तित्व संकुचित है, पर उसकी कल्पनाएँ शाश्वत में स्वच्छन्द विचरण कर सकती हैं। वह सीमित तो है पर उसे अपनी सीमा का ज्ञान भी है। इस प्रकार सीमित रहते हुए भी

---

१. ह्वाइटहेड, ए०एन०, साइन्स ऐण्ड मॉडर्न वर्ल्ड, पृ० ५

२. वही, पृ० १७

उसके भीतर अपनी सीमा का अतिक्रमण करने की क्षमता विद्यमान है। वह सान्त है पर अनन्त भी हो सकता है। उसकी सान्तता, अज्ञानता और परिच्छिन्नता उसके आगन्तुक गुण हें। तात्त्विक दृष्टि से वह अनन्त, ज्ञानस्वरूप और अपरिच्छिन्न सत्ता है। जब तक वह अपने इस स्वाभाविक रूप को प्राप्त नहीं कर लेता, तब तक उसके जीवन में असन्तोष व्याप्त रहेगा। मानव-स्वभाव के इस द्वैत ने ही हमारे जीवन में वैयक्तिक एवं सामाजिक तमाम प्रकार की समस्याओं को उत्पन्न किया है। कहा जाता है कि व्यक्ति समाज के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन करके इस द्वैत को समाप्त कर अपनी स्वाभाविक अवस्था को प्राप्त कर सकता है।

'मानव' की परिभाषा

दार्शनिकों ने 'मानव' को परिभाषित करने के अनेक प्रयत्न किये हैं। कुछ परिभाषाएँ तो केवल तर्कशास्त्र की पुस्तकों की ही शोभा बढ़ाती हैं। उनका व्यावहारिक जीवन से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं होता : जैसे 'मनुष्य एक पंखहीन दो पैरोंवाला प्राणी है'[1] या 'मनुष्य एक बौद्धिक पशु है।'[2] पर इनमें से कोई-भी परिभाषा पूर्ण रूप से संतोषजनक नहीं है। बैगहॉट (Bagehot) ने कहा—'मनुष्य पशु-रूप में विचरण करने वाला प्राणी है।'[3] इस परिभाषा की त्रुटि यह है कि यह मनुष्य की पशु-जीवन के साथ जो घनिष्ठता है, उसका निम्न-मूल्यांकन प्रस्तुत करती है। कुछ विचारकों ने उसे 'हँसने वाला प्राणी' कहा है।[4] किन्तु यदि इस परिभाषा को गम्भीरतापूर्वक लिया जाय तो हँस, लकड़बग्घे, जंगली मनुष्य एवं सन्त सभी एक ही कोटि में आ जायेंगे, जिसे कोई भी स्वीकार नहीं कर सकता। यदि फ्रैंङ्कलिन (Franklin) और कार्लाइल (Carlyle) की बात मान ली जाय कि मनुष्य 'औजारों का प्रयोग करने वाला प्राणी है'[5] तो बहुत-से अच्छे खासे मनुष्य जो औज़ारों का प्रयोग नहीं करते, वे मनुष्य की श्रेणी से बहिष्कृत कर दिये जायँगे तथा कुछ अन्य प्राणी जैसे हाथी और वनमानुष जो कभी-कभी औज़ारों का प्रयोग करते देखे जाते हैं, मनुष्यों की श्रेणी के भीतर आ जायँगे। यदि भाषा के प्रयोग पर बल दिया जाय तो मानना पड़ेगा कि संसार में कुछ ऐसे इतर प्राणी हैं जो अपनी भावनाओं को व्यक्त करने के लिए स्वर-संकेतों का प्रयोग करते हैं, जब कि मानव की कुछ निम्न श्रेणी की जातियाँ भी इस निम्न स्तर के वार्तालाप के अधिक ऊपर नहीं उठ सकी हैं। अतः, स्पष्ट है कि बुद्धि ही एक ऐसा व्यावर्तक गुण है जो मनुष्यों को पशुओं से पृथक् करता है जिसके माध्यम से उसकी अन्य विशेषताओं की समुचित व्याख्या की जा सकती है। ''यह मानव की बुद्धि का ही चमत्कार है कि वह पशुओं की अस्पष्ट ध्वनि को एक मुखर भाषा में विकसित करने में समर्थ हो सका; बाह्य वस्तुओं को एक विकसित

---

1. Man is a featherless biped.
2. Man is a rational animal.
3. Man is a soul masquerading as an animal.
4. Man is a laughing animal.
5. Man is a tool-using animal.

उपकरण और मशीनों के रूप में परिवर्तित कर सका; बाह्य वस्तुओं को एक विकसित उपकरण और मशीनों के रूप में परिवर्तित कर सका; विशेष ध्वनि, रंग और रूपों को विविध प्रकार की अनुकरणात्मक और अभिव्यञ्जनात्मक कला के रूप में, क्रोध को आक्रमण में, भय को सुरक्षा में, घृणा को व्यंग्य और हास्य में, सहानुभूति को दान में, आश्चर्य को भय में, आत्म-समर्पण को सम्मान में, प्रभुता को कानून और सरकार में और पारस्परिक सहयोग को सहकारी राष्ट्र-मण्डल में परिवर्तित कर सका है।"[१]

परन्तु उपर्युक्त कथन का तात्पर्य यह नहीं है कि मनुष्य प्रारम्भ से ही सभी विद्याओं और विज्ञानों में पारंगत है अथवा बौद्धिकता के अतिरिक्त उसके भीतर अन्य कोई विजातीय तत्त्व नहीं है। उपर्युक्त कथन का केवल इतना ही तात्पर्य है कि **मनुष्य के भीतर बौद्धिकता की साध्यता (Potentiality)** विद्यमान है और यदि वह चाहे तो अपने जीवन की क्रियाओं और परिस्थितियों का निरन्तर परिमार्जन करता हुआ सिद्धता (Actuality) को प्राप्ति कर सकता है।

शरीर-संस्थान

हाँ, यहाँ पर यह कह देना आवश्यक है कि मनुष्य के भीतर जो बुद्धि या चैतन्य है वह तब तक उपयोगी न होता जब तक कि उसके विचारों को व्यक्त अथवा कार्यान्वित करने के लिए उसके पास वर्तमान शरीररूपी माध्यम न होता। उसकी विकसित मांसपेशियाँ और हड्डियाँ उसे नाना प्रकार के कार्य-सम्पादन में सहायता पहुँचाती हैं। अपनी सुविकसित आँखों और ज्ञानेन्द्रियों के बिना उसे बाह्य प्रकृति का कभी ज्ञान ही नहीं हो सकता और न उन वस्तुओं को वह अपने जीवन के लिए उपयोगी ही बना सकता है। मनुष्य के गतिशील हाथ उसे विविध प्रकार के औज़ारों और मशीनों का निर्माण करने में मदद पहुँचाते हैं जिसके कारण उसके कार्य करने की निपुणता में अत्यधिक वृद्धि हो जाती है। यदि उसके पास जटिल स्वर-यंत्र (वाणी) न होता तो वह अपने विचारों और भावनाओं को भाषा द्वारा दूसरों के पास संप्रेषित करने में कभी भी सफल न हो पाता और आज समाज नाम की कोई वस्तु ही न होती। इसी प्रकार केवल स्वर-निर्माण से ही समाज का कार्य होने वाला नहीं है यदि उस स्वर-समूह को ग्रहण करने वाली श्रोत्रेन्द्रिय न हो। श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा ही मनुष्य दूर की वस्तुओं को समझ कर तदनुसार उसके प्रति प्रतिक्रिया करता है। अँगुलियों के माध्यम से ही भाषा और स्वर को वह स्थायी वस्तु के रूप में उनका निर्माण करता है। सूक्ष्म स्नायु-संस्थान द्वारा ही मनुष्य उच्चतम कला की निष्पत्ति और मूल्यांकन करने में सफल होता है। यदि यह न होता तो वह न तो ज्ञान को कर्म में और न कर्म को ज्ञान में ही परिणत कर सकता जैसा कि आज वह आसानी से कर लेता है। मानव-शरीर में सबसे महत्त्वपूर्ण वस्तु उसका मस्तिष्क है जिससे कि वह सैद्धान्तिक और व्यावहारिक समस्याओं के विषय में चिन्तन करता है। मस्तिष्क में विचार-केन्द्रों के साथ-साथ भाव-केन्द्र और क्रिया-केन्द्र भी होते हैं जिनके द्वारा मनुष्य

१. मेकेञ्जी, जे०एस०, आउटलाइन्स ऑव सोशल फ़िलॉसॉफी, पृ० ३०-३१।

के मन में नाना-प्रकार के भावोद्रेक और कार्य करने की इच्छा उत्पन्न होती है। आज जो मनुष्य का व्यक्तिगत व सामाजिक जीवन दिखाई देता है उसमें उसके शारीरिक-गठन का विशेष योगदान है। यदि मानव-शरीर की बनावट भिन्न होती और उसकी आन्तरिक शक्तियाँ इस प्रकार की न होकर कुछ भिन्न प्रकार की होतीं, तो उसका जीवन व समाज भी भिन्न होता। तात्पर्य यह है कि मानव के शारीरिक गठन की पूर्ण विशेषताओं को जाने बिना हम मनुष्य के पूर्ण जीवन को कभी भी नहीं जान सकते। इनका पूर्ण विवेचन यहाँ न तो सम्भव है और न अपेक्षित ही। उन्हें हम शरीर-रचना-विज्ञान (Anatomy), शरीर-विज्ञान (Physiology), मनोविज्ञान (Psychology), प्राकृतिक इतिहास (Natural History) और मानव-विज्ञान (Anthropology) इत्यादि विषयों के विचारकों के ऊपर छोड़ देते हैं।

मानव-जीवन के तीन मुख्य पक्ष

सृष्टि की तमाम वस्तुओं को हम चार भागों में विभाजित कर सकते हैं—(१) जड़-जगत्, (२) वनस्पति-जगत्, (३) पशु-जगत् और (४) मानव-जगत्। उच्च श्रेणी की वस्तुओं की विशेषताएँ, निम्न श्रेणी की वस्तुओं की विशेषताओं से उत्कृष्ट तो हैं ही; पर कुछ अन्य बातों में निम्न श्रेणी की वस्तुएँ उच्च श्रेणी की वस्तुओं से भी बढ़-चढ़ कर हैं। पशुओं में वह शान्ति, एकरसता और सौन्दर्य कहाँ जो वनस्पति-जीवन में पाया जाता है। इसी प्रकार फूलों में वह शान्ति और गम्भीरता नहीं मिलती जो पर्वत-मालाओं में परिलक्षित होती है। वाल्ट ह्विटमैन (Walt Whitman) ने निम्न श्रेणी के प्राणियों और मानव-जाति के अशान्त व्यक्ति में भेद प्रदर्शित किया है—"वे अपनी स्थिति के सम्बन्ध में कठोर श्रम और विलाप नहीं कर सकते; वे अन्धकार में जागते पड़े रहकर अपने पापों के लिए रुदन नहीं कर सकते। उनमें से कोई भी आदरणीय अथवा दीन-दुःखी नहीं होता।" सामान्यतः जहाँ सक्रियता अधिक होती है, वहाँ शान्ति कम होती है। ऐसा देखा जाता है कि एक किसान, एक दार्शनिक या एक राजनीतिज्ञ की अपेक्षा कम अशान्त स्थिति में रहता है।

किन्तु, यदि व्यापक दृष्टिकोण से देखा जाय तो निश्चित रूप से, पशु-जीवन, वनस्पतियों की अपेक्षा श्रेष्ठ और अधिक जटिल होता है; इसी प्रकार मानव-जीवन अन्य प्राणियों की अपेक्षा श्रेष्ठतम और अत्यधिक जटिल होता है। वनस्पतियों में विवृद्धि (Growth) और प्रजनन (Reproduction) की प्रक्रिया पायी जाती है; पशुओं में उपर्युक्त प्रक्रियाओं के साथ-साथ गतिशीलता (Mobility), संवेदनशीलता (Sensitivity) और मूलप्रवृत्त्यात्मक व्यवहार (Instinctive actions) भी पाये जाते हैं। उच्चतर प्राणियों जैसे मानव में उपर्युक्त शक्तियों के साथ-साथ कुछ अन्य श्रेष्ठ और जटिल शक्तियाँ भी पायी जाती हैं, जैसे—परिस्थितियों के प्रति समायोजन की क्षमता (Power of Adjustment), संवेग (Emotions), विचार-शक्ति (Thought-Power) इत्यादि।

इस प्रकार मानव-जीवन के तीन पहलुओं को पृथक् किया जा सकता है—(१) वानस्पतिक-पक्ष (Vegetative Aspect), (२) पाशविक-पक्ष (Animal Aspect), (३) बौद्धिक-पक्ष (Rational Aspect)। मानव-जीवन का गौरव उसके जीवन की इसी जटिलता पर आधारित है। किन्तु यही जटिलता कभी-कभी उसके पतन का भी कारण बन जाती है। बुद्धि और विवेक के साथ-साथ हमारे भीतर जड़-जगत्, वनस्पति-जगत् और पशु-जगत् की भी विशेषताएँ पायी जाती हैं। जड़-जगत् की जड़ता, वनस्पति-जगत् की संवेदनशीलता तथा पशु-जगत् की क्षुधा, मूल-प्रवृत्तियाँ और संवेग सभी मनुष्यों में पाये जाते हैं। अन्तर इतना ही है कि हमारा विवेक उन पर एक प्रकार का नियन्त्रण व संयम रखता है किन्तु उन पर वह पूर्ण विजय प्राप्त नहीं कर सकता। हमारी प्रकृति की जटिलता हमारे अन्दर व्यापक दृष्टिकोण और सहानुभूति की सम्भावना को जन्म देती है जो विशुद्ध बुद्धि-तत्त्व के लिए सम्भव नहीं है, पर वही जटिलता हमारी पाशविक बुभुक्षा और मनोवेगों (Impulses) को बलवती कर देने की सम्भावना भी रखती है। कभी-कभी तो उन्हें अप्राकृतिक उपयोग के लिए विकृत भी कर देती है। बुद्धि या विवेक जीवन की एक अमूल्य निधि है जिसका सदुपयोग करने से मनुष्य मोक्ष की प्राप्ति कर लेता है, पर उसका दुरुपयोग करने से वह पथ-भ्रष्ट भी हो सकता है और पशु से भी अधिक पाशविक होने की सम्भावना प्रकट हो जाती है। मानव-प्रकृति के परस्पर विरोधी विभिन्न तत्त्वों में किस प्रकार संतुलन व सामञ्जस्य स्थापित किया जाय, यही उसकी प्रमुख समस्या है।

मानव की सामाजिक प्रकृति

अब हमें इस बात पर विचार करना है कि मानवीय शारीरिक व मानसिक रचना-विधान की जटिलता का उसके सामाजिक जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है। इस बात पर विचार करने के लिए कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है, हमें उसकी संरचना के प्रमुख घटक-तत्त्वों का विश्लेषण प्रस्तुत करना होगा। इतनी बात तो स्पष्ट ही है कि उसकी प्रकृति का वानस्पतिक-पक्ष (Vegetative-Side) सामाजिकता का कोई ठोस आधार प्रस्तुत नहीं करता। पौधों के भीतर निश्चित रूप में यूथचारिता (Gregariousness) नहीं पायी जाती, पर उनका पृथक् अस्तित्व भी स्वीकार नहीं किया जा सकता। यहाँ तक कि चट्टानों और पर्वतों में भी परस्पर सम्बद्धता पायी जाती है। उनकी एक लम्बी श्रृंखला व एक समूह होता है। ये पृथ्वी के विकास की सामान्य प्रक्रिया से भी सम्बन्धित होते हैं। वे प्रायः पौधों, जन्तुओं और मनुष्यों के जीवन पर भी सूक्ष्म प्रभाव डालते हैं। सभी पौधे दूसरे पौधों को उत्पन्न करते हैं; उनमें समूह में बढ़ने की प्रवृत्ति होती है। किसी पौधे की उर्वरता अन्य समान पौधों पर आश्रित होती है। प्राणियों में इस प्रकार का विकास उनके वानस्पतिक-पक्ष से ही सम्बन्धित होता है और उसी प्रकार उनमें संगठन की भी स्थापना होती है। यौनिक भिन्नता व यौनिक सम्पर्क के बिना प्राणियों की उत्पत्ति असम्भव है। उनके बच्चे सामान्यतया कुछ अंशों में असहाय होते हैं और एक निश्चित अवधि तक

अपने माँ-बाप पर अपनी आवश्यकताओं के लिए निर्भर होते हैं। आगामी खतरे का सामना करने के लिए उन्हें एक समूह बनाकर रक्षा करने की आवश्यकता अनुभव करने को विवश होना पड़ता है। कभी-कभी भविष्य में उपयोग करने के लिए उन्हें भोजन-सामग्री भी एकत्रित करनी पड़ती है और यह परस्पर-सहयोग द्वारा ही सम्पन्न किया जा सकता है। यही कारण है कि अधिकतर उच्च श्रेणी की विकसित जन्तु-जातियाँ स्वाभाविक रूप से सामुदायिक होती हैं और यह मुख्यतया उनकी प्रकृति के वानस्पतिक पक्ष पर ही आधारित होता है। इस सामुदायिकता के विकास में उन प्राणियों की ग्रहण-शक्ति, क्रियाएँ, मूल-प्रवृत्तियाँ एवं संवेग भी पर्याप्त सहायता प्रदान करते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मानवीय साहचर्य-सम्बन्धों की व्याख्या भी उनकी आन्तरिक शक्तियों के आधार पर भलीभाँति की जा सकती है। जैसा कि एरिस्टॉटल[1] ने कहा है कि समाज का सर्वप्रथम निर्माण जीवन के निमित्त किया गया पर बाद में उसे हम सुन्दर जीवन के निर्माण के लिये धारण किये हुए हैं। शिशु-परिरक्षण, भोजन और पानी का संग्रह, पर्याप्त आश्रय और यथेष्ट सुरक्षा का विधान मानव-समाज के अस्तित्व के सशक्त कारण हैं। यदि इन कारणों को भी हम समाज की उत्पत्ति के लिए आवश्यक न समझें, फिर भी एक ऐसा कारण अवशिष्ट रहेगा जो मानव-समाज की उत्पत्ति का यथेष्ट कारण होगा और वह यह है कि मनुष्य बिना समाज के अकेला नहीं रह सकता। यद्यपि देश और काल की भिन्नता के अनुसार मनुष्य के साहचर्य-सम्बन्धों के रूपों में परिवर्तन होते रहते हैं पर इससे उन सम्बन्धों की स्वाभाविकता में कोई अन्तर नहीं आता।

किन्तु केवल वानस्पतिक पक्ष के आधार पर ही मनुष्य के सामाजिक जीवन की पूर्ण व्याख्या नहीं हो सकती। मनुष्य की पाशविक प्रकृति (Animal Aspect) भी समाज के निर्माण में पर्याप्त योगदान देती है। कुछ जन्तु दूसरों का शिकार करते हैं; यह उनकी प्रकृति का पाशविक तत्त्व है। कभी-कभी अपनी सुरक्षा के लिए उन्हें दूसरों पर आक्रमण, करना पड़ता है। सुरक्षा और आक्रमण दोनों साहचर्य की ओर प्रवृत्त करते हैं। कुछ अंश तक एक ही जाति के जन्तुओं में अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष करना पड़ता है। इसे हम विनाशक तत्त्व कह सकते हैं। संघर्ष (Conflict) और सहयोग (Cooperation) की दोनों वृत्तियाँ हमारे भीतर विद्यमान हैं और दोनों ही साहचर्य की प्रेरक हैं। कुत्ते परस्पर मिलकर भौंकने और काट खाने में आनन्द का अनुभव करते हैं। चिड़ियाँ भी अपने छोटे-से घोंसले में सदा सहयोग नहीं करतीं; वे कभी-कभी आपस में लड़ती भी हैं। संघर्ष और सहयोग दोनों संगठन की श्रृंखला का निर्माण करते हैं। सारांश यह है कि तटस्थता अथवा औदासीन्य (Indifference) ही व्यक्तियों को पृथक्-पृथक् रखता है। संघर्ष और प्रेम उन्हें परस्पर संयुक्त करते हैं। होमर ने एक बार कहा था, "कितना अच्छा होता, यदि संघर्ष देवताओं और मानव-जाति से नष्ट हो जाता।" पर हेरेक्लाट्स ने कहा कि संघर्ष समाप्त हो जाने का अर्थ होगा जीवन समाप्त हो जाना। संघर्ष और सहयोग

१. पॉलिटिक्स, खण्ड ३, अध्याय ६

दोनों ही मानव-समाज की कड़ियाँ हैं। उनके अभाव में समाज का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जायगा। तटस्थता समाज का अभिशाप है। यदि पृथक् रहनेवाले प्राणी एक-दूसरे के साथ सहयोग नहीं करेंगे तो प्रतिस्पर्धा भी नहीं करेंगे। अतः, सहयोग और प्रतिस्पर्धा, प्रेम और संघर्ष दोनों ही प्राणियों में सामाजिक संगठन उत्पन्न करते हैं।

सहयोग और संघर्ष की उपर्युक्त शक्तियाँ मानव-जीवन में भी इसी प्रकार क्रियाशील रहती हैं। पारस्परिक सहयोग और प्रतिद्वन्द्विता जन-जातियों, कबीलों और जन-समुदायों के निर्माण में सहायक होती हैं अथवा उनकी एकता के सूत्रों को और अधिक सुदृढ़ बनाने में मदद करती हैं। ये जन-जातियाँ कभी तो एक-दूसरे का समर्थन करती हैं और कभी विरोध। पर दोनों अवस्थाओं में वे एक-दूसरे के क्रियाकलापों में पर्याप्त रुचि लेती हैं। इस प्रकार मनुष्य प्रकृति से ही सामाजिक है। मानवता के अन्य गुण पौधों और प्राणियों में भले ही न पाये जाते हों, पर पौधों और निम्न प्राणियों के बहुत-से गुण मनुष्यों में अवश्य ही पाये जाते हैं। संघर्ष और सहयोग की भावना भी इसका अपवाद नहीं है।

पर मनुष्य की अतिरिक्त विशेषताएँ साहचर्यात्मक प्रवृत्तियों को एक नया महत्त्व प्रदान करती हैं। विवेक-शक्ति जिस पर मानव का एकाधिकार है, मुख्य रूप से एकत्व प्रदान करनेवाली शक्ति है। अपनी विवेक-शक्ति द्वारा ही मनुष्य ज्ञान अर्जित करता है। भोजन-संग्रह की अपेक्षा ज्ञान के संग्रह के लिए अधिक सहयोग की आवश्यकता होती है। उसे केवल वर्ष-प्रतिवर्ष ही नहीं, वरन् युग-युगान्तर के लिए संग्रह करने की आवश्यकता होती है। दृढ़ साहचर्य के बिना बच्चों में चिन्तन करने की प्रेरणा नहीं उत्पन्न होती और न तो वे यही जान पाते हैं कि उन्हें अपने व्यवहारों के मार्ग-दर्शन के लिए विचारों का किस प्रकार सदुपयोग करना चाहिए। दाँतों और पंजों की अपेक्षा उपकरणों और यन्त्रों का प्रयोग अधिक पारस्परिक सहयोग और अधिक जटिल प्रतिद्वन्द्विता की भावना को जन्म देता है। भाषा मनुष्य की उच्चतम उपलब्धि है जो एक मनुष्य को दूसरे मनुष्य से तथा एक युग को दूसरे युगों से आबद्ध करने में सहायक होती है, पर यही भाषा कभी-कभी विभिन्न जातियों और जन-समुदायों में पृथकता और विरोध की भावना को भी उत्पन्न करती है, किन्तु इससे भी जातियों और समुदायों में संगठन सुदृढ़ होती है। प्राणियों द्वारा वंशानुक्रम से उपार्जित विशेषताएँ भी मूल रूप से साहचर्य द्वारा ही प्राप्त होती हैं।

प्रेरक-वृत्तियाँ

मनोवैज्ञानिकों के अनुसार प्रत्येक मनुष्य के भीतर कुछ प्रेरक-वृत्तियाँ (Motives) पायी जाती हैं जो उसे कार्य करने की प्रेरणा प्रदान करती हैं। इन प्रेरक-वृत्तियों को दो भागों में विभाजित किया जाता है—(१) व्यक्तिगत प्रेरक-वृत्तियाँ (Personal Motives) और (२) सामाजिक प्रेरक-वृत्तियाँ (Social Motives)। व्यक्तिगत प्रेरक-वृत्तियों—जैसे मनोवृत्तियों (Attitudes) और अभिरुचियों (Interests) का कोई विशेष सामाजिक महत्त्व नहीं है। यह ठीक है कि यदि व्यक्तियों में

विभिन्न मनोवृत्तियाँ और अभिरुचियाँ न होतीं तो समाज का कार्य सुचारु रूप से कभी भी नहीं चल सकता था, पर इनका सम्बन्ध अधिकतर मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन से ही होता है। सामाजिक प्रेरक-वृत्तियों का समाज के निर्माण में विशेष हाथ होता है। सामाजिक प्रेरक-वृत्तियाँ चार हैं—(१) **आत्मस्थापन** (Self-Assertion); (२) **यूथचारिता**; (३) **युयुत्सा** (Pugnacity) और (४) **अर्जनात्मकता** (Acquisitiveness)। आत्म-स्थापन का सम्बन्ध आत्म-सम्मान से है। प्रत्येक व्यक्ति चाहता है कि वह सब मनुष्यों से बढ़-चढ़ कर रहे। जब उसकी इस भावना की समुचित सन्तुष्टि नहीं हो पाती तो उसके भीतर हीनता की ग्रन्थि उत्पन्न हो जाती है। यूथचारिता से तात्पर्य मनुष्य की सामाजिकता से है। प्रत्येक मनुष्य समाज में ही अपने को सुरक्षित पाता है। वह दूसरों के दुःख से दुःखी और सुख से सुखी अनुभव करता है। इसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य के भीतर संघर्ष करने की प्रवृत्ति भी विद्यमान रहती है। कुछ दार्शनिकों के अनुसार मनुष्य स्वभाव से शान्ति-प्रिय होता है, पर यह उसका एकांगी चित्रण है। हिंसा-अहिंसा, युद्ध-शान्ति, संघर्ष-सहयोग और वैर-प्रेम सभी सांसारिक मनुष्यों में युगपद् पाये जाते हैं। बिना अपने हितों का बलिदान किये हम इनमें से किसी की भी अवज्ञा नहीं कर सकते। इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति के भीतर अर्जन अथवा संग्रह करने की प्रवृत्ति विद्यमान है। यह प्रवृत्ति बाल्यावस्था से लेकर वृद्धावस्था तक मनुष्यों में देखी जाती है। कुछ मनोवैज्ञानिकों के अनुसार संग्रह की प्रवृत्ति जन्मजात होती है, पर अन्य मनोवैज्ञानिकों के अनुसार यह अर्जित प्रवृत्ति है। बच्चा किसी वस्तु के आन्तरिक गुणों के द्वारा उसकी ओर आकर्षित नहीं होता वरन् उसका बाह्य आकर्षक रूप ही उसे अपनी ओर खींचता है। अनुभव की वृद्धि के साथ बालक बाह्य गुणों की उपेक्षा कर वस्तुओं के आभ्यन्तरिक गुणों के आधार पर ही उनका संग्रह करने लगता है। इस प्रकार अर्जनात्मकता एक अर्जित गुण है। समाज-दर्शन में मनुष्य की अर्जनात्मक प्रवृत्ति का महत्त्व यह है कि किस सीमा तक समाज, किसी व्यक्ति को संग्रह करने की अनुमति प्रदान कर सकता है जिससे कि व्यक्ति एवं समाज दोनों के हितों की पूर्ण रक्षा हो सके। पूँजीवाद व समाजवाद दोनों ही इस समस्या का अपनी-अपनी दृष्टि से समाधान प्रस्तुत करते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि यद्यपि मानव-समाज में पर्याप्त विभिन्नताएँ पायी जाती हैं, पर फिर भी उन विभिन्नताओं में एकता के सूत्र भी वर्तमान होते हैं। सच पूछा जाय तो मानव-प्रकृति की विशेषताएँ विभिन्नता, भेदता और विरोध को तो उत्पन्न करती ही हैं, साथ-साथ एकता, अभिन्नता और सामञ्जस्य का भी सृजन करती हैं। भेद में अभेद अथवा अभेद में भेद अनुस्यूत है। यही प्रकृति का लक्षण है। मानव-प्रकृति भी इसका अपवाद नहीं है।

कुछ ऐतिहासिक प्रसंग

यहाँ हम कुछ ऐसे ऐतिहासिक प्रसंगों की चर्चा करेंगे जिनसे यह प्रकट हो जायगा कि किस प्रकार मानव-प्रकृति के विश्लेषण को सामाजिक संगठन का आधार बनाया गया है। इस सम्बन्ध में प्लेटो व एरिस्टॉटल के विचार विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

१. प्लेटो—प्लेटो ने आत्मा के दो मुख्य विभाग किये—प्रथम बौद्धिक (Rational) और द्वितीय अबौद्धिक (Irrational)। आगे चलकर अबौद्धिक को पुनः दो भागों में विभाजित किया गया—कुलीन (Noble) और अकुलीन (Ignoble)। इस प्रकार प्लेटो ने बौद्धिक, कुलीन और अकुलीन रूप में आत्मा के तीन विभाजन किये। आधुनिक मनोविज्ञान के बुद्धि (Cognition), संकल्प (Conation) और वेदना (Affection) से इनकी संगति स्थापित की जा सकती है। संसार में बुद्धि-प्रधान, क्रिया-प्रधान व भावना-प्रधान यही तीन प्रकार के व्यक्ति पाये जाते हैं। प्रत्येक व्यक्ति ज्ञान, क्रिया व भावना का पुंज है पर किसी में ज्ञान का आनयन होता है, किसी में क्रिया का, तो किसी में भावना की विशेषता पायी जाती है। प्लेटो ने मानव-स्वभाव के इस विश्लेषण का प्रयोग समाज के संगठन के लिए किया। उसने कहा कि आदर्श-राज्य में तीन प्रकार के वर्ग पाये जाते हैं—१. क्षुधात्मक (Appetitive); २. संवेगात्मक या भावात्मक (Spirited or passionate) और ३. बौद्धिक (Rational)। जिनमें क्रिया का प्राधान्य है वे पृथग्जन (Artisans) या औद्योगिक वर्ग हैं; जिनमें संकल्प, भावना या संवेगों की प्रधानता है वे सैनिक (Soldiers) है तथा जिनमें बुद्धि की विशेषता है वे शासक (Governor) या संरक्षक (Guardians) हैं। तीनों विशेषताएँ प्रत्येक मनुष्य के भीतर पायी जाती हैं पर उनके न्यूनाधिक्य के कारण हम व्यक्तियों को तीन भागों में विभाजित कर उनकी योग्यता के अनुसार समाज के कार्यों का वितरण करते हैं।

२. एरिस्टॉटल—एरिस्टॉटल ने प्लेटो के ही विचारों का समर्थन किया है। उसने भी प्लेटो की भाँति मनुष्य के तीन विविध पक्षों का वर्णन किया है। वे हैं—१. वानस्पतिक पक्ष (Vegetative), २. पाशविक पक्ष (Animal) और ३. बौद्धिक पक्ष (Rational)। बौद्धिक पक्ष को पुनः दो भागों में विभाजित किया गया है—(अ) व्यावहारिक पक्ष—जो हमारे पाशविक मनोवेगों को नियन्त्रित व नियमित करता है; और (ब) सैद्धान्तिक पक्ष—जो स्वयं अपने विशिष्ट लक्ष्यों की पूर्ति में प्रयत्नशील रहता है। एरिस्टॉटल के अनुसार समाज एक नैसर्गिक निष्पत्ति है; इसकी उत्पत्ति के लिए हमें किसी कृत्रिम प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं है। समाज मुख्य रूप से हमारी दो मूल-प्रवृत्तियों पर आधारित होता है—१. आत्म-संरक्षण (Self-preservation); २. जाति-संरक्षण (race-preservation)। सुसंगठित सामाजिक जीवन व्यक्ति का लक्ष्य नहीं है, वरन् उसके अस्तित्व का मूल है। समाज व्यक्तियों का 'कार्य' नहीं, वरन् 'कारण' है। मनुष्य मुख्यतः एक सामाजिक प्राणी है। समाज से अलग हम व्यक्ति की कल्पना भी नहीं कर सकते। समाज-विहीन मनुष्य—यदि उसकी एकान्तता नैसर्गिक है—या तो देवता होगा या पशु। मनुष्य सदा एक सामाजिक प्राणी ही रहेगा।

●

२

समाज
(Society)

'समाज' का प्रत्यय

पिछले अध्याय में हमने देखा कि समाज का एक मनोवैज्ञानिक आधार है जो बहुत नैसर्गिक है। समाज मनुष्यों का एक प्राकृतिक संगठन है। इस अध्याय में हम समाज की 'प्रकृति' के विषय में विचार करेंगे। समाज से हमारा क्या अभिप्राय है? एरिस्टॉटल ने कहा कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। यह मनुष्य अपने करोड़ों वर्षों के इतिहास में क्या करता रहा है? उसने एक संगठन बनाया और ऐसा संगठन जिसमें कुछ बातों की तो उसे मौलिक स्वतंत्रता मिली किन्तु अन्य बातों में उसके ऊपर प्रतिबन्ध लगाया गया; उसे कुछ अधिकार प्रदान किये गये, पर साथ-साथ गुरुतर कर्त्तव्यों का बोझ भी उस पर लाद दिया गया; उसे स्वतंत्रता मिली पर उसके ऊपर नियन्त्रण की व्यवस्था भी लागू की गयी। समाज व्यक्तियों के पारस्परिक संगठन का परिणाम है। इस संगठन में हमारा व्यवहार व आचरण किस प्रकार का हो कि जिससे प्रत्येक व्यक्ति और साथ-साथ समाज अपनी आकांक्षाओं की सिद्धि करता हुआ अपने 'लक्ष्य' की प्राप्ति कर सके, यही समाज-दर्शन की प्रमुख समस्या है। जब हम किसी संगठन की स्थापना करते हैं तो उसके जितने भी अवयव हैं, उनके मध्य एक निश्चित प्रकार का सम्बन्ध होता है। यह सम्बन्ध तीन प्रकार का हो सकता है—

(i) एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति के साथ सम्बन्ध—जैसे पिता का पुत्र के साथ, अध्यापक का शिष्य के साथ सम्बन्ध इत्यादि।

(ii) एक व्यक्ति का समूह के साथ सम्बन्ध—जैसे व्यक्ति का परिवार के साथ, विद्यार्थी का विद्यालय के साथ सम्बन्ध इत्यादि।

(iii) एक समूह का दूसरे समूह के साथ सम्बन्ध—जैसे एक परिवार का दूसरे परिवार के साथ, राज्य का केन्द्र के साथ सम्बन्ध इत्यादि।

तात्पर्य यह है कि एक इकाई का दूसरी इकाई के साथ जो आदर्श सम्बन्ध है, उन्हीं सम्बन्धों के पुंज को ही 'समाज' कहते हैं।

'समाज' की विभिन्न परिभाषाएँ

विभिन्न समाज-शास्त्रियों ने 'समाज' की भिन्न-भिन्न विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए उसे अपने-अपने ढंग से परिभाषित करने की चेष्टा की है। कुछ परिभाषाओं को नीचे दिया जाता है—

(क) टॉमस हॉब्स—"मानव-समाज के अपने ही अनिरुद्ध स्वभाव के परिणाम से बचने के लिए मनुष्य ने जो साधन बनाया है उसे 'समाज' कहते हैं।"[1]

यह परिभाषा इस बात पर विशेष बल देती है कि समाज, हमारी स्वैराचारिता या यथेच्छाचारिता के ऊपर नियन्त्रण का एक साधन है।

(ख) एडम स्मिथ—"मानव-समाज के पारस्परिक सम्बन्धों में मितव्ययिता के कृत्रिम उपाय का नाम 'समाज' है।"[2] उक्त परिभाषा यह दर्शाती है कि समाज की सदस्यता से हमें क्या लाभ हो सकते हैं, पर उसका यह कहना कि समाज एक कृत्रिम उपाय है, अयथार्थ है।

(ग) गिडिंग्स—"समाज स्वयं एक संघ है, एक संगठन है, औपचारिक सम्बन्धों का पुंज है, जिसमें सहयोग देनेवाले व्यक्ति परस्पर सम्बन्धित हैं।"[3] इस परिभाषा की विशेषता यह है कि यह 'समाज' को सम्बन्धों का समुच्चय मानती है, पर इसमें दोष यह है कि यह आवश्यक नहीं है कि इसके सभी सदस्य परस्पर सहयोग ही करते हों। सहयोग और संघर्ष दोनों समाज का निर्माण करते हैं।

(घ) राइट—"समाज का अर्थ केवल व्यक्तियों का समूह ही नहीं है; समूह में रहने वाले व्यक्तियों के जो पारस्परिक सम्बन्ध हैं, उन सम्बन्धों के संगठित रूप को समाज कहते हैं।"[4]

यह परिभाषा भी समाज की मानवीय सम्बन्धों के पुंज के रूप में व्याख्या करती है। समाज-शास्त्र इन मानवीय सम्बन्धों को देश, काल और परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तनशील मानता है, पर समाज-दर्शन उन शाश्वत मानवीय सम्बन्धों का अनुसन्धान करता है जो किसी भी आदर्श समाज और उसकी इकाइयों के मध्य होने चाहिए। समाज-दर्शन आदर्शों और मूल्यों का विज्ञान है; उसका सम्बन्ध 'क्या है?' से नहीं बल्कि 'क्या होना चाहिए' से है। अतः समाज-दर्शन में मानवीय सम्बन्धों के आदर्श को ही समाज कहते हैं।

समाज के मुख्य तत्त्व

समाजशास्त्रियों के अनुसार 'समाज' के छः आधारभूत तत्त्व हैं—१. अमूर्तता, २. समरूपता, ३. विषमरूपता, ४. चैतन्य, ५. सामान्य हित अथवा लक्ष्य, ६. अन्योन्याश्रितता। कुछ समाज-वैज्ञानिकों ने एक सातवें तत्त्व का भी वर्णन किया है जिसे सहयोग और संघर्ष

---

1. Society is a means for the protection of men against the consequences of their own untrammelled natures. —*Thomas Hobbes*
2. Society is an artificial device of mutual economy. — *Adam Smith*
3. Society is the union itself, the organisation, the sum of formal relations, in which associating individuals are bound together. —*Giddings*
4. It is not a group of a people. it is the system of relationship that exists between the individuals of the groups. —*Wright*

कहते हैं। अब हम इनमें से प्रत्येक का सूक्ष्म विवेचन करेंगे।

१. अमूर्तता—यदि मानवीय 'सम्बन्धों' का ही नाम 'समाज' है, तो स्पष्ट है कि समाज स्थूल न होने के कारण हमारे प्रत्यक्ष का विषय कभी नहीं हो सकता। सम्बन्धों के अमूर्त (Abstract) होने के कारण समाज भी अमूर्त ही होगा। जो वस्तु अमूर्त होती है वह दिक्कालानवच्छिन्न होती है; वह देश और काल की सीमा में आबद्ध न होकर सार्वभौम होती है। वह विशेष नहीं वरन् सामान्य है। समाज न तो दृश्य है और न स्पृश्य; वह केवल अनुभव की वस्तु है। कभी-कभी 'समाज' (Society) और 'एक समाज' (A-Society) में भेद किया जाता है। जब हम 'समाज' से 'एक समाज' की ओर बढ़ते हैं तो हम समाज के 'अमूर्त' रूप से 'मूर्त' रूप की ओर, 'सूक्ष्म' रूप से 'स्थूल' रूप की ओर, 'अदृश्य' से 'दृश्य' की ओर तथा 'सामान्य' से 'विशेष' की ओर अग्रसर होते हैं।

२. समरूपता—सामाजिक सम्बन्ध अनेक प्रकार के हो सकते हैं पर उनका एक सामान्य आधार होता है। ये सामान्य आधार, समान-लक्ष्य या समान-हित के रूप में हो सकते हैं। हितों की समरूपता हमारे भीतर सहयोग की भावना को उत्पन्न करती है, पर यही समरूपता कभी-कभी संघर्ष को भी जन्म देती है। भारत और चीन दोनों हिमालय को अपने अधिकार-क्षेत्र में रखना चाहते हैं; उनके हितों में समरूपता है। पर यही समरूपता भारत और चीन के नागरिकों में अपने देश में सहयोग की भावना को उत्पन्न करती है, पर भारत के एक नागरिक और चीन के एक नागरिक के मध्य संघर्ष को जन्म देती है। सहयोग-असहयोग अथवा मैत्री-अमैत्री की भावना तभी उत्पन्न होती है जब जिनके बीच यह भावना उत्पन्न हुई है, उनके स्वार्थों में समानता हो। हमारे स्वार्थ 'आर्थिक', 'राजनीतिक', 'सांस्कृतिक' और कभी-कभी विशुद्ध 'वैयक्तिक' भी हो सकते हैं।

३. विषमरूपता—समाज की इकाइयों में समरूपता के साथ-साथ विषमरूपता भी होनी अनिवार्य है। संसार का प्रत्येक प्राणी एक-दूसरे से कुछ-न-कुछ बातों में भिन्न अवश्य हैं। लिंग-भेद, आयु-भेद, रुचि-भेद, योग्यता-भेद, बुद्धि-भेद इत्यादि सामाजिक सम्बन्धों में सजीवता उत्पन्न करते हैं। पूर्ण अभेदता तो जीवन में जड़ता की वृद्धि करती है। जहाँ विरोध है, विषमता है, वहीं प्राण है, स्पन्दन है, गति है और जीवन है। अतः समाज के लिए समरूपता के साथ-साथ विषमरूपता भी आवश्यक है। हम पहले ही देख चुके हैं कि मानवीय 'सम्बन्धों' का ही नाम समाज है। सम्बन्ध-स्थापन के लिए कम-से-कम दो इकाइयों का होना अनिवार्य है। कल्पना किया कि ये दो इकाइयाँ 'अ' और 'ब' हैं। यदि 'अ' और 'ब' के मध्य आत्यन्तिक समानता है तो 'अ' और 'ब' दोनों एक हो जायेंगे और उनके बीच सम्बन्ध-स्थापन असम्भव हो जायगा। इसी प्रकार यदि 'अ' और 'ब' के बीच आत्यन्तिक विरोध है तो भी उनमें किसी प्रकार के सम्बन्ध की कल्पना नहीं की जा सकती। अतः, सम्बन्ध-स्थापन की सम्भावना के लिए 'अ' और 'ब' के बीच समरूपता और विषमरूपता दोनों अनिवार्य हैं। उनमें **भेदाभेदसम्बन्ध** (Identity-in-Difference) होना चाहिए। विवाह में स्त्री-पुरुष में लैंगिक विषमरूपता है, पर लक्ष्य

की समरूपता विद्यमान है। व्यापार में धनी-निर्धन, पूँजीपति-श्रमिक मिलकर अर्थलाभ करते हैं। इसी प्रकार शक्ति, सामर्थ्य, रुचि आदि विषमताओं के कारण व्यक्ति-व्यक्ति का मेल होता है और समाज के कार्य अग्रसर होते हैं। इसी समरूपता और विषमरूपता के आधार पर ही हिन्दू-समाज में वर्ण-व्यवस्था की स्थापना की गयी है।

यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि यद्यपि समाज में समरूपता और विषमरूपता दोनों ही पायी जाती हैं, परन्तु समरूपता प्रधान है और विषमरूपता गौण। विषमताएँ, समानता का ही पोषण करती हैं। विषमताएँ, समानताओं पर आश्रित हैं। समाज में श्रम-विभाजन का सिद्धान्त क्यों लागू होता है? यह विभाजन इसलिए है कि समाज की इकाइयों के कार्यों में भिन्नता होते हुए भी उनमें 'लक्ष्य' की एकतन्त्रता विद्यमान है। मनुष्य के तात्कालिक उद्देश्यों में विभिन्नता होते हुए भी अन्तिम लक्ष्य एक ही है। अद्वैत वेदान्त के शब्दों में हम कह सकते हैं कि समानता और विभिन्नता के बीच तादात्म्य-सम्बन्ध होना चाहिए। यदि विभिन्नताएँ समानताओं के साथ समरस नहीं हो सकतीं, तो उन विभिन्नताओं को या तो नष्ट कर देना चाहिए या पंगु। तीसरा कोई विकल्प नहीं है।

४. चैतन्य—समाज केवल चेतन इकाइयों के बीच सम्भव है। चैतन्य का अर्थ है 'एक-दूसरे का ज्ञान'। एक-दूसरे का ज्ञान होने के साथ-साथ 'स्व' का ज्ञान भी आवश्यक है। अतः स्वचेतन इकाइयों के पारस्परिक सम्बन्ध को ही समाज कहते हैं। ज्ञान का व्यवहार से भी सम्बन्ध होता है। कुर्सी और पुस्तक का एक-दूसरे के साथ भौतिक सम्बन्ध तो है पर उनके बीच सामाजिक सम्बन्ध कभी नहीं हो सकता, क्योंकि न तो उन्हें एक-दूसरे का ज्ञान है और न उस ज्ञान को व्यवहार-रूप में परिणत होने की सम्भावना ही विद्यमान है।

५. सामान्य हित अथवा लक्ष्य—यह बात तो समरूपता में ही आ जाती है पर इस बात पर बल देना आवश्यक है कि प्रत्येक समाज व उसकी इकाइयों का एक समान लक्ष्य अथवा समान स्वार्थ होता है। यदि समाज की सभी चेतन इकाइयों को एक समान स्वार्थ की ओर केन्द्रीभूत न किया जा सके तो ऐसे समाज में कभी भी शान्ति नहीं हो सकती। ऐसा कोई-न-कोई केन्द्र-बिन्दु अवश्य होना चाहिए जो समाज की सभी इकाइयों का 'लक्ष्य' हो सके।

६. अन्योन्याश्रितता—मनुष्य की आवश्यकताएँ अगणित होती हैं। वह स्वयं सबकी पूर्ति करने में असमर्थ है। अतः, अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मनुष्य को अन्य मनुष्यों पर आश्रित होना पड़ता है। वास्तविक रूप से यदि मनुष्य पूर्ण होता तो शायद उसे समाज की आवश्यकता ही न होती। पर हम जानते हैं कि मनुष्य अपूर्ण है; इस कारण वह अन्य मनुष्यों के ऊपर निर्भर रहे बिना जीवित ही नहीं रह सकता। मनुष्य की यही अपूर्णता उसमें अन्योन्याश्रितता उत्पन्न कर समाज का निर्माण कराती है।

७. सहयोग और संघर्ष—मनुष्य के भीतर सहयोग व संघर्ष दोनों प्रवृत्तियाँ विद्यमान हैं। हममें यूथचारिता (Gregariousness) और युयुत्सा (Aggressiveness) दोनों पायी जाती हैं। दोनों ही समाज का निर्माण करती हैं। सहयोग के द्वारा तो समाज का

कहते हैं। अब हम इनमें से प्रत्येक का सूक्ष्म विवेचन करेंगे।

१. अमूर्तता—यदि मानवीय 'सम्बन्धों' का ही नाम 'समाज' है, तो स्पष्ट है कि समाज स्थूल न होने के कारण हमारे प्रत्यक्ष का विषय कभी नहीं हो सकता। सम्बन्धों के अमूर्त (Abstract) होने के कारण समाज भी अमूर्त ही होगा। जो वस्तु अमूर्त होती है वह दिक्कालानवच्छिन्न होती है; वह देश और काल की सीमा में आबद्ध न होकर सार्वभौम होती है। वह विशेष नहीं वरन् सामान्य है। समाज न तो दृश्य है और न स्पृश्य; वह केवल अनुभव की वस्तु है। कभी-कभी 'समाज' (Society) और 'एक समाज' (A-Society) में भेद किया जाता है। जब हम 'समाज' से 'एक समाज' की ओर बढ़ते हैं तो हम समाज के 'अमूर्त' रूप से 'मूर्त' रूप की ओर, 'सूक्ष्म' रूप से 'स्थूल' रूप की ओर, 'अदृश्य' से 'दृश्य' की ओर तथा 'सामान्य' से 'विशेष' की ओर अग्रसर होते हैं।

२. समरूपता—सामाजिक सम्बन्ध अनेक प्रकार के हो सकते हैं पर उनका एक सामान्य आधार होता है। ये सामान्य आधार, समान-लक्ष्य या समान-हित के रूप में हो सकते हैं। हितों की समरूपता हमारे भीतर सहयोग की भावना को उत्पन्न करती है, पर यही समरूपता कभी-कभी संघर्ष को भी जन्म देती है। भारत और चीन दोनों हिमालय को अपने अधिकार-क्षेत्र में रखना चाहते हैं; उनके हितों में समरूपता है। पर यही समरूपता भारत और चीन के नागरिकों में अपने देश में सहयोग की भावना को उत्पन्न करती है, पर भारत के एक नागरिक और चीन के एक नागरिक के मध्य संघर्ष को जन्म देती है। सहयोग-असहयोग अथवा मैत्री-अमैत्री की भावना तभी उत्पन्न होती है जब जिनके बीच यह भावना उत्पन्न हुई है, उनके स्वार्थों में समानता हो। हमारे स्वार्थ 'आर्थिक', 'राजनीतिक', 'सांस्कृतिक' और कभी-कभी विशुद्ध 'वैयक्तिक' भी हो सकते हैं।

३. विषमरूपता—समाज की इकाइयों में समरूपता के साथ-साथ विषमरूपता भी होनी अनिवार्य है। संसार का प्रत्येक प्राणी एक-दूसरे से कुछ-न-कुछ बातों में भिन्न अवश्य हैं। लिंग-भेद, आयु-भेद, रुचि-भेद, योग्यता-भेद, बुद्धि-भेद इत्यादि सामाजिक सम्बन्धों में सजीवता उत्पन्न करते हैं। पूर्ण अभेदता तो जीवन में जड़ता की वृद्धि करती है। जहाँ विरोध है, विषमता है, वहीं प्राण है, स्पन्दन है, गति है और जीवन है। अतः समाज के लिए समरूपता के साथ-साथ विषमरूपता भी आवश्यक है। हम पहले ही देख चुके हैं कि मानवीय 'सम्बन्धों' का ही नाम समाज है। सम्बन्ध-स्थापन के लिए कम-से-कम दो इकाइयों का होना अनिवार्य है। कल्पना किया कि ये दो इकाइयाँ 'अ' और 'ब' हैं। यदि 'अ' और 'ब' के मध्य आत्यन्तिक समानता है तो 'अ' और 'ब' दोनों एक हो जायेंगे और उनके बीच सम्बन्ध-स्थापन असम्भव हो जायगा। इसी प्रकार यदि 'अ' और 'ब' के बीच आत्यन्तिक विरोध है तो भी उनमें किसी प्रकार के सम्बन्ध की कल्पना नहीं की जा सकती। अतः, सम्बन्ध-स्थापन की सम्भावना के लिए 'अ' और 'ब' के बीच समरूपता और विषमरूपता दोनों अनिवार्य हैं। उनमें **भेदाभेदसम्बन्ध** (Identity-in-Difference) होना चाहिए। विवाह में स्त्री-पुरुष में लैंगिक विषमरूपता है, पर लक्ष्य

की समरूपता विद्यमान है। व्यापार में धनी-निर्धन, पूँजीपति-श्रमिक मिलकर अर्थलाभ करते हैं। इसी प्रकार शक्ति, सामर्थ्य, रुचि आदि विषमताओं के कारण व्यक्ति-व्यक्ति का मेल होता है और समाज के कार्य अग्रसर होते हैं। इसी समरूपता और विषमरूपता के आधार पर ही हिन्दू-समाज में वर्ण-व्यवस्था की स्थापना की गयी है।

यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि यद्यपि समाज में समरूपता और विषमरूपता दोनों ही पायी जाती हैं, परन्तु समरूपता प्रधान है और विषमरूपता गौण। विषमताएँ, समानता का ही पोषण करती हैं। विषमताएँ, समानताओं पर आश्रित हैं। समाज में श्रम-विभाजन का सिद्धान्त क्यों लागू होता है? यह विभाजन इसलिए है कि समाज की इकाइयों के कार्यों में भिन्नता होते हुए भी उनमें 'लक्ष्य' की एकतन्त्रता विद्यमान है। मनुष्य के तात्कालिक उद्देश्यों में विभिन्नता होते हुए भी अन्तिम लक्ष्य एक ही है। अद्वैत वेदान्त के शब्दों में हम कह सकते हैं कि समानता और विभिन्नता के बीच तादात्म्य-सम्बन्ध होना चाहिए। यदि विभिन्नताएँ समानताओं के साथ समरस नहीं हो सकतीं, तो उन विभिन्नताओं को या तो नष्ट कर देना चाहिए या पंगु। तीसरा कोई विकल्प नहीं है।

४. चैतन्य—समाज केवल चेतन इकाइयों के बीच सम्भव है। चैतन्य का अर्थ है 'एक-दूसरे का ज्ञान'। एक-दूसरे का ज्ञान होने के साथ-साथ 'स्व' का ज्ञान भी आवश्यक है। अतः स्वचेतन इकाइयों के पारस्परिक सम्बन्ध को ही समाज कहते हैं। ज्ञान का व्यवहार से भी सम्बन्ध होता है। कुर्सी और पुस्तक का एक-दूसरे के साथ भौतिक सम्बन्ध तो है पर उनके बीच सामाजिक सम्बन्ध कभी नहीं हो सकता, क्योंकि न तो उन्हें एक-दूसरे का ज्ञान है और न उस ज्ञान को व्यवहार-रूप में परिणत होने की सम्भावना ही विद्यमान है।

५. सामान्य हित अथवा लक्ष्य—यह बात तो समरूपता में ही आ जाती है पर इस बात पर बल देना आवश्यक है कि प्रत्येक समाज व उसकी इकाइयों का एक समान लक्ष्य अथवा समान स्वार्थ होता है। यदि समाज की सभी चेतन इकाइयों को एक समान स्वार्थ की ओर केन्द्रीभूत न किया जा सके तो ऐसे समाज में कभी भी शान्ति नहीं हो सकती। ऐसा कोई-न-कोई केन्द्र-बिन्दु अवश्य होना चाहिए जो समाज की सभी इकाइयों का 'लक्ष्य' हो सके।

६. अन्योन्याश्रितता—मनुष्य की आवश्यकताएँ अगणित होती हैं। वह स्वयं सबकी पूर्ति करने में असमर्थ है। अतः, अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मनुष्य को अन्य मनुष्यों पर आश्रित होना पड़ता है। वास्तविक रूप से यदि मनुष्य पूर्ण होता तो शायद उसे समाज की आवश्यकता ही न होती। पर हम जानते हैं कि मनुष्य अपूर्ण है; इस कारण वह अन्य मनुष्यों के ऊपर निर्भर रहे बिना जीवित ही नहीं रह सकता। मनुष्य की यही अपूर्णता उसमें अन्योन्याश्रितता उत्पन्न कर समाज का निर्माण कराती है।

७. सहयोग और संघर्ष—मनुष्य के भीतर सहयोग व संघर्ष दोनों प्रवृत्तियाँ विद्यमान हैं। हममें यूथचारिता (Gregariousness) और युयुत्सा (Aggressiveness) दोनों पायी जाती हैं। दोनों ही समाज का निर्माण करती हैं। सहयोग के द्वारा तो समाज का

निर्माण होता ही है, संघर्ष भी समाज का गठन करता है। यदि समाज में संघर्ष, प्रतियोगिता व प्रतिद्वन्द्विता न होती तो समाज का इतना विकास कभी न होता जितना आज हमें देखने को मिलता है। संघर्ष के लिए सहयोग व सहयोग के लिए संघर्ष की आवश्यकता होती है। दोनों एक-दूसरे के परिपूरक हैं और दोनों समाज का निर्माण करते हैं।

समाज, समुदाय एवं समितियाँ
(Society, Community and Associations)

समुदाय

ऊपर हमने देखा कि 'समाज' प्राणियों के बीच अमूर्त सम्बन्ध का नाम है जिसका हम केवल अनुभव कर सकते हैं पर उसका प्रत्यक्ष नहीं कर सकते। पर जब हम मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का नहीं, वरन् उन मनुष्यों का ही वर्णन करने लगते हैं तब समुदाय (Community) शब्द का प्रयोग किया जाता है। उदाहरण के लिए, एक गाँव में जितने व्यक्ति रहते हैं वे सब मिलकर 'समुदाय' बनाते हैं। इसी प्रकार शहर के लोगों का एक अलग समुदाय है। यदि समाज अमूर्त है तो समुदाय मूर्त। दोनों एक ही वस्तु के दो पहलू हैं। केवल दृष्टिकोण का अन्तर है। जब हमारी दृष्टि सम्बन्धों पर होती है तो वह 'समाज' कहा जाता है, पर सम्बन्धवान् के बिना सम्बन्धों की कल्पना नहीं की जा सकती। अत: जब हमारी दृष्टि उन व्यक्तियों पर केन्द्रित होती है जिनके बीच सामाजिक सम्बन्ध होता है तो उसे 'समुदाय' कहते हैं। मैक आइवर के शब्दों में—"जब किसी समूह के सदस्य, चाहे वह समूह छोटा हो या बड़ा, इस प्रकार एक साथ रहते हैं कि उनका एक साथ रहना किसी विशेष प्रयोजन या विशेष स्वार्थ से ही नहीं होता अपितु उनके साथ-साथ रहने की आधार-भूत बातें भी सब एक-सी होती हैं तब हम उस समूह को समुदाय कहते हैं।"[१] समुदाय के दो आधारभूत तत्त्व हैं—१. स्थानीयता (Locality) और २. सामुदायिक भावना (Community Sentiment)। समुदाय एक मूर्त वस्तु है, इसका क्षेत्र सीमित होता है। पहले समाज का निर्माण हुआ, फिर समुदायों की स्थापना की गयी। समाज में औपचारिक सम्बन्ध पाये जाते हैं, पर समुदाय में सम्बन्ध अनौपचारिक एवं घनिष्ठ होते हैं।

समिति

मनुष्य अपने अभीष्ट की सिद्धि के लिए तीन उपायों का सहारा ले सकता है; (i) वह स्वतन्त्र रूप से बिना किसी की सहायता लिये ही अपने लक्ष्य की सिद्धि कर सकता है पर यह उपाय सामाजिक नहीं है। (ii) दूसरा उपाय यह है कि वह अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए दूसरों के परिश्रम का लाभ उठावे, पर इसके लिए उसे दूसरों से संघर्ष करना

---

1. Whenever, the members of any group, small or large, live together in such a way that they share not this or that particular interest, but the basic conditions of a common life, we call that group a community. —*MacIver*

होगा जिसमें निश्चित नहीं है कि वह सदा विजयी ही रहे। पर यह प्रवृत्ति समाज में विघटन पैदा करती है। (iii) तीसरा उपाय सहयोग का मार्ग है जिससे हम बड़ी आसानी से केवल अपने ही उद्देश्य की सिद्धि नहीं करते वरन् दूसरों के हित-साधन में भी हाथ बँटाते हैं।

'सहयोग' के इस मार्ग में तीन विकल्प उत्पन्न हो सकते हैं—(i) हमारा सहयोग 'आकस्मिक' हो सकता है। (ii) हमारा सहयोग पारिवारिक सम्बन्ध या भाई-चारे के सम्बन्ध के कारण भी हो सकता है। (iii) तीसरे प्रकार का सहयोग वह है जिसमें हम न तो इस बात का विचार करते हैं कि हम एक स्थान के रहने वाले हैं और न यही सोचते हैं कि जिनके साथ हमारा सहयोग हो रहा है उनके साथ हमारी 'एकात्मता' या सामुदायिक भावना है, बल्कि इसमें व्यक्ति किसी निश्चित उद्देश्य की सिद्धि के लिए एक-दूसरे के साथ सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं। जब इस प्रकार का सहयोग हो तो उसे समिति कहते हैं।

भिन्न-भिन्न समाज-शास्त्रियों ने समिति की भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ दी हैं, पर मुख्य बातें समान ही हैं—

१. मैकाइवर—"किसी एक या अनेक स्वार्थों की सिद्धि के लिए दूसरों के सहयोग के साथ जब सोच-विचार कर कोई संगठन बनाया जाता है तब उसे समिति कहते हैं।"[1]

२. जिन्सबर्ग—"किसी निश्चित उद्देश्य या किन्हीं निश्चित उद्देश्यों की सिद्धि के लिए जब कुछ सामाजिक प्राणी एक-दूसरे के साथ मिलकर एक संगठन की रचना करते हैं तब उस संगठन को समिति कहते हैं।"[2]

समिति व्यक्तियों का एक अस्थायी संगठन है जिसके एक या एक से अधिक सामान्य उद्देश्य होते हैं तथा जिसके सदस्यों में सहयोग की भावना आवश्यक है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि समितियाँ समाज की कृत्रिम इकाइयाँ हैं पर समाज और समुदाय नैसर्गिक उपज हैं। अतः हम समाज की नैसर्गिकता पर विचार करेंगे।

समाज के मूलाधार

समाज नैसर्गिक उपज है, अतः इसके कुछ प्राकृतिक आधार हैं। पर साथ-साथ समाज में कुछ परम्परागत अथवा रूढ़िगत विचार भी पाये जाते हैं जिन पर हम क्रमशः विचार करेंगे।

समाज का प्राकृतिक आधार

हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं कि समाज का हमारी मनोवैज्ञानिक

---

1. An organisation deliberately formed for the collective pursuit of some interest or set of interests which the members of it share is termed an association. —*MacIver*
2. A group of social beings related to one another by the fact that they possess or have instituted in common organisation with a view to securing a specific end or specific ends. —*Ginsberg*

आवश्यकताओं के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। सभी प्राणियों की कुछ आवश्यकताएँ होती हैं। ये शारीरिक, मानसिक व सामाजिक तीन प्रकार की होती हैं। ये सभी हमें समाज में रहने को बाध्य करती हैं। बुभुक्षा, प्यास व वासना की शान्ति के लिए मनुष्य को एक-दूसरे के साथ सहयोग करना अनिवार्य हो जाता है। इसके अतिरिक्त हमारे भीतर कुछ मूल प्रवृत्तियाँ, संवेग और आकांक्षाएँ भी होती हैं जो एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति के साथ संयुक्त करती हैं। बुद्धि के विकास के साथ हमारे भीतर जिज्ञासा (Curiosity) का भी विकास होता है जो अपने चारों ओर की वस्तुओं को जानने के लिए प्रवृत्त करती है। विशप बटलर[१] ने एक स्थान पर लिखा है, "एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य की ओर आकर्षण ऐसा स्वाभाविक है कि एक ही देश की भूमि पर विचरण के कारण या एक ही कृत्रिम भू-भाग पर जन्म लेने के कारण या ऐसी कसी अन्य आकस्मिक घटना के कारण व्यक्तियों के बीच परिचय स्थापित हो जाता है।" दैहिक एवं मानसिक आवश्यकताओं के साथ हमारे भीतर कुछ सामाजिक आवश्यकताएँ भी होती हैं जो समाज को जन्म देती हैं; जैसे अर्जनात्मकता, आत्म-स्थापना, सामुदायिकता, युयुत्सा इत्यादि। अतः, निश्चित रूप में समाज का एक प्राकृतिक आधार है।

समाज का रूढ़िगत आधार

समाज का प्राकृतिक आधार होते हुए भी इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि उसके भीतर कुछ परम्परागत तत्त्व भी पाये जाते हैं। मनुष्य एक बौद्धिक प्राणी है जिसमें चयन (Choice), समायोजन (Adaptation) एवं यन्त्रों के निर्माण की शक्ति विद्यमान है। उसके साहचर्य-संगठन निम्न प्राणियों के समान मूल-प्रवृत्त्यात्मक ही नहीं होते, वरन् स्वेच्छापूर्वक, विमर्श द्वारा पर्याप्त सोच-विचार कर स्थापित किये जाते हैं। हमारे शिष्टाचार और हमारी प्रथाओं पर चिन्तन, वंशानुक्रम, आदत, वातावरण के प्रति समायोजन और महान् व्यक्तित्व का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। हमारे नियम-कानून, राज्य-व्यवस्था और सरकार के ये रूप बहुत कुछ विकास की मन्द प्रक्रिया के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुए हैं जिसमें विवेक और मनुष्य की चयनात्मक शक्ति के साथ बाह्य परिस्थितियों, परम्पराओं, रूढ़ियों एवं आकस्मिक घटनाओं के प्रभावों का विशेष योग रहा है। पर यदि समाज-व्यवस्था के इन रूपों को परम्परागत या रूढ़िगत कहा जाय तो साथ-साथ यह भी कहना होगा कि इन परम्पराओं और रूढ़ियों की स्थापना करना भी मनुष्य के स्वभाव का ही एक अंग है। मनुष्य के लिए विशेष नियम, रीति-रिवाज और सरकार की विविध प्रणालियों का होना उतना ही स्वाभाविक है जितना कि चिड़ियों के लिए विशेष प्रकार के घोंसले का होना आवश्यक है। मूल-प्रवृत्तियों के संघात के परिणामस्वरूप जो समूह उत्पन्न होते हैं उनमें प्रायः समानता होती है पर जो समूह विचार, विमर्श एवं चयन के परिणाम होते हैं उनमें विविधता पायी जाती है। वे कुछ अंशों में हमारी मूल-प्रवृत्तियों पर और कुछ अंशों में चयन-शक्ति एवं बदलती हुई परिस्थितियों पर

१. बटलर, सरमन्स ऑन ह्यूमन नेचर, I

आधारित होते हैं। इस प्रकार उनमें समानताएँ एवं विभिन्नताएँ दोनों परिलक्षित होती हैं।

मानव-साहचर्य को नैसर्गिक एवं जैविक रूप में मान्यता देना तथा समाज को एक जीवन्त इकाई के रूप में मानना, समाज के **सावयव सिद्धान्त** (Organic Theory) का प्रतिपादन करना है। इसके विपरीत यह मानना कि मानव-साहचर्य में आकस्मिकता एवं विमर्शात्मक चयन है, **सामाजिक संविदा** (Social Contract) की अवधारणा का पोषण करना है। अब हम समाज की उत्पत्ति एवं उसके स्वभाव-सम्बन्धी सिद्धान्तों का विवेचन करेंगे।

समाज की उत्पत्ति

समाज की उत्पत्ति कब और कैसे हुई इसका कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है। मानव-विज्ञान (Anthropology), जाति-विज्ञान (Ethnology) और तुलनात्मक भाषा-विज्ञान (Philology) के हाल के अनुसन्धानों ने इस विषय पर कुछ प्रकाश डाला है। किन्तु ये सब समाज की उत्पत्ति की तर्कपूर्ण व्याख्या प्रस्तुत नहीं करते। अतः, केवल कल्पना का ही विकल्प शेष रह जाता है। इस अवस्था में समय-समय पर उपस्थित किये गये और प्रत्येक युग की आवश्यकता के अनुसार बदलते हुए कुछ सिद्धान्तों का आलोचनात्मक वर्णन करना आवश्यक हो जाता है। उनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण निम्न हैं—

१. सामाजिक अनुबन्ध का सिद्धान्त (The Theory of Social Contract),
२. दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त (The Theory of Divine Origin),
३. पैतृक सिद्धान्त (The Patriarchal Theory),
४. मातृक सिद्धान्त (The Matriarchal Theory),
५. विकासवादी सिद्धान्त (The Evolutionary Theory)।

१. सामाजिक अनुबन्ध का सिद्धान्त (Theory of the Social Contract)

व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध के विषय में दो भ्रामक एवं एकांगी सिद्धान्त प्रचलित हैं—प्रथम है व्यक्तिवाद (Individualism) और दूसरा है समाजवाद (Socialism)। व्यक्तिवाद के अनुसार व्यक्ति का महत्त्व समाज से अधिक है। समाज व्यक्ति के लिए है। व्यक्ति एवं समाज में बाह्य सम्बन्ध है। समाज व्यक्तियों का केवल संयोग मात्र है। इस सिद्धान्त के अनुसार सरकार को जहाँ तक बन पड़े, व्यक्ति पर निम्नतम शासन करना चाहिए। इंगलैण्ड के प्रसिद्ध दार्शनिक हर्बर्ट स्पेन्सर ने व्यक्तिवाद का प्रबल समर्थन किया था। उनके अनुसार राज्य का अस्तित्व मानव के अहंभाव एवं बुरे विचारों का परिणाम है। उनका कथन है कि राज्य की स्थापना मनुष्य की दुष्प्रवृत्तियों पर सम्यक् नियन्त्रण रखने के लिए तथा एक मनुष्य को दूसरे मनुष्य के अत्याचार से बचाने के लिए हुई है। जॉन स्टुअर्ट मिल (John Stuart Mill) ने भी कहा है कि राज्य-शक्ति के विशेष प्रभुत्व से मनुष्य की मानसिक शक्ति कुण्ठित हो जाती है और उसकी स्वतन्त्र निर्णय-शक्ति में ह्रास हो जाता है। खुली स्पर्धा व्यक्ति की सर्वोत्तम शक्तियों का विकास करती है, उसकी बुद्धि में विकास करती है एवं स्वावलम्बन के भाव दृढ़ करती है। व्यक्तिवाद के प्रबल समर्थकों में टॉमस

हॉब्स (Thomas Hobbes), लॉक (Locke) और रूसो (Rousseau) के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उनके सिद्धान्त को समाज का सामाजिक अनुबन्ध या सामाजिक संविदा का सिद्धान्त कहते हैं क्योंकि इनके अनुसार समाज एक प्रकार का समझौता (Contract) है।

संक्षिप्त इतिहास—सामाजिक अनुबन्ध का सिद्धान्त दैवी सिद्धान्त के विरोध में अस्तित्व में आया। इस सिद्धान्त के अनुसार समाज दैवी न होकर मानवीय संस्था है और दैवी इच्छा का नहीं वरन् उस सामाजिक अनुबन्ध का परिणाम है जिसे प्राकृतिक अवस्था में रहने वाले मनुष्यों ने अपनी इच्छा से जान-बूझ कर किया था। इस सिद्धान्त का इतिहास अति प्राचीन है। यूनान में सर्वप्रथम सोफिस्टों (Sophists) ने इसका प्रतिपादन किया। उनका मत था कि समाज एक कृत्रिम संस्था है और संविदा का प्रतिफल है। समाज स्वार्थों से उत्पन्न संस्था है। प्लेटो और एरिस्टॉटल ने इस सिद्धान्त की आलोचना की किन्तु एपिक्यूरियन विचारधारा वालों ने इसका समर्थन किया। उन्होंने कहा कि सामाजिक और वैधानिक सम्बन्ध मनुष्य के स्वार्थों पर निर्भर होते हैं और वह कानून को इसलिए मानता है क्योंकि उसमें उसकी भलाई और सुरक्षा होती है। रोम में भी इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया। ग्यारहवीं शताब्दी में मेनगोल्ड (Manegold) ने कहा कि यदि "राजा उस समझौते को भंग करता है जिसके अनुसार उसे राजा चुना गया था तो उसे अपने पद से हटाया जा सकता है।"[१] तेरहवीं शताब्दी में टॉमस एक्वीनास ने भी इसी मत का समर्थन किया। सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में यह सिद्धान्त बहुत ही लोकप्रिय रहा। पाश्चात्य जगत् में इस मत के तीन प्रबल समर्थक हुए हैं—हॉब्स, लॉक और रूसो। भारत में भी यह सिद्धान्त प्रचलित रहा है। महाभारत के शान्तिपर्व में ऐसा उल्लेख है कि पहले 'जिसकी लाठी, उसकी भैंस' का बोलबाला था। सबल निर्बल का नाश करके स्वयं सुख प्राप्त करते थे। तंग आकर सब मनुष्यों ने परस्पर समझौता किया और ब्रह्मा के परामर्श से मनु को अपना राजा और शासक स्वीकार किया। चाणक्य ने अपने अर्थशास्त्र में लिखा है कि 'मत्स्य-न्याय' से अभिभूत हुई प्रजा ने वैवस्वत मनु को अपना राजा बनाया और अपने धान्य का छठा भाग तथा पुण्य एवं सुवर्ण का दसवाँ भाग उसके 'भागधेय' रूप में उसे देने की व्यवस्था की।

अब हम सामाजिक अनुबन्ध सिद्धान्त की व्याख्या उसके विभिन्न पहलुओं का दिग्दर्शन करते हुए प्रस्तुत करेंगे।

हाब्स (Hobbes)

मानव-स्वभाव की व्याख्या

हॉब्स ने अपनी पुस्तक लेवियथन (Leviathan) में, लॉक ने 'ट्रिटाइज़ ऑन गवर्नमेण्ट' (Treatise on Government) में तथा रूसो ने 'सोशल कॉण्ट्रैक्ट' (Social

१. सबाइन, ए हिस्ट्री ऑव पोलिटिकल थिउरी, पृष्ठ २२१

Contract) में सामाजिक अनुबन्ध के सिद्धान्त का विवेचन प्रस्तुत किया है। यहाँ हम केवल हॉब्स के विचारों का वर्णन करेंगे।

हॉब्स, एरिस्टॉटल के इस मत से सहमत नहीं हैं कि "मनुष्य सामाजिक प्राणी है।" इसके विपरीत उसका कहना है कि "मनुष्य असामाजिक प्राणी है। मानव को वस्तुएँ या तो आकर्षित करती हैं या विकर्षित। आकर्षण को इच्छा कहा जाता है और विकर्षण को घृणा।"[१] मनुष्य जो भी इच्छा करता है उसमें उसका स्वार्थ निहित है। "जिन वस्तुओं से वह आकर्षित होता है उन्हें वह अच्छी कहता है, जिन्हें वह नहीं चाहता, उन्हें बुरा कहता है। अच्छाई या बुराई वस्तुओं में नहीं बल्कि मानव-भावना में है।"[२] मानव कभी भी परोपकारी नहीं हो सकता; वह केवल अपने स्वार्थ की पूर्ति की चेष्टा करता है। "प्रकृति ने सभी मनुष्यों को शारीरिक शक्तियों और मानसिक बुद्धि में समान बनाया है। इसलिए जिस लाभविशेष की माँग एक करता है, उसे दूसरा भी करता है। शारीरिक शक्ति में एक व्यक्ति दूसरे से शक्तिशाली हो सकता है, परन्तु अन्य लोग गुप्त कपट द्वारा या गुटबन्दी करके उसे मार सकते हैं?"[३] जब एक ही वस्तु को कई व्यक्ति प्राप्त करना चाहते हैं तो वे एक-दूसरे के प्रति प्रतिस्पर्धा और अविश्वास करने लगते हैं तथा एक-दूसरे को नष्ट करने का षड्यन्त्र रचते हैं। "अतः हम मानव-स्वभाव में झगड़े के तीन प्रमुख कारण देखते हैं—प्रथम, प्रतिस्पर्धा, द्वितीय, पारस्परिक अविश्वास और तीसरा वैभव। प्रतिस्पर्धा के कारण वे लाभ के लिए, विश्वास के अभाव के कारण रक्षा के लिए तथा वैभव-प्राप्ति के कारण वे प्रसिद्धि के लिए, परस्पर झगड़ते हैं।"[४] अपने इस स्वभाव के कारण ऐसी किसी शक्ति के अभाव में जो उन्हें वश में रखे, वे एक-दूसरे को नष्ट करने में लगे रहते हैं।

पर उपर्युक्त विवेचन का यह अर्थ नहीं है कि मनुष्य के भीतर केवल आसुरी प्रवृत्तियों का ही साम्राज्य है। हॉब्स के अनुसार मनुष्य के भीतर आसुरी और दैवी दोनों प्रवृत्तियाँ विद्यमान हैं। "मनुष्य में कुछ इच्छाएँ ऐसी भी होती हैं जो उसे युद्ध के लिए नहीं, वरन् शान्ति एवं मैत्री के लिए प्रेरित करती हैं। आराम की इच्छा, ऐन्द्रिक सुख की इच्छा, मृत्यु का भय, परिश्रम द्वारा प्राप्त वस्तुओं के भोग की इच्छा उसे एक शक्ति की आज्ञा मानने के लिए बाध्य कर देती है।"[५] कारण यह है कि उसी के नियन्त्रण में रहकर उसकी स्वार्थमयी इच्छाएँ पूर्ण हो सकती हैं।

यद्यपि हॉब्स के अनुसार मनुष्य में आसुरी और दैवी दोनों प्रवृत्तियाँ पायी जाती हैं, पर फिर भी उसमें आसुरी प्रवृत्तियों का विशेष आनयन है। मूल रूप से मनुष्य स्वार्थी है; वह स्वार्थ-सिद्धि के लिए ही दैवी गुणों का आवाहन करता है। मुख्यतः सभी मनुष्य

१. हॉब्स, लेवियथन, भाग १, अध्याय ६ (३८ ff)
२. हॉब्स, लेवियथन, भाग १, अध्याय ६ (३८ ff)
३. हॉब्स, लेवियथन, भाग १, अध्याय ६ (३८ ff)
४. हॉब्स, लेवियथन, भाग १, अध्याय १३ (११० ff)
५. हॉब्स, लेवियथन, भाग १, अध्याय II (८६-८७)

स्वार्थी, अहंकारी, लोभी तथा एक-दूसरे के विरोधी होते हैं तथा दया, सहानुभूति, प्रेम, परोपकार इत्यादि सद्गुणों का यदि कभी उनके भीतर उदय होता है तो वह भी उनके किसी स्वार्थ की सिद्धि के कारण ही होता है। समाज के अस्तित्व के पहले, हॉब्स ने एक ऐसी प्राकृतिक अवस्था की कल्पना की है जिसमें मनुष्य बिना किसी अंकुश के स्वतन्त्रतापूर्वक रहते हैं। **प्राकृतिक अवस्था** (State of Nature) में "जब मनुष्य एक ऐसी शक्ति बिना रहते हैं, जो उन्हें भयभीत रख सके, युद्ध की अवस्था कही जाती है और ऐसी दशा में उद्योग, संस्कृति, नौ-चालन, भवन-निर्माण, यातायात के साधनों, ज्ञान, समाज आदि के लिए कोई स्थान नहीं होता।...... मनुष्य का जीवन एकाकी, दीन, अपवित्र, पाशविक एवं क्षणिक होता है।"[१] "चाहे जो छीनो अथवा चाहे जिसे मार डालो" की अवस्था थी। इसमें प्रत्येक व्यक्ति एक-दूसरे के लिए भेड़िया रूप था।

प्राकृतिक अवस्था के साथ-साथ हॉब्स ने एक **प्राकृतिक व्यवस्था** (Law of Nature) की भी चर्चा की है जिसका पालन करके मनुष्य अराजकता में भी सुखपूर्वक रह सकते हैं। उसने इनको 'शान्ति की धाराएँ' नाम दिया है। ये विवेक पर आधारित हैं। "प्राकृतिक नियम वह नियम है जो विवेक द्वारा खोजा गया है, जिसके द्वारा मनुष्य के लिए वे कार्य निषिद्ध हैं जो जीवन के लिए विनाशकारी हैं या जिनसे जीवन की रक्षा के साधनों का हरण होता है तथा वे कार्य स्वीकार्य हैं जिनसे जीवन की रक्षा होती है।"[२] हॉब्स ने उन्नीस ऐसे नियम बताये हैं जिनसे जीवन सुरक्षित रहता है। पर मनुष्य के भीतर आसुरी शक्तियों के आनयन के कारण उक्त नियमों का ठीक प्रकार पालन नहीं हो पाता जिसके परिणामस्वरूप अराजक अवस्था में मनुष्यों का जीवन "एकाकी, दीन, अपवित्र, पाशविक एवं क्षणिक" हो जाता है।

अनुबन्ध का उद्देश्य

हॉब्स के अनुसार समाज समझौते या अनुबन्ध का परिणाम है। मनुष्य को अपनी आसुरी सम्पदा के ऊपर अंकुश रखने के लिए बाह्य-नियन्त्रण की आवश्यकता होती है। समाज ऐसे ही नियन्त्रण की आवश्यकता की पूर्ति करता है। अराजक अवस्था में मनुष्यों का जीवन सदा खतरे में रहता था और अपने जीवन के प्रति मोह के कारण ही उन्होंने सुरक्षा के लिए परस्पर समझौता किया। उनकी संविदा या अनुबन्ध का अभिप्राय यह था कि सबकी सहमति से एक ऐसी शक्ति उत्पन्न की जाय जो सबको अपने आदेश में रखे और सबको अपनी आज्ञा का पालन करने के लिए विवश कर सके और सब उस शक्ति को अपने अधिकार समर्पित कर दें, जिससे वह बाह्य-आक्रमणकारियों तथा आन्तरिक अव्यवस्था से उनके जीवन की रक्षा कर सके तथा इस प्रकार उनके लिए शान्तिमय जीवन सम्भव बना सके। इस समझौते को स्वीकार करके सब व्यक्तियों ने अपने प्राकृतिक अधिकारों का परित्याग कर, सामाजिक प्रतिबन्धों के नियन्त्रण में रहना स्वीकार किया।

---

१. हॉब्स, लेवियथन, भाग १, अध्याय १३ (११२-१३)
२. वही; अध्याय १४-१५ (११६ ff)

इस समझौते के परिणामस्वरूप राज-सत्ता की भी स्थापना हुई और वह राज-सत्ता किसी दल के रूप में सम्मिलित नहीं हुई। अतः, उसके अधिकार असीमित एवं निरंकुश हैं। चूँकि समझौता सब व्यक्तियों ने अपनी स्वतन्त्र इच्छा से किया है, अतः समझौते के बाद उससे अलग होने का उन्हें अधिकार प्राप्त नहीं है। सामाजिक संप्रभुता (Social Sovereignty) में रहने से ही व्यक्ति के व्यक्तित्व का समुचित विकास हो सकता है।

जॉन लॉक (John Locke)

लॉक ने अपनी पुस्तक (Two Treatises on Government) में सामाजिक अनुवन्ध-सिद्धान्त का सफल विवेचन प्रस्तुत किया है।

मानव-स्वभाव

लॉक की मानव-स्वभाव की व्याख्या हॉब्स से बिलकुल विपरीत है। हॉब्स ने मनुष्य को स्वार्थी, युयुत्सु और जंगली बताया है, पर लॉक ने उसे सहयोगी तथा सामाजिक माना है। हॉब्स ने मनुष्य की आसुरी प्रवृत्तियों पर बल दिया, पर लॉक आसुरी प्रवृत्तियों की अपेक्षा दैवी प्रवृत्तियों पर विशेष बल देता है। उसके अनुसार मनुष्य समाज-प्रिय, सहयोगी, प्रेम और दया का पोषक और स्वभाव का अच्छा है। वह नैतिक तथा शान्तिप्रिय है और उसके पारस्परिक सम्बन्धों में प्रेम का साम्राज्य है। ''सब मनुष्य प्रकृतितः एक समानता की अवस्था में है जिसमें सम्पूर्ण शक्ति और अधिकार-क्षेत्र पारस्परिक है तथा किसी को दूसरे से अधिक अधिकार प्राप्त नहीं है क्योंकि इससे अधिक स्पष्ट बात कोई दूसरी नहीं है कि एक ही नस्ल एवं वंश की सन्तान जिन्हें प्रकृति से सब लाभ समान रूप से प्राप्त होते हैं, बिना किसी आधिपत्य या अधीनता के समान हों।''[१] पर लॉक के इस कथन का तात्पर्य यह नहीं है कि मनुष्य शारीरिक एवं बौद्धिक शक्तियों में समान है; इसका अर्थ केवल इतना ही है कि नैतिक दृष्टि से सभी मनुष्य समान हैं और सबको अपने व्यक्तित्व के विकास का समान अधिकार प्राप्त है।

प्राकृतिक अवस्था

हॉब्स ने कहा कि समाज के अस्तित्व के पहले मनुष्य का जीवन एकाकी, दीन, अपवित्र, पाशविक और क्षणिक होता है, पर लॉक के अनुसार यह अवस्था शान्ति, सम्पन्नता, सहयोग, समानता तथा स्वतन्त्रता की अवस्था है जिसमें मनुष्य सामाजिक होता है। ''यद्यपि यह स्वतन्त्रता की अवस्था है तथापि यह स्वेच्छाचारिता (Licence) की अवस्था नहीं है। यद्यपि इस अवस्था में मनुष्य को अपने व्यक्तित्व या सम्पत्ति के प्रयोग की अमर्यादित स्वतन्त्रता है पर उसे तब तक अपने को नष्ट करने की स्वतन्त्रता नहीं है जब तक कि ऐसा करने की आवश्यकता जीवन बनाये रखने के अतिरिक्त किसी अन्य अच्छे उद्देश्य के लिए न हो।''[२]

---

१. लॉक, ऑव सिविल गवर्नमेण्ट, ११४, IV, २१

२. वही, II; ६-८, १०-१३

इस प्राकृतिक अवस्था में एक प्राकृतिक व्यवस्था है और वह विवेक की अवस्था है। लॉक के अनुसार "विवेक, विवेक को काम में लाने वाली सम्पूर्ण मानवता को सिखाता है कि सभी मनुष्य समान तथा स्वाधीन हैं। अतः, किसी को भी दूसरे के जीवन, स्वास्थ्य, स्वतन्त्रता एवं सम्पत्ति को हानि नहीं पहुँचानी चाहिए।"[१] इस प्रकार लॉक का विचार है कि "मनुष्यों को दूसरे के अधिकारों पर आक्रमण करने और हानि पहुँचाने से रोका जाना चाहिए; सबको उस प्राकृतिक व्यवस्था को मानना चाहिए जो शान्ति एवं सम्पूर्ण मानवता की सुरक्षा चाहती है तथा उस प्राकृतिक अवस्था के कार्यान्वित होने का अर्थ यह है कि प्रत्येक मनुष्य को यह अधिकार है कि वह व्यवस्था का उल्लंघन करने वालों को उतना दण्ड दे सके जितना उसका उल्लंघन रोकने के लिए आवश्यक हो।"[२] "जो भी मनुष्यों का रक्त बहायेगा, मनुष्य द्वारा उसका रक्त बहाया जायेगा।"[३] इस प्रकार के अन्य मियमों का निर्माण हम प्राकृतिक व्यवस्था के उक्त स्वरूप पर ही आधारित कर सकते हैं।

यहाँ हॉब्स एवं लॉक की प्राकृतिक अवस्था में तुलना करना अप्रासंगिक नहीं होगा। दोनों ही मनुष्य की आसुरी एवं दैवी सम्पदाओं में विश्वास करते हैं तथा दोनों के अनुसार प्राकृतिक अवस्था में एक प्रकार की प्राकृतिक व्यवस्था निवास करती है। दोनों में अन्तर यह है कि हॉब्स ने मनुष्य की आसुरी प्रवृत्तियों पर विशेष बल दिया है जिस पर समाज का नियन्त्रण होना आवश्यक है और तभी हम अपने दैवी गुणों के अनुसार जीवन-यापन कर सकते हैं। इसके विपरीत, लॉक ने मनुष्य की दैवी सम्पदा को प्रधान माना है। समाज का कार्य केवल इतना ही है कि वह इस प्रकार की व्यवस्था करे कि हम निर्बाध रूप से अपनी दैवी प्रवृत्तियों के अनुसार अपना सुचारु रूप से कार्य कर सकें। यहाँ हॉब्स की अपेक्षा लॉक के विचार अधिक सही एवं तर्क-संगत प्रतीत होते हैं।

सामाजिक संविदा का उद्भव

लॉक के अनुसार यद्यपि मनुष्य की प्राकृतिक अवस्था आदर्श अवश्य है, किन्तु वह व्यावहारिक नहीं है। इसमें तीन त्रुटियाँ हैं—पहली त्रुटि यह है कि इसमें कोई सुनिश्चित स्पष्ट एवं सर्वमान्य व्यवस्था नहीं है जिसके द्वारा उचित-अनुचित का निर्णय किया जा सके। दूसरी त्रुटि यह है कि इसमें कोई प्रकट एवं निष्पक्ष निर्णायक नहीं है जिसे निश्चित व्यवस्था के अनुसार मत-भेदों के निर्णय करने का अधिकार हो। एक तीसरी कमी निर्णयों को कार्यान्वित करनेवाली शक्ति का अभाव है। इन असुविधाओं से मुक्त होने के लिए मनुष्यों ने संविदा या अनुबन्ध द्वारा एक समाज की स्थापना की।

इसके लिए मनुष्यों ने दो प्रकार के समझौते किये—प्रथम समझौता वह है जो मनुष्यों में आपस में होता है जिसके परिणामस्वरूप समाज की स्थापना हुई। दूसरे प्रकार

१. लॉक, ऑव सिविल गवर्नमेण्ट, II, ६-८, १०-१३
२. लॉक, ऑव सिविल गवर्नमेण्ट, II, ६-८, १०-१३
३. वही

का समझौता समाज के मनुष्य मिल कर शासक से करते हैं जिसके द्वारा राज्य-संस्था की उत्पत्ति होती है। परस्पर अनुबन्ध द्वारा मनुष्य यह निश्चय करते हैं कि वे अपने सम्बन्ध में व्यवस्था करने का अधिकार समाज को देते हैं। समाज को उन नियमों और कानूनों को बनाने का अधिकार होगा जिन्हें वह मनुष्य के वैयक्तिक एवं सामाजिक हित के लिए उपयोगी समझेगा। अब मनुष्य प्राकृतिक अवस्था में न रहकर सामाजिक अवस्था में रहेंगे तथा प्राकृतिक व्यवस्था का स्थान समाज द्वारा निर्मित व्यवस्था ले लेगी जिसमें उचित-अनुचित तथा कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का निर्णय प्रत्येक व्यक्ति द्वारा अस्पष्ट प्राकृतिक नियमों के अनुसार नहीं अपितु समाज द्वारा निर्मित स्पष्ट कानूनों के अनुसार होगा।

रूसो (Rousseau)

रूसो ने सामाजिक अनुबन्ध-सिद्धान्त की व्याख्या अपनी तीन प्रसिद्ध पुस्तकों The Social Contract, Emile और The Nouvelle Heloise में प्रस्तुत किया है। रूसो का समाज-दर्शन में एक अप्रतिम स्थान है जिन्होंने संसार को 'स्वतन्त्रता', 'समानता' और 'भ्रातृत्व' का संदेश दिया और उस जनतन्त्र की आधारशिला रक्खी जो आज विश्व में सर्वत्र व्याप्त है। फ्रांस की राज्य-क्रान्ति के अग्रदूत के रूप में रूसो ने अपने आपको अमर बना दिया।

मानव-स्वभाव

रूसो के मानव-स्वभाव की व्याख्या हॉब्स के विपरीत पर लॉक से काफी मिलती-जुलती है। उसके अनुसार मनुष्य स्वभावतः एक अच्छा प्राणी है। स्वार्थ-साधन-मनोवृत्ति के साथ-साथ परोपकार, दया और दाक्षिण्य की भावना भी उसमें होती है। वह स्वभावतः स्वतन्त्र है तथा सबके समान अपने को समान व आत्म-निर्भर समझता है। उसमें अपने-पराए की भावना भी नहीं होती और न वह भविष्य के लिए धन-संग्रह ही करता है। मनुष्य निर्भय, शान्तिपूर्ण एवं सन्तुष्ट प्राणी है तथा उसमें घृणा, द्वेष, वैर तथा अहंकार आदि दुर्भावनाओं का स्वभावतः अभाव होता है। उसकी आवश्यकताएँ भी सीमित हैं। वह अपने-आप में सुखी होता है। उसे पाप-पुण्य की भावना से कोई मतलब नहीं। इस प्रकार रूसो ने मनुष्य की आसुरी वृत्तियों की अपेक्षा उसकी दैवी वृत्तियों पर विशेष बल दिया है।

प्राकृतिक अवस्था

रूसो के अनुसार, प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य में पशुओं की भाँति स्वाभाविकता होती है। वह अपने प्रकृत रूप में तो स्वतन्त्र था पर सामाजिक व्यवस्था ने उसे परतन्त्र बना दिया। रूसो की प्रसिद्ध उक्ति है, "मनुष्य स्वतन्त्र उत्पन्न होता है फिर भी प्रत्येक स्थान पर वह परतन्त्र है।"[१] अपनी प्रकृत अवस्था में मनुष्य का जीवन सरल, शान्त,

---

१. रूसो, सोशल कॉण्ट्रैक्ट I (२३)—'Man is born free, however, he is everywhere in chains.'

सन्तुष्ट और सुखमय था। उसकी वह आदर्श अवस्था थी जिसमें मानव एक आदर्श बर्बर (Noble Savage) था। वह न तो कायर था और न राक्षस। उसके अन्दर समता का भाव विद्यमान था। उसके क्रिया-कलाप नैसर्गिक शक्तियों द्वारा संचालित थे तथा बुद्धि का दुरुपयोग करना उसने नहीं सीखा था। उस समय अच्छाई-बुराई, पाप-पुण्य, ऊँच-नीच, अपना-पराया का कोई भेद-भाव नहीं था। प्रत्येक व्यक्ति अपना स्वामी व आत्मनिर्भर था। प्रकृति का नियम जो उनके व्यवहारों को संचालित करता था यह था कि "अपने हित को देखो किन्तु दूसरों की कम-से-कम सम्भव हानि हो।" सारांश यह है कि प्रकृति की यह अवस्था आदर्श आनन्द की अवस्था थी।

सामाजिक अनुबन्ध

रूसो के अनुसार, मनुष्य की जिस प्रकृत आदर्श अवस्था का ऊपर वर्णन किया गया है वह अधिक दिनों तक स्थिर न रह सकी। सभ्यता और संस्कृति के विकास के साथ मनुष्य में निजी सम्पत्ति का विचार आया। लोगों की आवश्यकताएँ बढ़ने लगीं। उन्होंने पशुओं से अपनी रक्षा करने के लिए हथियार भी बनाना प्रारम्भ कर दिया। धीरे-धीरे अपने-पराए की भावना का विकास हुआ और निजी सम्पत्ति की मान्यता अस्तित्व में आयी। रूसो ने लिखा है कि "वह पहला व्यक्ति समाज का वास्तविक जन्मदाता था, जिसने एक भू-भाग को बाड़े से घेरकर यह कहा कि यह मेरी भूमि है और जिसे उसके उस कथन के प्रति विश्वास करने वाले सरल व्यक्ति मिल गये थे।"[१] व्यक्तिगत सम्पत्ति के कारण युद्ध, कलह, द्वेष और हिंसा आदि का प्रादुर्भाव हुआ। शक्ति-परीक्षण के साथ अहंकार का जन्म हुआ और ऊँच-नीच की भावना उत्पन्न हुई। सभ्यता के विकास के साथ प्राकृतिक अवस्था में परिवर्तन हुआ और मानव का उत्तरोत्तर पतन होता चला गया।

प्रतियोगिता एवं प्रतिस्पर्धा की वृद्धि के साथ आये दिन लोगों में संघर्ष होने लगे। सभी लोग व्यग्र और व्याकुल रहने लगे। स्वभावतः सबने यह सोचना आरम्भ किया कि ऐसा कोई उपाय निकलना चाहिए जिससे जीवन में जो प्रतियोगिता और संघर्ष है उससे मुक्ति मिले और मनुष्य निश्चिन्त होकर शान्तिपूर्वक अपना जीवन व्यतीत कर सके। परिणामस्वरूप एक अनुबन्ध की स्थापना हुई जिसमें "प्रत्येक अपने व्यक्तित्व और अपनी पूर्ण शक्ति को सामान्य प्रयोग के लिए सामान्य इच्छा के सर्वोच्च निर्देशन के अधीन समर्पित कर देता है तथा एक समूह के रूप में हममें से प्रत्येक व्यक्तिसमूह के अविभाज्य अंग के रूप में प्राप्त कर लेता है।"[२] (अपने व्यक्तित्व तथा अपनी पूर्ण शक्ति को)

उक्त अनुबन्ध से मनुष्य के जीवन में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आ जाते हैं। उसके आचरण में प्राकृतिक शक्ति का स्थान न्याय ले लेता है और उसके कार्यों में नैतिकता का समावेश हो जाता है जिसके पहले उसमें अभाव था। रूसो के शब्दों में, "जो कुछ समझौते से मनुष्य खोता है वह है प्राकृतिक स्वतन्त्रता और किसी भी वस्तु को पाने का असीमित अधिकार। इसके

१. रूसो, सोशल कॉण्ट्रैक्ट।
२. रूसो, सोशल कॉण्ट्रैक्ट I, ६ (३३-३४)

बदले में जो कुछ वह पाता है वह है नागरिक स्वतन्त्रता और अपनी सभी वस्तुओं पर सुरक्षित स्वामित्व।"[1] दूसरी महत्त्वपूर्ण बात जो इस सिद्धान्त में पायी जाती है, वह है व्यक्ति के स्थान पर समष्टि तथा व्यक्ति की इच्छा के स्थान पर **सामान्य इच्छा** (General Will) का आनयन। सामान्य इच्छा सदैव न्याय-युक्त होती है और जन-हित उसका लक्ष्य होता है। रूसो के अनुसार सामाजिक अनुबन्ध से सरकार की स्थापना नहीं होती वरन् सामान्य इच्छा पर आधारित एक सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न समाज की स्थापना होती है और सरकार प्रभुत्व-शक्ति द्वारा नियुक्त यन्त्र-मात्र ही है। रूसो के समाज या राज्य की सर्वोच्च शक्ति सामान्य इच्छा है जो असीमित, अविभाज्य, विधि का स्रोत, आदर्श एवं यथार्थ होती है।

समीक्षा

सामाजिक अनुबन्ध के सिद्धान्त को विचारकों ने ऐतिहासिक दृष्टिकोण से काल्पनिक, दार्शनिक दृष्टिकोण से असंगत एवं विधि के दृष्टिकोण से व्यर्थ एवं अशक्त कहा है। इतिहास द्वारा हमें किसी ऐसे युग के अस्तित्व का प्रमाण नहीं मिलता जब मनुष्य पूर्णत: संगठन विहीन रहा हो। इसके अतिरिक्त यदि यह स्वीकार भी कर लिया जाय कि मानव-इतिहास में कभी प्रकृत अवस्था थी तो फिर उस समय के लोगों में ऐसी सामाजिक चेतना कभी नहीं हो सकती जिसके अनुसार परस्पर समझौता कर वे एक उन्नत समाज की स्थापना कर सकें।

दार्शनिक दृष्टिकोण से सामाजिक-अनुबन्ध-सिद्धान्त को उचित ठहराया गया है। काण्ट ने इसका खुलकर समर्थन किया है। "समझौते को ऐतिहासिक तथ्य नहीं मानना चाहिए, क्योंकि उस रूप में यह असम्भव है। परन्तु यह एक युक्तियुक्त विचार है जिसकी व्यावहारिक उपयोगिता यह है कि व्यवस्थापक अपने कानूनों की व्यवस्था इस प्रकार करे मानो वे एक सामाजिक समझौते के परिणाम हों।" पर फिर भी इसमें कुछ त्रुटियाँ अवश्य हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति स्वेच्छा से समझौता करता है जिसका अर्थ यह हुआ कि उसे स्वेच्छा से अलग होने का भी अधिकार है किन्तु यह असम्भव है। समाज अनुबन्ध का परिणाम नहीं है; यह स्वाभाविक उपज है। यह मनुष्य के सामाजिक स्वभाव पर निर्भर है। समाज कोई कृत्रिम संस्था नहीं है, अपितु वह मानव की सामाजिक प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति मात्र है।

विधि-सम्बन्धी दृष्टिकोण से भी यदि इस सिद्धान्त का परीक्षण किया जाय तो यह खरा नहीं उतरेगा। कोई भी समझौता उन्हीं लोगों पर लागू होता है जिनके मध्य समझौता किया जाता है। किसी अज्ञात समय में, अज्ञात व्यक्तियों के बीच किया गया समझौता आगे आनेवाले व्यक्तियों पर भी लागू हो, यह कानूनी दृष्टि से ठीक नहीं है। दूसरी बात यह है कि प्रत्येक समझौता, समझौता तभी माना जायेगा जब उसे पालन कराने वाली एक शक्ति हो। पर इस शक्ति की सत्ता का कहीं भी अनुबन्ध-सिद्धान्त में उल्लेख नहीं किया गया है। अत: यह सिद्धान्त एक कोरी कल्पना मात्र ही है।

---

१. रूसो, सोशल कॉण्ट्रैक्ट I, ८, (३६-३७) : ११४ (४६)

सामान्य इच्छा (General Will)

सामाजिक चिन्तन में रूसो द्वारा प्रतिपादित सामान्य इच्छा का विशेष महत्त्व है। यह विचारधारा जनतन्त्र की आधारशिला है। कॉण्ट, हेगल, बोसांके, ग्रीन इत्यादि दार्शनिकों का विज्ञानवाद इसी सामान्य इच्छा की अवधारणा पर आधारित है। पर सामान्य-इच्छा पर विचार करने के पहले **संघबद्ध निगमित कार्य** (Corporate Action) पर विचार कर लेना आवश्यक है।

संघबद्ध निगमित कार्य

सामाजिक संगठन की कोई व्यवस्थित प्रणाली प्रायः निर्णय करती है और उस निर्णय को कार्यरूप में परिणत करने का भी प्रयत्न करती है। अतः, वैधानिक रूप में, इस प्रकार के समूहों या निगमों के साथ व्यक्ति (Person) के रूप में व्यवहार किया जाता है। जिस प्रकार कोई व्यक्ति निर्णय लेता है और उसके अनुसार आचरण करता है, ठीक उसी प्रकार समूह या निगम भी निर्णय लेते हैं और एक इकाई के रूप में उस पर आचरण करते हैं। यह निर्णय एक शासक (Ruler) या एक नेता (Leader) के द्वारा भी लिया जा सकता है या एक शासी सभा (Governing Body) द्वारा भी। निर्णय लेते समय शासक अपने सहायकों की इच्छाओं और आवश्यकताओं का ध्यान रख भी सकता है और नहीं भी रख सकता। ठीक इसी प्रकार जब कोई शासी सभा निर्णय लेती है तो वह सम्पूर्ण समाज के विचारों का प्रतिनिधित्व कर भी सकती है और नहीं भी कर सकती। प्रायः इस प्रकार के निर्णय एक व्यक्ति अथवा कुछ व्यक्तियों और फिर किसी सामूहिक दबाव द्वारा किये जाते हैं, पर यह आवश्यक नहीं कि उनसे सम्पूर्ण समाज का हित होता हो। अतः, किसी सामूहिक कार्य में सामान्य इच्छा हो भी सकती है और नहीं भी हो सकती। अब हम देखेंगे कि सामान्य इच्छा क्या है?

सामान्य इच्छा

हमारी इच्छाएँ दो प्रकार की हो सकती हैं—१. यथार्थ इच्छा (Actual Will) और २. वास्तविक या आदर्श इच्छा (Real or Ideal Will)। **यथार्थ इच्छा** से तात्पर्य मनुष्य की उस इच्छा, काम एवं अविवेकी प्रवृत्ति से है जो वह यथार्थ में स्वार्थवश करता है। यह इच्छा केवल तात्कालिक लाभ की दृष्टि से की जाती है, अतः सामाजिक हित से इसका कोई विशेष सम्बन्ध नहीं होता। इसके विपरीत, आदर्श इच्छा मनुष्य की वह इच्छा है जो उसकी वास्तविक स्वतन्त्रता की द्योतक होती है तथा जो स्वार्थ की अपेक्षा समाज के सामान्य हित का ध्यान रखकर की जाती है। यह स्थायी होती है और इससे मनुष्य को चिर संतोष प्राप्त होता है। यह परिष्कृत एवं विवेकयुक्त होती है जो समाज और व्यक्ति के हितों में सामञ्जस्य स्थापित करती है।

यथार्थ और आदर्श इच्छा के भेद पर ही सामान्य इच्छा का विचार आधारित है। वास्तव में सामान्य इच्छा, समाज के व्यक्तियों की आदर्श इच्छाओं का सार है। बोसांके के शब्दों में—सामान्य इच्छा "पूर्ण समाज की अथवा सब व्यक्तियों की इच्छा होती है यदि

उसका ध्येय सामान्य हित हो।" सामान्य इच्छा सामूहिक हित की चेतना है। रूसो ने स्वयं कहा है—"किसी इच्छा का सामान्य होना मतदाताओं की संख्या पर कम, वरन् सामाजिक हित की भावनाओं पर अधिक आधारित है जिसके द्वारा वे एकता में आबद्ध होते हैं।"[१] अर्थात् सामाजिक हित की भावना, सामान्य इच्छा का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग है।

सामान्य इच्छा तथा सर्वमत और बहुमत

सामान्य इच्छा किसी समूह के सभी व्यक्तियों या अधिक व्यक्तियों की इच्छा नहीं है। जब तक जन-हित की भावना विद्यमान है, सामान्य इच्छा का प्रकाशन सर्वमत द्वारा भी हो सकता है और बहुमत या एक व्यक्ति द्वारा भी हो सकता है। "सामान्य इच्छा और सबकी इच्छा में बहुत बड़ा अन्तर है। प्रथम सर्वहित पर लक्ष्य करती है और द्वितीय व्यक्तिगत हितों पर और वह व्यक्तिगत इच्छाओं का योग मात्र होती है। परन्तु यदि हम इच्छाओं में से उन विभिन्न व्यक्तिगत हितों को निकाल दें जो एक-दूसरे के विरोधी हैं, तो मतभेदों का जो योग शेष रहता है, उसे सामान्य इच्छा कहते हैं।" इस प्रकार सामान्य इच्छा सर्वमत नहीं है।

इसी प्रकार सामान्य इच्छा और बहुमत अथवा जनमत में भी अन्तर है। बहुमत या जनमत व्यक्तियों की निजी इच्छाओं का योग होता है जिसका अहितकर परिणाम भी हो सकता है। पर सामान्य इच्छा सम्पूर्ण समाज की इच्छा होती है जिसका परिणाम सदैव सामान्य हित की साधना होता है। जनतन्त्रीय व्यवस्था में जो सामान्य इच्छा प्रकाशित होती है, वह राजतन्त्र व कुलीनतन्त्र में भी प्रकाशित हो सकती है। पर यदि सामाजिक हित की भावना सम्मिलित नहीं है तो सर्वमत भी सामान्य इच्छा का द्योतक नहीं होगा। **सामान्य इच्छा सदा सत्य पर आधारित होती है, संख्या पर नहीं।** यह अखण्ड, स्थायी, शुभ, उचित तथा कल्याणकारी होती है।

सामान्य इच्छा, संयुक्त इच्छा तथा सहकारी इच्छा

किसी समूह के सभी अथवा अधिक अथवा कम व्यक्तियों की व्यक्तिगत इच्छाओं के समुच्चय को संयुक्त इच्छा (Joint Will) कहते हैं। इस दृष्टि से सर्वमत, बहुमत और अल्पमत संयुक्त इच्छा के ही विभिन्न प्रकार हैं। इसी प्रकार सहकारी इच्छा (Cooperative Will) किसी समूह के विभिन्न सदस्यों के परस्पर सहयोग, समझौते और आदान-प्रदान के परिणामस्वरूप उत्पन्न होती है। इसे हम एक उदाहरण द्वारा समझने की चेष्टा करेंगे। मान लिया एक परिवार गर्मी की छुट्टियाँ बिताने के लिए किसी स्थान पर जाना चाहता है। परिवार के सभी सदस्यों के छुट्टी बिताने के विचार अलग-अलग हैं—कोई नौका-विहार के लिए किसी झील में जाना चाहता है; कोई पहाड़ की सैर को जाना चाहता है, कोई फोटोग्राफी के लिए कश्मीर की घाटी की यात्रा करना चाहता है और अन्य जो चार्वाक-दर्शन के अनुयायी हैं खाने, पीने और मौज उड़ाने में ही अपने कर्त्तव्य की इति समझते हैं। ये सदस्यों की व्यक्तिगत इच्छाएँ (Individual Wills) हैं। मान

१. रूसो, बुक II, अध्याय ४, ६७

लिया कि निर्णय परिवार के मुखिया पर छोड़ दिया जाता है और वह जो भी निर्णय लेगा सब सदस्यों को मान्य होगा। यह नेता की इच्छा (Leader's Will) होगी; सामान्य इच्छा नहीं। पुन: ऐसा भी निर्णय लिया जा सकता है जो सभी सदस्यों या अधिकतम सदस्यों की इच्छाओं की पूर्ति करता हो। यह संयुक्त इच्छा (Joint Will) का परिचायक होगा। पर, मान लीजिए, एक ऐसा निर्णय लिया जाता है जो सहयोग, समझौते या आदान-प्रदान की भावना पर आधारित है और वह थोड़ा-बहुत सभी को संतोष देने वाला है, तो इस इच्छा को सहकारी इच्छा (Cooperative Will) का उदाहरण घोषित किया जायगा। यहाँ एक चौथा विकल्प भी है। कल्पना कीजिए कि उस परिवार का एक सदस्य बीमार है और उसे स्वास्थ्य-लाभ के लिए किसी पहाड़ पर जाना अत्यन्त लाभकारी है। उस बीमार की आवश्यकता, परिवार के अन्य सदस्यों को आवश्यकताओं से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है और उसके लिए परिवार के अन्य सदस्य अपने अधिकारों का बलिदान करने के लिए भी सहमत हैं। यह अन्तिम निर्णय सामान्य इच्छा (General Will) का वास्तविक रूप है। यह किसी समझौते और सन्तुलन का परिणाम नहीं है वरन् किसी विशेष परिस्थिति में सत्य क्या है, उस पर आधारित है। यदि हम किसी सामान्य इच्छा का सही विश्लेषण करें तो उसमें दो अवयव अवश्य पाये जायँगे—(१) कुछ बहुसंख्यक लोगों का एक निर्णय पर पहुँचना और (२) पूरे समूह के हित को ध्यान में रखकर निर्णय किया जाना। रूसो के अनुसार सामान्य इच्छा कभी गलत नहीं हो सकती क्योंकि वह सत्य पर आधारित होती है। इसमें उस सामान्य लोकोक्ति का भाव छिपा है जिसके अनुसार "जनता के मुख से भगवान बोलता है।" पर यह बात सदा चरितार्थ नहीं होती। हम पहले देख चुके हैं कि कभी-कभी ऐसा भी हो सकता है कि केवल एक ही बुद्धिमान् व्यक्ति का निर्णय, शेष अन्य लोगों के सामूहिक निर्णय से भी अधिक यथार्थ हो सकता है।

उदाहरण—द्वितीय विश्व-युद्ध में जब हिटलर ने फ्रांस के ऊपर आक्रमण किया तो फ्रांस उसका सामना नहीं कर पाया। फ्रांस के तत्कालीन प्रधानमंत्री मार्शल पेंता ने आत्म-समर्पण का निर्णय लिया। फ्रांस की जनता ने भी उनका समर्थन किया। पर जेनरल डेगाल भाग कर लन्दन चले गये और उन्होंने वहाँ से घोषित किया कि फ्रांस स्वतंत्र है और सदा स्वतंत्र बना रहेगा। वहाँ उन्होंने फ्रांस की स्वतंत्र सरकार का संगठन किया और अन्त में फ्रांस को हिटलर के पंजे से मुक्त करने में सफल हुए। जेनरल डेगाल ने सर्वमत या बहुमत की इच्छा का विरोध किया पर उनका कार्य सही था और सर्वमत का कार्य सही नहीं था क्योंकि डेगाल की इच्छा सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व करती थी।

सामान्य हित

सामान्य हित की अवधारणा के विषय में नाना प्रकार की भ्रान्त धारणाएँ विद्यमान हैं। कुछ विचारकों के अनुसार, सामान्य हित से तात्पर्य "अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख" है। पर यह सैद्धान्तिक रूप में अयथार्थ और व्यावहारिक रूप में भ्रामक है। विचारकों के अनुसार सामान्य हित (Common Good) वह है जो सामान्य इच्छा

का ध्येय है। जैसा कि पिछले उदाहरण से स्पष्ट किया गया कि पहाड़ पर छुट्टी बिताना केवल बीमार के लिए ही नहीं बल्कि परिवार के सभी सदस्यों के लिए लाभप्रद है। किसी भी सभ्य समांज में जो सार्वजनिक कार्य किये जाते हैं वे 'सामान्य हित' की भावना से ही प्रेरित व्यवहार होते हैं।

स्पिनोजा के अनुसार "उच्चतम शुभ वह है जो सर्वनिष्ठ है, जिसका सभी लोग उपभोग कर सकते हैं। उदाहरण के लिए, पराधीनता से मुक्त होना सामान्यतः सभी लोगों के लिए शुभ है। एक सुन्दर कविता, एक सुन्दर चित्र, तर्क-पूर्ण भाषण सभी शुभ होते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य शुभ वस्तुएँ हैं जो अस्थिर हैं जिनका सामान्य उपयोग नहीं किया जा सकता जैसे; खाद्यान्न संग्रह, जल की आपूर्ति। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि **सामान्य इच्छा वह इच्छा है जिसका लक्ष्य सामान्य शुभ हो।**

यहाँ पर विशेष रूप से ध्यान रखने की वात यह है कि सामान्य हित का साम्यवाद से कोई अनिवार्य सम्वन्ध नहीं है। यह ठीक है कि सामान्य हित की अवधारणा मानव-जीवन की व्यष्टिवादी अवधारणा के बिलकुल विपरीत है, पर इसका यह अर्थ नहीं कि वह इस विरोध के कारण साम्यवाद का निकट सम्बन्धी हो जायगा। सामान्य हित और साम्यवाद दो पृथक् अवधारणाएँ हैं। जब साम्यवाद, समाजवाद और समष्टिवाद का व्यष्टिवाद से अन्तर स्पष्ट किया जाता है, तो ये पद सम्पत्ति के सार्वजनिक स्वामित्व अथवा उद्योगों के सामूहिक नियंत्रण की ओर संकेत करते हैं। सामान्य हित के विषय में यह बात लागू नहीं होती। उदाहरण के लिए, समुदाय का स्वास्थ्य सामान्य हित की बात है, फिर भी प्रत्येक व्यक्ति का अपना पृथक् स्वास्थ्य है और वह उसकी पृथक् रूप से रक्षा करता है। अतः, एक हित जो वास्तव में सामान्य है, पृथक्-पृथक् व्यक्तियों द्वारा प्रयुक्त किया जा सकता है।

२. दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त (The Theory of Divine Origin)

दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त वस्तुतः राज्य की उत्पत्ति का सिद्धान्त है, किन्तु राज्य भी एक प्रकार का समाज ही है, अतः जो बात राज्य पर घटित होती है, वह समाज पर अवश्य ही घटित होगी।

व्याख्या—दैवी सिद्धान्त के अनुसार राज्य या समाज ईश्वर द्वारा स्थापित किया गया है। राज्य अथवा समाज मानवीय नहीं वरन् दैवी संस्था है। संसार की सभी वस्तुएँ ईश्वर कृत हैं। राज्य या समाज भी उसी की कृति है। यह ईश्वर की इच्छा थी कि लोग संसार में राजनीतिक समाज के राज्य में रहें और उनके ऊपर शासन करने के लिए उसने अपने प्रतिनिधि को भेजा। मनुष्य जाति के हित और कल्याण के लिए ईश्वर ने समाज या राज्य को जन्म दिया। बहुत काल तक समाज और राज्य का धर्म से सम्बन्ध रहा है। समाज और राज्य को ईश्वरकृत कहने का अभिप्राय यह है कि समाज और राज्य शाश्वत, प्राकृतिक नियमों (धर्म) पर आधारित है जिनका उल्लंघन करना पाप है। समाज में राजा ईश्वर का प्रतिनिधि माना जाता है और वह केवल उसी के प्रति उत्तरदायी है।

इतिहास—ग्रीस और रोम में दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त को मान्यता दी गयी थी। प्लूटार्क ने कहा, "एक नगर की स्थापना बिना भूमि के सम्भव है। परन्तु ईश्वर में विश्वास के बिना राज्य की स्थापना नहीं हो सकती।" जब यूरोप में ईसाई धर्म फैला, तो इस सिद्धान्त को बड़ा प्रोत्साहन मिला। ईसाई धर्म के अनुसार समाज या राज्य ईश्वरीय कृति है। सेण्ट पॉल का उपदेश है, "प्रत्येक आत्मा को उच्चतर शक्तियों के अधीन होना चाहिए क्योंकि ईश्वर की शक्ति के अतिरिक्त और कोई शक्ति नहीं है। सभी सांसारिक शक्तियाँ ईश्वर की दी हुई हैं। अत: जो उनकी अवज्ञा करता है, उन पर ईश्वरीय पाप गिरेगा।"[१] भारत में भी आदिकाल से यह सिद्धान्त माना जाता था। महाभारत में समाज और राज्य के दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त का उल्लेख मिलता है। उसमें कहा गया है कि कृतयुग में शासक और शासित नहीं थे। लोग धर्माचरण करते हुए पारस्परिक रक्षा करते थे। पाप की उत्पत्ति व्यक्तिगत सम्पत्ति के उदय और उससे उत्पन्न झगड़ों के कारण हुई। इन्हें दूर करने के लिए देवताओं को शान्ति और रक्षा की आवश्यकता हुई। वे ब्रह्मा के पास गये और उनसे प्रार्थना की कि "हे प्रभु! मुखिया के बिना हमारा विनाश हो रहा है। हमें एक मुखिया दो, जिसकी हम सब मिलकर पूजा करेंगे और वह हमारी रक्षा करेगा।"[२] इस्लाम भी समाज और राज्य को एक ईश्वरीय कृति समझता है।

राजा का दैवी अधिकार—समाज और राज्य की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त के आधार पर राजा के दैवी अधिकारों का समर्थन किया गया। राजाओं ने घोषित किया कि वे ईश्वर के प्रतिनिधि हैं और ईश्वर से ही उन्हें शक्ति मिली है। डॉक्टर फिग्स ने राजाओं के दैवी अधिकार का समर्थन किया है। उनके अनुसार दैवी अधिकार के सिद्धान्त के निम्न आधार हैं—

१. राजसत्ता ईश्वर-प्रदत्त है।
२. राजसत्ता वंशगत और पैतृक है।
३. राजा विवेक का महान् स्वरूप हे, अतएव केवल ईश्वर के प्रति उत्तरदायी होता है।
४. राजा की अवज्ञा अथवा उसका विरोध करना पाप है।

दैवी सिद्धान्त का मूल्यांकन—आधुनिक युग में दैवी सिद्धान्त का कोई समर्थन नहीं करता। फ्रांस की राज्यक्रान्ति, बुद्धिवाद का विकास और जनतन्त्र की धारणा के कारण इस सिद्धान्त का ह्रास होने लगा। वास्तविक शक्ति का स्रोत जनता है और राज्य ईश्वरीय नहीं वरन् मानवीय है। यह सिद्धान्त अवैज्ञानिक, अनैतिहासिक तथा अनुभव के विरुद्ध है। समाज और राज्य के नियमों को बनाना मनुष्य का काम है। भला ईश्वर का इसमें क्या हाथ हो सकता है? इसके अतिरिक्त दैवी-सिद्धान्त समाज के लिए अहितकर भी है क्योंकि धार्मिक राज्य में जहाँ राजा केवल ईश्वर के प्रति उत्तरदायी है, राजा की

---

१. सेण्ट पॉल टु रोमन्स, रोमन्स XIII, १-७
२. द्रष्टव्य : घोषाल, ए हिस्ट्री ऑव हिन्दू पोलिटिकल थियरीज़, पृ० १७५
३. जे०एन० फिग्स, द डिवाइन राइट ऑव किंग्स, पृ० ५-६

स्वेच्छाचारिता और निरंकुशता को बल मिलता है। यह सिद्धान्त व्यक्ति के व्यक्तित्व और उसकी स्वतन्त्रता पर कुठाराघात करता है।

पर इसका अर्थ नहीं है कि दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त का कोई महत्त्व नहीं है। हम इस तथ्य की उपेक्षा नहीं कर सकते कि धर्म ने राज्य के विकास में पर्याप्त योग दिया है। इस सिद्धान्त में समाज और राज्य को धर्म से सम्बद्ध कर उनके प्रति मनुष्य की आस्था में वृद्धि की है। अव्यवस्था, अशान्ति और अराजकता को हटाकर समाज में व्यवस्था और शान्ति बनाए रखने में यह सिद्धान्त पर्याप्त रूप में सहायक सिद्ध हुआ। प्राचीन काल में राजनीतिक एवं धार्मिक जीवनों के परस्पर सम्बद्ध होने के कारण राजनीतिक और धार्मिक संस्थाएँ एक ही थीं। यहाँ तक कि उस समय राजा, पुजारी और पुरोहित भी हुआ करता था। व्यक्ति के दृष्टिकोण से भी इस सिद्धान्त का महत्त्व है। इसके द्वारा मनुष्य में आज्ञा-पालन, सहयोग, कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व की भावना आयी। गिलक्राइस्ट ने ठीक ही कहा है। "राज्य को परमात्मा की कृति मानना उसे उच्च नैतिकता का पद प्रदान करना है, उसे ऐसा बनाना है कि जिसके प्रति नागरिक भक्ति प्रदर्शित करें, उसका समर्थन करें और उसे मानव-जीवन की पूर्णता मानें।"[१]

३. पैतृक-मातृक सिद्धान्त (Patriarchal and Matriarchal Theories)

हम पहले ही देख चुके हैं कि समाज एक स्वाभाविक निष्पत्ति है। वह न तो मनुष्य-कृत है और न ईश्वर-कृत। यह निरन्तर क्रमिक विकास का परिणाम है। परिवार के विस्तार से ही समाज या राज्य का अस्तित्व हुआ। परिवार में पिता का बच्चे पर नियन्त्रण होता है और यही समाज और राज्य की उत्पत्ति का कारण है। पैतृक सिद्धान्त इसी तथ्य पर आधारित है।

पैतृक सिद्धान्त—इस सिद्धान्त के अनुसार समाज और राज्य, परिवार के ही विकसित रूप हैं। परिवार में एक व्यक्ति, उसकी पत्नी और बच्चे होते हैं तथा पिता इस परिवार का सर्वोच्च अधिकारी होता है। प्रारम्भ में परिवार था, जिसकी वृद्धि से जाति अस्तित्व में आई। जाति से समुदाय और समुदाय से समाज का निर्माण हुआ। समाज ने फिर राज्य का रूप ले लिया। लीकॉक के शब्दों में—"प्रथम एक गृहस्थी, फिर एक पितृ-प्रधान परिवार, फिर समान नस्ल के व्यक्तियों की जाति और फिर अन्त में एक राष्ट्र-सामाजिक क्रम का निर्माण इसी आधार पर हुआ है।"[२]

इतिहास—यूनान, रोम और हिब्रू लोगों में परिवार में पिता का सर्वोच्च स्थान था। भारत में भी आर्यों में संयुक्त-कुटुम्ब प्रणाली थी जिसमें पिता कुटुम्ब का स्वामी होता था। इस प्रकार के परिवार को आधार मानकर पैतृक सिद्धान्त का मत है कि यही परिवार बाद में समाज में तथा पिता राजा के रूप में परिणत हो गया और इस प्रकार परिवार ने बढ़ते-बढ़ते बृहद् समाज व राज्य का रूप ले लिया। एरिस्टॉटल का भी यही मत था—"पहले परिवार

---

१. गिलक्राइस्ट, प्रिन्सिपल्स ऑव पोलिटिकल साइन्स, पृ० ७४

२. लीकॉक, ऐलिमेण्ट्स ऑव पोलिटिकल साइन्स, पृ० ३८

बनता है। जब कई परिवार संयुक्त होते हैं और इस संयोग का उद्देश्य नित्य की आवश्यकताओं से अधिक होता है, तो ग्राम की उत्पत्ति होती है। जब कई ग्राम मिलकर एक वृहद् और पूर्ण आत्म-निर्भर समाज में संयुक्त हो जाते हैं तो राज्य का उदय होता है।''

आलोचना—पैतृक सिद्धान्त ने समाज और राज्य की उत्पत्ति की सरलतम व्याख्या की है, पर समाज का प्रारम्भिक रूप इतना सरल नहीं था जैसा पैतृक सिद्धान्त ने वर्णन किया है। वस्तुत: वह अत्यन्त जटिल था। समाज-निर्माण के तत्त्व अत्यन्त जटिल रहे हैं और उनका इतना सरलीकरण नहीं किया जा सकता। कुछ समाज दार्शनिकों के अनुसार अतीत में ऐसा कोई समुदाय नहीं था जिसका मुखिया पुरुष रहा हो। मातृ-प्रधान समुदाय अवश्य थे। अत: मातृ-प्रधान प्रणाली से पितृ-प्रधान प्रणाली का अस्तित्व माना जाना चाहिए।

मातृक सिद्धान्त—कुछ समाज दार्शनिकों के अनुसार मानव-समुदाय प्रारम्भ में पितृ-सत्तात्मक न होकर मातृ-सत्तात्मक थे। यही मातृ-सत्तात्मक परिवार कालान्तर में समाज और राज्य के रूप में परिणत हो गये। बात यह है कि आदि काल में जब विवाह की प्रथा न थी, पुरुष और स्त्री में क्षणिक् काम-वासना की तृप्ति के लिए अस्थायी सम्बन्ध स्थापित हो जाता था, पर बाद में वे एक-दूसरे से पृथक् हो जाते थे। इस क्षणिक् समागम के फलस्वरूप जो सन्तान उत्पन्न होती थी, उसके पिता का निश्चित पता लगना कठिन था और माता ही उसकी सब कुछ मानी जाती थी। उस समय माता ही परिवार का केन्द्र समझी जाती थी। इस प्रकार के मातृ-सत्तात्मक परिवारों के उदाहरण अब भी आस्ट्रेलिया एवं मलाया के आदिवासियों तथा भारत में द्रविड़ जातियों में पाये जाते हैं।

पर स्त्री की असमर्थता और दुर्बलता के कारण मातृ-सत्तात्मक परिवारों का अस्तित्व अधिक दिनों तक टिक न सका। आगे चलकर पैतृक परिवारों का विकास हुआ। कुछ व्यक्तियों ने खानाबदोशी का जीवन छोड़कर वैयक्तिक वैवाहिक जीवन व्यतीत करना चाहा। इस प्रकार मातृ-सत्तात्मक परिवारों के स्थान पर पितृ-सत्तात्मक परिवारों का उदय हुआ। इस प्रकार मातृक सिद्धान्त, पैतृक सिद्धान्त का पूर्वगामी है।

विशेषताएँ—मातृ-प्रधान समाज की निम्न प्रमुख विशेषताएँ थीं—

१. वैवाहिक सम्बन्ध पूर्ण अस्थिर थे।
२. रक्त-सम्बन्ध माता के माध्यम से होता था।
३. परिवार के ऊपर माता का नियन्त्रण रहता था।
४. उत्तराधिकार के रूप में सम्पत्ति का मालिक केवल स्त्रियाँ ही समझी जाती थीं।

आलोचना—पैतृक सिद्धान्त की तरह मातृक सिद्धान्त के विषय में भी इतिहास में कोई निश्चित प्रमाण उपलब्ध नहीं होते। सामाजिक विकास का क्रम भी इतना सरल नहीं है जैसा कि मातृक-सिद्धान्त वर्णन करता है। मातृक और पैतृक प्रथाओं में कौन-सी प्रथा पहले स्थापित हुई, इस विषय में कुछ भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। इतना निश्चित है कि मनुष्य ने सर्वप्रथम विविध प्रकार के परिवारों में रहना प्रारम्भ किया और बाद में अन्य प्रकार के समुदायों का विकास हुआ। मनुष्य की सामुदायिक और परिवार सम्बन्धी यही प्रवृत्ति समाज के प्रादुर्भाव का कारण बनी।

४. ऐतिहासिक अथवा विकासात्मक सिद्धान्त

(The Historical or Evolutionary Theory)

अब तक हमने समाज की उत्पत्ति के सम्बन्ध में तीन प्रकार के सिद्धान्तों का विवेचन किया। ये तीनों सिद्धान्त ऐसे थे कि किसी ने भी समाज की उत्पत्ति की समुचित व्याख्या प्रस्तुत नहीं की। समाज न तो ईश्वर की सृष्टि है, न तो किसी सामाजिक अनुबन्ध का ही परिणाम है और न वह परिवार का विस्तार मात्र ही है। वस्तुतः समाज विकास का परिणाम है और यह विकास एक दिन में नहीं अपितु सदियों में शनैः-शनैः हुआ है। मानव-जीवन के प्रारम्भ में ही वे सम्पूर्ण परिस्थितियाँ विद्यमान थीं जिन्होंने संयुक्त होकर समाज-व्यवस्था को जन्म दिया। प्रारम्भ में मानव-समाज असंगठित था और धीरे-धीरे यह संगठित होता चला गया। सभ्यता के विकास के साथ-साथ समाज की जटिलता में भी वृद्धि होती गई। वास्तव में समाज एक प्राकृतिक संस्था है जिसका जन्म मनुष्य की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु हुआ और उसे सुन्दर जीवन प्रदान करने के लिए उसका निरन्तर विकास होता चला जा रहा है। अतः ऐतिहासिक और विकासात्मक सिद्धान्त ही समाज की उत्पत्ति का सच्चा सिद्धान्त हो सकता है।

समाज के विकास के प्रेरक तत्त्व

समाज के विकास में किसी एक कारण या तत्त्व की प्रधानता रही हो, ऐसी बात नहीं है। समाज का विकास अनेक प्रेरक तत्त्वों के संकलित प्रयास से हुआ है जिनमें पाँच प्रमुख हैं—१. रक्त-सम्बन्ध, २. धर्म, ३. सम्पत्ति और रक्षा, ४. शक्ति और ५. राजनीतिक चेतना। इनमें से प्रत्येक के विषय में कुछ वर्णन करना समीचीन होगा—

१. रक्त-सम्बन्ध—रक्त-सम्बन्ध एकता का प्राचीनतम रूप है। सामाजिक-संगठन रक्त-सम्बन्ध से प्रारम्भ हुआ। रक्त-सम्बन्ध ने ही जातियों और कुलों को एकता के बन्धन में रक्खा और उन्हें दृढ़ता प्रदान की। रक्त-सम्बन्ध के विषय में मेन (Maine) ने लिखा है कि "समाज के प्राचीनतम इतिहास की आधुनिकतम गवेषणाएँ इस निष्कर्ष की ओर इंगित करती हैं कि समूहों को एकता के सूत्र में बाँधने वाला प्रारम्भिक बन्धन रक्त-सम्बन्ध था।"[१] आगे चलकर जब-जब संख्या की वृद्धि हुई तो कुटुम्ब का आकार बढ़ा और कुल तथा जातियाँ बनीं। मैकाइवर ने ठीक कहा है, "रक्त-सम्बन्ध समाज को जन्म देता है और कालान्तर में समाज राज्य को उत्पन्न करता है।"

२. धर्म—समाज की एकता बनाए रखने में धर्म का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। आदिकाल में जब बुद्धि का विकास नहीं हुआ था, मनुष्य बड़ा धर्म भीरु था और प्रकृति के भीतर होने वाली घटनाओं को सुलझाने की उसमें क्षमता न थी। अतः, वह प्रकृति की आराधना करने लगा तथा प्राकृतिक शक्तियों को प्रसन्न रखने के लिए पशु-बलि भी चढ़ाने लगा। मनुष्य-जीवन पूर्णतः धर्म से प्रभावित हो गया। इस धर्म ने कुटुम्बों और समाज को एक सूत्र में बाँध दिया। कुटुम्बों, कबीलों और समुदायों में एक ही धर्म

१. मेन, हिस्ट्री ऑव इन्स्टीट्यूशन्स, पृ० ६४-६५

माना जाता था। तब धर्म ही कानून थे। सारांश यह है कि संगठन और एकता के लिए धर्म एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व रहा है। आज भी संसार में अनेक समाज हैं जिनका संचालन धर्म के अनुसार होता है। अत:, धर्म का समाज के उद्भव में पर्याप्त योगदान रहा है।

३. सम्पत्ति और रक्षा—सम्पत्ति का समाज से बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। प्रो० लॉस्की का कथन है कि "किसी समाज का आधारभूत कारक वह मार्ग है जिसके द्वारा वह अपनी आजीविका अर्जित करता है; समस्त सामाजिक सम्बन्ध उन प्राथमिक भौतिक अभिलाषाओं के उपादानों के आधार पर बनाए जाते हैं जिनकी संतुष्टि के बिना जीवन स्थिर नहीं रह सकता। समाज का विश्लेषण सदा ही इसकी संस्थाओं और संस्कृति तथा भौतिक इच्छाओं की संतुष्टि के प्रकार में निकट सम्बन्ध को प्रकट करेगा। जैसे-जैसे प्रकारों में परिवर्तन होता रहता है, वैसे-वैसे समाज की संस्थाओं और संस्कृति में परिवर्तन आता रहता है।" अत: स्पष्ट है कि सामाजिक व्यवहारों के कारण को आर्थिक ढाँचे में ढूँढ़ना चाहिए।

प्रारम्भिक समाज में व्यक्तिगत सम्पत्ति के अर्जन के अनुसार तीन क्रमानुसार आर्थिक सामाजिक क्रान्तियाँ हुईं। आर्थिक दृष्टि से प्रथम समाज शिकारियों का समाज था; दूसरा पशु-पालन का समाज था और तीसरा कृषक समाज था। इन आर्थिक परिस्थितियों ने तीन प्रकार के समाजों को जन्म दिया। शिकारी जीवन में व्यक्तिगत सम्पत्ति का अभाव था और लोग बर्बर जातियों की तरह जीवन-यापन करते थे। पशु-पालन के साथ व्यक्तिगत सम्पत्ति का प्रादुर्भाव हुआ और पुरुष-प्रधान समाज की स्थापना हुई। पशुओं की सुरक्षा का भी प्रबन्ध किया गया। जो चरागाह उपजाऊ थे, उन पर अधिकाधिक लाभ प्राप्त करने के लिए लोग कृषि करने लगे। लाभ-वृद्धि के साथ-साथ वर्ग-विभेद उत्पन्न हुए। तीन वर्ग उत्पन्न हुए—जमीदार वर्ग, कृषक वर्ग और दास वर्ग। इस प्रकार समाज का धीरे-धीरे विकास होता चला गया।

४ शक्ति—पशु-पालन और कृषि-व्यवस्था के साथ जब व्यक्तिगत-सम्पत्ति का प्रावधान किया गया, तो उसकी रक्षा की समस्या भी उत्पन्न हुई। भेड़ों, गायों तथा अन्य जांनवरों की लूट-खसोट से रक्षा के लिए मनुष्यों को कुछ सम्मिलित कार्रवाई करने की आवश्यकता का अनुभव हुआ। परिणामस्वरूप स्वयंसेवक संघ एवं सैनिकों का संगठन किया गया। यह कार्य एक व्यक्ति नहीं कर सकता था। इसके लिए समाज की आवश्यकता हुई। समाज इसी आवश्यकता का परिणाम है। ओपेनहीमर (Oppenheimer) इसी मत के प्रवर्त्तक हैं। उनका कथन है कि शक्ति, एकता स्थापित करने का प्रधान स्रोत रहा है। हम पहले ही जानते हैं कि सहयोग और संघर्ष दोनों, समुदायों का निर्माण करते हैं। युद्ध, विजय और आज्ञा-पालन के फलस्वरूप कुटुम्ब जाति में, जाति कबीलों में तथा कबीले समाज के रूप में परिवर्तित हो गए। शक्ति समाज को एक सूत्र में आबद्ध कर देती है।

५. राजनीतिक चेतना—ब्लंशली (Bluntschli) के कथनानुसार मनुष्य में सामाजिक जीवन की इच्छा राज्य निर्माण का कारण होती है। एरिस्टॉटल ने भी कहा था कि "मनुष्य सामाजिक प्राणी है।" वुड्रो विलसन का भी यही मत है कि "संगठन की

भावना सामाजिक है और वह मनुष्य एवं परिवार के साथ उत्पन्न हुई है।" ये सब तथ्य इस बात की ओर संकेत करते हैं कि राजनीतिक चेतना मनुष्य को समाज और राज्य के निर्माण के लिए प्रेरित करती है।

आर्थिक जीवन के विकास के साथ मानव-जीवन के उद्देश्य स्पष्ट होने लगे। अब शान्ति, व्यवस्था और सुरक्षा के लिये ऐसे संगठन की आवश्यकता का अनुभव होने लगा जो व्यक्ति तथा सम्पत्ति की रक्षा कर सकता तथा सामाजिक सम्बन्धों को दृढ़ करता। इस प्रकार, मनुष्यों के मन में जो सामाजिक और राजनीतिक चेतना का विकास हुआ, समाज उसी का प्रतिफल है।

समाज का स्वरूप
(The Nature of Society)

समाज के स्वरूप तथा व्यक्ति और समाज के बीच सम्बन्धों के विषय में समाज-दर्शन में अनेक परिकल्पनाएँ हैं। इनमें चार महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों पर हम विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करेंगे। इनमें प्रथम **परमाणुवादी** या **व्यक्तिवादी सिद्धान्त** (Monadnistic Theory) है जो समाज को व्यक्तियों का पुञ्ज मात्र ही मानता है। समाज का प्रत्येक व्यक्ति एक आत्म-निर्भर इकाई है; वह किसी अन्य व्यक्ति पर अपने अस्तित्व के लिये निर्भर नहीं करता। दूसरा **अद्वैतवादी सिद्धान्त** (Monistic Theory) है जिसके अनुसार समाज के व्यक्तियों का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता "प्रत्युत सम्पूर्ण समूह में वे केवल आणविक इकाइयों के रूप में होते हैं, प्रत्येक अन्य पर और प्रत्येक सम्पूर्ण पर अपने निरन्तर अस्तित्व के लिए आश्रित होता है।"[१] व्यक्ति का अपना कोई स्वतन्त्र व्यक्तित्व नहीं है, और जो कुछ भी उसके पास है सब समाज का है जिसका कि वह अंग है। तीसरा **द्वैतवादी** (Dualistic) सिद्धान्त है और वह परमाणुवादी तथा अद्वैतवादी सिद्धान्तों में समन्वय स्थापित करता है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपना स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करता है किन्तु प्रत्येक किसी-न-किसी रूप में अपने हित-साधन के लिए अन्य व्यक्तियों पर भी निर्भर करता है। व्यक्ति का अस्तित्व न तो उसके पूर्ण विलय में है और न अपने सामाजिक वातावरण से पूर्ण स्वतन्त्र होने में ही है। अन्त में **जैविक** (Organic) सिद्धान्त है जिसके अनुसार समाज एक जीवमान इकाई (Organism) है जिसमें वही एकता व्याप्त है जैसी शरीर के अंगों में एकता विद्यमान होती है। इस प्रकार समाज के स्वरूप के सम्बन्ध में चार प्रचलित सिद्धान्त हैं—

१. जैविक सिद्धान्त
२. परमाणुवादी अथवा व्यक्तिवादी सिद्धान्त
३. द्वैतवादी सिद्धान्त और
४. अद्वैतवादी सिद्धान्त

इनमें से प्रत्येक के विषय में हम अलग-अलग विचार प्रगट करेंगे।

---

१. गार्नर, जे० डब्ल्यू, इन्ट्रोडक्शन टु पोलिटिकल साइन्स, पृ० २११

१. जैविक सिद्धान्त (Organic Theory)

जैविक सिद्धान्त में समाज की उपमा एक जीवित प्राणी (Organism) से की गई है। जिस प्रकार शरीर अनेक अंगों से मिलकर बना है वैसे ही समाज भी अनेक अंगों से निर्मित हुआ है। जिस प्रकार शरीर केवल विभिन्न अंगों का समुच्चय ही नहीं होता और अंगों से पृथक् उसका अस्तित्व होता है, उसी प्रकार समाज भी व्यक्तियों का केवल समूह नहीं है; उसका व्यक्तियों से पृथक् भी एक अस्तित्व होता है। जिस प्रकार शरीर से पृथक् उसके अंगों की कल्पना नहीं की जा सकती, ठीक उसी प्रकार समाज से पृथक् व्यक्तियों के अस्तित्व की भी कल्पना नहीं की जा सकती। जिस प्रकार शरीर की विवृद्धि और विकास होता है, उसी प्रकार समाज की भी वृद्धि होती है और उसका विकास होता है।

जैविक सिद्धान्त, विधि शास्त्रीय सिद्धान्त (Juristic Theory), व्यक्तिवादी सिद्धान्त (Monadnistic Theory) एवं यान्त्रिक सिद्धान्त का प्रतिगामी सिद्धान्त है। विधि शास्त्रीय सिद्धान्त के अनुसार समाज केवल एक कानूनी कल्पना है। पर जैविक सिद्धान्त समाज को एक जीवित प्राणी के रूप में देखता है जो एक वास्तविक सत्ता है। यह व्यक्तिवादी सिद्धान्त का भी विरोधी है। व्यक्तिवादी सिद्धान्त के अनुसार समाज व्यक्तियों का केवल एक समुच्चय है जिससे पृथक् व्यक्तियों का स्वतन्त्र अस्तित्व सम्भव है; पर जैविक सिद्धान्त में समाज तथा व्यक्तियों में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। यह यान्त्रिक सिद्धान्त का भी विरोधी है। यान्त्रिक सिद्धान्त यह विश्वास करता है कि समाज एक कृत्रिम यन्त्र के समान है जिसे कारीगरों की इच्छानुसार बनाया व चलाया जा सकता है तथा उसमें सुधार भी किया जा सकता है। पर जैविक सिद्धान्त के अनुसार समाज विकास एवं विवृद्धि का परिणाम है; वह कृत्रिम न होकर प्राकृतिक उपज है।

इतिहास—जैविक सिद्धान्त समाज के स्वरूप का एक अति प्राचीन सिद्धान्त है—प्लेटो के समय से ही समाज और राज्य की उपमा प्राणि-शरीर से की जाती रही है। **प्लेटो**[१] ने समाज और राज्य की तुलना एक विशालकाय मनुष्य से की है तथा राज्य के शासक, योद्धाओं तथा साधारण कार्य करने वाले मनुष्यों को उसने व्यक्तिं की बुद्धि, साहस तथा इच्छा और आवश्यकता का प्रतीक माना है। **सिसरो**[२] ने भी समाज या राज्य की शरीर के साथ तुलना की है और राज्य के शासक को मनुष्य की आत्मा के समान माना है जो समाज का उसी प्रकार शासन करता है जिस प्रकार आत्मा शरीर का शासन करती है। उन्नीसवीं शताब्दी में जर्मन विज्ञानवादी **फिक्टे**[३] ने कहा कि प्राणि-शरीर में प्रत्येक भाग सदा सम्पूर्ण शरीर की रक्षा करता है और शरीर की रक्षा करने में उसकी भी रक्षा होती है; ठीक इसी प्रकार का सम्बन्ध नागरिक तथा समाज या राज्य का होता है। **ब्लंशली** ने भी राज्य या समाज को एक सजीव मानव के रूप में लिया जिसमें पुरुषोचित

---

१. डि रिपब्लिका, बुक IV
२. वही, बुक III, पृ० २५
३. थियरी ऑव द स्टेट, पृ० १८
४. प्रिंसिपुल्स ऑव सोशियॉलॉजी, भाग १

गुण पाए जाते हैं। इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध दार्शनिक **हर्बर्ट स्पेन्सर** ने भी जैविक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उनके अनुसार समाज-शरीर तथा प्राणि-शरीर दोनों ही बीज-रूप में प्रारम्भ होते हैं तथा धीरे-धीरे बढ़कर अपने पूर्ण रूप में आते हैं। जिस प्रकार प्राणि-शरीर का सबसे आरम्भिक रूप बिना हाथ-पैरों का उदर था, उसी प्रकार समाज का आरम्भिक रूप केवल लड़कों अथवा शिकारियों का समाज था जिसमें आधुनिक समाज की विशेषताएँ उपलब्ध न थीं। स्पेन्सर के अनुसार दोनों प्रकार के शरीरों में जीवन-धारण की प्रक्रिया समान होती है। प्राणि-शरीर की भोजन प्राप्त करने की प्रक्रिया, समाज-शरीर के यातायात की प्रक्रिया के समान तथा प्राणि-शरीर की स्नायुओं द्वारा संचालन की प्रक्रिया, समाज-शरीर की सरकार द्वारा संचालन की प्रक्रिया के समान होती है। इसके अतिरिक्त आस्ट्रियन लेखक **अल्बर्ट शैफल** (Albert Schaffle)[१] ने भी अपनी रचनाओं में जैविक सिद्धान्त का विशद वर्णन किया है। उसने निवेदन किया कि सामाजिक शरीर तथा प्राणि-शरीर में बनावट सम्बन्धी, प्रकृति-सम्बन्धी, प्राण-सम्बन्धी एवं विचार-सम्बन्धी सब प्रकार की समानताएँ पाई जाती हैं। उनके अनुसार सामाजिक-शरीर में राज्य का वही स्थान है जो मनुष्य-शरीर में मस्तिष्क का होता है। फ्रांसीसी लेखकों में **रेने वार्म्स** (Renc Worms) ने अपनी पुस्तक[२] में सामाजिक शरीर तथा प्राणि-शरीर में आश्चर्यजनक समानताओं की ओर संकेत किया है।

यूरोपीय साहित्य के अतिरिक्त भारतीय वैदिक साहित्य में भी मानव-समाज की उपमा शरीर से दी गई हैं। वेद के एक मन्त्र[३] के अनुसार ब्राह्मण समाज-रूपी-शरीर का मुख है, क्षत्रिय भुजाएँ हैं, वैश्य पेट या जाँघें हैं तथा शूद्र उसका पैर है। इसी प्रकार शुक्रनीति के अनुसार राज्य रूपी शरीर की आँखें अमात्य हैं, कान मित्र होते हैं, मुख कोश होता है, मन सेना होती है, पैर दुर्ग तथा जन-पद होते हैं।

दो विचार-धाराएँ—शरीर रूपी समाज के सम्बन्ध में दो प्रकार की विचार-धाराओं का प्रतिपादन किया गया है। पहले प्रकार की विचारधारा वह है जिसमें समाज के स्वरूप को व्यक्त करने के लिए शरीर का केवल उदाहरण दिया गया हे तथा दूसरे प्रकार की विचार-धारा में समाज को सचमुच ही एक शरीर माना गया है। दोनों विचार-धाराओं का हम संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करेंगे।

समाज की शरीर से तुलना—इस विचार-धारा में व्यक्तियों और समाज में वही सम्बन्ध है जो शरीर के विभिन्न अंगों और शरीर में होता है। इसकी प्रमुख बातें निम्न हैं—

१. समाज तथा व्यक्तियों में अन्योन्याश्रय-सम्बन्ध है।

२. समाज, व्यक्तियों का समूह मात्र ही नहीं है वरन् व्यक्तियों से पृथक् उसका एक अस्तित्व है।

---

१. द स्ट्रक्चर ऐण्ड लाइफ़ ऑव द सोशल बॉडी

२. ऑर्गेनिज़्म ऐण्ड सोसायटी

३. ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
उरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥ ऋग्वेद १०/९०/१२

३. जिस प्रकार शरीर के विभिन्न अंगों के कार्य पृथक्-पृथक् होते हुए भी उनमें परस्पर पूरकता होती है, उसी प्रकार समाज के विभिन्न अंगों के कार्य पृथक् होते हुए भी उनमें परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध होता है।

४. जिस प्रकार प्राणि-शरीर विकासशील है उसी प्रकार समाज भी विकासशील होता है।

समाज एक शरीर है—कुछ समाज-दार्शनिकों के अनुसार समाज की शरीर के साथ न केवल उपमा ही दी जा सकती है, बल्कि समाज स्वयं एक वृहद् शरीर है। इसकी निम्न मुख्य बातें हैं—

१. समाज एक शरीर है क्योंकि उसमें भी शरीर के घटकों (Cells) के समान ही व्यक्ति होते हैं जिनसे उसका निर्माण होता है।

२. **संगठन** की दृष्टि से भी समाज एक शरीर है। भोजन पचाने के लिए शरीर में आमाशय होता है; रक्त-संचालन के लिए धमनियाँ होती हैं; सूचना-संसार के लिए स्नायु-प्रणालियों की व्यवस्था होती है एवं विभिन्न अंगों पर नियन्त्रण रखने के लिए केन्द्र अर्थात् मस्तिष्क होता है। इसी प्रकार समाज में भी ऐसी व्यवस्था होती है कि कुछ लोग उत्पादन का कार्य करते हैं; कुछ उसे एक स्थान से दूसरे स्थान ले जाने का कार्य करते हैं। समाज में भी एक केन्द्रीय संगठन होता है जिसे सरकार कहते हैं जो समाज के विभिन्न अंगों पर नियंत्रण रखता है।

३. **विकास** की दृष्टि से भी समाज एक शरीर है। शरीर की भाँति समाज का भी विकास होता है। प्रारम्भ में प्राणि-शरीर अविकसित था और युगों के पश्चात् उसमें अंग-प्रत्यंगों का विकास हुआ। समाज भी प्रारम्भ में अविकसित अवस्था में था और बहुत दिनों के बाद उसके विभिन्न अंगों का क्रमशः विस्तार हुआ।

४. घटकों और अवयवों की स्थिति के दृष्टिकोण से भी समाज एक शरीर है। जिस प्रकार शरीर के पुराने घटकों के नष्ट हो जाने पर उनका स्थान नवीन घटक ले लेते हैं, उसी प्रकार समाज में भी वृद्ध और बीमार व्यक्तियों के मर जाने पर नए व्यक्ति उनका स्थान ग्रहण कर लेते हैं। जिस प्रकार, शरीर का बल और स्वास्थ्य, उसके अवयवों के बल और स्वास्थ्य पर निर्भर होता है, उसी प्रकार समाज की शक्ति और समृद्धि, मनुष्यों की शक्ति और सामर्थ्य पर निर्भर होती है।

जैविक सिद्धान्त के उपर्युक्त विवेचन से निम्न निष्कर्ष प्राप्त होते हैं—

१. जिस प्रकार शरीर की तुलना में अंगों के कोई अधिकार नहीं होते और उसके हित की रक्षा के लिए अंगों के हित की उपेक्षा की जा सकती है, उसी प्रकार समाज की तुलना में व्यक्तियों के कोई अधिकार नहीं होते तथा उसके हितों की रक्षा के लिए व्यक्तियों का बलिदान किया जा सकता है।

२. व्यक्तियों के हित एवं अधिकार समाज के पूर्णतः अधीन हाने चाहिए।

३. समाज कोई कृत्रिम संगठन नहीं है, अपितु शरीर के समान ही स्वाभाविक सत्ता है।

समीक्षा—आलंकारिक दृष्टि से भले ही समाज की तुलना एक जीवित प्राणी से

कर दें, पर वास्तविकता यह है कि दोनों में तात्विक भेद है तथा जो कुछ सादृश्य है, वह आंशिक ही है। सादृश्य-अनुमान कभी भी यथार्थ निष्कर्ष की ओर नहीं ले जाता। उसके निष्कर्ष सम्भाव्य ही होते हैं।

१. समाज एवं प्राणि-शरीर के विकास में पूर्ण समानता नहीं होती। प्राणि-शरीर के विकास में शैशवावस्था, युवावस्था, वृद्धावस्था तथा मृत्यु की अवस्था होती है। समाज के विकास में इस प्रकार के निश्चित स्तर नहीं पाए जाते और न उसका शरीर की तरह अन्त ही होता है। इसके अतिरिक्त, शरीर का विकास स्वतः और आन्तरिक होता है, जबकि समाज का विकास इच्छापूर्ण एवं बाह्य होता है।

२. शरीर और उसके अंगों की सम्बद्धता तथा समाज और उसके अंगों की सम्बद्धता एक प्रकार की नहीं है। शरीर और उसके अंगों में स्थायी सम्बद्धता होती है पर समाज और उसके अंगों में वियोजनीय सम्बद्धता होती है। कभी-कभी मनुष्य, समाज का विरोध भी करते हैं और उसी विरोध में उसका तथा समाज दोनों का हित निहित होता है।

३. शरीर तथा उसके अंगों में प्रधान एवं गौण का सम्बन्ध है। अर्थात् अंगों का अस्तित्व शरीर के लिए ही होता है और शरीर से पृथक् अंगों का अस्तित्व सम्भव ही नहीं है। समाज के अंगों के विषय में ऐसी बात नहीं है। समाज के अंगों (मनुष्यों) का पृथक् अस्तित्व होता है, वे स्वयं पृथक्-पृथक् चेतना के केन्द्र हैं। समाज के लक्ष्यों से पृथक् स्वयं मनुष्यों के विभिन्न लक्ष्य होते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि समाज और शरीर में आंशिक समनताएँ भले ही पाई जायँ पर पूर्ण समानता कभी भी स्थापित नहीं की जा सकती।

१. व्यक्तिवादी सिद्धान्त (Monadnistic Theory)

यह परमाणुवादी सिद्धान्त है जिसके अनुसार समाज का प्रत्येक व्यक्ति एक आत्मनिर्भर इकाई है और कोई भी व्यक्ति एक दूसरे पर निर्भर नहीं है। व्यक्ति, समाज की सहायता के बिना जीवित रह सकता है और यहाँ तक कि सम्पन्न भी हो सकता है। बलवान के विरुद्ध दुर्बल को रक्षा प्रदान करने के लिए समाज की आवश्यकता हुई। इसके अनुसार सामाजिक व्यवस्था, रक्षा एवं अवरोध के लिए होती है, न कि पोषण एवं वृद्धि के लिए।

व्याख्या—समाज का व्यक्तिवादी सिद्धान्त व्यक्ति को समाज की अपेक्षा अधिक महत्त्व प्रदान करता है। इसकी मूल धारणा यह है कि समाज सम्बन्धी प्रत्येक सिद्धान्त या विचार का केन्द्र व्यक्ति होना चाहिए क्योंकि वही वस्तुतः जीवन तथा तत्सम्बन्धी अनुभवों का केन्द्र है। व्यक्ति साध्य है तथा व्यक्ति के विभिन्न उद्देश्यों की सिद्धि के लिए ही कुटुम्ब, जाति, समाज तथा राज्य का निर्माण किया जाता है। ये सब समुदाय व्यक्ति के लिए ही होते हैं; व्यक्ति इन समुदायों के लिए नहीं होता। व्यक्तियों से पृथक् इन समुदायों का न तो कोई अस्तित्व होता है, न कोई विचार होते हैं और न इनकी कोई अनुभूति होती है। वस्तुतः जब हम किसी समुदाय के हित अथवा अहित की बात करते हैं, तो हमारा

तात्पर्य उसमें सम्मिलित व्यक्तियों के हित या अहित से ही होता है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में वास्तविक सत्ता व्यक्ति की होती है, तथा विभिन्न समुदाय जो व्यक्ति के विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिए निर्मित किए जाते हैं, व्यक्ति के रूपान्तर मात्र होते हैं। अतः, समुदायों के स्वरूप और कार्य पर विचार करते समय हमें किसी ऐसे मत को मान्यता नहीं देनी चाहिए जिसमें व्यक्ति को गौण और समाज को प्रमुख माना जाय। समाज तो व्यक्ति की अभिलाषाओं की पूर्ति का एक साधन मात्र है। व्यक्ति साधन न होकर केवल साध्य है। यही व्यक्तिवाद की मुख्य धारणा है।

समाज का स्वरूप—व्यक्तिवादी विचारधारा के अनुसार समाज व्यक्ति के हितों का साधन मात्र है, वह स्वयं साध्य नहीं है। व्यक्तियों ने अपने सामाजिक हितों की साधना के लिए समाज का निर्माण किया है। अतः, साधन को इतना अधिक महत्त्व और अधिकार नहीं मिलने चाहिए कि वह स्वयं साध्य बन जाय तथा व्यक्ति उसका साधनमात्र रह जाय। दूसरे शब्दों में—समाज को चाहिए कि वह व्यक्ति के जीवन में न्यूनतम हस्तक्षेप करे। व्यक्तिवाद की मान्यता है कि शासन के अनावश्यक नियंत्रण से व्यक्ति के सर्वतोमुखी विकास में बाधा पहुँचती है, अतः, जीवन के आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा राजनीतिक सभी क्षेत्रों में व्यक्ति को खुली प्रतिस्पर्धा का अवसर मिलना चाहिए जिससे कि व्यक्ति का मुक्त विकास हो सके।

उदाहरण के लिए व्यक्तिवाद, आर्थिक क्षेत्र में निजी स्वामित्व व मुक्त व्यवसाय का प्रतिपादन करता है। उसकी धारणा है कि यदि समाज या राज्य की ओर से बिना किसी बाधा के स्वतन्त्रतापूर्वक प्रत्येक व्यक्ति को आर्थिक क्षेत्र में काम करने दिया जाय तो वह सबके लिए हितकारी होगा—एक ओर व्यक्ति पूर्ण शक्ति के साथ अधिक से अधिक उत्पादन कर सकेगा और दूसरी ओर खुली प्रतियोगिता के कारण कम से कम मूल्य में सबको जीवनोपयोगी वस्तुएँ उपलब्ध हो सकेंगी। इसी प्रकार व्यक्तिवाद की मान्यता है कि व्यक्ति अपने हित की रक्षा स्वयं कर सकता है और राज्य को चाहिए कि अपने हस्तक्षेप द्वारा उसके हित साधन में बाधा उत्पन्न न करे। इस सम्बन्ध में राज्य को 'यद्भाव्यम्' (Laissez faire) की नीति का अनुसरण करना चाहिए अर्थात् राज्य को चाहिए कि व्यक्तियों को स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करने दे और उसके ऊपर अनुचित दबाव न डाले।

राज्य एक आवश्यक बुराई है—व्यक्तिवाद यह मानता है कि राज्य-संस्था आवश्यक है, पर साथ-साथ यह भी मानता है कि राज्य एक बुराई है। राज्य एक आवश्यक बुराई इसलिए है कि व्यक्ति अपूर्ण है तथा अपनी अपूर्णता के कारण वह कुछ ऐसे अवांछनीय कार्य करता है जिनको रोकने के लिए राज्य का अस्तित्व आवश्यक है। अपने स्वार्थ के कारण व्यक्ति दूसरे की स्वतन्त्रता को नष्ट करना चाहता है जिसे बचाने के लिए राज्य का होना आवश्यक है। व्यक्ति की मान्यता है कि जब तक व्यक्ति अपूर्ण है तथा आदर्श से नीचे है, तब तक उसे राज्य जैसी बुराई का नियंत्रण स्वीकार करना ही होगा। पर यदि व्यक्ति पूर्णता प्राप्त कर ले तो उसे राज्य की कोई आवश्यकता ही न रहेगी। जब राज्य का उपयोग नहीं रहेगा, तो धीरे-धीरे उसकी सत्ता स्वतः समाप्त हो

जायेगी। इस प्रकार व्यक्तिवाद की दृष्टि में, व्यक्ति की स्वतन्त्रता के लिए राज्य एक बुराई है, पर उसकी अपूर्णता की दृष्टि से राज्य एक आवश्यक वस्तु है। अतः, राज्य एक अनिवार्य बुराई है।

जब बुराई होते हुए भी राज्य आवश्यक है तो दोनों में समन्वय स्थापित करने के लिए व्यक्ति के जीवन में राज्य का न्यूनतम प्रयोग होना चाहिए। राज्य के कार्य-क्षेत्र का विस्तार उन्हीं के कार्यों तक होना चाहिए जिनका सम्बन्ध व्यक्ति की अपूर्णता से उत्पन्न अपराध-वृत्ति से है। इस प्रकार व्यक्तिवादी विचार-धारा के अनुसार, राज्य के कार्य हैं— विदेशी आक्रमण से देश की रक्षा करना, शान्ति और व्यवस्था बनाए रखना तथा अपराधियों को दण्ड देना इत्यादि। जिन्हें हम सार्वजनिक हित के कार्य कहते हैं जैसे रेल, तार, डाक, टेलीफोन, रेडियो, चिकित्सा, यातायात के साधनों की व्यवस्था इत्यादि राज्य के कार्य-क्षेत्र के भीतर नहीं आते। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता बनाए रखने के लिए ये कार्य व्यक्तियों द्वारा ही सम्पादित होने चाहिए। अतः, राज्य के कार्य-क्षेत्र सीमित हैं। हर्बर्ट स्पेन्सर, जो उग्र व्यक्तिवादी है, उनके अनुसार राज्य का कार्य केवल रक्षात्मक है जो व्यक्ति की अपराध-मनोवृत्ति से उत्पन्न होता है। इसके विपरीत, जॉन स्टुअर्ट मिल, जो संयत व्यक्तिवादी हैं, के अनुसार व्यक्ति के कार्यों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—प्रथम कार्य वे हैं जिनका सम्बन्ध केवल व्यक्ति से होता है और दूसरे कार्य वे हैं जिनका सम्बन्ध अन्य लोगों से भी है। संयत व्यक्तिवाद के अनुसार प्रथम प्रकार के कार्यों में राज्य का कुछ भी हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए। पर दूसरे प्रकार के कार्यों में राज्य को अधिकार है कि वह व्यक्ति के कार्यों को नियन्त्रित कर सकता है।

आलोचना—१. व्यक्तिवाद समाज और राज्य के केवल निषेधात्मक पक्ष का ही वर्णन करता है। समाज केवल अपराधों को रोकने के लिए ही नहीं है और न उनके समाप्त होने पर उसकी आवश्यकता ही समाप्त हो जाएगी। वस्तुतः समाज और राज्य का कार्य दुराचार और अपराधों का दमन मात्र नहीं है, उसका कार्य समाज में अनेक अच्छाइयों को प्रोत्साहित करना भी है। समाज के भीतर व्यक्ति के अनेक सामूहिक हितों की साधना होती है। राज्य आवश्यक अच्छाई है।

२. व्यक्तिवाद की यह मान्यता कि समाज व्यक्तियों का समूहमात्र है, इसलिए वैयक्तिक दृष्टि से जो कुछ ठीक है वही सामाजिक दृष्टि से भी ठीक होगा, भ्रमपूर्ण है। वैयक्तिक हितों की साधना की अनियमित एवं अमर्यादित स्वतन्त्रता का अर्थ वस्तुतः कुछ सबल व्यक्तियों का हित-साधन हो सकता है, सभी व्यक्तियों का हित-साधन कदापि नहीं हो सकता।

३. व्यक्तिवाद के अनुसार व्यक्ति स्वयं पर्याप्त, अपने आप में केन्द्रित, अपने हित-अहित का सर्वोत्तम निर्णायक तथा राज्य और समाज से पूर्णतः पृथक् एवं स्वतन्त्र होता है, सर्वथा गलत है। वस्तुतः, व्यक्ति समाज पर निर्भर होता है तथा समाज, समुदाय और राज्य से पृथक् उसकी कोई सत्ता नहीं होती। व्यक्ति समाज में उत्पन्न होता है, समाज में ही जीवन-यापन करता है और समाज में ही उसका अन्त हो जाता है। व्यक्ति का व्यक्तित्व

समाज की ही देन है। व्यक्ति के वैयक्तिक हितों में सामूहिक हित भी शामिल होते हैं, अन्यथा व्यक्ति कभी कभी भी सुखी नहीं रह सकता।

४: व्यक्तिवाद की स्वतन्त्रता की कल्पना भी त्रुटिपूर्ण है। स्वतन्त्रता से उसका तात्पर्य स्वेच्छाचारिता या स्वैरता है। पर स्वेच्छाचारिता से व्यक्ति का जीवन कभी भी सुखी नहीं हो सकता। यदि समाज किसी की स्वेच्छाचारिता को नियन्त्रित करता है तो वह किसी व्यक्ति के जीवन में हस्तक्षेप नहीं बल्कि उसका नियमन समझा जाना चाहिए। परतन्त्रता अवश्य बुरी है, पर स्वतन्त्रता व्यक्ति के जीवन में तभी आएगी जव उसके अन्दर आत्म-संयम आएगा। स्वेच्छाचारिता तो स्वतन्त्रता का अपहरण करती है।

समाज में व्यक्तिवाद का प्रादुर्भाव उस समय हुआ जब राज्य सर्वहित के स्थान पर कुछ ही लागों के हित-साधन में प्रवृत्त हुआ। पर व्यक्तिवाद के नाम पर जब पूँजीवाद का उदय हुआ और श्रमिकों का शोषण होने लगा तभी व्यक्तिवाद की लोकप्रियता समाप्त होने लगी। आधुनिक युग में तो इसे घृणा की दृष्टि से देखा जाता है।

३. द्वैतवादी सिद्धान्त (Dualistic Theory)

समाज-दर्शन में इस सिद्धान्त का कोई विशेष महत्त्व नहीं है। यह व्यक्तिवादी एवं अद्वैतवादी सिद्धान्तों के बीच समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न करता है। इस सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति और समाज एक दूसरे से स्वतन्त्र और परतन्त्र दोनों हैं। प्रत्येक व्यक्ति का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है किन्तु वह किसी न किसी रूप में अपने कल्याण के लिए समाज पर निर्भर अवश्य होता है। व्यक्ति को अपने कल्याण के लिए, न तो समाज के साथ पूर्ण विलीन हो जाना चाहिए और न उसे अपने सामाजिक वातावरण से पूर्ण स्वतन्त्र ही होना चाहिए। समाज में रहकर अपने व्यक्तित्व का विकास करना ही मानव का चरम उद्देश्य है।

आलोचना—दार्शनिक दृष्टिकोण से द्वैतवादी सिद्धान्त परस्पर विरोधी विचार प्रस्तुत करता है। व्यक्ति समाज से या तो पूर्ण रूप से स्वतन्त्र होगा या पूर्ण रूप से परतन्त्र। स्वतन्त्र और परतन्त्र दोनों कभी नहीं हो सकता। यह सिद्धान्त व्यक्ति और सनाज के बीच सम्बन्ध की समुचित व्याख्या नहीं करता। अतः, समाज-दर्शन में इसका केवल ऐतिहासिक महत्त्व ही है।

अद्वैतवादी सिद्धान्त
(Monistic Theory)

इस सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति अपने अस्तित्व के लिए पूर्णतया समाज पर आश्रित होता है। समाज से पृथक् व्यक्ति के अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती, "प्रत्युत् सम्पूर्ण समूह में वे (व्यक्ति) केवल आणविक इकाइयों के रूप में होते हैं, प्रत्येक अन्य पर और प्रत्येक सम्पूर्ण पर अपने निरन्तर अस्तित्व के लिए आश्रित होता है।"[१] उनका अपना

१. डॉ० गार्नर, इण्ट्रोडक्शन टु पोलिटिकल साइन्स २११

स्वतन्त्र व्यक्तित्व नहीं होता और जो कुछ उनके पास होता है, वह सब समाज का होता है जिसके कि वे अंग हैं।

दार्शनिक व्याख्या

अद्वैतवाद मूल रूप से एक दार्शनिक विचार है जिसके अनुसार जगत् के मूल में केवल एक तत्त्व है तथा जगत् में जो विविधता दिखाई पड़ती है वह उसी एक तत्त्व की अभिव्यक्ति मात्र है। अद्वैतवाद के विरोधी सिद्धान्त **द्वैतवाद** और **बहुलवाद** हैं जो जगत् की व्याख्या क्रमशः दो या अनेक तत्त्वों के माध्यम से करने का प्रयत्न करते हैं। अद्वैतवाद के भी दो रूप हैं—१. **जड़ाद्वैतवाद** (Materialistic Monism) जो जड़ तत्त्व को ही एकमात्र सत् मानता है और २. **चेतनाद्वैतवाद** (Spiritual Monism) जिसके अनुसार चैतन्य (Consciousness) ही एकमात्र सत् है और सम्पूर्ण विश्व चैतन्य की ही अभिव्यक्ति है। पर यदि सूक्ष्म रूप से इन सिद्धान्तों का परीक्षण किया जाय तो पता चलेगा कि जड़ाद्वैतवाद कभी भी यथार्थ नहीं हो सकता क्योंकि विभाजनशीलता जड़ तत्त्व का एक प्रधान गुण है और जो वस्तु विभाजनशील होगी वह अद्वैत कभी नहीं हो सकती। अविभाजनशीलता चैतन्य का ही गुण है। अतः चैतन्यवाद ही वास्तविक रूप में अद्वैतवाद हो सकता है। इस मत के अनुसार तत्त्व चेतन है और उसकी प्राप्ति अनुभव और प्रयोग द्वारा न होकर आध्यात्मिक चिन्तन द्वारा ही हो सकती है।

समाज-दर्शन में अद्वैतवाद

जैसा ऊपर कहा गया, अद्वैतवाद और विज्ञानवाद में कोई अन्तर नहीं है, सामाजिक विज्ञानवाद का अर्थ यह है कि समाज के मूल में एक चेतन तत्त्व विद्यमान है तथा सामाजिक जगत् की विभिन्न संस्थाओं और व्यक्तियों के जो क्रिया-कलाप हैं वे व्यक्ति के आध्यात्मिक विचारों के ही परिणाम हैं। यहाँ हम इस बात का अध्ययन करते हैं कि सामाजिक संगठन के निर्माण में आत्मा, मन और बुद्धि का क्या योगदान है। विज्ञानवाद की मान्यता है कि मनुष्यों का सामाजिक और राजनीतिक जीवन उसकी आत्मिक, बौद्धिक तथा मानसिक वृत्तियों द्वारा संचालित होता है। इस प्रकार का विज्ञानवादी सिद्धान्त समाज की व्याख्या तात्त्विक एवं आध्यात्मिक दृष्टिकोण से करता है, अतः, इसे समाज का **आध्यात्मिक सिद्धान्त** (Metaphysical Theory) भी कहते हैं।

विज्ञानवाद और समाज का रूप

इस सिद्धान्त के अनुसार समाज मनुष्य की आभ्यन्तरिक मनोवृत्तियों की ही अभिव्यक्ति है। व्यक्तिवाद की तरह समाज कोई कृत्रिम संस्था नहीं है, वरन् मनुष्यों का एक प्राकृतिक और स्वाभाविक संवास है। इस सिद्धान्त के अनुसार समाज चूँकि मनुष्य की आन्तरिक मनोवृत्ति का ही वाह्य रूप है, अतः तात्त्विक दृष्टि से व्यक्ति और समाज में कोई भेद नहीं है—समाज, व्यक्ति का ही व्यापक और विराट रूप है। मनुष्यों ने समाज का निर्माण अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही नहीं किया है; वरन्

समाज मनुष्य की नैतिक एवं आध्यात्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति का माध्यम है। व्यक्ति एवं समाज के हितों में कोई मौलिक भेद नहीं है। समष्टि हित के लिए व्यष्टि की स्वतन्त्रता को प्रतिबन्धित करने की आवश्यकता नहीं है। वास्तव में स्वैराचार में व्यक्ति का विकास नहीं, वरन् विनाश है। समष्टि के साथ एकात्मता ही व्यक्ति की पूर्ण विकसित अवस्था है। व्यक्ति ही समष्टि की पूर्णता का माध्यम और माप है। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य व समाजहित अविरोधी है। लोक-तन्त्र, लोक-कर्त्तव्य के निर्वाह का एक साधन-मात्र है।

चूँकि समाज मनुष्यों के नैतिक संकल्प का ही वाह्य-रूप है, अतः समाज की आज्ञा का पालन करते हुए ही व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास कर सकता है। स्वेच्छानुसार, स्वच्छन्द आचरण करने से नहीं, वरन् सामाजिक प्रतिबन्धों के माध्यम से अपने नैतिक संकल्प और नैतिक इच्छा के अनुकूल चलने में ही व्यक्ति वास्तविक रूप में स्वतंत्र होता है।

ईस प्रकार इस मत के अनुसार व्यक्ति की नैतिकता और स्वतन्त्रता समाज-प्रदत्त होती है और वह इसलिए कि मानव-जीवन के जो सर्वोत्कृष्ट लक्ष्य एवं प्रयोजन हैं, वे व्यक्ति द्वारा समाज के माध्यम से ही प्राप्त किये जा सकते हैं। इसलिए यदि किसी व्यक्ति को मानव-जीवन के सर्वोत्कृष्ट लक्ष्यों और उद्देश्यों की प्राप्ति करनी है तो उसे समाज की साधना अवश्य करनी चाहिए। समाज के प्रति समर्पित जीवन ही उच्च जीवन है। यही कारण है कि विज्ञानवाद के अनुसार, समाज को साध्य और व्यक्ति को उसका साधन मात्र समझा जाता है तथा समाज और व्यक्ति का सम्बन्ध शरीर और उसके अंगों के बीच सम्बन्ध के समान समझा जाता है। अद्वैतवादी सिद्धान्त के अनुसार समाज और राज्य आवश्यक बुराई न होकर एक आवश्यक अच्छाई है। व्यक्ति की स्वतन्त्रता और नैतिकता के संवर्द्धन के लिए समाज एक स्वाभाविक संवास (Association) है जिसका प्रादुर्भाव मनुष्य की सामाजिक प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप हुआ है। समाज एक नैसर्गिक संगठन है।

उग्र विज्ञानवाद और उदार विज्ञानवाद

सामाजिक विज्ञानवाद की दो प्रमुख विचार-धाराएँ हैं—१. उग्र (Extremist) विज्ञानवाद, २. उदार (Moderate) विज्ञानवाद। उग्र विज्ञानवाद के अनुसार जिसका प्रतिपादन काण्ट, हेगल इत्यादि जर्मन दार्शनिकों ने किया है, समाज स्वयं एक साध्य या ध्येय है और व्यक्ति उस साध्य का केवल साधन है। व्यक्ति पूर्णतया समाज के अधीन होता है, समाज से पृथक् उसकी कोई सत्ता नहीं होती। काण्ट के अनुसार समाज, जो सामान्य प्रज्ञा (Universal Reason) का वाह्य रूप है, सर्वथा दोष-शून्य व दैवी होता है। अतः मनुष्य का यह पुनीत कर्त्तव्य है कि वह समाज की आज्ञा का पूर्ण परिपालन करे। इसी प्रकार उसके अनुसार समाज एक दिव्य संस्था है, जिसका विरोध करना तो दूर रहा, उसके किसी नियम की आलोचना भी करना व्यक्ति के लिये उचित नहीं है। समाज नैतिकता एवं औचित्य का मूर्त रूप है और दैवी अभिव्यक्ति है। व्यक्तियों से पृथक् समाज

की अपनी सत्ता है, पृथक् इच्छा होती है जो व्यक्तियों की सामूहिक इच्छा से अधिक सत्तावान होती है। व्यक्ति के सभी हित एवं अधिकार समाज-प्रदत्त होते हैं, अतः उनमें परस्पर विरोध का प्रश्न ही नहीं उत्पन्न होता। संक्षेप में—इस सिद्धान्त के अनुसार समाज सर्वोपरि एवं सर्व-शक्तिमान है, अतः सभी दृष्टियों से उसका स्वरूप अमर्यादित एवं निरंकुश सत्तावान का स्वरूप है।

उदार विज्ञानवाद, जिसका प्रतिपादन ग्रीन, ब्रैडले तथा बोसांके इत्यादि अंग्रेज दार्शनिकों ने किया है, की मान्यता है कि समाज के महत्त्व के साथ-साथ व्यक्ति का भी अपना महत्त्व है। ग्रीन तो कहता है कि समाज साध्य न होकर, अच्छे मानव-जीवन का साधन-मात्र ही है। समाज न तो कोई कृत्रिम संस्था है और न दैवी ही है जैसा काण्ट और हेगल ने कहा, अपितु यह एक नैसर्गिक वस्तु है जो मानव की सामाजिक प्रवृत्ति का परिणाम है। समाज एक नैतिक संस्था है जो मानव की सामान्य इच्छा (General Will) का प्रतीक है। चूँकि समाज की सत्ता सदाचार की स्थापना के लिए होती है, व्यक्ति के लिये यह आवश्यक है कि वह उसके आदेशों के अनुसार चले। वस्तुतः व्यक्ति और समाज के हितों में कोई पारस्परिक विरोध नहीं है क्योंकि दोनों के हित एक ही हैं। उग्र विज्ञानवाद के अनुसार समाज का आधार शक्ति या बल-प्रयोग है, पर उदार विज्ञानवाद के अनुसार, समाज का आधार मनुष्य की सामाजिक प्रकृति है तथा उसका प्रयोजन सार्वजनिक हित-साधन करना है। सार्वजनिक हित में व्यक्तिगत हित भी शामिल है। समाज व्यक्ति के लिये स्वस्थ वातावरण उपस्थित करता है जिससे कि वह अपनी आन्तरिक शक्तियों का विकास कर पूर्णता को प्राप्त कर सके। इसमें व्यक्ति और समाज दोनों एक दूसरे के विकास व उत्कर्ष में सचेष्ट रहते हैं क्योंकि दोनों का स्वरूप व हित दो नहीं वरन् एक है। यही **सामाजिक अद्वैतवाद** है। **ब्रैडले** का भी मत है कि समाज हमारी वास्तविक इच्छा (Real Will) का प्रतीक है तथा **बोसांके** भी इस बात से सहमत हैं। व्यक्ति और समाज दोनों का कल्याण इसी में है कि दोनों अपने-अपने स्थान से अपने कर्त्तव्यों का पालन करें। समाज का यह सर्वोत्कृष्ट सिद्धान्त है।

●

३

साहचर्य-प्रणालियाँ
(Modes of Association)

पिछले अध्याय में हम देख चुके हैं कि समाज के निर्माण में प्राकृतिक एवं परम्परागत तत्त्वों का कितना योगदान होता है। व्यापक दृष्टिकोण से सम्पूर्ण मानव-जाति इस प्रकार के समाज का निर्माण करती है। 'समाज' का एक सामान्य, सूक्ष्म एवं अदृश्य रूप है जो मानवीय साहचर्य-सम्बन्धों से उत्पन्न हुआ है, पर समाज का एक विशिष्ट, स्थूल एवं दृश्य रूप भी है जिसे एक-समाज (A-Society) कहते हैं। यह समाज का संकुचित रूप है जिस पर हम विस्तार से विचार करेंगे।

समाज और एक-समाज

जैसा ऊपर कहा गया कि 'समाज' के भीतर सम्पूर्ण मानव-जाति का समावेश हो जाता है क्योंकि समाज एक सामान्य (General) प्रत्यय है जो देश-काल की सीमा से आबद्ध नहीं है। पर जब 'समाज' से एक-समाज शब्द का प्रयोग करते हैं तब हम समाज के अमूर्त रूप से मूर्त रूप की ओर, सूक्ष्म से स्थूल की ओर, अदृश्य से दृश्य की ओर तथा सामान्य से विशेष की ओर अग्रसर होते हैं। उदाहरणार्थ जब हम 'आंग्ल-समाज', 'जर्मन-समाज', 'हिन्दू-समाज', 'शिक्षक-समाज', 'श्रमिक-समाज' इत्यादि शब्दों का प्रयोग करते हैं तो हमारा तात्पर्य अमूर्त समाज से न होकर उन मूर्त समाजों (Societies) से है जो स्थानीय पार्थक्य, भाषाओं की विविधता, धर्म, व्यवसाय, शिक्षा तथा जीवन-प्रणालियों की विभिन्नता के कारण मूल समाज से पृथक् होकर अपनी समितियों (Associations) का निर्माण करते हैं। कुछ समितियाँ ऐसी हैं जिनमें सदस्यों के बीच पर्याप्त घनिष्ठता पाई जाती है जैसे परिवार और राष्ट्र; पर कुछ ऐसी भी समितियाँ हैं जिनमें सदस्यों के बीच कोई विशेष घनिष्ठता नहीं पाई जाती जैसे 'शिक्षक-समिति' या 'उद्योग-समिति' इत्यादि। समाज में ऐसी बहुत-सी विशेषताएँ हैं जो एकता के साथ-साथ भिन्नता को भी उत्पन्न करती हैं। अपने विशिष्ट हितों (Particular Interests) की रक्षा के लिए व्यक्ति समितियों का निर्माण करता है। कुछ लोग अपने परिवार तक, कुछ अपने व्यवसाय तक और कुछ अपने देवालयों तक ही सीमित होते हैं। इसी प्रकार कुछ लोग मुख्य रूप से अपनी पुस्तकों के संसार में, कुछ लोग कला-जगत् में, कुछ लोग राजनीति के संसार में, तथा अन्य विशेष रूप से खेल तथा मनोरंजन की दुनियाँ में विचरण करते हैं। इस प्रकार मानव-समाज छोटे-बड़े अनेक समाजों में बिखरा हुआ है। कुछ समाजों में पर्याप्त घनिष्ठता है जैसे परिवार और राष्ट्र और यह

घनिष्ठता उन विभिन्न संस्थाओं (Institutions) पर आधारित होती हैं जो किसी विशिष्ट समाज का पोषण व संवर्द्धन करती हैं। जैसे परिवार का पोषण विवाह द्वारा एवं राष्ट्र का पोषण सरकार द्वारा होता है। संस्थाएँ साधन हैं, समाज साध्य हैं। परिवार एवं राष्ट्र के अतिरिक्त शिक्षा, उद्योग, वाणिज्य, क्रीड़ा, विज्ञान, कला, साहित्य, नैतिकता और धर्म, मैत्री-समागम, परस्पर सहयोग या प्रतिद्वन्द्विता के आधार पर भी अनेक समितियों और संघों की स्थापना की जाती है। इन समितियों पर विचार करते समय मानव की मूलभूत आवश्यकताओं पर भी दृष्टि रखना आवश्यक है क्योंकि उन्हीं की तुष्टि के लिए ही इन समितियों की स्थापना की जाती है। जैसे वानस्पतिक (Vegetative) आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए औद्योगिक समितियाँ, पाशविक (Animal) इच्छाओं की तृप्ति के लिए क्रीड़ा-समितियाँ, बौद्धिक (Rational) आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए विज्ञान, कला और धर्म सम्बन्धी समितियाँ, तथा संयुक्त इच्छाओं (Composite Needs) की पूर्ति के लिए परिवार एवं राष्ट्र जैसी समितियाँ स्थापित की गई हैं। समाज में इन सभी समितियों का अपना विशिष्ट स्थान है जिन पर पृथक्-पृथक् विचार करना आवश्यक है। पर इन पर विचार करने के पहले संस्थाओं (Institutions) पर विचार कर लेना उपयुक्त होगा।

संस्थाएँ
(Institutions)

प्रत्येक समुदाय के कुछ सामान्य हित होते हैं और कुछ विशिष्ट हित होते हैं। समुदाय के विशिष्ट हितों की सिद्धि के लिए समितियों का निर्माण होता है। ये समितियाँ जो साधन (Means), कार्य-विधियाँ (Procedures) या प्रणाली (Systems) अपनाती हैं उनके स्थायी रूप को संस्थाएँ कहते हैं। मैकाइवर का विचार है कि संस्थाएँ विशिष्ट हितों को मूर्तरूप देने की कार्य-विधियों के रूप (Forms) हैं। अर्थात् संस्थाओं से उसका अर्थ "कार्य विधि की दशाओं अथवा स्थापित रूपों से है जो सामूहिक क्रिया की विशेषता होती है।"[१] इसी प्रकार कूले ने संस्था की परिभाषा करते हुए लिखा है, "एक संस्था किसी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सतत् अनुभव होने वाली आवश्यकता की पूर्ति के लिए सामाजिक विरासत (Social Heritage) में स्थापित व्यवहारों की पूर्ति के लिए सामूहिक क्रिया की प्रणालियों के प्रभावी और प्रतिष्ठित रूपों को संस्थाएँ कहते हैं। परिवार, विवाह और सम्पत्ति प्रमुख घरेलू संस्थाएँ हैं। इसी प्रकार संयुक्त-स्कंघ कम्पनी, साझा बाजार, स्कंघ विनिमय (Stock Exchange), मैनेजिंग एजेन्सी सिस्टम, सहकारी साख व्यवस्था इत्यादि आर्थिक संस्थाएँ हैं। जनतन्त्र का दो दलीय संगठन, संविधान, वयस्क मताधिकार प्रणाली इत्यादि राजनीतिक संस्थाएँ हैं। इसी प्रकार शैक्षणिक, आरोग्य सम्बन्धी, धार्मिक, सांस्कृतिक और मनोरंजनात्मक संस्थाएँ होती हैं। ये मनुष्य की विभिन्न मूल आवश्यकताओं की संतुष्टि करती है।

१. मैकाइवर और पेज, सोसायटी, पृ० १६

प्रकृति

बैलार्ड (L.V. Ballard) ने सामान्य इच्छा द्वारा किसी प्रयोजन से स्थापित संगठित मानव-सम्बन्धों के प्रतिमानों को सामाजिक संस्थाएँ कहा है। वे सामाजिक प्रक्रियाओं के साध्य-उत्पादन हैं। उनका प्रमुख कार्य कर्मरत मानव-समूह के आचरण को नियमित करना होता है।[१] कुछ लोग समितियों और संस्थाओं में भेद नहीं करते। पर दोनों में पर्याप्त अन्तर है। परिवार एक समिति है, पर विवाह एक संस्था है। राज्य, श्रम-संघ, तथा व्यापारिक निगम समितियाँ हैं, किन्तु सरकार, न्याय-पालिका, संविधान इत्यादि संस्थाएँ हैं। समितियाँ व्यक्तियों से बने संगठित समूह हैं। हम उनके सदस्य हो सकते हैं किन्तु संस्थाओं के नहीं।[२]

मनुष्य की कुछ आधारभूत मनोवैज्ञानिक और शारीरिक आवश्यकताएँ होती हैं जैसे, भोजन, आश्रय, यौन, सुरक्षा इत्यादि। स्थूल रूप से इन्हें आर्थिक, यौन, आस्था और सामाजिक कल्याण सम्बन्धी चार मूल आवश्यकताओं में विभक्त किया जा सकता है। सामाजिक संस्थाओं के मूलकृत्यों के यही चार पुंज हैं। अतः समूह की क्रियाओं के आधार में सिद्धान्तों की व्यवस्थाओं को हम संस्थाएँ कह सकते हैं।

सामाजिक संस्थाएँ सामाजिक संगठन के ही रूप हैं क्योंकि जिन सम्बन्धों का उनमें समावेश होता है वे निश्चित ही व्यवस्थित तथा अनुमोदित होते हैं। संस्थाएँ किसी सामान्य इच्छा द्वारा स्थापित होती हैं तथा उनका एक सामाजिक व्यक्तित्व होता है। संस्थाएँ मनुष्य बनाते हैं और सामाजिक रूप देकर उन्हें स्थायी रचनाओं में बदल देते हैं। यह स्थायित्व उन प्रथाओं, परम्पराओं तथा परिपाटियों के कारण है जो संस्थाओं के आस-पास बन जाती हैं। प्रथाएँ, परिपाटियाँ तथा परम्पराएँ संस्था के सदस्यों के आचरण के लिये मानक निश्चित करती हैं। मानकों की प्रतिनिधि रूढ़ियाँ, संहिताएँ तथा आदर्श होते हैं जो समूह के अनुभव के साध्य-उत्पादन के रूप में विकसित हुए हैं और जो संस्थाओं के वर्तमान काम-काज के लिए मार्ग-दर्शक सिद्धान्त होते हैं।

सामाजिक संस्थाएँ
(Social Institutions)

इस शब्द का प्रयोग व्यापक और सीमित दोनों अर्थों में किया जाता है। व्यापक दृष्टि से साहचर्य की कोई भी प्रणाली संस्था कहला सकती है चाहे वह प्राकृतिक हो अथवा कृत्रिम। परिवार, राज्य, भाषा, शिक्षा और धर्म आदि सभी को संस्था कहा जा सकता है। सीमित अर्थ में इस शब्द का प्रयोग उन उपकरणों अथवा उपायों के लिये क़िया जाता है जिनके द्वारा समितियों का निर्माण और रक्षण होता है तथा जिनके द्वारा समितियों के कार्य सम्पादित किए जाते हैं।[३] इस प्रकार विवाह एक संस्था है, पर परिवार

१. बैलार्ड, सोशल इन्स्टीट्यूशन्स, न्यूयार्क (१९३६)
२. मैकाइवर एण्ड पेज, सोसाइटी, पृ० १५
३. मैकाइवर, कम्यूनिटी, खण्ड २, अध्याय ४

एक संस्था नहीं है, लोक-सभा एक संस्था है, परन्तु राज्य एक संस्था नहीं है। इसी प्रकार भाषा संस्था नहीं है, पर मुद्रण-संस्थान एक संस्था है; शिक्षा एक संस्था नहीं है, पर तकनीकी विद्यालय एक संस्था है, धर्म संस्था नहीं है, पर देवालय संस्था है। पर इस बात का बराबर ध्यान रखना चाहिये कि संस्था के व्यापक और सीमित अर्थों में कोई स्पष्ट रेखा नहीं खींची जा सकती। एक ही वस्तु एक दृष्टि से संस्था है तो दूसरी दृष्टि से समिति है। उदाहरण के लिए भाषा एक उपकरण, साधन या संस्था है, पर ऐसा साधन है जो स्वाभाविक रूप से अचेतन प्रक्रिया द्वारा संवृद्ध होता रहता है। अत: संस्था के साथ-साथ समिति के भीतर भी इसका समावेश किया जा सकता है। जो भी हो, समाज एवं समितियों के निर्माण में भाषा का प्रमुख स्थान रहा है। अत:, अन्य सामाजिक संस्थाओं के विषय में वर्णन करने से पूर्व भाषा के महत्त्व के विषय में विचार कर लेना अच्छा होगा।

भाषा का महत्त्व

मुख्य रूप से 'भाषा' से तात्पर्य वाणी के उस विधान से है जो कानों को संकेत करके उच्चारित किए जाते हैं। पर भाषा के अधिकतर रूप से आँख और कान दोनों के लिये प्रयुक्त होते हैं और कुछ ऐसे रूप भी हैं जैसे चित्र-लिपि या मूक-बधिर लोगों की भाषा जो केवल आँखों के लिए ही प्रयुक्त होती हैं। अन्धे लोगों के लिए कुछ सीमा तक भाषा स्पर्श-शक्ति पर आधारित होती है। साधारणतया, लेखन और मुद्रण, मुख्य रूप से हमारी आँखों के लिये ही प्रयुक्त होते हैं, पर उनसे सुनने के शब्दों का भाव भी निकलता है। व्यापक दृष्टिकोण से भाषा के भीतर वे सभी प्रणालियाँ या संकेत आ जाते हैं जिनके माध्यम से विचार, भावनाएँ या इच्छाएँ एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति की ओर प्रेषित की जाती है। यहाँ हमें निर्जीव वस्तुओं, वनस्पतियों, पशुओं एवं देवात्माओं की भाषा से कोई सरोकार नहीं है; हमारा सम्बन्ध केवल उस भाषा से है जिसका प्रयोग मानव-प्राणी करते हैं। मनुष्य अपने विचारों को व्यक्त करने के लिये दो प्रकार के संकेतों का प्रयोग करते हैं—१. प्राकृतिक संकेत (Natural Signs), २. कृत्रिम या रूढ़िगत संकेत (Artificial or Conventional Signs)। प्राकृतिक संकेत भी दो प्रकार के होते हैं—(अ) निर्देशात्मक संकेत (Demonstrative Signs), (ब) अनुकरणात्मक संकेत (Imitative Signs)। निर्देशात्मक संकेत द्वारा हम किसी वस्तु की ओर संकेत करते हैं तथा अनुकरणात्मक संकेत द्वारा हम संकेतित वस्तु का अनुकरण करके अपने विचारों की अभिव्यक्ति करते हैं, जैसे—'सीत्कार' शब्द द्वारा हम एक ऐसी ध्वनि की ओर संकेत करते हैं जो झिल्लियाँ उत्पन्न करती है। इसके विपरीत कृत्रिम या रूढ़िगत संकेत वे हैं जिनका हम कृत्रिम रूप से किसी वस्तु के स्थानापन्न होने के लिए आविष्कार करते हैं। जैसे पुस्तक (वस्तु) की ओर संकेत करने के लिये हमने पुस्तक (शब्द प्रतीक) नामक कृत्रिम संकेत का निर्माण किया है। भाषा के दो प्रयोग होते हैं—१. वैज्ञानिक प्रयोग (Scientific Use), २. सांवेगिक प्रयोग (Emotive Use)। भाषा के वैज्ञानिक प्रयोग द्वारा हम अपने विचारों को ठीक उसी प्रकार दूसरों के पास संचारित करते हैं। इसका

प्रमुख उद्देश्य दूसरों को अपने विचारों से मात्र अवगत करना है। इसके विपरीत सांवेगिक प्रयोग द्वारा हम दूसरों को प्रभावित या किसी कार्य को करने के लिये प्रेरित करते हैं। सभी प्रतीकों के प्रयोग में चार अवयव विद्यमान होते हैं—

१. प्रतीक, २. वस्तु जिसका प्रतीक स्थानापन्न है, ३. प्रतीक का अर्थकार और ४. निश्चित सन्दर्भ जिसमें प्रतीकों का प्रयोग किया जाता है। भाषा के प्रयोग में वक्ता, श्रोता और भाषा इन तीन अवयवों का होना आवश्यक है। तात्पर्य यह है कि भाषा एक सामाजिक उपज है जो व्यक्तियों के परस्पर सम्पर्क व समागम के परिणामस्वरूप उत्पन्न होती है।

भाषा के बिना मानवीय-साहचर्यों की कल्पना भी नहीं की जा सकती। मानवीय चेतना के विकास में भाषा का क्या योगदान रहा है, इसका अध्ययन करना मनोविज्ञान का काम है। भाषा किस अर्थ का संवहन कर रही है, इसका अध्ययन करना तर्कशास्त्र का काम है। समाज-दर्शन में तो हम इस बात का विचार करते हैं कि भाषा का मानव-जीवन पर किस प्रकार प्रभाव पड़ता है; विशेषकर इस बात का कि मानव-समाज में किस प्रकार एकता और विभाजन के उपकरण के रूप में कार्य करती है। भाषा की भिन्नता ने समाज को उसके आदर्शों के प्राप्त करने में पर्याप्त बाधा पहुँचाई है। यह एक देश के भीतर बोली जाने वाली विभिन्न भाषाओं के विषय में लागू होती है। संयुक्त राष्ट्रसंघ में पाँच भाषाओं को मान्यता प्राप्त है पर अन्य देश वाले भी अपनी भाषाओं को वहाँ मान्यता दिलाने के लिए प्रयत्नशील हैं। इससे संसार की समस्याएँ घटने की अपेक्षा बढ़ जाती हैं। भारत में भाषाओं के आधार पर राज्यों का निर्माण किया गया, पर इससे देश के भीतर ऐसी विघटनकारी प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हुईं कि देश का सम्पूर्ण भविष्य ही अन्धकारमय हो गया है। महाराष्ट्र-मैसूर का सीमा-विवाद, चण्डीगढ़ का प्रश्न इत्यादि ऐसी अनेक राष्ट्रीय समस्याएँ भाषा के नाम पर उत्पन्न हो गई हैं कि उनका राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में समाधान होना कठिन हो गया है।

भाषा का किसी देश की संस्कृति, सभ्यता और राष्ट्रीयता से पर्याप्त घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। किसी भाषा में प्रयुक्त वाक्यों की रचना, अभिव्यंजना-शैली, प्रतीकों के प्रयोग, संकेतों एवं मुहावरों के गहन विश्लेषण से हम उस भाषा के प्रयोगकर्त्ताओं एवं उनके देश के विषय में पर्याप्त जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। भाषा, विचारों, भावनाओं एवं इच्छाओं की संवाहिका ही तो है। प्रत्येक राष्ट्र की एक राष्ट्र-भाषा होती है, चाहे उस राष्ट्र के व्यक्ति इसे पहचान पावें या न पहचान पावें। हिन्दुस्थान की भाषा भी हिन्दी ही है, जिसे पूर्व-पश्चिम और उत्तर-दक्षिण के सभी निवासी समझते हैं। बिना एक सामान्य भाषा के राष्ट्र का निर्माण हो ही नहीं सकता। हिन्दी का हिन्दू और हिन्दुस्थान से घनिष्ठ सम्बन्ध है। आज दिन हिन्दू और हिन्दुस्थान को लेकर हमारे देश में जो विवाद खड़ा हुआ उसका मूल कारण यह है कि 'हिन्दू' शब्द के वास्तविक अर्थ से लोगों को कम जानकारी है। ये शब्द हमारी राष्ट्रीयता का उद्बोधन करते हैं। इनका किसी धर्म-विशेष या सम्प्रदाय-विशेष से कोई सम्बन्ध नहीं है। सिन्धु-घाटी की सभ्यता को मानने वाले

सभी लोग हिन्दू कहलाते हैं चाहे उनका धर्म कुछ भी क्यों न हो। भारत की जितनी भी भाषाएँ हैं, उनमें कोई मौलिक भेद नहीं है, सभी संस्कृत से व्युत्पन्न हैं। अतः, भारत की विभिन्न भाषाएँ एक-दूसरे की विरोधी न होकर परस्पर पूरक हैं क्योंकि सबका मूल एक ही है। यदि हम भारत की भाषाओं के प्रचलित एवं सामान्य शब्दों का सूक्ष्म विवेचन करें तो भारत की सांस्कृतिक एकता उनमें परिलक्षित होती दिखाई देगी। भारत की सभी भाषाओं में कुछ सामान्य शब्द पाये जाते हैं, जैसे—धर्म, संस्कृति, निर्वाण, ब्रह्म, राम, कृष्ण, भगवान, माया, प्रकृति, पुरुष, पुत्र, पत्नी इत्यादि। इन शब्दों के भाव भी सम्पूर्ण भारत में एक ही हैं। यह हमारी सांस्कृतिक एकता का प्रतीक है। जिन लोगों की अभिव्यंजना-प्रणालियाँ भिन्न होती हैं, उनके विचार और भाव भी भिन्न होते हैं। जब तक विचारों और भावनाओं में साम्य नहीं होगा, तब तक न तो व्यक्तियों में सामाजिक समागम की घनिष्ठता हो सकती है और न तो किसी सामान्य हित की सिद्धि ही हो सकती है। फलस्वरूप, किसी समुदाय या संघ की स्थापना भी नहीं हो सकती। इस प्रकार भाषा को यदि उसमें अभिव्यक्त विचारों और भावनाओं की दृष्टि से देखा जाय, तो वह एक समुदाय, समाज या संघ होगा; पर यदि उसे एक अभिव्यंजना-प्रणाली या व्यक्तीकरण के माध्यम के रूप में लिया जाय तो निश्चित रूप से वह एक सामाजिक संस्था है जो समुदायों, समितियों या संघों का निर्माण करती हैं।

अन्य सामजिक संस्थाएँ

भाषा के अतिरिक्त कुछ अन्य सामाजिक संस्थाएँ भी हैं जो भिन्न-भिन्न रूपों में समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं। उनमें से प्रमुख निम्न हैं—

१. निर्माणात्मक संस्थाएँ (Formative Institutions)
२. आर्थिक संस्थाएँ (Economic Institutions)
३. बर्बर संस्थाएँ (Barbaric Institutions)
४. सरकारी संस्थाएँ (Governmental Institutions)
५. सांस्कृतिक संस्थाएँ (Cultural Institutions)

१. निर्माणात्मक संस्थाएँ

निर्माणात्मक संस्थाएँ वे संस्थाएँ हैं जो समाज में किसी विशिष्ट प्रकार की एकता स्थापित नहीं करतीं वरन् सामान्य रूप से सदस्यों में सांवेगिक एकता स्थापित करने का प्रयत्न करती हैं। व्यापक रूप में हम इन्हें **शैक्षणिक संस्थाएँ** भी कह सकते हैं, पर कभी-कभी वे निश्चित रूप से शैक्षणिक लक्ष्यों की पूर्ति नहीं करतीं। निर्माणात्मक संस्थाओं में **परिवार** का प्रमुख स्थान है क्योंकि समाज के प्रति कर्त्तव्य-पालन की शिक्षा हमें सर्वप्रथम परिवार में ही प्राप्त होती है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की शिक्षा हमें परिवार से ही मिलती है। परिवार, समाज में सांवेगिक एकता स्थापित करने के साथ-साथ सदस्यों को कुछ प्रारम्भिक शिक्षाएँ भी प्रदान करता है। मुख्य रूप से परिवार का कार्य शिशु-पालन तथा विशाल सामुदायिक जीवन में अपने कर्त्तव्य-पालन की उन्हें क्षमता प्रदान

करना है। स्कूल और कालेज भी परिवार के इस अधूरे कार्य को पूरा करते हैं। विद्यालयों का कार्य है बच्चों को उनकी रुचि एवं योग्यता के अनुसार इस प्रकार की शिक्षा प्रदान करना जिससे कि वे अपनी अभिलाषाओं की पूर्ति के साथ-साथ समाज की आवश्यकताओं की भी पूर्ति कर सकें। इनके विषय में आगे चलकर काफी विस्तार से वर्णन किया जायगा।

२. आर्थिक संस्थाएँ

निर्माणात्मक संस्थाओं के अतिरिक्त कुछ अन्य संस्थाएँ भी हैं जो मानव-समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं। ये मानव-जीवन का निर्माण न कर उन्हें संरक्षण प्रदान करती हैं। **आर्थिक संस्थाएँ** ऐसी ही संस्थाएँ हैं जो हमारी वानस्पतिक (Vegetative) आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं। मनुष्य को स्पष्टत: भोजन, पानी, हवा, धूप, नींद, व्यायाम, गरमी और विश्राम की आवश्यकता होती है और ये आवश्यकताएँ स्थान एवं परिस्थिति-सापेक्ष तो होती ही हैं, मनुष्य के शारीरिक संस्थान एवं उसकी आदतों के अनुसार भी परिवर्तित होती रहती हैं। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन और सुविधाओं के आधार पर ही समाज में उद्योग और वाणिज्य के विभिन्न रूप मिलते हैं। वानस्पतिक आवश्यकताओं की तुष्टि के साथ-साथ उद्योग और वाणिज्य हमारी अन्य आवश्यकताओं की भी पूर्ति करते हैं, जैसे—वे हमें पुस्तकें, चित्र, युद्ध-सामग्री, खेल के सामान, यात्रा-सुविधाएँ और वाद्य-यन्त्र प्रदान कर हमारे जीवन के विभिन्न पक्षों को पूर्णता प्रदान करते हैं। इन पदार्थों की माँग और आपूर्ति की अपेक्षाएँ अन्य पदार्थों से इतनी भिन्न होती हैं कि कुछ लोग उन्हें आर्थिक पदार्थों के रूप में मानने को तैयार नहीं होते। वे उन्हें सुखकर पदार्थ (Comforts) और विलासता की वस्तुओं (Luxuries) के रूप में लेते हैं। पर आवश्यक वस्तुएँ, सुखकर वस्तुएँ एवं विलासता की वस्तुएँ सभी हमारी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं। अत:, इस प्रकार की वस्तुओं के निर्माण करने वाली संस्थाएँ भी आर्थिक संस्थाओं के अन्दर आती हैं। मुख्य रूप से हमारी वानस्पतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाली संस्थाएँ ही आर्थिक संस्थाएँ कहलाती हैं, पर इस प्रकार का प्रतिबन्ध लगाना उचित नहीं कहा जा सकता। आधुनिक युग में उद्योग और वाणिज्य से सम्बन्धित संस्थाएँ हैं—भूमि-अधिकरण, कारखाने, बाजार, सहकारी संस्थाएँ, मजदूरी-संघ, बन्दरगाह, पोत निर्माण-स्थल इत्यादि। ये संस्थाएँ हमारी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर समाज में एकता स्थापित करती हैं।

३. बर्बर संस्थाएँ

बर्बर संस्थाएँ वे हैं जो मूलत: मनुष्य की पाशविक (Animal) वृत्तियों की तुष्टि से सम्बन्धित होती हैं। इन संस्थाओं के बर्बर कहने से कुछ निन्दा या अपमान की झलक दिखाई पड़ती है पर यहाँ जो बर्बर शब्द का प्रयोग किया गया है, उसमें इस प्रकार की कोई बात नहीं है। बालकों और उच्च-धनीवर्ग के लोगों में जो वृत्तियाँ पाई जाती हैं उन्हें बर्बर कहा जा सकता है। गति (Movement), प्रेम (Love) और संघर्ष (Strife)

बर्बर वृत्तियों के प्रमुख लक्षण हैं और समाज में ऐसी संस्थाओं को ढूँढ़ना कठिन नहीं है जो हमारी इन बर्बर इच्छाओं की तुष्टि करती हैं। जब हम लघु बर्बरों (बच्चों) को क्रीड़ा करते देखते हैं तो उनके व्यवहार और पशुओं के व्यवहार में कोई विशेष अन्तर नहीं दीख पड़ता। बाल-संस्थाओं के ऊपर हम शैक्षणिकता और नैतिकता का चाहे कितना ही आवरण चढ़ा दें, उनका प्रमुख उद्देश्य उनकी पाशविक वृत्तियों की तुष्टि करना ही है। यहाँ तक कि बच्चों की व्यायाम-प्रक्रिया भी उसी पाशविक वृत्ति को व्यक्त करती है। ऐसा प्रतीत होता है कि बालकों में प्रेम और संघर्ष के मनोवेग अधिक मात्रा में होते हैं जिनका व्यक्तीकरण लोक-नृत्यों, क्रीडा-प्रतियोगिताओं और प्रारम्भिक कला-कृतियों में पर्याप्त पाया जाता है।

प्रेम और संघर्ष से व्युत्पन्न कई अन्य बर्बर संस्थाएँ भी हैं जो कई सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं। प्रतियोगितात्मक खेलों में गति, प्रेम और संघर्ष की वृत्तियों की न्यूनाधिक मात्रा में तुष्टि होती है। मुक्त-शैली की कुश्तियाँ, मुक्केबाजी तथा शारीरिक-व्यायाम-प्रदर्शन में हमारी संघर्ष या युयुत्सा की प्रवृत्ति को पर्याप्त संतुष्टि मिलती है। हमारी युयुत्सा की प्रवृत्ति दूसरे वर्ग के व्यक्तियों के साथ अधिक वेगवती व शक्तिशाली रूप में दिखाई पड़ती है। युद्ध की स्थापना इसी युयुत्सा प्रवृत्ति पर हुई है। इस सभ्यता के युग में कुछ देश स्वतन्त्रता, प्रजातन्त्र, धर्म, संस्कृति इत्यादि की रक्षा के लिए विशाल सैनिक संगठन खड़ा करते हैं पर यदि उनकी मनोवृत्तियों का सूक्ष्म विश्लेक्षण किया जाय तो उनके पीछे उनकी युयुत्सा-वृत्ति ही पाई जायगी।

४. सरकारी संस्थाएँ

ऊपर जिन सामाजिक संस्थाओं के विषय में वर्णन किया गया है, यदि उन्हें खुली छूट दे दी जाय और उन पर नियंत्रण न रखा जाय तो समाज में अव्यवस्था की स्थिति उत्पन्न हो सकती है। यह ठीक है कि मनुष्य मात्र में वानस्पतिक और पाशविक वृत्तियाँ पाई जाती हैं, पर साथ-साथ उनमें चिन्तन और विवेक-शक्ति भी पाई जाती है जिसके द्वारा उनके कार्यों में समन्वय व उन पर नियन्त्रण किया जाता है। यही कारण है कि प्राय: सभी समुदायों में किसी न किसी प्रकार की सरकारी व्यवस्था अवश्य पाई जाती है। समाज में आन्तरिक व्यवस्था की स्थापना के लिए तथा बाह्य आक्रमण से रक्षा के लिए राज्य-शासन की व्यवस्था की गई और शेष अन्य संस्थाएँ उसी राज्य-संस्था के आधीन रक्खी गईं। राज्य के नियमों का निर्माण किया गया; अधिकारों की व्याख्या की गई और तदनुसार कर्त्तव्यों को भी निर्धारित किया गया। नियमों की स्थापना से न्याय (Justice) के प्रत्यय का निर्माण किया गया। राज्य के नियमों और न्याय-व्यवस्था को कार्यान्वित करने के लिए बल-प्रयोग का प्रावधान किया गया जिसके अनुसार राज्य की सेना गठित की गई। सैनिक कार्रवाई की आवश्यकता ने ही शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार को गठित किया। इन तमाम सरकारी संस्थाओं के आधार पर ही समाज में शान्ति-व्यवस्था स्थापित की जा सकती है जिससे कि प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्रतापूर्वक अपने कर्त्तव्यों का परिपालन कर सके।

५. सांस्कृतिक संस्थाएँ

जब मनुष्य की निम्न कोटि की सारी आवश्यकताएँ पूर्ण हो जाती हैं तो वह उच्चतर मूल्यों की सिद्धि के लिए अग्रसर होता है। भारतीय जीवन के चार पुरुषार्थों में जब हम अर्थ और काम की तृप्ति कर लेते हैं तभी मोक्ष के लिए प्रयत्नशील हो सकते हैं। यदि श्रेयस् साध्य है तो प्रेयस् उसका साधन है। इसके अनुसार बौद्धिक अथवा विवेकमय जीवन का अनुशीलन ही मनुष्य का अन्तिम उद्देश्य है। इसके साथ ही मनुष्य-जीवन में नवीन साहचर्य-प्रणालियों का जन्म हुआ। अब केवल बच्चों के ज्ञान और प्रशिक्षण के लिए ही संस्थाओं का निर्माण नहीं हुआ बल्कि ज्ञान की संवृद्धि तथा बुद्धि और चरित्र के विकास के लिये भी संस्थाओं का निर्माण किया गया। खेल के सरल आवेगों का उदात्तीकरण कला के विभिन्न रूपों की अभिव्यक्ति के रूप में किया गया। मनुष्य की पाशविक वृत्तियों को विवेक द्वारा संयमित करके उन्हें स्वस्थ दिशाओं की ओर उन्मुख किया गया। जीवन की गहन अनुभूतियों के आधार पर उनके प्रति विचारशील एवं दार्शनिक दृष्टिकोण की स्थापना की गई। नियमों के बौद्धिक आधार का अनुसंधान किया गया। सामाजिक नियमों को बाह्य प्रतिबन्ध के रूप में न लेकर नैतिक दायित्व के रूप में स्वीकार किया गया। धर्म ने मनुष्य के समग्र जीवन को पूर्णत्व प्रदान करने की घोषणा की जिसमें व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों प्रकार के जीवन में उच्चादर्शों की स्थापना की गई। जीवन की इन बढ़ती हुई आवश्यकताओं ने तत्कालीन संस्थाओं को संशोधित कर सर्वथा नवीन संस्थाओं को जन्म दिया जिन्होंने मनुष्य के उच्चतर आदर्शों की सिद्धि के लिये पर्याप्त प्रयत्न किया। विज्ञान-परिषदों की स्थापना की गई, कला-संस्थाओं का निर्माण किया गया तथा नैतिकता की वृद्धि और धर्म की स्थापना के लिए देवालयों की उत्पत्ति की गई। मानव-जीवन की तात्त्विक एकता की गहन अनुभूति के लिए देवालयों की उत्पत्ति की गई। मानव-जीवन की तात्विक एकता की गहन अनुभूति एवं उसके आदर्शों का ज्ञान समाज के कृत्रिम विरोधों को समाप्त कर देता है तथा ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की स्थापना करता है जिनमें 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना निहित होती है। अतः सांस्कृतिक संस्थाओं का उद्देश्य है सम्पूर्ण-मानव जीवन की मौलिक एकता का आत्म-ज्ञान कराना जिससे कि इसी पृथ्वी पर दिव्य जीवन की स्थापना की जा सके।

संस्थाओं के मध्य अन्तर-प्रक्रिया

समाज की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जो अनेक संस्थाएँ उत्पन्न होती हैं उनमें कुछ न कुछ अंशों में संघर्ष की स्थिति आ ही जाती है। जैसा हम पहले ही देख चुके हैं कि मनुष्य को पूर्णतया विवेकशील प्राणी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह विवेकशील होने के लिये प्रयत्नशील है। मनुष्य की प्रकृति की उच्च शक्तियाँ, निम्न शक्तियों पर नियन्त्रण चाहती हैं, पर सदा वे सफल नहीं हो पातीं। कभी-कभी उच्चतर और निम्नतर शक्तियों के संघर्ष में निम्नतर शक्ति का बिलकुल ही उन्मूलन कर दिया जाता है। प्रायः सभी समाजों में संन्यासियों को इसी कारण उच्च स्थान दिया जाता है। इस

प्रकार समाज का दो स्पष्ट श्रेणियों में विभाजन हो जाता है—प्रथम वर्ग में वे लोग आते हैं जिन्होंने अपने पाशविक स्वभाव पर नियन्त्रण कर देवत्व प्राप्त कर लिया है—ऐसे लोगों को धार्मिक कह सकते हैं; दूसरे वर्ग में वे लोग आते हैं जिनमें कुछ को पवित्र और शेष को धर्म-निरपेक्ष कह सकते हैं। समाज के इन तीनों वर्गों के क्षेत्र, उनके अधिकार और कर्त्तव्य इतने पृथक् निर्धारित कर दिये जाते हैं कि मानों एक दूसरे में कोई सम्बन्ध ही नहीं है। जैसे कहा जाता है कि 'व्यापार, व्यापार है'; इसमें नैतिक मूल्यों के लिए कोई स्थान नहीं है। हमें येन-केन प्रकारेण अपने व्यापार की वृद्धि करनी चाहिए। इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में भी नैतिकता के स्थान पर 'जिसकी लाठी, उसकी भैंस' की कहावत चरितार्थ दीख पड़ती है। ऐसा समझा जाता है कि नैतिकता केवल संन्यासियों के लिये ही है, सांसारिक मनुष्यों का इससे कोई सरोकार नहीं है। पर मानव-जीवन एक समग्र जीवन् है, उसमें किसी प्रकार का कृत्रिम विभाजन कभी भी संतोषप्रद नहीं हो सकता। जीवन की एकता स्वयं इसकी भिननता का विरोध करती है और धीरे-धीरे हमारी प्रकृति के विभिन्न पहलुओं को उनके आधारभूत हितों के प्रति समायोजित करती है। पर इसमें समय और परिश्रम लगता है। समायोजन की प्रक्रिया का संघर्ष और अव्यवस्था की प्रक्रिया के साथ अभिन्न सम्बन्ध है। अत: मानव-जीवन की समस्याओं के किसी सरल समाधान की हमें आशा नहीं करनी चाहिए।

सभ्यता का अर्थ

जिस प्रक्रिया से मानव-जीवन के विविध परस्पर विरोधी तत्त्वों में समायोजन किया जाता है तथा उस समयोजन से जो परिणाम उत्पन्न होता है उसे सभ्यता कहते हैं। सभ्यता का अंग्रेजी समकक्ष शब्द 'सिविलाइजेशन' (Civilization) है और इस शब्द की सिटिज़ेनशिप (Citizenship) शब्द से पर्याप्त समानता दीख पड़ती है। इन शब्दों की समानता से यह ध्वनि निकलती है कि सभ्यता का बहुत कुछ सम्बन्ध शहरी-जीवन से है। अत:, शहरी जीवन में सभ्यता की अधिक झलक दिखाई पड़ती है। बात यह है कि देहात के जीवन में पर्याप्त सरलता होती है और वहाँ समायोजन की वह समस्या नहीं दिखाई पड़ती जो शहर के जीवन में दिखाई पड़ती है। नागरिक जीवन की आवश्यकताएँ इतनी विविध और जटिल होती हैं तथा उनको संतुष्ट करने की क्षमता इतनी कम होती है कि उनमें समायोजन स्थापित करने के लिये अधिक सभ्य होना आवश्यक हो जाता है। सभ्यता की वृद्धि के साथ-साथ हमारी आवश्यकताएँ भी बढ़ती जाती हैं और उनको तुष्ट करने की क्षमता पूर्वी देशों से अधिक है, पर इसका यह अर्थ नहीं है कि उनके लिए समायोजन की कम समस्या है। आवश्यकताओं का तो यह स्वभाव ही है कि एक आवश्यकता की पूर्ति होती है तो उसमें से हजारों आवश्यकताएँ फूट कर निकल पड़ती हैं। अत:, 'सभ्य' व्यक्ति के लिये सभ्यता की आवश्यकता निरन्तर शेष रहती है। वह पूर्णरूप से सभ्य कभी भी नहीं हो सकता।

सभ्य होने की प्रक्रिया ने मानव-जीवन में नाना प्रकार की आकस्मिक बुराइयों को

जन्म दिया है। यद्यपि नागरिक जीवन में ग्राम्य जीवन की अपेक्षा अधिक ऐक्य होता है पर उसका वातावरण अस्वस्थकर होता हौ। नागरिक जीवन में वानस्पतिक एवं पाशविक पक्षों की हानि होती है जिसके कारण उसका नैतिक और धार्मिक तथा कभी–कभी कलात्मक और बौद्धिक जीवन भी प्रभावित होता है। इसीलिए लोगों के मन में कभी नागरिक जीवन के विरुद्ध एक जबरदस्त प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है जो उन्हें ग्राम्य जीवन के सरल और स्वतन्त्र जीवन में एक बार फिर लौट आने को बाध्य करती है। ग्रामीण व्यक्ति का जीवन तथाकथित सभ्य जीवन के लिए कभी आदर्श जीवन बन जाता है। रूसो की प्रारम्भिक रचनाओं में इसी प्रकार के आदर्श–जीवन की चर्चा की गयी है। वर्तमान समय में एडवर्ड कार्पेन्टर[१] (Edward Carpenter) ने अपनी पुस्तक 'सभ्यता : इसके कारण और निवारण' में सभ्य जीवन की कठिनाइयों का बड़ा रोचक वर्णन किया है। पर रूसों और कार्पेन्टर दोनों का यह निष्कर्ष है कि सभ्यता की बुराइयों का उपचार अधिक सभ्य बनने में है। पर जैसा पहले निवेदन किया गया कि हम जितने सभ्य होते जायँगे, हमारी आवश्यकताएँ उतनी ही अधिक बढ़ती चली जायेंगे और फिर उनको तुष्ट करने के लिए हमें और अधिक 'सभ्य' बनने की आवश्यकता पड़गी। यह चक्र तब तक चलता रहेगा जब तक कि हम अपनी आवश्यकताओं को परिसीमित करने का अभ्यास नहीं कर लेते। हमारी आवश्यकताएँ जितनी ही कम होंगी समायोजन की कठिनाइयाँ भी कम होंगी और समायोजन की कठिनाइयाँ जितनी कम होंगी, हमारा जीवन उतना ही पूर्ण होगा। अतः, सभ्यता की बुराइयों का उपचार अधिक सभ्य बनने में नहीं वरन् अधिक सुसंस्कृत बनने में है।

सभ्यता और संस्कृति

जिस प्रकार 'सभ्यता' हमारी बाह्य आवश्यकताओं की पूर्ति करती है, उसी प्रकार 'संस्कृति' हमारी आभ्यन्तरिक आवश्यकताओं की पूर्ति करती है। सभ्यता से हमारा तात्पर्य 'अपने जीवन की परिस्थितियों को नियन्त्रित करने के लिए मानव द्वारा आयोजित समस्त संगठन तथा यान्त्रिकता है।'[२] इसके भीतर न केवल सामाजिक संगठन की सारी पद्धतियाँ ही आ जाती हैं, वरन् इसके अन्दर हमारी सारी प्रविधियों तथा भौतिक उपकारणों का भी समावेश हो जाता है। इस प्रकार मतदान–पेटिका, टेलीफोन, अन्तरराज्यीय वाणिज्य आयोग, रेल की सड़कें इत्यादि सभ्यता के उदाहरण हैं। सभ्यता के भीतर 'मौलिक औद्योगिकी' और 'सामाजिक औद्योगिकी' दो विभाजन हैं। सामाजिक औद्योगिकी के भी दो भाग हैं, प्रथम आर्थिक औद्योगिकी और द्वितीय राजनीतिक औद्योगिकी।

इसके विपरीत संस्कृति ''उन सब रीतियों का प्रतिनिधित्व करती है जिनके द्वारा हम अपनी अभिव्यक्ति चाहते हैं। वे हमारी आभ्यन्तरिक आवश्यकाओं की तुष्टि करती हैं, बहिरंग आवश्यकताओं की नहीं।''[३] यह मूल्यों, शैलियों, भावात्मक सम्बन्धों तथा

---

१. एडवर्ड कार्पेन्टर, सिविलाइजेशन : इट्स काज एण्ड क्योर

२. मैकाइवर और पेज, समाज, पृ० ४६८

३. वही, पृ० ४६९

बौद्धिक चमत्कारों का क्षेत्र है। हमारे जीवन-क्रम, चिन्तन-पद्धतियाँ, कला, साहित्य, धर्म, मनोरंजन, विनोद इत्यादि संस्कृति के अंग हैं।

जहाँ तक सभ्यता और संस्कृति में अन्तर का प्रश्न है, हम कह सकते हैं कि सभ्यता, उपयोगिता का माप है, तथा संस्कृति मूल्यांकन करती है। सभ्यता साधन है, तथा संस्कृति साध्य है; सभ्यता के भीतर सापेक्ष या साधन-मूल्य है, पर संस्कृति के भीतर निरपेक्ष या साध्य-मूल्य विद्यमान होता है। समाज में 'संस्कृति' का इतना अधिक महत्त्व है कि इसके विषय में एक स्वतन्त्र अध्याय अपेक्षित है।

आगे के अध्यायों की रूप-रेखा

समाज-दर्शन के परिचय एवं समाज-व्यवस्था के मौलिक आधारों का वर्णन करने के उपरान्त हम समाज-दर्शन की प्रमुख समस्याओं का वर्णन करेंगे। सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था को हम दो भागों में विभाजित करेंगे—१. **राष्ट्रीय व्यवस्था**—इसमें हम संगठन की उस प्रणाली से प्रारम्भ करेंगे जो सरलतम और प्राकृतिक है—**परिवार**। परिवार हमारी मूल-प्रवृत्तियों से उत्पन्न होता है तथा जीवन के उच्चतम लक्ष्यों की प्राप्ति का प्रमुख साधन है। परिवार से **शिक्षा-संस्थाओं** पर आसानी से पहुँच सकते हैं। इसके बाद **औद्योगिक-संस्थाओं** का स्थान आता है। जीवन में श्रम का क्या महत्त्व है तथा श्रम का भूमि, पूँजी व सम्पत्ति से क्या सम्बन्ध है, इस पर सविस्तार विचार किया जायगा। पुनः, हम देखेंगे कि हमारी सामाजिक एवं आर्थिक समस्याओं का समाधान व्यक्तिवाद, पूँजीवाद, समाजवाद, साम्यवाद और गाँधीवाद में कौन सर्वश्रेष्ठ रूप में सम्पादित कर सकता है। इसके उपरान्त हम राज्य के विषय में विचार कर सकते हैं। पुनः, हमारे **सामाजिक आदर्श** क्या हैं जिनका हर व्यक्ति को पालन करना चाहिए, इसकी चर्चा की जायगी। न्याय, पुरस्कार और दण्ड का भी विवेचन इस प्रकरण में किया जायगा।

२. **जागतिक व्यवस्था**—राष्ट्रीय व्यवस्था के वर्णन के बाद हम उन व्यवस्थाओं का विवेचन करेंगे जो सम्पूर्ण मानवता के संगठन के लिए आवश्यक है। समाज-दर्शन सम्पूर्ण मानवता के एकत्व में विश्वास करता है जिसकी सिद्धि के लिए **अन्तर्राष्ट्रीयता, धर्म, संस्कृति** के उच्च आदर्शों की स्थापना करता है।

३. **भारतीय-समाज-संगठन**—अन्त में हम भारतीय सामाजिक व्यवस्था के विषय में भी विचार प्रस्तुत करेंगे। इस व्यवस्था में वर्णाश्रम-व्यवस्था का प्रमुख स्थान है। जीवन के पुरुषार्थों की भी इसी प्रकरण में चर्चा की जायगी।

●

४

परिवार
(Family)

परिवार, मानव जीवन की एक आधार-भूत संस्था है। इसके ऊपर सम्पूर्ण सामाजिक संरचना निर्भर है। सामाजिक नियन्त्रण की संस्थाओं में इसका सर्वोच्च स्थान है। परिवार से ही बालक को जीने की कला का प्रथम प्रशिक्षण प्राप्त होता है। जो परिवार बालक की सभी इच्छाओं की सहज पूर्ति कर देता है, भविष्य में उस बालक के व्यक्तित्व का समुचित विकास हो जाता है। पर यदि किसी कारण परिवार में बालक की इच्छाओं का दमन होता है अथवा उसकी अभिलाषाएँ कुंठित की जाती हैं, तो उसका व्यक्तित्व असाधारण हो जाता है और उसके भीतर जीवन की समस्याओं के समाधान करने की क्षमता का ह्रास होता है। डॉ० फ्रायड एवं अन्य मनोविश्लेषकों ने तो यहाँ तक कह दिया है कि मनुष्य के जीवन में जो अच्छाइयाँ या बुराइयाँ देखी जाती हैं उनका मूल उसकी शैशवावस्था के पारिवारिक जीवन में देखा जा सकता है। अतः, परिवार का बालक के जीवन में पर्याप्त महत्त्व है।

परिवार का प्राकृतिक आधार

मनुष्य के लिए परिवार एक प्राकृतिक संस्था है। जीवन के अस्तित्व को बनाए रखने के लिए जो प्राकृतिक नियम अन्य प्राणियों पर लागू होते हैं, मनुष्य भी उसका अपवाद नहीं है। अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिए उसे अनेक प्राकृतिक नियमों का पालन करना पड़ता है जिनसे उसके अस्तित्व की रक्षा होती है। ये प्राकृतिक नियम ईश्वरीय विधान के रूप में हमारे समक्ष उपस्थित होते हैं। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार हमारे भीतर दो ऐसी मूल प्रवृत्तियाँ हैं जो हमारे अस्तित्व की रक्षा करती हैं—प्रथम आत्म-अनुरक्षण (Self-Preservation) की मूल-प्रवृत्ति और दूसरी प्रजाति-अनुरक्षण (Race-Preservation) की मूल-प्रवृत्ति। आत्म-अनुरक्षण के लिए मनुष्य भोजन, पानी, वस्त्र तथा सहयोगियों को खोजता है। मनुष्य के अन्दर जो यूथचारिता (Gregariousness) पाई जाती है उसका भी कारण यही है कि समुदाय के भीतर वह अपने को अधिक सुरक्षित अनुभव करता है। आत्म-अनुरक्षण के साथ मनुष्य के भीतर प्रजाति-अनुरक्षण की भी भावना पाई जाती है जिसके लिये वह सन्तानोत्पत्ति करता है। काम-वासना (Sex-Desire) एवं वात्सल्य-प्रेम (Parental Affection) प्रजाति-अनुरक्षण की भावना को पुष्ट करते हैं। प्रजाति-अनुरक्षण की भावना मनुष्य के अमर होने की इच्छा का प्रतीक है। वह अपने सन्तानों के माध्यम से संसार में अमर होना चाहता है। सन्तान

की उत्पत्ति उसके जीवन में नयी समस्याओं को उत्पन्न करती है। शिशु-पालन किस प्रकार अच्छी प्रकार हो सकता है और किस प्रकार उसके हितों का पूर्ण-संरक्षण प्राप्त हो सकता है, इन्हीं समस्याओं के समाधान के लिए परिवार का जन्म हुआ। परिवार एक ऐसी आधारभूत संस्था है जो मनुष्य जीवन की विविध आवश्यकताओं की पूर्ति करती है। यही कारण है कि परिवार विश्व की प्रत्येक संस्कृति में पाया जाता है। देश-काल-पात्र की भिन्नता के अनुसार परिवार के स्वरूप में पर्याप्त अन्तर पाया जाता है, पर एक प्रमुख सामाजिक इकाई के रूप में तथा सामाजिक नियन्त्रण की संस्था के रूप में परिवार विश्व की प्रत्येक संस्कृति में पाया जाता है।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि परिवार का वह कौन सा सर्वोत्तम रूप है जो उपर्युक्त मानवीय लक्ष्यों की सिद्धि कर सकता है? समाज-दार्शनिकों के अनुसार एक-पत्नी वाले परिवार (Monogamous Family) इस कार्य के लिए सर्वोत्तम सिद्ध होते हैं। यदि हम परिवार में सहयोग और पूरकता की भावना को पुष्ट करना चाहते हैं और चाहते हैं कि बच्चों का ठीक प्रकार से पालन-पोषण हो तो एक-विवाही परिवार को ही प्रोत्साहित करना चाहिए। विकासवादी विचारक डार्विन के अनुयायी **वेस्टरमार्क** (Westermarck) का यही मत है। यह प्राकृतिक भी है।

परिवार के रूढ़िगत आधार

अब प्रश्न यह है कि यदि परिवार का एक प्राकृतिक आधार है तो फिर कुछ लोगों ने इसे रूढ़ियों, परम्पराओं एवं क्रिया-कलापों पर आधारित क्यों माना है? यदि परिवार (Family) शब्द की व्युत्पत्ति पर ध्यान दिया जाय तो स्वयं इसके रूढ़िगत स्वरूप पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। रोम में फेमुलस (Famulus) नाम का एक पारिवारिक दास (Slave) था, और 'फेमिलिया' (Familia) का अर्थ मूलतः एक गृहस्थ के संयुक्त दासों के एक समूह से लिया जाता था। तदनन्तर 'परिवार' से तात्पर्य केवल दासों के समूह से ही नहीं था, वरन् किसी गृहस्थी में रहने वाले सभी नियमित सदस्यों के समूह के अर्थ में 'परिवार' शब्द का प्रयोग किया जाने लगा। कालान्तर में परिवार में पिता का एक महत्त्वपूर्ण स्थान हो गया और शेष लोग परिवार के मुखिया अर्थात् पिता की सम्पत्ति समझे जाने लगे। शिशु का परिवार में बहुत ही गौण स्थान था। परिवार के इसी रूप का वर्णन हमें बाइबिल के दस आदेशों में मिलता है, "तुम अपने पड़ोसी के घर की ओर लालच-भरी दृष्टि से न देखो। तुम अपने पड़ोसी की स्त्री, अपने पड़ोसी के सेवक, सेविकाओं, बैल, गधे और अन्य वस्तुएँ जो उसकी हैं, उनकी ओर भी लालच भरी दृष्टि से नहीं देखोगे।" यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि परिवार के उक्त वर्णन में बच्चों की ओर कुछ भी संकेत नहीं किया गय। इसके दो कारण हैं—प्रथम तो यह कि बच्चों को परिवार का अभिन्न अंग ही नहीं माना जाता रहा हो; दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि बच्चे ऐसी वस्तुएँ ही नहीं हैं जिनकी ओर कोई लालच भरी दृष्टि से देखे। एक बात और है कि बाइबिल के आदेशों में माता-पिता के सम्मान की तो चर्चा की गई है, पर

बच्चों के लिए उसमें कोई भी उक्ति नहीं है। इनसे स्पष्ट है कि बाइबिल के अनुसार शिशु परिवार का केन्द्रबिन्दु नहीं है।

इसमें सन्देह नहीं कि आजकल कोई भी मनुष्य, अपने परिवार के सदस्यों को न तो दास के रूप में और न सम्पत्ति-रूप में ही देखता है, पर इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि इस बारे में सोचने का जो सामान्य ढंग है, वह प्राचीन विचारों से अवश्य प्रभावित है। पर परिवार को एक सम्पत्ति-रूप में मानने से अनेक कठिनाइयाँ और प्रश्न हमारे सामने खड़े हो जाते हैं। यदि परिवार पिता की सम्पत्ति है, तो अन्य सम्पत्तियों की भाँति क्या इसका भी विनिमय किया जा सकता है? यदि पिता अनेक बैल और बच्चे रखने का अधिकारी है, तो उसे अनेक पत्नियों के रखने के अधिकार से क्यों वंचित किया जाता है? और यदि हम समझते हैं कि परिवार में पुरुष और स्त्री के अधिकार समान हैं तो वे दोनों इस सम्बन्ध को एक के अथवा दोनों के सहमत होने पर समाप्त क्यों नहीं कर सकते? इस प्रकार विचार करने पर हम पाते हैं कि पारिवारिक सम्बन्ध में किसी प्रकार का कोई नैसर्गिक बन्धन नहीं है। विवाह केवल एक कृत्रिम संविदा है, उसमें किसी भी प्रकार का धार्मिक बन्धन नहीं है। इसी रूप में हम परिवार को रूढ़िगत कह सकते हैं जिसका कोई प्राकृतिक आधार नहीं है।

शिशु परिवार का केन्द्र है

यदि हम शिशु को परिवार का प्राकृतिक आधार मानते हैं, तो परिवार का प्राथमिक और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य है—बच्चे को योग्य और सक्षम बना देना जिससे कि वह जीवन-संग्राम में अपने को विजयी बना सके। यदि परिवार को एक लघु-राज्य के रूप में देखें तो शिशु उसका वैध सम्राट है जो अपने प्रतिनिधियों के माध्यम से परिवार पर शासन करता है। अर्थात् परिवार के सभी कार्य बच्चों के हित को ध्यान में रखकर ही किये जाते हैं जिससे कि वे विशाल समुदाय के सफल नागरिक बन सकें। अन्य कार्य किसी न किसी रूप में इस प्राथमिक कार्य के पूरक बन कर ही किए जाते हैं। बच्चा परिवार का केन्द्र-बिन्दु है जिसके निमित्त परिवार के सभी कार्य सम्पादित किये जाते हैं।

यह ठीक है कि शिशु परिवार का प्राकृतिक आधार है, पर यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि तार्किक दृष्टि से जो प्रथम है, यह आवश्यक नहीं कि काल-दृष्टि या महत्त्व-दृष्टि से भी वह प्रथम हो। परिवार, एक निश्चित समय में दो विषम-लिंगी व्यक्तियों के परिणय-सूत्र में परस्पर आबद्ध होने से स्थापित होता है। पर यह आवश्यक नहीं कि इस सम्पर्क से बच्चे उत्पन्न ही हों। बहुत से ऐसे परिवार हैं जहाँ बच्चे नहीं हैं अथवा बच्चों के पालन-पोषण की समस्या समाप्त होने के पश्चात भी परिवार का अस्तित्व बना रहता है। अतः, इससे निष्कर्ष निकलता है कि बच्चों के लालन-पालन की अपेक्षा दो विषमलिंगी व्यक्तियों के प्रेम को ही परिवार का प्राकृतिक आधार मानना चाहिये। यह बात हमें पशु-पक्षियों और मनुष्यों में समान रूप से दिखाई पड़ती है। पर इस पर यदि सूक्ष्म रूप से विचार किया जाय तो पता चलेगा कि केवल सम-लिंगी या विषम लिंगी प्रेम को ही

परिवार का आधार नहीं बनाया जा सकता। एक ही लिंग के दो व्यक्तियों में घनिष्ठ प्रेम हो सकता है; दो विषम-लिंगी व्यक्तियों, यथा—भाई और बहन, पिता और पुत्री इत्यादि में भी घनिष्ठ प्रेम हो सकता है, पर वे एक परिवार का निर्माण कदापि नहीं कर सकते। बच्चों के पालन-पोषण की सम्भावना ही विवाह को अन्य साहचर्य सम्बन्धों से पृथक करती है। केवल व्यक्तिगत आकर्षण, परिवार को जन्म नहीं देता। व्यक्तिगत प्रेम, परिवार का व्यावर्तक गुण है सन्तानोत्पत्ति का भाव। भारत में सन्तानोत्पत्ति के लिए ही विवाह या परिवार की व्यवस्था की गयी है। अतः, किसी भी दृष्टि से विचार किया जाय, शिशु को परिवार का केन्द्र-बिन्दु मानना ही होगा।

यदि परिवार का प्रमुख लक्ष्य है बच्चों का पालन-पोषण, तो यह भी सत्य है कि प्रौढ़ होने पर बच्चों को परिवार के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन करना चाहिये। यदि परिवार बच्चों के अधिकार को सुरक्षित रखता है, तो बच्चों का भी कर्त्तव्य है कि प्रौढ़ होने पर परिवार के अधिकारों को सुरक्षित रक्खें। जापान में बच्चों के कर्त्तव्य-पालन पर विशेष बल दिया जाता है। जब तक बच्चों और परिवार दोनों ओर से अपने कर्त्तव्य का पालन न होगा तब तक उच्च कोटि के परिवार का निर्माण नहीं हो सकता। वृद्धावस्था में माँ-बाप की विशेष सहायता की अपेक्षा होती है और यदि बच्चों ने उनके प्रति कृतज्ञता का भाव प्रकट न किया तो परिवार कभी भी सुखी नहीं रह सकता। अतः बच्चों एवं वृद्धों दोनों का पालन-पोषण परिवार का मूलाधार है।

विवाह

सर्वप्रथम विवाह के द्वारा ही परिवार की उत्पत्ति होती है। विवाह की सफलता पर ही परिवार की सफलता आधृत होती है। अतः यदि हम परिवार को सुखी और स्थायी बनाना चाहें तो विवाह को भी एक पवित्रता (Sanctity) और स्थायित्व (Permanence) प्रदान करना होगा। प्रकृति ने स्वयं ऐसी व्यवस्था उत्पन्न कर दी है जो विवाह को अपूर्व बल प्रदान करती है। यहाँ तक कि पशुओं और पक्षियों की युगल जोड़ी को भी सरलता से विलग नहीं किया जा सकता। स्त्री और पुरुष एक दूसरे के परिपूरक हैं और विवाह के द्वारा जो उनके भीतर बार-बार साहचर्य सम्बन्ध स्थापित होता है, उससे उनके मध्य प्राकृतिक आकर्षण की वृद्धि होती है और उनके बीच एक प्रकार का अटूट सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। मानव-प्रकृति की अस्थिरता के कारण, स्त्री और पुरुष दोनों के स्वभाव में तथा उनके चिन्तन और अनुभूति के ढंग में परिवर्तन आ जाना स्वाभाविक है। ऐसा परिवर्तन शीघ्र ही उनके विवाह-बन्धन को समाप्ति की दिशा में भी प्रेरित कर सकता है। अतः यह आवश्यक है कि हमारी स्वाभाविक वृत्तियों को धर्म, कानून, विधि और निषेधों द्वारा प्रतिबन्धित कर उनमें स्थायित्व लाया जाय। पाश्चात्य देश वाले इन प्रतिबन्धों को कृत्रिम और अस्वाभाविक मानते हैं, पर भारतीय चिन्तन-प्रणाली के अनुसार नियन्त्रण और आत्म-संयम की आवश्यकता उतनी ही स्वभाविक एवं प्रबल है जितनी वासना-तृप्ति की आवश्यकता। संयम के अभाव में वासनाओं की समुचित तृप्ति भी नहीं

हो सकती। पश्चिम का विचार है कि स्वच्छन्दता एवं स्वेच्छाचारिता के वातावरण में ही वासनाओं की यथेष्ठ तृप्ति हो सकती है। इसीलिए वहाँ तलाक के लिए अधिक सुविधाओं की माँग बराबर होती रहती है। पर यह विचारधारा परिवार के प्राथमिक और महत्त्वपूर्ण उद्देश्यों से ही हमें विचलित कर देती हैं। परिवार का प्रमुख उद्देश्य है बच्चे की देखभाल और यह तभी सम्भव है जब माँ-बाप के भीतर अपनी सन्तान के सुख के लिए आत्म-बलिदान की भावना निहित हो। जब स्त्री-पुरुष, वासना की तृप्ति को ही परिवार का प्रमुख उद्देश्य मान लेंगे तो परिवार के किसी भी सदस्य की आवश्यकता-पूर्ति असम्भव हो जायगी।

भारतीय विचार-धारा

भारतीय चिन्तन-प्रणाली के अनुसार विवाह एक पवित्र-बन्धन (Sacrament) है जिसे किसी भी अवस्था में तोड़ा नहीं जा सकता। विवाह में दो आत्माओं का मिलन होता है जो ईश्वरीय विधान ने पहले से ही निश्चित कर रखा है। इसे संसार का कोई कानून भंग नहीं कर सकता। हिन्दू तो यहाँ तक मानते हैं कि विवाह इस जन्म का नहीं, जन्म-जन्मान्तरों का सम्बन्ध है, अत: इसे तोड़ना ईश्वरीय विधान में हस्तक्षेप करना है। गाँधीजी की भी यही विचार-धारा थी। उन्होंने भी विवाह को दो भौतिक शरीरों का मिलन नहीं वरन् दो आत्माओं का मिलन बतया है। यंग इण्डिया में उन्होंने एक बार लिखा था, "विवाह एक ऐसा प्रतिबन्ध है जो धर्म की रक्षा करता है। यदि इस प्रतिबन्ध को हटा दिया जाय तो धर्म के टुकड़े हो जायँगे। संयम धर्म की आधार-शिला है और विवाह कुछ नहीं, एक प्रकार का आत्म-संयम है।"[१]

गाँधीजी का दृढ़ विश्वास था कि विवाह का उद्देश्य वासना की तृप्ति नहीं वरन् सन्तानोत्पत्ति है और दम्पति को लैंगिक कार्य में तभी प्रवृत्त होना चाहिए जब कि सन्तानोत्पत्ति की अभिलाषा हो। विवाह वह सामाजिक संस्था है जो स्त्री-पुरुष को भोगों की अनित्यता का ज्ञान कराकर उन्हें कैवल्य की ओर प्रवृत्त करती है। अत: विवाह केवल भोग का ही नहीं वरन् मोक्ष का भी साधन है।

अब हम उस स्थिति में पहुँच गए हैं जब कि परिवार को अच्छी प्रकार परिभाषित कर सकते हैं।

परिवार की परिभाषा

परिवार एक ऐसा समूह है जिसमें (क) स्त्री-पुरुष का यौन सम्बन्ध, (ख) 'विधिपूर्वक' स्वीकार किया जाता है, (ग) इसे 'स्थिर' बना दिया जाता है और (घ) जिसमें संतान की 'उत्पत्ति', 'पालन' व 'भरण-पोषण' की जिम्मेदारी लेकर (ङ) स्त्री-पुरुष किसी स्थान पर साथ-साथ रहते हैं।

उक्त बातों को ध्यान में रखते हुए भिन्न-भिन्न विचारकों ने 'परिवार' की भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ दी हैं—

---

१. महात्मा गाँधी, यंग इण्डिया, जून ३, १९२६ ई०

१. मैकाइवर और पेज—"परिवार यौन-सम्बन्धों पर आधारित वह समूह है, जो पर्याप्त रूप से सीमित और इतना स्थायी है कि बच्चों की उत्पत्ति एवं उनका पालन-पोषण आसानी से सम्भव हो जाता है।"

२. बर्जेस और लॉक—"परिवार व्यक्तियों का एक समूह है जो विवाह, रक्त व दत्तक सम्बन्ध से बँध कर एक गृहस्थी का निर्माण करता है। इस गृहस्थी में वे एक दूसरे से प्रति-पत्नी, माता-पिता, पुत्र-पुत्री तथा भाई-बहन के रूप में परस्पर प्रभावित होते हैं। इस गृहस्थी में वे एक सामान्य संस्कृति को जन्म देते हैं और उसे धारण किए रखते हैं।"

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि परिवार के विषय में कोई सार्वभौम परिभाषा नहीं दी जा सकती। किसी समाज में एक-पत्नी की प्रथा प्रचलित है तो कहीं अनेक-पत्नियों की। किसी समाज में स्त्री-पुरुष व बच्चों तक ही परिवार को सीमित किया जाता है तो कहीं परिवार से सम्बन्धित अन्य व्यक्तियों को भी उसमें शामिल किया जाता है।

परिवार की उत्पत्ति
(Origin of Family)

परिवार की उत्पत्ति के सम्बन्ध में समाजशास्त्र में अनेक सिद्धान्त प्रचलित हैं। उनके विषय में किसी निश्चित मत का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता। परिवार की उत्पत्ति का उल्लेख करनेवाले सिद्धान्तों में निम्नलिखित मुख्य हैं—

१. पितृ-सत्तात्मक परिवार का सिद्धान्त (Patriarchal Theory)

इस सिद्धान्त के अनुसार प्राणि-जगत् में नर और मादा साथ-साथ ही नहीं रहते, नर, मादा को अपने एकाधिकार में भी रखता है। यदि मादा दूसरे के पास जाती है तो उसे ईर्ष्या होती है। स्वाभाविक रूप से नर मादा से अधिक बलवाना होता है, अतः **'एकाधिकार'** तथा **'ईर्ष्या'** इन दो भावनाओं के कारण वह मादा पर अपना स्वत्व जमा लेता है। नर के मादा पर स्वत्व जमाने को ही पितृ-सत्तात्मक परिवार कहा जाता है। इस प्रकार परिवार में घर का अन्तिम उत्तरदायित्व स्त्री पर न होकर पुरुष पर होता है। सम्पत्ति का मालिक स्त्री नहीं वरन् पुरुष होता है। वंश-परम्परा स्त्री के नाम से नहीं वरन् पुरुष के नाम से चलती है। स्त्रियों की स्थिति पुरुषों से हीन समझी जाती है। **हेनरी मेन (Henry Maine)**, जो इस सिद्धान्त के प्रतिपादक हैं, का कथन है कि समाज में सर्वप्रथम इसी प्रकार के परिवारों की उत्पत्ति हुई।

२. मातृ-सत्तात्मक परिवार का सिद्धान्त (Matriarchal Theory)

इस सिद्धान्त के अनुसार परिवार का उत्तरदायित्व सर्वप्रथम पुरुष पर न होकर स्त्री पर था। इसका कारण यह था कि प्रारम्भ में जब विवाह की प्रथा न थी, एक स्त्री का सम्बन्ध कई पुरुषों से हो सकता था। ऐसी अवस्था में बच्चा उत्पन्न होने पर यह तो कहा जा सकता था कि किस स्त्री का कौन-सा बच्चा है, पर इस बात का निर्णय होना अत्यन्त कठिन था कि किस पुरुष का कौन-सा बच्चा है। पिता के साथ बच्चे का सम्बन्ध न जोड़

सकने के कारण, पिता को परिवार में कोई स्थिति ही नहीं थी। माता के इर्द-गिर्द ही बच्चों का लालन-पालन होता था। वही परिवार की मालकिन थी। अतः, इस विचार के माननेवाले लोगों के अनुसार आदि समाज मातृसत्तात्मक था। इस विचार के समर्थकों में ब्रिफाल्ट (Briffault) तथा टाइलर (Tylor) के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

३. एक-विवाही परिवार का सिद्धान्त (Monogamous Family Theory)

यह सिद्धान्त पितृ-सत्तात्मक परिवार के सिद्धान्त का ही अनिवार्य परिणाम है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रारम्भ में परिवार केवल पितृ-सत्तात्मक ही नहीं थे, एक-विवाही भी थे। स्त्री से अधिक बलवान होने के कारण पुरुष, स्त्री पर केवल स्वत्व ही नहीं जमा लेता, परन्तु 'एकाधिकार' तथा 'ईर्ष्या' की भावना के कारण कोई पुरुष अपनी स्त्री को दूसरे के पास नहीं जाने देता। यही 'एकाधिकार' की भावना; एक-विवाही परिवार के उत्पन्न होने में सहायक होती है। निम्न स्तर के बन्दरों में भी 'एक विवाह' की प्रथा है। अतः विकास की दृष्टि से 'एक-विवाह-परिवार' समाज में पीछे नहीं, वरन् प्रारम्भ में ही उत्पन्न हुआ। विकासवादी डार्विन के अनुयायी वेस्टरमार्क (Westermarck) इसी विचार के पोषक हैं।

४. लिंग साम्यवादी परिवार का सिद्धान्त (Sex Communism Theory)

इस सिद्धान्त के अनुसार 'एकाधिकार' एक पूँजीवाद प्रत्यय है। पूँजीवाद चाहे जिस किसी रूप में हो, समाज के लिए विनाशकारी है। प्रारम्भ में न तो किसी पुरुष का किसी स्त्री के ऊपर एकाधिकार था और न किसी स्त्री का किसी पुरुष के ऊपर पूर्ण स्वत्व था। जो स्त्री-पुरुष जिससे चाहता, सम्बन्ध कर सकता था। आदि-काल में विवाह की प्रथा भी न थी; उस समय न किसी प्रकार का संयम था और न किसी प्रकार का प्रतिबन्ध ही। आज भी कुछ ऐसी जातियाँ पाई जाती हैं जिनमें सामूहिक विवाह (Group Marriage) की प्रथा है—समूह की सब स्त्रियाँ, समूह के सब पुरुषों से विवाहित समझी हैं। अर्थात् प्रारम्भ में स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों में एक प्रकार का साम्यवाद था। इसी को लिंग-साम्यवादी परिवार का सिद्धान्त कहते हैं।

५. विकासात्मक परिवार का सिद्धान्त (Evolutionary Theory)

इस सिद्धान्त के अनुसार परिवार विकास-क्रम का परिणाम है। विकास की प्रक्रिया से गुजरता हुआ परिवार पाँच क्रमों से गुजरा है—

(i) समान-रुधिर-परिवार (Consanguineous Family) इसमें एक ही रुधिर वाले लोग आपस में विवाह करते थे।

(ii) समूह-परिवार (Punaluant Family) परिवार के विकास की यह दूसरी अवस्था है जिसमें समान-रुधिर वालों में विवाह तो बन्द हो गया, परन्तु एक परिवार के सब भाइयों का विवाह, दूसरे परिवार की सब बहनों के साथ होना प्रारम्भ हो गया। यह एक प्रकार का 'सामूहिक विवाह' था। इसमें किसी विशेष भाई की कोई विशेष स्त्री नहीं होती थी; सब भाइयों के लिए सब बहनें, और सब बहनों के लिए सब भाई, पत्नी तथा पति समझे जाते थे।

(iii) सिन्डेस्मियन-परिवार (Syndasmian Family) इसमें अनेक भाइयों का अनेक बहनों के एक साथ विवाह होना तो बन्द हो गया, एक पुरुष एक स्त्री से विवाह करने लगा, परन्तु परिवार में जितनी भी स्त्रियाँ थीं, उनमें से किसी से भी उसका सम्बन्ध हो सकता था। यह परिवार के विकास की तीसरी अवस्था थी।

(iv) पितृ-सत्तात्मक परिवार (Patriarchal Family) इसमें परिवार में पुरुष की प्रधानता स्वीकार की गई। पुरुष का सम्बन्ध एक पत्नी से तो होता ही था, वह अनेक स्त्रियों से विवाह कर सकता था और उनके साथ सम्बन्ध स्थापित कर सकता था।

(v) एक-विवाही-परिवार (Monogamous Family) परिवार के विकास की यह अन्तिम अवस्था है जिसमें पुरुष केवल एक पत्नी से और स्त्री केवल एक पति से ही विवाह कर सकती है। यह परिवार का आदर्श रूप है।

मार्गन (Morgan) महोदय विकासात्मक परिवार के प्रमुख समर्थक हैं।

परिवार के कार्य
(Functions of Family)

परिवार सामाजिक संगठन की एक अभिन्न इकाई है। सामाजिक विकास के प्रत्येक चरण में पारिवारिक संगठन देखने को मिलता है। आदि-कील से ही परिवार जिन कार्यों को सम्पन्न करता रहा है, उनका स्थान मानव-सभ्यता व संस्कृति में अपूर्व है। परिवार के सभी कार्यों को हम पाँच विभागों में बाँट सकते हैं—

१. जैविक कार्य (Biological Functions) परिवार की रचना में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य है जैविक एवं वानस्पतिक (Vegetative) आवश्यकताओं की पूर्ति करना यथा (i) यौन इच्छाओं की पूर्ति (ii) सन्तानोत्पत्ति (iii) बच्चों एवं वृद्धों की सेवा-सुश्रूषा (iv) परस्पर सहयोग (v) उचित भोजन, पानी, विश्राम, वायु, प्रकाश तथा अन्य शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना।

२. मनोवैज्ञानिक कार्य (Psychological Functions) परिवार मनुष्य के मानसिक विकास के लिए भी समुचित वातावरण उपस्थित करता है। वह अपने सदस्यों में प्रेम, त्याग, बलिदान, सहानुभूति तथा सहयोग की भावना का संचार करता है जो सामाजिक संगठन के बड़े आवश्यक तत्त्व हैं। परिवार में बच्चे को जो वात्सल्य-प्रेम मिलता है, अन्यत्र सुलभ नहीं हो सकता। भाषा का प्रारम्भिक प्रयोग, इच्छाओं का संयम तथा शिक्षण एवं सामाजिक शिष्टाचार के मूल सिद्धान्तों का ज्ञान परिवार में ही होता है। 'विश्व प्रेम' एवं 'विश्व-संहार' की भावनाओं का उद्‌गम परिवार से ही होता है। प्लेटो ने एक बार कहा था कि बच्चों के शिक्षण का कार्य अशिक्षित परिवार के भरोसे न छोड़कर उन अधिकारियों पर छोड़ना चाहिए जो शिक्षण-कला में दक्ष, निपुण एवं विशेषज्ञ हैं। पर हम प्लेटो की इस बात से सहमत नहीं हैं। माँ-बाप के स्वाभाविक स्नेह में पला बालक जितनी अच्छी प्रकार अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकता है, उतना वह बालक कदापि नहीं कर सकता जो किसी शिक्षक या विशेषज्ञ के संरक्षण में पला हो।

परिवार केवल बच्चों का शिक्षण-केन्द्र नहीं है; उससे माता-पिता भी लाभान्वित होते हैं। हम शिक्षा देकर स्वयं सीखते हैं। बच्चे भगवान्-रूप होते हैं और उनके सम्पर्क में आने से हमें एक ऐसी दिव्य प्रेरणा मिलती है जो जीवन-यात्रा को पर्याप्त सरल बना देती है। शिशु-जीवन के संसर्ग से हमारी अनुभूतियों का विस्तार होता है और हम 'विश्व-बन्धुत्व' की भावना से ओत-प्रोत हो जाते हैं।

३. आर्थिक कार्य (Economic Functions) किसी समय परिवार आर्थिक कार्यों का केन्द्र समझा जाता था। यूरोप में औद्योगिक क्रान्ति से पहले जब मशीन, कल, कारखाने नहीं बने थे, तब परिवार ही छोटे-छोटे उद्योगों का केन्द्र हुआ करता था। कुछ काम पुरुष करते थे, कुछ स्त्रियाँ और कुछ बच्चे। उनमें श्रम-विभाजन था। आज भी देहाती परिवारों में इस प्रकार के आर्थिक केन्द्र दिखाई पड़ते हैं। जब से औद्योगिक युग के कारण कल-कारखाने खुले, नवीन सभ्यता का उदय हुआ, तब से परिवार आर्थिक केन्द्र नहीं रहता। फिर भी स्त्री-पुरुप दोनों में श्रम-विभाजन होता है—पुरुष बाहर से कमाकर लाता है, और स्त्री घर में काम-काज सँभालती है। जो लोग विवाह नहीं करते वे आर्थिक दृष्टि से पिछड़े ही रहते हैं क्योंकि परिवार मनुष्य को आर्थिक-क्षेत्र के बढ़ाने की प्रेरणा प्रदान करता है।

४. सामाजिक कार्य (Social Functions) प्रत्येक परिवार की एक सामाजिक प्रतिष्ठा व मर्यादा होती है और प्रत्येक परिवार अपने सदस्यों से अपेक्षा रखता है कि वे ऐसा कोई कार्य न करेंगे जो परिवार की प्रतिष्ठा के प्रतिकूल हो। जब भगवान श्री रामचन्द्र जी पुष्प-वाटिका में विश्वामित्र के लिए फूल तोड़ने गए, उसी समय भगवती सीता जी पार्वती-पूजन के लिए जा रही थी। सीता जी के सौन्दर्य को देखकर भगवान् श्री राम का सहज पुनीत मन क्षुब्ध हो उठा। पर परायी स्त्री को देखकर मन का इस प्रकार क्षुब्ध होना उनके परिवार की मर्यादा के प्रतिकूल था। चट उन्हें ख्याल हो गया—

"रघुबन्सिन्ह कर सहज सुभाऊ। मन कुपंथ पगु धरई न काऊ॥"

(बालकाण्ड)

इसी प्रकार राजा दशरथ ने भी रघुवंशियों के जाति-स्वभाव का वर्णन करते हुए कैकेयी से कहा था—

"रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्राण जाहिं बरु वचन न जाई॥"

(अयोध्याकाण्ड)

परिवार, व्यक्ति को एक 'स्थिति' प्रदान करता है और व्यक्ति को उस 'स्थिति' के अनुकूल ही कार्य करना होता है।

परिवार का दूसरा कार्य है बच्चों का समाजीकरण करना। बच्चे को समाज के योग्य बनाना परिवार का ही कार्य है। परिवार भाषा तथा विभिन्न क्रियाओं द्वारा उसे समाज की विभिन्न प्रथाओं तथा परम्पराओं से परिचित कराता है। संस्कृति को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुँचाने में भी परिवार का स्थान महत्त्वपूर्ण है।

५. सांस्कृतिक कार्य (Cultural Functions) समाज का जीवन उस समाज की

संस्कृति पर आधारित होता है। समाज की परम्पराएँ, उसके रीति-रिवाज, सामाजिक विरासत, जीवन के प्रति हमारा दृष्टिकोण इत्यादि सांस्कृतिक धरोहर हैं जो परिवार से ही बच्चों को प्राप्त होते हैं। देश के त्योहार, देश के वीर, देश के कथानक, देश-प्रेम इत्यादि भावनाएँ परिवार द्वारा बच्चों को जाने-अनजाने प्राप्त होती रहती है। परिवार देश की संस्कृति को अक्षुण्ण रखता है।

परिवार पर मार्क्स और एंजिल्स के विचार

मार्क्स और एंजिल्स ने मानव-जीवन की व्याख्या आर्थिक आधारों पर की है। परिवार के आर्थिक पक्ष पर उनका इतना अधिक बल था कि उनके अनुसार मिल और कारखानों में कार्य करने वाले अधिकतर श्रमिकों का कोई पारिवारिक जीवन ही नहीं होता। वे अपने घरों से दूर औद्योगिक नगरों में जाकर बस जाते हैं तथा एकाकी जीवन व्यतीत करते हैं। मद्यपान, जुआ और वेश्यागमन की समाज में जो बुराइयाँ फैल रही हैं, वे सब देश के औद्योगीकरण के ही परिणाम हैं। ऐसी परिस्थिति में जहाँ तक श्रमिकों का प्रश्न है, उनके लिए परिवार नाम की कोई वस्तु ही नहीं है। सामाजिक संस्था के रूप में परिवार केवल धनी, पूँजीपतियों एवं मध्यम श्रेणी के व्यक्तियों के लिए ही महत्व की वस्तु है। श्रमिकों का तो कोई परिवार ही नहीं होता। तात्पर्य यह है कि मार्क्स एवं एंजिल्स के लिए परिवार एक पूँजीवादी कल्पना है।

कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो में परिवार के विषय में अपने विचार व्यक्त करते हुए मार्क्स और एंजिल्स ने लिखा है, "पूँजीवादी परिवार की आधार-शिला क्या है? पूँजी और वैयक्तिक लाभ। अपनी पूर्ण विकसित अवस्था में परिवार केवल धनिकों के यहाँ पाया जाता है। इसके विपरीत, श्रमिकों एवं सार्वजनिक वेश्यागमनों में परिवार का पूर्णतया अभाव पाया जाता है।"

पूँजीपतियों का, साम्यवादियों द्वारा स्थापित स्त्रियों के साम्यवाद (Community of Women) मर रोष प्रकट करना, हास्यास्पद ही है। साम्यवादियों को स्त्रियों के साम्यवाद स्थापित करने की कोई आवश्यकता ही नहीं है। यह अनादि काल से चला आ रहा है। पूँजीपतियों के विवाह की अवधारणा, साम्यवादियों द्वारा स्थापित 'स्त्रियों के साम्यवाद' की अवधारणा का ही प्रच्छन्न रूप है। जो कार्य पूँजीपति प्रच्छन्न रूप से और मिथ्याडंबर पूर्वक करते हैं, हम उसे खुले रूप में वैधानिक रूप देना चाहते हैं। उत्पादन की वर्तमान व्यवस्था के उन्मूलन से तज्जन्य 'स्त्रियों के साम्यवाद' का भी स्वतः उन्मूलन हो जायगा अर्थात् व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक वेश्यागमन दोनों स्वतः बन्द हो जायँगे।

प्लेटो द्वारा परिवार का उन्मूलन

परिवार के विषय में प्लेटो के विचार भी विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उसका कथन है कि जहाँ तक औद्योगिक वर्ग का प्रश्न है, वह सुखपूर्वक पारिवारिक जीवन व्यतीत कर सकता है। बच्चे अपने माँ-बाप के व्यवसाय का अनुसरण करेंगे क्योंकि वंश-परम्परा और पर्यावरण दोनों द्वारा वे इस बात के लिए सक्षम होंगे कि वे वही व्यवसाय

करें जो उनके घर में होता रहा है। किन्तु शासक-वर्ग के लिए परिवार एक अभिशाप ही सिद्ध होता है। मनुष्य के परिवार एवं राज्य के प्रति कर्त्तव्यों में विरोध है और कभी तो यह विरोध इतना उग्र हो जाता है कि मनुष्य का व्यक्तित्व ही विघटित हो जाता है। प्लेटो के अनुसार जो देश की सुरक्षा और शासन के प्रति उत्तरदायी हैं उन्हें पारिवारिक जीवन से मुक्त ही होना चाहिए। माँ-बाप बच्चे को एक प्रकार की शिक्षा देना चाहते हैं तो राज्य अपनी आवश्यकतानुसार उन्हें दूसरे प्रकार का प्रशिक्षण देना चाहता है। ऐसी अवस्था में दोनों में संघर्ष अनिवार्य है। किन्तु यदि सूक्ष्म रूप से विचार किया जाय तो दोनों में कोई विरोध नहीं है। बच्चा परिवार का सम्राट माना जाता है, उसके माँ-बाप तो केवल सलाहकार रूप में ही कार्य करते हैं। बच्चा परिवार का सम्राट तभी तक रहता है जब तक कि उसमें बृहत्तर राज्य के सम्राट होने की योग्यता नहीं आ जाती। परिवार बच्चे का संरक्षक तभी तक रहता है जब तक कि राज्य उसकी संरक्षकता को स्वीकार नहीं कर लेता। राज्य की संरक्षकता (Trustee-ship), परिवार की संरक्षकता से श्रेयस्कर है।

परिवार की दुर्बलताएँ

(Weakness of the Family)

हम पहले देख चुके हैं कि परिवार का एक प्राकृतिक आधार है और उसका मूल मानव-प्रकृति में निहित है, पर सभ्यता की वृद्धि के साथ-साथ मनुष्य के जीवन में कुछ ऐसी वाह्य-परिस्थितियाँ उठ खड़ी होती हैं जो परिवार के अस्तित्व को ही दुर्बल बना देती हैं और कभी-कभी उसे बिल्कुल नष्ट कर देने में भी सहायक हो जाती हैं। उद्योग, वाणिज्य, राजनीति, मित्रता, संस्कृति इत्यादि कुछ ऐसे तत्त्व हैं जो मानव जीवन में ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर देते हैं जो परिवार के अस्तित्व के लिए अत्यन्त घातक होती हैं। उनका संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जा रहा है।

१. उद्योग और वाणिज्य के विस्तार ने परिवार की एकता को भंग किया है। श्रमिकों एवं व्यापारियों को अपनी जीविका-निर्वाह के लिये घर से दूर परदेश में जाना पड़ता है जहाँ वे एकाकी जीवन व्यतीत करते हैं। उनके लिए परिवार नाम की कोई वस्तु ही नहीं है। इसका एक दूसरा भी पहलू है। कभी-कभी पारिवारिक एकता भी औद्योगिक विकास में बाधक होती है। वास्तव में पारिवारिक एकता एवं औद्योगिक विकास में प्रतिलोम सम्बन्ध है। प्लेटो ने रिपब्लिक में जिस आदर्श-समाज की कल्पना की है उसमें औद्योगिक वर्ग के लिए परिवार-व्यवस्था की संस्तुति की गई है। उसका विचार था कि यदि परिवार के बच्चे अपने माँ-बाप के व्यवसायों का अच्छी प्रकार अनुसरण करें क्योंकि वंश परम्परा एवं पर्यावरण दोनों उनके अनुकूल हैं, तो औद्योगिक विकास के साथ पारिवारिक एकता भी अक्षुण्ण बनी रह सकती हैं। किन्तु यह उद्योग की प्रारम्भिक व्यवस्था में ही सम्भव है। औद्योगिक विकास के साथ ऐसी सम्भावना कम होती है कि बच्चे अपने पारिवारिक व्यवसाय का ही अनुसरण करें। आधुनिक औद्योगिक प्रगति में कोई भी व्यक्ति अपने को पूर्वजों के व्यवसाय तक ही सीमित नहीं करना चाहता। अपनी अभिरुचि, मनोवृत्ति एवं

विशिष्ट योग्यता के अनुकूल वह किसी प्रकार के व्यवसाय को ग्रहण कर सकता है। उक्त व्यवसाय में दक्षता एवं प्रशिक्षण प्राप्त करने के लिए हो सकता है कि उसे परिवार से दूर किसी प्रशिक्षण-केन्द्र में जाना पड़े। पर यदि पारिवारिक एकता उसके इस प्रकार प्रव्रजन में बाधक होती है, तो निश्चित ही परिवार एक बुराई मानी जायगी।

२. कभी-कभी राज्य-निष्ठा परिवार-निष्ठा को कम कर देती है। पारिवारिक जीवन की प्लेटो ने जो आलोचना की थी, उसका यही आधार था। उनके अनुसार जो व्यक्ति देश की सुरक्षा एवं प्रशासन से सम्बन्धित हैं उन्हें परिवार के सीमित स्वार्थों से मुक्त होना चाहिए। आधुनिक प्रजातन्त्र में यह सभी स्वीकार करते हैं कि राज्य-कल्याण के लिए औद्योगिक-प्रतिष्ठान एवं सैन्य-बल दोनों की आवश्यकता होती है। अतः, प्रत्येक व्यक्ति को राज्य के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन करना चाहिये। पर व्यक्ति परिवार के प्रति अपने कर्त्तव्यों की उपेक्षा नहीं कर सकता। राज्य प्रत्येक नागरिक को इस प्रकार का विशिष्ट प्रशिक्षण देना चाहता है जिससे कि वह विशाल सामुदायिक जीवन के अपने दायित्व को योग्यतापूर्वक निभा सके, पर परिवार अपने संकुचित उद्देश्यों की सिद्धि के लिए उस पर पैतृक नियन्त्रण रखना चाहता है। ऐसी अवस्था में परिवार के आवश्यक कर्त्तव्यों को जान लेना महत्त्वपूर्ण होगा। इस समस्या के समाधान का संकेत पहले ही किया जा चुका है। बच्चा परिवार का सम्राट है, माँ-बाप का काम केवल परामर्श देने तक ही सीमित है। पर यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि बच्चा परिवार का अधिपति तभी तक है जब तक वह राज्य की प्रजा नहीं हो जाता।

३. कभी-कभी मित्रता के अधिकार पारिवारिक एकता के प्रतिकूल जाते हैं। पारिवारिक एकता की माँग है कि उसके सदस्यों को पारिवारिक हितों के विषय में विशेष ध्यान देना चाहिए और वाह्य संसार की आवश्यकताओं के बारे में अधिक चिन्तन नहीं करना चाहिए। पर मनुष्य की आत्मा स्वतन्त्र है, उसे किसी संकुचित दायरे में बाँधकर रखना कठिन है। दूसरों से मैत्री करना मानव का नैसर्गिक स्वभाव है जो उसे परिवार के संकुचित घेरे से निकाल कर क्लब या अन्य सार्वजनिक स्थानों को ले जाता है। पर ईश्वर ने मनुष्य के भीतर ऐसी क्षमता दी है कि वह बड़ी आसानी से अपने पारिवारिक जीवन एवं मानव-बन्धुत्व की मान्यताओं के बीच समन्वय स्थापित कर लेता है। वास्तविक कठिनाई तो तब उत्पन्न होती है जब दो विषम-लिंगी व्यक्तियों में मैत्री-सम्बन्ध स्थापित होता है। यदि व्यक्ति इस मामले में स्वच्छन्दतापूर्वक व्यवहार करना चाहे तो पारिवारिक अनुशासन इसमें बाधक सिद्ध हो सकता है। पर इन कठिनाइयों का समाधान मैत्रीपूर्ण समागम के अधिक अवसर प्रस्तुत करने से किया जा सकता है। मानव की पूर्णता स्वेच्छाचारिता में नहीं वरन् आत्म-संयम में है।

४. उद्योग, राज्य, मित्रता के दावों के अतिरिक्त हमारी सांस्कृतिक आवश्यकताएँ जैसे—धर्म, कला, विज्ञान इत्यादि भी पारिवारिक एकता के प्रतिकूल जाती हैं। कलाकार अपने ऊपर किसी प्रकार के बाह्य प्रतिबन्ध को स्वीकार नहीं करता। वह उन्मुक्त स्वभाव वाला व्यक्ति होता है। पारिवारिक एवं आर्थिक आवश्यकताएँ कलाकार की स्वतन्त्र

रचनात्मक गतिविधियों को रोक देती हैं और उसके कलात्मक साक्षात्कार में बाधक बनती हैं। इसी प्रकार जो धार्मिक एवं नैतिक आदर्शों की सिद्धि के लिए आत्मार्पित करना चाहते हैं, वे व्यापार की सीमा में अपने को कभी भी आबद्ध करना नहीं चाहेंगे। काण्ट का जीवन इसका ज्वलन्त उदाहरण है। उन्होंने आजन्म विवाह नहीं किया। पर यह भी देखा जाता है कि जिन लोगों ने अपने आपको पारिवारिक जीवन से बिलकुल पृथक् कर लिया, उनकी कलात्मकता, नैतिकता एवं धार्मिकता निर्जीव हो गई। यही जीवन का अन्तर्विरोध है। यह संसार का दुर्भाग्य है कि श्रेष्ठ व्यक्ति अपने वंशज पैदा नहीं करते यद्यपि उनके वंशजों की संसार को सबसे अधिक आवश्यकता होती है। उनके इस व्यवहार से संसार को अपार क्षति हुई है, पर साथ-साथ कुछ लाभ भी हुए हैं।

परिवार की उपर्युक्त दुर्बलताओं को ध्यान में रखने के कारण ही कुछ आधुनिक विचारक जीवन की स्वतन्त्र-प्रणाली खोजने को विवश हुए। बर्ट्रण्ड रसेल[१] इस विचार के प्रबल समर्थक हैं। उनके अनुसार यदि हम गूढ़ चिन्तन करना चाहते हैं तो हमें हर प्रकार के पूर्वाग्रहों से मुक्त होना चाहिए। पर जीवन की स्वतन्त्र-प्रणाली का यह अर्थ कभी नहीं हो सकता कि प्रत्येक व्यक्ति अपने मनोराज्य में विचरण करे जिस पर किसी भी प्रकार का नियन्त्रण न हो—न जाति का, न परिवार का और न समाज का ही। यदि इसे स्वीकार कर लिया जाय तो मनुष्य-जीवन एवं पशु-जीवन में कोई अन्तर ही नहीं रह जायगा। श्रीमती बोसांके ने ठीक ही लिखा है कि, "यदि संसार का कार्य बिना परिवार के चल भी जाय, पर परिवार से प्राप्त होने वाली विशेषताओं का अभाव वह न सह सकता था। वर्तमान स्थिति में यह एक धूमिल संसार है, और इसकी किसी भी प्रतिच्छाया या अनुभूति की रेखा को, जो इसकी गहराई, पृथकता और वैभव का निर्माण करती है, इससे पृथक् नहीं किया जा सकता। प्रेम, सौन्दर्य और प्रकाश के स्रोत परिवार को केवल इसलिए अस्वीकृत कर दिया जाय कि कभी-कभी वह असफल हो जाता है, उसी प्रकार होगा जिस प्रकार कि कभी-कभी बादलों से ढके रहने के कारण सूर्य को आकाश से समाप्त कर दिया जाय।"[२]

●

१. रसेल०बी०, प्रिंसिपुल्स ऑव सोशल रिकन्स्ट्रक्शन, अध्याय ६
२. द फैमिली, पृ० २४७

५

शैक्षणिक संस्थाएँ
(Educational Institutions)

प्रत्येक समाज में शिक्षा एवं शिक्षण-संस्थाओं का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। शिक्षा व्यक्ति के विकास का एक माध्यम है। इस माध्यम को जो संस्थाएँ प्रदान करती हैं उन्हें शिक्षण-संस्थाएँ कहा जाता है। प्रत्येक समाज यह आवश्यक समझता है कि नई पीढ़ी समाज की प्रचलित जीवन-पद्धति का अनुसरण करे, और इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए प्रत्येक समाज में एक निश्चित शिक्षण-व्यवस्था होती है जो बच्चों को समाज की संस्कृति तथा परम्परा के अनुकूल बनाती है तथा उनके व्यक्तित्व के समाज के विपरीत होने पर नियन्त्रण लगाती है।

शिक्षा का व्यापक अर्थ

'शिक्षा' शब्द का प्रयोग व्यापक एवं संकुचित दो अर्थों में किया जाता है। हेनरी मेस (Henry A. Mess)[१] ने शिक्षा को व्यापक अर्थ में परिभाषित करते हुए लिखा है, "व्यापक अर्थ में, नवीन व्यक्ति द्वारा सामाजिक विरासत का अर्जन ही शिक्षा है।" सच पूछा जाय तो शिक्षा एक ऐसी प्रक्रिया है जो जीवन-पर्यन्त चलती रहती है और जीवन का प्रत्येक अनुभव उसके आकार में वृद्धि करता है। इसे जीवन का प्रमुख साध्य भी कहा जा सकता है। मेकेञ्जी[२] ने व्यापक अर्थ में शिक्षा को इस प्रकार परिभाषित किया है—शिक्षा "वह सामान्य प्रक्रिया है जिससे व्यक्तित्व का विकास होता है तथा जिसके द्वारा व्यक्ति को अपने व्यष्टिगत एवं समष्टिगत सम्बन्धों की जानकारी प्राप्त होती है।" प्लेटो ने अपनी पुस्तक रिपब्लिक में शिक्षा की इस व्यापक अवधारणा पर विशेष बल दिया। उसके अनुसार जो लोग आदर्श-समाज में उच्च-पदों पर विराजमान होंगे, उनके व्यक्तित्व का निर्माण करना अत्यावश्यक है और यह सामान्य शिक्षा द्वारा ही सम्भव है। पर आधुनिक विचारकों का कथन है कि ऐसी शिक्षा-पद्धति का आविष्कार करना है जो सम्पूर्ण समाज के लिए उपयोगी हो, सम्भव नहीं। अतः शिक्षा का कार्य व्यक्तियों के निर्माण और विकास तक ही सीमित होना चाहिए।

संकुचित अर्थ

संकुचित अर्थ में, आन्तरिक शक्तियों के विकास और अनुशीलन के लिए चेतना

---

१. हेनरी मेस, सोशल स्ट्रक्चर

२. मेकेञ्जी, जे०एस०, आउटलाइन्स ऑव सोशल फ़िलॉसॉफी, पृ० ९४

३. मेकेञ्जी, जे०एस०, वही, पृ० ९४

पूर्वक किए गए प्रयत्नों का नाम ही शिक्षा है। गेटे (Goethe) का यही विचार था। उनके अनुसार व्यक्ति की आभ्यन्तरिक शक्तियों का पूर्ण अनावरण ही शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य है। शेक्सपियर ने यदि प्रयत्न किया होता तो उसने अपने व्यक्तित्व का और अधिक विकास कर लिया होता, पर उसका विकास केवल अचेतन प्रक्रियां द्वारा ही हुआ। प्रोफेसर ड्यूवी[1] ने 'शिक्षा' के लिए 'साभिप्राय' (Intentional) शब्द का प्रयोग किया है। कुछ अनुभव ऐसे होते हैं जो अचेतन रूप से हमें प्राप्त होते रहते हैं और उनके द्वारा हमारा व्यक्तित्व प्रभावित भी होता है पर कुछ ऐसी अनुभूतियाँ होती हैं जो किसी निश्चित उद्देश्य से प्रयत्नपूर्वक प्राप्त की जाती हैं। ऐसी अनुभूतियों को 'शिक्षा' शब्द के भीतर समाहित किया जा सकता है। पर कुछ अन्य समाज-दार्शनिकों के अनुसार, व्यक्ति द्वारा किए गए इस चेतन प्रयत्न को भी 'शिक्षा' नहीं कहेंगे। 'शिक्षा' शब्द का प्रयोग साधारणतया एक ऐसी 'प्रक्रिया' के लिए किया जाता है जिसे राज्य, परिवार अथवा किसी अन्य प्राधिकारी द्वारा बच्चों के विकास के लिए एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य को लेकर चेतनापूर्वक आयोजित किया जाता है। इसके अन्दर कोई आवश्यक नहीं कि बच्चों के व्यक्तित्व का संस्कार हो ही—हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता। यहाँ, हम 'शिक्षा' शब्द का प्रयोग उसके सीमित अर्थ में ही करेंगे जिसके द्वारा निश्चित सामाजिक संस्थाओं का प्रादुर्भाव होता है।

जब हम 'शिक्षा' शब्द का प्रयोग इस संकुचित अर्थ में करते हैं तो इसके सामाजिक महत्त्व का आभास इसी बात से प्रकट हो सकता है कि शिक्षा परिवार की सदस्यता से राज्य या किसी अन्य विशाल जन समुदाय की सदस्यता की ओर संक्रमण है। साधारणतया बच्चों को प्रारम्भिक शिक्षा परिवार में ही दी जाती है पर उच्च एवं विशिष्ट शिक्षा के लिए उन्हें पाठशालाओं और विद्यालयों को सौंप दिया जाता है। परिवार में बच्चा सम्राट् होता है, पर विशाल जनसमुदाय उसे सेवक बनाने का प्रयास करता है यद्यपि आगे चलकर वह अकस्मात् उसका अधिपति या मार्ग-दर्शक भी बन सकता है।

ऊपर कहा गया है कि नवीन व्यक्ति द्वारा सामाजिक विरासत का अर्जन ही शिक्षा है। पुरानी पीढ़ी अपने अर्जित ज्ञान को जब नवीन पीढ़ी में संचरित करती है तो उसे शिक्षा कहते हैं। पर प्रश्न यह है कि किस वस्तु का संचार होता है? इसके विषय में शिक्षा-शास्त्रियों के भिन्न-भिन्न विचार हैं।

प्रविधि का अर्जन

कुछ शिक्षाविदों के अनुसार शिक्षा का सम्बन्ध प्रविधि (Technique) के अर्जन से है। समाज के प्रत्येक सदस्य को अपने पर्यावरण के प्रति समायोजन की प्रविधि को जानना चाहिए। आधुनिक समाज में तो इसकी आवश्यकता और भी बढ़ गई है। समाज के विभिन्न वर्गों के साथ हमें किस प्रकार आचरण करना चाहिए जिससे कि हम उसके सम्मानित सदस्य कहे जा सकें।

---

१. डेमोक्रेसी एण्ड एजुकेशन, पृ० २२-२४

भाषा का अर्जन

कुछ अन्य शिक्षाविदों के अनुसार शिक्षा का सम्बन्ध भाषा एवं पारिभाषिक शब्दावलियों के ज्ञानार्जन से है। भाषा ज्ञान की संवाहिका है। समस्त ज्ञान भाषा में ही तो संचित रहते हैं। अत: शिक्षा में इस बात का वड़ा महत्त्व है कि भाषा के किस माध्यम से बच्चों की पढ़ाई हो रही है। भाषा का हमारे ज्ञान, सभ्यता, संस्कृति एवं स्थायी-भावों से विशेष सम्बन्ध होता है। किसी विशिष्ट भाषा और उसके साहित्य का हमारी राष्ट्रीयता से भी बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। अत: राष्ट्रीय भावना की उत्पत्ति एवं धारणा के लिए शिक्षा एक बहुत बड़ा शक्तिशाली माध्यम है। यही कारण है कि जब कोई साम्राज्यवादी देश किसी देश को परतन्त्र बनाना चाहता है तो सर्वप्रथम उस देश की राष्ट्रीय भाषा को विनष्ट कर उसके स्थान पर विदेशी भाषा का प्रचलन कराता है। यूरोप में रोमन लोगों ने और हिन्दुस्तान में अंग्रेजों ने यही किया। गाँधीजी ने राष्ट्रीय शिक्षा के सम्बन्ध में जो वर्धा-योजना बनाई उसका मुख्य उद्देश्य यही था कि विदेशी भाषा के स्थान पर बच्चों को मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा दी जाय जिससे कि उनमें विषय-वस्तु के सरल ज्ञान के साथ-साथ, राष्ट्रीय-चेतना भी प्रज्वलित की जा सके। वर्धा-योजना केवल प्राथमिक एवं माध्यमिक शिक्षार्थियों के ही लिए नहीं बनाई गई थी, वह विश्व-विद्यालयीय शिक्षा के लिए भी उसी प्रकार प्रामाणिक थी।

सामाजिक संस्थान एवं प्रक्रियाओं का ज्ञान

प्रविधि एवं भाषा के ज्ञान के साथ बालक को समाज में प्रचलित विचारों, स्थायी-भावों, मनोवृत्तियों एवं व्यवहार-प्रणालियों का ज्ञान भी प्राप्त करना आवश्यक होता है जिससे कि वातावरण के साथ उनका पूर्ण समायोजन हो सके। यह बहुत कुछ अनौपचारिक शिक्षा के द्वारा प्राप्त किया जाता है, पर कभी-कभी समाज में प्रचलित धर्म, नैतिकता, सभ्यता एवं संस्कृति का ज्ञान औपचारिक शिक्षा द्वारा भी कराया जाता है। समाज की संरचना, संस्थान एवं उसके कार्यों का ज्ञान भी शिक्षा का ही एक अंग है।

शिक्षा, व्यक्ति एवं समाज

व्यक्ति का विकास

अब तक हमने शिक्षा के विषय में जो विवेचन प्रस्तुत किया, उसमें शिक्षा को सामाजिक नियन्त्रण के एक उपकरण के रूप में ही लिया गया जिससे कि व्यक्ति समाज के प्रति अपने कर्त्तव्यों का योग्यतापूर्वक परिपालन कर सके। पर इसका यह अर्थ नहीं है कि व्यक्ति का कार्य सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना मात्र है, स्वयं उसका अपने में कोई महत्त्व नहीं है। पर बात वास्तव में ऐसी नहीं है। व्यक्तियों से मिलकर ही तो समाज का निर्माण होता है। समाज व्यक्ति के लिए है; व्यक्ति समाज के लिए नहीं। अत: शिक्षा का उद्देश्य बालक को एक सुन्दर नागरिक बनाने के साथ उसके व्यक्तित्व का पूर्ण विकास भी होना चाहिए। व्यक्ति स्वयं साध्य है, उसे क़ेवल समाज का साधन ही नहीं

समझना चाहिए। हम व्यक्ति को समाज के लिए पूर्ण रूप से बलिदान करने के लिए तैयार नहीं हैं। जैसा मेस कहता है "प्रत्येक बालक के भीतर कुछ विशिष्ट साध्यताएँ होती हैं, इच्छाएँ तथा अभिलाषाएँ होती हैं और समाज में उसे अपनी वैयक्तिक भूमिका निभानी होती है। इसके लिए शरीर और मन की निपुणता में वृद्धि होनी चाहिए, व्यक्तित्व का विकास, आत्म-प्रकाशन की सुविधाएँ तथा जीवन-संघर्ष में विजय प्राप्त करने के सभी प्रसाधन होने चाहिए। इस व्यक्तिवादी एवं प्रतिस्पर्धापूर्ण समाज में, शिक्षकों एवं अभिभावकों के लिए, शिक्षा का तात्पर्य है जीवन के प्रति तैयारी और विद्वान् स्वाभाविक रूप से इसी दृष्टिकोण को स्वीकार करेंगे।"[१] गाँधीजी का भी यही विचार था।

व्यक्ति और समाज

यहाँ हमने शिक्षा के विषय में दो प्रकार के दृष्टिकोण प्रस्तुत किये—प्रथम दृष्टिकोण के अनुसार शिक्षा का कार्य है व्यक्ति को इस योग्य बनाना जिससे कि वह समाज की आवश्यकताओं को अच्छी प्रकार पूर्ति कर सके; दूसरे दृष्टिकोण के अनुसार, व्यक्ति स्वयं साध्य है, समाज, साधन है। शिक्षा का कार्य है व्यक्ति की शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक शक्तियों का विकास करना जिससे कि वह अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास कर सके। अब प्रश्न यह है कि क्या शिक्षा के इन दोनों उद्देश्यों में परस्पर कोई विरोध है, अथवा दोनों उद्देश्य वास्तव में एक ही लक्ष्य के दो पहलू हैं। अब हम इस पर विचार करेंगे।

समाज-दार्शनिकों का कथन है कि शिक्षा के सामाजिक एवं व्यक्तिगत उद्देश्यों में कोई विरोध नहीं है; दोनों वास्तव में एक-दूसरे के पूरक हैं। जब व्यक्ति सामाजिक समायोजन द्वारा अपने व्यक्तित्व का विकास कर लेता है, तो इससे समाज को भी पर्याप्त लाभ होता है। इसी प्रकार, सामाजिक नियन्त्रण द्वारा जब व्यक्ति की आन्तरिक शक्तियों का इस प्रकार विकास किया जाता है कि समाज की आवश्यकताओं की भली-भाँति पूर्ति हो सके, तो इससे भी व्यक्ति का कल्याण अवश्य ही होता है। समाज के हित में व्यक्ति का हित एवं व्यक्ति के हित में समाज का हित निहित होता है। टी०पी० नन ने कहा है कि कोई भी मौलिक व्यक्तित्व तब तक बोधगम्य नहीं हो सकता जब तक कि उसके सामाजिक माध्यम का हमें ज्ञान नहीं हो जाता जिससे कि उसकी उत्पत्ति होती है। "कोई भी वैयक्तिक जीवन अपने स्वभाव के माध्यम से ही विकसित हो सकता है जो कि उतना ही सामाजिक है जितना कि वह व्यक्तिगत।"[२] इस प्रकार व्यक्ति के समाजीकरण एवं उसकी वैयक्तिकता के अनुशीलन में कोई अन्तर्विरोध नहीं है। कार्लाइल ने एक बार कहा था "मौलिकता की विशेषता नवीनता में नहीं वरन् सच्चाई में है।"[३] सच्चाई उन्हीं में पाई जा सकती है जो अपने स्वभाव के अनुसार अपने मार्ग-निर्धारण में स्वतन्त्र हैं, वे बाह्य

१. मेस, सोशल स्ट्रक्चर
२. टी०पी० नन, एजुकेशन डेटा एण्ड फर्स्ट प्रिन्सिपुल्स
३. कार्लाइल, मिस्सेलेनियस एसेज

संसार से ग्रहण कर सकते हैं, पर उस रूप में नहीं जैसा कि संसार उस पर आरोपित करना चाहता है, वरन् उसका जिसकी उसे आवश्यकता है। कोई भी शिक्षा-संस्था अपने विद्यार्थियों में भातृप्रेम एवं सामाजिक सेवा के भाव भर सकती है, पर उसे इस बात को कभी न भूलना चाहिए कि विद्यार्थी वही शिक्षा ग्रहण कर सकता है जिसके ग्रहण करने की उसमें क्षमता विद्यमान होगी और समाज का उच्चतम रूप वही होगा जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को अपनी प्रतिभा के अनुसार अपने व्यक्तित्व के विकास का सुअवसर प्राप्त हो क्योंकि इसी में व्यक्ति के साथ-साथ समाज का भी हित-साधन होगा। अतः, "शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य भावात्मक है—स्वतन्त्र क्रिया-शक्ति को प्रोत्साहित करना, अभावात्मक नहीं : उसे परिसीमित या दमित करना।"[१] इटली के सुप्रसिद्ध विज्ञानवादी शिक्षाविद् जेन्टिली का भी यही विचार है। उन्होंने टी०पी० नन से अपनी सहमति प्रकट करते हुए कहा है, "एक विद्यालय जिसमें स्वतन्त्रता नाम की कोई वस्तु न हो, निर्जीव संस्था है।"[२] स्वतन्त्रता, क्रियाशीलता मानवीय आत्मा का स्वभाव है। स्वतन्त्रता जो आत्मा के सम्पूर्ण जीवन की प्रागपेक्षा है, शिक्षा से ही उसे प्राप्त होती है। शिक्षा के द्वारा ही मनुष्य अपने आध्यात्मिक स्वभाव की सिद्धता को प्राप्त करता है जो वास्तविक रूप में सामाजिक एवं सार्वभौम है। मनुष्य का व्यक्तित्व सार्वभौम है। मनुष्य का व्यक्तित्व उसकी विशिष्टता में नहीं है, बल्कि उसकी सामाजिकता और सार्वभौमता में है जो मनुष्यों को एक दूसरे से पृथक् न कर उन्हें परस्पर सम्बद्ध करती है। यदि "अध्यापक और विद्यार्थी के लक्ष्य की एकता को ध्यान में रखा जाय तो विद्यार्थी की स्वतन्त्रता एवं अध्यापक के प्राधिकार के वीच समन्वय स्थापित किया जा सकता है। अध्यापक को विद्यार्थी के व्यक्तित्व को दमित करने की अपेक्षा, उसके मनोवेगों का उन्नयन कर उसका विस्तार करना चाहिए जिससे कि उसका पूर्ण विकास हो सके।"[३] इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि व्यक्ति व समाज के लक्ष्य में कोई संघर्ष नहीं है। समष्टि हित के लिए व्यष्टि की स्वतन्त्रता को प्रतिबन्धित करने की भी आवश्यकता नहीं है। शिक्षा द्वारा दोनों का युगपद सुधार होता है।

विभिन्न प्रकार की शिक्षा-संस्थाएँ एवं उनके कार्य

समाज में विभिन्न प्रकार की शिक्षा-संस्थाएँ होती हैं जो शिक्षा की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं। पाठशालीय शिक्षा, तकनीकी शिक्षा, उच्चतर शिक्षा एवं पूरक-शिक्षा की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए समाज में विभिन्न प्रकार की शिक्षण-संस्थाओं की व्यवस्था होती है। उनमें से प्रत्येक का संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जा रहा है।

१. पाठशाला के कार्य

पाठशाला का सर्वप्रमुख कार्य है बच्चे को वृहत्तर समुदाय के जीवन में दीक्षित

१. टी०पी० नन, एजुकेशन, इट्स डेटा एण्ड फ़र्स्ट प्रिन्सिपुल्स
२. जी० जेन्टिली, द रिफार्म ऑव एजुकेशन
३. रस्क : द फिलॉसॉफिकल बेसिस आव एजुकेशन

करना जिससे कि उसे अपने कर्त्तव्यों का थोड़ा-बहुत ज्ञान हो सके। बच्चों के स्वभाव में पर्याप्त भिन्नता पाई जाती है, अत: उनके विषय में किसी सामान्य सिद्धान्त का प्रतिपादन करना आसान नहीं है। पर फिर भी उनके अन्दर कुछ सामान्य बातें तो अवश्य ही पाई जाती हैं। कुछ दार्शनिकों का विचार है कि बच्चा स्वभाव से स्वार्थी व अहंवादी होता है; दूसरी ओर अन्य दार्शनिकों का मत है कि बालक स्वार्थी न होकर स्वभाव से ही पर-हित की भावना से ओत-प्रोत होता है। ये दोनों ही अतिवादी विचार हैं। इतना तो सत्य है कि बच्चे में कुछ न कुछ निरंकुश प्रवृत्तियाँ अवश्य पाई जाती हैं जिन्हें सुधार कर हमें उसे एक संवैधानिक सम्राट के रूप में परिवर्तित करना होता है। पुन:, जब वह कुछ बड़ा होता है तो उसे समान नागरिक के रूप में प्रशिक्षित करना होता है। कुछ लोग जो शिक्षा के दर्शन से अपरिचित हैं, बच्चों की जन्मजात अपरिमित शक्तियों को दबाकर उनके भीतर दास-मनोवृत्ति को उत्पन्न कर देते हैं जो एक प्रकार का राज-द्रोह है। बच्चों की मनोवृत्तियों को संयमित करने का यह अर्थ नहीं है कि हम उनके भीतर हीनता-ग्रन्थि (Inferiority-Complex) को उत्पन्न कर दें। पर इसका यह भी अर्थ नहीं कि बच्चों को स्वच्छन्द रूप में विचरण करने की छूट दे दी जानी चाहिए। परतन्त्रता और अतन्त्रता के मध्य स्वतन्त्रता के वरण के लिए बालकों को प्रेरित करना चाहिए। पाठशालाओं के निम्न प्रमुख कार्य हैं—

१. सर्वप्रथम पाठशाला को चाहिए कि वह बालकों को उनके सामान्य जीवन से सम्बन्धित सामाजिक विरासत का ज्ञान कराए। इसके लिए बालक को जन-भाषा का ज्ञान कराना चाहिए जिसमें समुदाय द्वारा संचित समस्त ज्ञान, अन्तर्दृष्टि, उद्देश्य और आदर्श तथा समाज के पूर्वाग्रह इत्यादि की झलक पाई जाती है। इस सामाजिक विरासत का ज्ञान औपचारिक एवं अनौपचारिक दोनों प्रकार की शिक्षाओं से प्राप्त किया जाता है। पर इसके लिए कक्षा में बालकों की संख्या सीमित ही होनी चाहिए।

२. बच्चों को उनके प्रारम्भिक जीवन में समुदाय की सरलतम और श्रेष्ठतम परम्पराओं का ज्ञान भी पाठशाला को कराना चाहिए। प्लेटो ने प्रारम्भिक शिक्षा में संगीत और काव्य के प्रयोग पर विशेष बल दिया है। देश-भक्ति के संगीत एवं मैथिलीशरण गुप्त या पन्तजी की सरल रचनाएँ बच्चों के बौद्धिक विकास के लिए पर्याप्त होंगी। परियों की कहानियों के माध्यम से भी उन्हें उच्च विचारों की शिक्षा दी जा सकती है। जब किसी सुन्दर विचार अथवा गहरी अनुभूति को सुन्दर कहानियों या सूक्तियों का रूप दे दिया जाता है, तो वे हमारे अन्तस्तल को जल्दी स्पर्श कर लेती हैं और हमें लोकोत्तरानन्द की अनुभूति कराती हैं। बचपन में बच्चों को कुछ वैधानिक और नैतिक नियमों का भी ज्ञान करा देना चाहिए जिससे कि प्रारम्भ से ही उनके मन में नियमों के प्रति आदर के भाव उत्पन्न हो जायँ।

३. सामाजिक विरासत एवं जीवन की श्रेष्ठतम परम्पराओं का ज्ञान कराने के बाद बालकों को उनके आस-पास के वातावरण से परिचित कराना चाहिए। इसके लिए बाह्य प्रकृति का अध्ययन सर्वोत्तम उपाय है। यह बाह्य निरीक्षण से प्रारम्भ होकर शीघ्र ही

चिन्तन का रूप धारण कर लेता है और फिर बच्चे को मानव-प्रकृति के अध्ययन की ओर प्रवृत्त करता है। इसके साथ ही नागरिक एंवं नैतिक उत्तरदायित्व के प्रश्न स्पष्ट हो जाते हैं और क्रमशः मानव-इतिहास की विशेषताओं की जानकारी होने लगती है। मानव-इतिहास की अभिरुचि प्राचीन मनुष्यों की भाषाओं के ज्ञान की ओर प्रवृत्त करती है जिन्होंने ऐतिहासिक विकास मुें महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

४. विषय-वस्तु के ज्ञान के साथ बालकों को उस ज्ञान को क्रिया रूप में चरितार्थ करने तथा उनका मूल्यांकन करने का अभ्यास भी कराना चाहिए। इस प्रकार किसी वस्तु के विषय में उन्हें संश्लिष्ट ज्ञान हो सकेगा। वह प्राकृतिक वस्तुओं का चित्रण कर सकता है, सरल कहानियों का निर्माण कर सकता है और कभी-कभी छोटे-मोटे नाटकों में अभिनय की भूमिका भी निभा सकता है। पाठशाला उसे वर्णनात्मक लेख लिखने, नवीन समस्याओं को प्रस्तावित करने तथा सरल वस्तुओं के निर्माण की प्रेरणा भी प्रदान कर सकता है जो सुन्दर होने के साथ-साथ उपयोगी भी हों। कहने की आवश्यकता नहीं कि बालकों को बौद्धिक प्रशिक्षण के साथ शारीरिक व्यायाम एवं मनोरंजन के साधनों को भी प्रदान करना चाहिए। इनसे वे सहयोगा का महत्त्वपूर्ण पाठ सीख सकते हैं।

५. विश्लेषणात्मक चिन्तन उत्पन्न होने पर बालकों को उन विषयों का ज्ञान प्राप्त कराना चाहिए जो मानवीय जीवन एवं बाह्य जगत् की समस्याओं का समुचित समाधान करा सकें। ये विषय हैं—व्याकरण, अंकगणित, रेखागणित, सरल तर्क-शास्त्र, सरल नैतिक अवधारणाएँ, अर्थ-शास्त्र, राजनीति-शास्त्र तथा धर्म शास्त्र। इस अवस्था में हम उनसे यह आशा नहीं रख सकते कि इन विषयों को पढ़कर वे किसी धार्मिक या राजनीतिक मत को अपने लिए निर्धारित कर सकेंगे, पर इस मत-निर्धारण के लिए यह आवश्यक है कि उनको उपर्युक्त विषयों का ज्ञान प्राप्त कराया जाय।

५. जब बालक और बालिकाएँ किशोरावस्था प्राप्त कर लें, तो उन्हें काम-वासना से सम्बन्धित विभिन्न कठिनाइयों और पारिवारिक जीवन की सामान्य समस्याओं से परिचित कराना चाहिए। यह बालकों के जीवन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भाग है और इस अवस्था में जो वे सीखेंगे, कार्य करेंगे या अनुभव करेंगे, उनका उनके समस्त भावी जीवन पर प्रभाव पड़ता है। विशेष कर काम-वासना के प्रति, भय के स्थान पर स्वस्थ दृष्टिकोण अपनाने का उन्हें पाठ पढ़ाना चाहिए। जीवन के विभिन्न मूल्यों एवं आदर्शों को सिखाने का यह सर्वोत्तम समय होता है।

६. अन्त में हम इस बात पर बल देना चाहते हैं कि पाठशालाओं का यह परम कर्त्तव्य है कि अर्थ के अभाव के कारण निर्धन बालक शिक्षा से वंचित न रह जाँय। उनके लिए छात्र-वृत्तियों का प्रावधान होना चाहिए। उनके भीतर भी ज्ञान और बुद्धिमत्ता के प्रति प्रेम, सौन्दर्य के मूल्यांकन की क्षमता तथा सामान्य हित के प्रति समर्पण की भावना विद्यमान होती है। उनके जीवन की अनुभूतियाँ भी धनीवर्ग के बालकों की अपेक्षा अधिक धनीभूत होतीहै और हमें उनका खूब सदुपयोग करना चाहिए।

२. प्राविधिक शिक्षण संस्थाएँ

पाठशाला का कार्य है बच्चों को जीवन और जगत् के विषय में कुछ ऐसी सामान्य बातों का ज्ञान प्राप्त कराना जिससे कि वे अपने समुदाय में एक अच्छे नागरिक के रूप में अपने कर्त्तव्यों का पालन कर सकें। किन्तु केवल सामान्य ज्ञान से ही समाज का काम चलने वाला नहीं होता। सामान्य शिक्षा के साथ-साथ उन्हें कुछ विशेष तकनीकी शिक्षण भी देना चाहिए जिससे कि वे अपनी विशिष्ट योग्यताओं (Specific Abilities) का सदुपयोग करते हुए समाज के विशिष्ट कार्यों के लिए भी अपने को सक्षम बना सकें। बालक की विशिष्ट योग्यता का प्रारम्भ में पता लगाना कठिन है पर कालान्तर में वह स्वत: प्रकट होने लगती है। प्राविधिक शिक्षा की आवश्यक तैयारी किसी संस्थान में शिष्यता (Apprentice-ship) ग्रहण करके आसानी से की जा सकती है और लड़कियों की यह तैयारी घर पर ही सम्पन्न की जा सकती है। जहाँ विशिष्ट प्रकार के हस्त-कौशल (Manual Dexterity) की आवश्यकता हो, इसकी आवश्यक जानकारी बचपन में ही प्राप्त कर लेनी चाहिए। जो बालक संगीत (Music) में विशेष रुचि रखते हैं, बचपन में ही इसका आभास देने लगते हैं और उसी अनुसार उनकी शिक्षा में भी परिवर्तन कर देना चाहिए। इसी प्रकार भाषा-सम्बन्धी (Linguistic) एवं गणितीय (Arithmetical) योग्यताओं के विषय में भी विचार करना चाहिए। जो भाषा में विशेष पटु हैं वे भाषा-विज्ञान एवं ध्वनिविज्ञान में दक्षता प्राप्त कर सकते हैं, पर जिनमें गणितीय योग्यता है वे ओवरसिअर या इंजीनियर बनने का प्रशिक्षण प्राप्त कर सकते हैं। अत: हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हमारी विशिष्ट योग्यताओं के समुचित विकास एवं उन्हें उपयोगी बनाने के लिए समाज में प्राविधिक एवं तकनीकी शिक्षण-संस्थाओं की पर्याप्त आवश्यकता है।

३. उच्चतर शिक्षण-संस्थाएँ

अब तक जो शिक्षा की रूप-रेखा प्रस्तुत की गयी वह किसी न किसी रूप में सभी नागरिकों के लिए आवश्यक है। व्यक्तिगत योग्यता के अनुसार उनके रूप अलग-अलग हो सकते हैं। पाठशाला और तकनीकी शिक्षण-संस्थाओं के कार्य सोलह साल की वय तक समाप्त किये जा सकते हैं और साधारणत: बीस साल की आयु से अधिक ऊपर नहीं जाना चाहिए। पर जीवन के कुछ अन्य ऐसे कार्य हैं जिनको सम्पादित करने के लिए कुछ विशेष तैयारी की आवश्यकता पड़ती है जैसे—ज्ञान-वर्द्धन, कलात्मक सृष्टि, जटिल विज्ञानों का प्राविधिक समस्याओं के समाधान में प्रयोग, शिक्षण-कार्य अथवा प्रशासकीय कार्य इत्यादि। सामान्यतया इन विषयों की शिक्षा उच्चतर शिक्षण-संस्थाओं में दी जाती हैं जिन्हें कालेज और विश्वविद्यालय कहते हैं।

आजकल जिन्हें कालेज कहा जाता है वे किसी न किसी प्रकार विद्यार्थियों को प्राविधिक शिक्षा ही देते हैं। कुछ विश्वविद्यालयीय कालेज भी प्राविधिक शिक्षा ही प्रदान करते हैं, पर सबके विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता। विश्व-विद्यालयीय कालेज और विश्व-विद्यालय में भी हमें भेद स्पष्ट करना चाहिए। विश्व-विद्यालयीय-कालेज का

कार्य है अपने विद्यार्थियों को एक ऐसी उच्च-कोटि की उदार-शिक्षा (Liberal Education) प्रदान करना जो पाठशालाएँ साधारणतया नहीं दे सकतीं। ऐसी शिक्षण-संस्थाओं में छात्रों की साधारण आयु अट्ठारह और इक्कीस वर्ष के बीच होनी चाहिए। स्कूलों की अपेक्षा यहाँ के अध्ययन में अधिक विशिष्टीकरण पाया जाता है पर उसका लक्ष्य विशिष्ट ज्ञान या कौशल की अपेक्षा सामान्य ज्ञानार्जन ही अधिक होता है। संक्षेप में—विश्वविद्यालयीय कालेजों का प्रमुख कार्य उन छात्रों की आवश्यकताओं की पूर्ति करना है जिन्हें अपने सामुदायिक जीवन में किसी प्रकार का नेतृत्व करना है। इसके लिए आवश्यक है कि यहाँ पाठशालाओं की अपेक्षा, मानव-जीवन की सामान्य समस्याओं का पूर्ण अध्ययन किया जाय और उन्हें समझने की कोशिश की जाय। दर्शन एवं अन्य सामाजिक विज्ञानों की प्रमुख समस्याओं का सामान्य अध्ययन इस प्रकार की शिक्षा का आवश्यक ढंग होगा। ऐतिहासिक विकास की प्रमुख विशेषताओं का अध्ययन इतना महत्त्वपूर्ण है कि इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। जहाँ तक विशिष्ट विषयों के अध्ययन की बात है उन्हें व्यक्तिगत रुचि पर ही छोड़ देना श्रेयस्कर होगा। शिक्षण-संस्था के रूप में जहाँ तक विश्व-विद्यालयों का सम्बन्ध है, उन्हें विशिष्ट अध्ययन के लिए ही सुरक्षित रखना चाहिए। इनका कार्य छात्रों को उन विषयों में शिक्षित करना है जिनके बारे में वे केवल दक्षता ही नहीं प्राप्त करना चाहते वरन् अनुसन्धान भी करना चाहते हैं। विश्वविद्यालय का कार्य विशिष्ट अध्ययन एवं अनुसन्धान तक ही सीमित रहना चाहिए। इक्कीस से पच्चीस साल तक के शिक्षार्थी इस प्रकार के कार्य आसानी से कर सकते हैं। विश्वविद्यालय का कार्य छात्रों को उनके विपयों से सम्बन्धित प्राय: सभी प्रकार के ज्ञान उपलब्ध कराना है तथा आगे की प्रगति के लिए भी उन्हें सन्नद्ध करना है। ऐसी संस्थाओं का भारत में प्राय: अभाव ही है। यदि शिक्षा का अर्थ व्यक्ति की मन:शक्तियों के सामान्य विकास एवं अनुशीलन मात्र से है, तो यह कार्य स्कूलों और कालेजों को ही सौंप देना चाहिए। प्राविधिक संस्थाओं एवं विश्वविद्यालयों में केवल विशिष्ट प्रकार की शिक्षा एवं प्रशिक्षण तथा अनुसन्धान का प्रावधान होना चाहिए। इस प्रकार के श्रम-विभाजन से प्रत्येक प्रकार की शिक्षा में प्रगति होगी तथा ज्ञान का विस्तार भी होगा।

४. पूरक शिक्षण-संस्थाएँ

शिक्षण-संस्थाएँ जो बालकों को शिक्षा देती हैं, वह हमारी सम्पूर्ण जीवन की अनुभूतियों का केवल एक अंश ही होता है। हमारी योग्यताएँ एवं अभिरुचियाँ बहुत ही सीमित होती हैं; अत: उनके द्वारा अर्जित ज्ञान भी संकुचित ही होगा। मनुष्य की शक्तियाँ सीमित हैं और उसके लिए यह सम्भव नहीं कि औपचारिक शिक्षा द्वारा वह हर एक विषय के वारे में जानकारी प्राप्त कर सके। एक वात और है। यह विशिष्टीकरण का युग है। थोड़ी-बहुत प्रत्येक विपय में जानकारी रखने की अपेक्षा एक विषय की पूर्ण जानकारी रखना अधिक श्रेयस्कर है। इससे अधिक हम कर भी नहीं सकते। लेकिन इसमें भय यह है कि अत्यधिक विशिष्टीकरण के कारण हमारे व्यक्तित्व का केवल एकांगी विकास ही हो

पाता है और हम एकान्तवादी हो जाते हैं। व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए यह आवश्यक है कि एक विषय में तो हमारी पूर्ण दक्षता हो पर साथ-साथ अन्य विषयों का भी हमें थोड़ा-बहुत ज्ञान रहना चाहिए। इस आवश्यकता की पूर्ति विशिष्ट पूरक अभिकरणों, विश्वविद्यालयीय विस्तार-भाषणों, शैक्षणिक संघों, अध्ययन-मण्डलों तथा होम-यूनिवर्सिटी लाइब्रेरी जैसे पुस्तकालयों से की जानी चाहिए। विश्वविद्यालयों में जो विभिन्न महत्त्वपूर्ण विषयों में डिप्लोमा की व्यवस्था है, वह भी पूरक-शिक्षा का ही एक अंग है।

शिक्षा एक उत्तम नागरिक विकसित करने का महत्त्वपूर्ण उपकरण है। इसके द्वारा मनुष्य समाज में अपने उपयुक्त स्थान को ग्रहण कर अपने कर्त्तव्यों का पालन करता है। पर इसका यह अर्थ नहीं कि मनुष्य को विभिन्न दिशाओं में अपनी शक्ति को व्यर्थ व्यय करना चाहिए। गेटे ने एक बार कहा था, "जो मनुष्य हर क्षेत्र में अपने को निपुण बनाना चाहता है, उसे अपने आप को सीमित करना सीखना चाहिए।" अपने आपको सीमित (विशिष्टीकरण) करने के बाद पूरक शिक्षण-संस्थाओं द्वारा हम अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकते हैं।

विशिष्टीकरण के लिए अपने आपको सीमित करने की आवश्यकता मनोरंजन (Recreation) के महत्त्व को बढ़ा देती है। इसके लिए निश्चित आयोजन होना चाहिए। अधिक विशिष्टीकरण के कारण समाज में कभी-कभी एकाकीपन (Alienation) आ जाता है। समाज के कुछ वर्ग ऐसे हैं जिन्हें मनोरंजन के लिए पर्याप्त अवकाश है, पर एक वर्ग ऐसा भी है जिसे इस कार्य के लिए तनिक भी अवकाश नहीं मिलता। शिक्षा का यह प्रमुख कर्त्तव्य है कि भिन्न-भिन्न मनोरंजन-सामग्रियों का आयोजन कर समाज के विभिन्न वर्गों के मध्य सद्भावना पैदा करे।

शिक्षा और अवकाश

अवकाश के बिना शिक्षा असम्भव है। शिक्षा और अवकाश के अनन्य सम्बन्ध का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि 'स्कूल' (School) और स्कॉलर (Scholar) ये दोनों शब्द 'अवकाश' के लिए प्रयुक्त ग्रीक शब्द से व्युत्पन्न हुए हैं। जब तक हमें अपने दैनिक कार्यों से अवकाश नहीं मिलेगा, हम अपने भीतर उच्चतर मूल्यों की स्थापना नहीं कर सकते। जिनका सारा समय अपनी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति में ही व्यय हो रहा है, उनके पास शिक्षित होने का समय कहाँ है? अतः शिक्षा और अवकाश के मध्य घनिष्ठ सम्बन्ध है। गेटे ने चरित्र और योग्यता में भेद करते हुए कहा था, "योग्यता, अवकाश के क्षणों में ही प्राप्त होती है।" प्लेटो का भी यही विचार था। अवकाश द्वारा ही मानव-जीवन के उच्चतम मूल्यों को प्राप्त किया जा सकता है। जिनके पास अवकाश के क्षणों का अभाव है और सारा समय उदर-पूर्ति के लिए अनवरत परिश्रम करते हुए व्यतीत हो रहा है, वे दास अथवा निम्न श्रेणी के व्यक्ति समझे जाते हैं और 'मनुष्य' कहलाने के अधिकारी नहीं होते। 'मनुष्य' होने के लिए शिक्षित होना आवश्यक है।

उपर्युक्त कथन का यह अर्थ कदापि नहीं है कि निरन्तर श्रम करने वाले कुछ नहीं सीख सकते। वे सीखते अवश्य हैं, पर वही सीखते हैं जिनकी उन्हें तात्कालिक

उपयोगिता है। स्वतन्त्र व्यक्ति की विशेषता यही है कि वह ऐसी वस्तुओं का अवगमन करता है जिसकी कोई तात्कालिक उपयोगिता नहीं है। 'संस्कृति' एवं 'उपयोगिता' में इसी आधार पर भेद किया जाता है। 'उपयोगी' कार्यों की अपेक्षा 'सुसंस्कृत' कार्य समाज में अधिक वंदनीय माने जाते हैं। आधुनिक सभ्यता की यही सबसे बड़ी बुराई है। यह सर्व-हित की भावना के विरुद्ध है। पर यह भी सही है कि संसार के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आविष्कार अवकाश के क्षणों में ही किए गए हैं। अवकाश हमारे जीवन में विविधता और सौन्दर्य उपलब्ध कराता है। सभी नागरिकों को मानव-रूप में विकसित होने के लिए पर्याप्त अवकाश मिलना चाहिए। वह केवल 'उपयोगिता' को उत्पन्न करने वाला यन्त्र ही नहीं है; वह स्वयं साध्य-रूप है। पर इसका यह अर्थ नहीं है कि जीवन के प्रति उसके कोई कर्त्तव्य नहीं होने चाहिए। मनुष्य अधिकार और कर्त्तव्य दोनों का समुच्चय है और दोनों के विकास की समुचित व्यवस्था होनी चाहिए। ऐसी अवस्था में शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को 'काम' और 'आराम' देना दोनों होना चाहिए और दोनों के मध्य आवश्यक संतुलन होना चाहिए। तभी शिक्षा का उद्देश्य पूर्ण हो सकेगा।

राज्य और शिक्षा

सामुदायिक जीवन में श्रेष्ठ नागरिकता की अभिवृद्धि इतनी महत्त्वपूर्ण है कि उसे पूर्णत: व्यक्तिगत प्रयास पर कभी नहीं छोड़ा जा सकता। इसके लिए एक संगठित प्रयास की आवश्यकता होती है। राज्य का यह परम कर्त्तव्य है कि नागरिकों की शिक्षा का वह पूर्ण प्रयत्न करे। दूसरी ओर, राज्य को विशिष्ट क्षेत्रों की आवश्यकताओं एवं विशिष्ट व्यक्तियों की अभिरुचियों तथा मनोवृत्तियों को भी ध्यान में रखना चाहिए। अत:, शिक्षा के ऊपर पूर्ण रूप से केन्द्रीय नियन्त्रण हो, यह कभी भी वांछनीय नहीं कहा जा सकता। ऐसी स्थिति में राज्य का यही कर्त्तव्य हो सकता है कि वह व्यक्तियों को शिक्षा प्राप्त करने का पूर्ण अवसर प्रदान करे और इस बात की निगरानी करे कि शिक्षा के लिए जो धन व्यय किया जा रहा है, उसका पूर्ण उपयोग हो रहा है अथवा नहीं। राज्य का दूसरा कर्त्तव्य है—योग्य शिक्षकों के प्रशिक्षण की व्यवस्था करना जिससे कि वे समाज के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पूर्ण रूप से परिपालन कर सकें। पर शिक्षकों के ऊपर राज्य का किसी प्रकार अनुचित नियन्त्रण नहीं होना चाहिए। उन्हें अपनी अभिरुचि एवं योग्यता के अनुसार कार्य करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए। जो शिक्षा हमारी स्वतन्त्रता का अपहरण करती है, वह शिक्षा नहीं, मानव-जीवन का अभिशाप है।

शिक्षा के सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण बात और है और वह यह है कि शिक्षा सशुल्क होनी चाहिए या निश्शुल्क। सच पूछा जाय तो शिक्षा समाज का दायित्व होना चाहिए और इसके लिए छात्रों से किसी प्रकार का शुल्क नहीं लेना चाहिए क्योंकि शिक्षा से अन्तत: समाज का ही लाभ होता है। यदि हम जनता को राज्य-भक्त या कर्त्तव्यनिष्ठ बनाना चाहते हैं तो समाज को या राज्य को उसकी शिक्षा का पूरा प्रबन्ध करना चाहिए। जो काम समाज-हित के लिए हो, उसके लिए शुल्क नहीं लेना चाहिए। कल्पना कीजिए

कि यदि बच्चे के पास शुल्क देने के लिए पैसे नहीं हैं तो क्या वह शिक्षा-प्राप्त करने के अधिकार से वंचित कर दिया जायगा? क्या समाज इसे सहन कर सकेगा? यदि समाज के प्रतिभावान बालक धनाभाव के कारण शिक्षा प्राप्त करने में असमर्थ हो जाते हैं तो अन्तत: समाज का ही अहित होगा। पेड़ लगाने व सींचने के लिए जिस प्रकार पेड़ से शुल्क लेना हास्यास्पद होगा, उसी प्रकार शिक्षा के लिए शिक्षार्थियों से शुल्क लेना भी हास्यास्पद है। शिक्षा एक प्रकार का विनियोग (Investment) है। जब तक समाज बच्चे की शिक्षा का पूर्ण प्रबन्ध नहीं करेगा, तब तक उसे कर्त्तव्य-निष्ठ होने के लिए नहीं कहा जा सकता। (जो पिता अपने कर्त्तव्य का पालन ठीक प्रकार नहीं करता, उसके बच्चे कर्त्तव्य-निष्ठ नहीं हो सकते।) जो व्यवस्था जन्म से ही व्यक्तिवादी बनायेगी, उसके बच्चों से कर्त्तव्य-निष्ठा की आशा नहीं की जा सकती। अत:, किसी भी प्रकार हम विचार करें, शिक्षा नि:शुल्क होनी चाहिए।

६

औद्योगिक संस्थाएँ-१

(Industrial Institutions)

शिक्षण-संस्थाएँ मनुष्य की जिज्ञासा की पूर्ति करती हैं। प्रत्येक मनुष्य के मन में जिज्ञासा (Curiosity) होती है—कोई जड़-जगत् के विषय में जानना चाहता है, तो कोई वनस्पति-जगत् के बारे में और कोई नक्षत्रों के विषय में अपने ज्ञान की वृद्धि करना चाहता है। इसी प्रकार औद्योगिक संस्थाओं का कार्य हमारी वानस्पतिक (Vegetative) अथवा आर्थिक (Economic) आवश्यकताओं की पूर्ति करना है जिस पर हम यहाँ विस्तारपूर्वक विचार करेंगे।

श्रम का महत्त्व

'काम' और 'श्रम' ऐसे शब्द हैं जिनके वास्तविक अर्थ के विषय में लोगों के मन में बड़ा भ्रम है। 'काम' एक जाति (Genus) है जिसका 'श्रम' एक जाति-विशेष (Species) है। काम दो प्रकार के हो सकते हैं—१. बौद्धिक कार्य और २. शारीरिक कार्य। 'श्रम' शब्द का प्रयोग बहुधा शारीरिक कार्यों के लिए ही किया जाता है। बौद्धिक एवं शारीरिक कार्यों का भेद आधुनिक है और यह औद्योगिक क्रान्ति का परिणाम है। प्लेटो ने अपनी रिपब्लिक में जब समाज के तीन वर्गों का वर्णन किया था—औद्योगिक वर्ग, सैनिक वर्ग एवं प्रशासनिक वर्ग—उसमें बौद्धिक एवं शारीरिक कार्यों में कोई भेद नहीं था। सैनिक एवं प्रशासनिक कार्यों के अतिरिक्त जितने भी कार्य हो सकते हैं, औद्योगिक कार्य के भीतर आ जाते थे। शारीरिक एवं बौद्धिक कार्य करने वालों का एक वर्ग था और उनमें धनी एवं निर्धन का भी कोई प्रश्न नहीं था। पर औद्योगिक क्रान्ति के बाद ज्यों ही शारीरिक एवं बौद्धिक कार्यों में विभाजन किया गया, तभी से धनी और गरीब के भेद भी समाज में समा गये। आधुनिक प्रयोग के अनुसार, वकीलों, डॉक्टरों, कलाकारों एवं अध्यापकों को कोई भी 'श्रमिक' कहने को तैयार न होगा, पर प्लेटो के अनुसार ये सभी व्यक्ति औद्योगिक वर्ग के भीतर आ जायँगे। पर इसका यह अर्थ नहीं है कि शारीरिक और बौद्धिक कार्यों में कोई अन्तर नहीं है। फावड़े से मिट्टी खोदना एवं कला की सृष्टि करना दोनों कार्यों में बड़ा अन्तर है—एक स्थूल कार्य है और दूसरा सूक्ष्म एवं सांस्कृतिक कार्य है। पर उनमें इतना अन्तर नहीं है जितना कि आज औद्योगिक युग में समझा जाता है। दोनों में अन्तर होते हुए भी उनमें परस्पर-पूरकता है। अतः उनमें एक की निन्दा और दूसरे की स्तुति करने की कोई गुंजाइश नहीं है। अत: 'काम' या 'श्रम' की व्याख्या हम इस प्रकार कर सकते हैं—कोई भी प्रयास जो एक निश्चित सामाजिक

उद्देश्य की सिद्धि के लिए किया जाता है, श्रम कहलाता है। जो काम केवल वैयक्तिक सुख के लिए किये जाते हैं उन्हें खेल (Play) के रूप में लिया जाता है, चाहे उन्हें सम्पादित करने में कितना ही परिश्रम क्यों न करना पड़े। अतः सामाजिक उपयोगिता ही काम या श्रम का अनिवार्य लक्षण है। श्रम के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिए, उसके कुछ महत्त्वपूर्ण भेदों की ओर दृष्टिपात कर लेना समीचीन होगा।

१. कुछ श्रम हमारी वानस्पतिक या आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं और कुछ ऐसे हैं जो हमारी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति न कर हमारी पाशविक अथवा शुद्ध मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। पर यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय तो यह भेद कृत्रिम ही लगता है। लकड़ी के काम में लगा श्रमिक जब हंमारे निवास स्थान के निर्माण के लिए लकड़ी देता है तो हमारी शुद्ध आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है, पर वही श्रमिक जब कला, विज्ञान या खेल के उपकरण बनाने में अपना परिश्रम लगाता है, तो उसकी क्रिया आर्थिक न होकर बौद्धिक या कलात्मक हो जाती है। पर दोनों के स्पष्ट भेद को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

२. कुछ कार्य ऐसे हैं जो श्रम करने वाले की इच्छा पर आधारित होते हैं, पर कुछ ऐसे हैं जिन्हें अनैच्छिक रूप से बाह्य दबाव के कारण या आर्थिक एवं सामाजिक आवश्यकताओं के वशीभूत होकर करना पड़ता है। जब एक कलाकार विशुद्ध सर्जन की भावना से प्रेरित होकर केवल आत्माभिव्यक्ति या सौन्दर्य के आकार को साकार करने के लिए कला का निर्माण करता है, तो उसका कार्य ऐच्छिक है। पर जब वही कलाकार अपनी कला का उपयोग अपनी आजीविका कमाने के लिए या अपने अभिभावक को प्रसन्न करने के लिए करता है तो उसका कार्य ऐच्छिक न होकर अनैच्छिक हो जाता है। पर यदि ध्यानपूर्वक अपने कार्यों का निरीक्षण किया जाय, तो पता चलेगा कि शायद ही हमारे ऐसे कोई काम हों जो स्वतन्त्रतापूर्वक किये जाते हों। जिन कार्यों को हम स्वतन्त्र कहते हैं उनमें भी कुछ-न-कुछ परतन्त्रता अवश्य पायी जाती है। मोक्ष-प्राप्त व्यक्ति ही स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य कर सकता है।

३. कुछ कार्य ऐसे होते हैं जो दुःखप्रद, अरुचिकर एवं क्लान्ति उत्पन्न करने वाले होते हैं तथा इसके विपरीत कुछ अन्य कार्य हैं जो सुखप्रद, रुचिकर एवं स्फूर्तिदायक होते हैं। इसे दूसरे शब्दों में हम इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं कि कुछ कार्यों के भावात्मक मूल्य होते हैं और कुछ के अभावात्मक। पर यह भेद कार्य की प्रकृति पर कम, कार्यकर्त्ता की भावना पर अधिक अधारित होता है। सामान्यतया, स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति के अनुसार किये गये कार्य आनन्ददायक होते हैं चाहे वे कठिन ही क्यों न हों और बाह्य दबाव के कारण किये गये कार्य सर्वथा दुःखप्रद होते हैं चाहे वे कितने ही सरल क्यों न हों। पर इतना तो स्वीकार किया ही जा सकता है कि कुछ कार्य स्वाभाविक रूप से कष्टप्रद होते हैं और अन्य स्वाभाविक रूप से सुखप्रद होते हैं। संक्षेप में जो कार्य साध्य-रूप से सम्पादित किए जाते हैं वे सुखप्रद एवं जो कार्य किसी साध्य के साधन रूप में सम्पादित होते हैं वे दुःखप्रद होते हैं।

४. कुछ कार्य केवल शारीरिक श्रम-साध्य होते हैं जैसे मिट्टी खोदना, हल चलाना, लकड़ी काटना इत्यादि; पर कुछ कार्य ऐसे होते हैं जो शारीरिक श्रम के ऊपर कम, चिन्तन और कला-चातुर्य की अधिक अपेक्षा रखते हैं।

५. कुछ कार्य ऐसे हैं जो यद्यपि सामाजिक दृष्टिकोण से उपयोगी हैं, पर फिर भी उन्हें सामाजिक दृष्टि से न कर व्यक्तिगत प्रसन्नता के लिए ही किया जाता है। इसके विपरीत, कुछ कार्य ऐसे हैं जो केवल कर्त्तव्य-भावना या सामाजिक सेवा-भाव से किये जाते हैं। यहाँ भी इन दोनों प्रकार के कार्यों में स्पष्ट भेद करना कठिन कार्य है। कभी-कभी एक विशेष प्रकार का कार्य सामाजिक सेवा के निमित्त किया जाता है पर उसके पीछे व्यक्तिगत लाभ या पुरस्कार-प्राप्ति की आशा छिपी रहती है। फिर भी हमारे कार्यों में इस प्रकार का भेद किया जा सकता है और उसका महत्त्व भी स्पष्ट है।

उपर्युक्त पाँच प्रकार के भेद स्पष्ट न होते हुए भी श्रम को समझने में सहायक होंगे। इन भेदों को ध्यान में रखते हुए हम श्रम को निम्न प्रकार से परिभाषित कर सकते हैं—'श्रम' शब्द का प्रयोग मानवीय प्रयास के उन रूपों के लिए किया जाता है जो (१) आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किये जाते हैं; (२) कुछ अंश तक विवशता या बाह्य दबाव के अन्तर्गत किये जाते हैं; (३) कुछ मात्रा में अरुचिकर, दुःखप्रद और थकान उत्पन्न करने वाले होते हैं; (४) विशुद्ध शारीरिक श्रम-साध्य होते हैं तथा (५) जिनके लिए चिन्तन या किसी विशेष प्रकार के बुद्धि-कौशल की आवश्यकता नहीं होती। श्रम के सम्बन्ध में उपर्युक्त पाँचवें भेद का कोई विशेष महत्त्व नहीं है। व्यक्तिगत एवं सामाजिक दृष्टि से जो भी कार्य किये जाते हैं वे 'श्रम' शब्द के अन्तर्गत आ सकते हैं। जहाँ तक समाज-दर्शन का सम्बन्ध है, 'श्रम' का इससे भी संकुचित अर्थ लिया जाता है। समाज-दर्शन में 'श्रम' शब्द का प्रयाग उन कार्यों के लिए किया जाता है जो विशेष रूप से हमारी आर्थिक आवश्यकताओं की संतुष्टि करते हैं चाहे वे स्वतन्त्र हों या परतन्त्र, शारीरिक हों अथवा बौद्धिक तथा रुचिकर हों या अरुचिकर। यद्यपि 'उद्योग' शब्द के भीतर केवल आर्थिक कार्य ही नहीं आते, पर वर्तमान संदर्भ में हम कह सकते हैं कि उद्योगों के अधिकतम कार्य आर्थिक ही होते हैं। अतः, आर्थिक और औद्योगिक कार्य को हम समानार्थक शब्द के रूप में प्रयोग कर सकते हैं।

श्रम-विभाजन

'श्रम' शब्द को चाहे व्यापक अर्थ में और चाहे सीमित अर्थ में लिया जाय, इतना तो स्पष्ट ही है कि प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक कार्य नहीं कर सकता। प्रत्येक व्यक्ति के भीतर विशिष्ट योग्यता, विशिष्ट अभिरुचि एवं विशिष्ट अभिवृत्ति पायी जाती है और वह उन्हीं के अनुसार अपने कार्य का चयन करता है। यह ठीक है कि संसार में ऐसे व्यक्तियों की कमी नहीं है जो हर विषय में दक्ष हैं, पर उनके कार्यों को 'प्रमाण' रूप में उद्धृत नहीं किया जा सकता। आर्थिक आवश्यकताओं के लिए तो विशिष्टीकरण की बात और भी सत्य सिद्ध होती है। सभी व्यक्ति सभी वस्तुओं के वितरक हो सकते हैं, पर सभी, सभी

वस्तुओं के निर्माता नहीं हो सकते। आर्थिक आवश्यकताएँ सर्वव्यापी तथा सबसे अधिक सर्व-ग्राही होती है और उनकी तुष्टि में अन्य वस्तुओं की अपेक्षा मानवीय प्रयासों का ही सर्वाधिक महत्त्व है। यही कारण है कि जो वस्तुएँ हमारी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं उनके समुचित उत्पादन एवं वितरण के लिए औद्योगिक संस्थाओं की आवश्यकता होती है। सच पूछिये तो इन्हीं आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही प्लेटो ने श्रम-विभाजन की आवश्यकता पर बल दिया था। एडम स्मिथ (Adam Smith) और मार्शल ने भी जो अर्थशास्त्र के विशेष पण्डित थे, इसी बात पर बल दिया था। प्रत्येक प्रकार के कार्य को संतोषजनक ढंग से सम्पादित करने के लिए एक विशेष प्रकार के कौशल की आवश्यकता होती है। यदि जिस प्रकार के कार्य करने की हमारे अन्दर योग्यता है, उस कार्य को न कर हम इतर कार्य में संलग्न हो जाते हैं, तो प्रथम प्रकार के कार्य करने की हमारी योग्यता नष्ट होने लगती है। समय नष्ट होने के साथ-साथ हमारी शक्ति का क्षय होता है और हम मानसिक रोग के शिकार होने का खतरा भी मोल ले लेते हैं। पर इन इतर कार्यों की कुछ उपयोगिता भी है। ये हमारे जीवन में विविधता एवं नवीनता प्रदान करते हैं और इस प्रकार थोड़ी-बहुत क्षति-पूर्ति हो ही जाती है। जीवन की मूल-आवश्यकताओं की पूर्ति एवं संभरण के लिए समाज में ऐसे व्यक्तियों का होना अनिवार्य है जिन्होंने उस कार्य में निपुणता प्राप्त कर ली हो। यह बात चिकित्सा, भोजन, पानी, वस्त्र, आश्रय एवं विश्राम पर सर्वाधिक रूप में लागू होती है क्योंकि ये जीवन की मूल-आवश्यकताएँ हैं। यहाँ तक कि आनुवंशिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी समाज में विशेषज्ञों की आवश्यकता होती है जो इनकी पूर्ति आसानी से कर सकते हैं। कम-से-कम औद्योगिक संसार में बिना विशिष्टीकरण के समाज का कार्य सुचारु रूप से नहीं चल सकता। उद्योग में श्रम-विभाजन के साथ कड़ी प्रतिस्पर्धा भी होती है। जिसके उद्योग में जितनी ही अधिक विशिष्टता एवं क्रिया-कौशल होगा, वह उतनी ही अच्छी प्रकार समाज में अपने अस्तित्व को स्थापित कर सकेगा। अतः, समाज में श्रम-विभाजन का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

सहयोग

समाज में श्रम-विभाजन है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी अभिरुचि एवं अभिवृत्ति के अनुसार अपने व्यवसाय का चयन करता है। पर इसका यह अर्थ नहीं है कि व्यक्तियों द्वारा चुने गये व्यवसायों में कोई समबन्ध नहीं होता। मनुष्य की विशिष्ट योग्यताओं के अनुसार जो श्रम-विभाजन होता है वह समाज के संगठित उद्देश्यों की पूर्ति करता है। श्रम-विभाजन में विरोध-नियम लागू नहीं होता बल्कि परस्पर-पूरकता का नियम लागू होता है। सभी वर्ग के लोग जब परस्पर सहयोग करते हैं तो समाज का विकास होता है। हमारे यहाँ समाज की कल्पना मानव-शरीर के उपमान के आधार पर की गयी है। जिस प्रकार शरीर के विभिन्न अंगों के कार्यों में पृथकता होते हुए भी उनमें परस्पर-निर्भरता एवं पूरकता है तथा एक ही शरीर की विभिन्न आवश्यकताओं की वे पूर्ति करते हैं, ठीक उसी

प्रकार समाज के विभिन्न व्यक्तियों में श्रम-विभाजन होते हुए भी वे परस्पर सहयोग कर समाजरूपी शरीर का विकास करते हैं। इस प्रकार श्रम-विभाजन और श्रम-सहयोग दोनों में विरोध न होकर उनमें अन्योन्याश्रय-सम्बन्ध है। आर्थिक क्षेत्र में तो सहयोग का सिद्धान्त और भी अच्छी प्रकार लागू होता है क्योंकि आर्थिक आवश्यकताएँ व्यापक एवं अनिवार्य होती हैं तथा उनकी तात्कालिक संतुष्टि की व्यवस्था करनी पड़ती है। ऐसी अवस्था में समाज के प्रत्येक व्यक्ति को पूरी निष्ठा एवं पूर्ण शक्ति के साथ अपनी योग्यता के अनुसार कर्त्तव्य-पालन करना चाहिए जिससे कि समाज के जीवन और स्वास्थ्य की रक्षा हो सके। इसके लिए संगठन-चातुर्य और निर्देश-कौशल की आवश्यकता होती है। श्रम-विभाजन से न केवल समाज का ही अधिकतम लाभ होता है बल्कि मनुष्य के व्यक्तित्व का भी चरम उत्कर्ष होता है। व्यक्ति एवं समाज दोनों के युगपद् विकास के लिए श्रम-विभाजन एवं श्रम-सहयोग दोनों आवश्यक हैं।

श्रम का भूमि एवं पूँजी से सम्बन्ध

आर्थिक श्रम सृजनात्मक नहीं होता। सृजन करना तो केवल ईश्वर का काम है। मानवीय श्रम शायद ही कभी सृजन का काम कर सके। कवि एवं कलाकारों को कभी-कभी सृजनात्मक कहा जाता है क्योंकि जिस काव्य या कला की वे सृष्टि करते हैं वे वास्तव में सर्वथा नवीन होती हैं और उन्हें उनके भौतिक उपादानों में हम कभी नहीं पा सकते। यह ठीक है कि वे कला की उत्पत्ति के लिए कुछ भौतिक उपादानों और उपकरणों की सहायता लेते हैं जो उन्हें कला की सृष्टि में सहायता पहुँचाती हैं और कभी-कभी बाधक भी होती हैं, पर इसे सृष्टि की संज्ञा नहीं दी जा सकती। सत्कार्यवादियों का कहना है कि कार्य, कारण के भीतर पूर्व-निहित होता है, अर्थात् संगमरमर की मूर्ति कोई नवीन सृष्टि नहीं है क्योंकि संगमरमर में वह कारण रूप में पहले ही से विद्यमान थी। पर स्थूल दृष्टि से इसे कोई स्वीकार नहीं करेगा। कलाकार जब मूर्ति तैयार करता है तो वह एक कलात्मक सृष्टि होती है जो सर्वथा नवीन वस्तु होती है। पर जिन भौतिक उपादानों पर औद्योगिक श्रम का उपयोग होता है उनमें कलात्मक सृष्टि की अपेक्षा, परिवर्तन की कम सम्भावना होती है। श्रम केवल उपादानों में गति प्रदान करता है जैसे श्रम, नदी का पानी पाइप द्वारा शहर में ले जाकर नागरिकों में वितरण करता है। श्रम के लिए उपादानों के अतिरिक्त उपकरणों की भी सहायता लेनी पड़ती है। अत: केवल श्रम आर्थिक वस्तुओं की सृष्टि नहीं कर सकता। श्रम, उपादान और उपकरण तीनों मिलकर आर्थिक वस्तुओं का निर्माण करते हैं।

ऊपर हमने देखा कि आर्थिक वस्तुओं के उत्पादन में श्रम के अतिरिक्त दो अन्य कारक और होते हैं जिन्हें क्रमश: भूमि (Land) और पूँजी (Capital) कहते हैं। भूमि और पूँजी को दूसरे शब्दों में उपादान और उपकरण कह सकते हैं। पूँजी के लिए प्रयुक्त 'कैपिटल' शब्द की उत्पत्ति 'कैपिटा' से हुई है जिसका अर्थ पशुओं और घोड़ों की संख्या से है जो प्राचीन काल में फार्म में रक्खे जाते थे। इस प्रकार भूमि और पूँजी दोनों

ही शब्द मूलत: कृषिसम्बन्धी श्रम (Agricultural Labour) से ही सम्बन्धित हैं। आधुनिक उद्योग में भूमि और पूँजी के स्थान पर कच्चे माल (Raw Materials) और उपकरण (Instruments) शब्दों का प्रयोग किया जाता है। उपकरण स्वयं पूर्व-श्रम के परिणाम होते हैं जिसे कच्चे माल पर लगाया गया था। घोड़े और अन्य पशु जो उपकरण के रूप में प्रयुक्त होते हैं, श्रम द्वारा पकड़े जाते हैं, उन्हें सुधारा जाता है और प्रशिक्षित किया जाता है। उपकरणों और मशीनों के उत्पादन में भी कच्चे माल पर पर्याप्त श्रम लगाने की आवश्यकता होती है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि कच्चे माल पर लगाये गये मानवीय श्रम के परिणामस्वरूप ही आर्थिक माल की उत्पत्ति होती है। एक समय में लगाया गया श्रम, भूत-काल में लगाये गये श्रम के ऊपर आधारित होता है, और भूतकाल में लगाया गया श्रम उससे भी पहले लगाये गये श्रम के ऊपर आधारित होता है। कच्चे माल और श्रम में वही सम्बन्ध है जो एरिस्टॉटल के दर्शन में द्रव्य (Matter) और स्वरूप (Form) में सम्बन्ध है। जिस प्रकार एरिस्टॉटल के दर्शन में स्वरूप ही एकमात्र तत्त्व है, द्रव्य, स्वरूप के व्यक्तीकरण का केवल एक माध्यम है, ठीक उसी प्रकार, आर्थिक जगत् में 'श्रम' ही वस्तुओं को उत्पन्न करता है, कच्चा माल तो श्रम के व्यक्तीकरण का उपादान मात्र है। यहाँ 'श्रम' शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में किया गया है जिसमें शारीरिक श्रम के साथ बौद्धिक, आविष्कारक, निर्माणात्मक, सृजनात्मक एवं संगठनात्मक श्रम-शक्तियों का भी समावेश हो जाता है। जो बात आर्थिक वस्तुओं के उत्पादन के लिए सत्य है वही कलात्मक वस्तुओं के सृजन में भी लागू होती है। संक्षेप में, श्रम उत्पादन का मूल है।

औद्योगिक संस्थाएँ

अठारहवीं शताब्दी में यूरोप में औद्योगिक-क्रान्ति का प्रारम्भ हुआ। भिन्न-भिन्न प्रकार के आविष्कार हुए जिनके परिणामस्वरूप उद्योग-धन्धे हाथ से चलने के स्थान पर मशीन से चलने लगे। मशीन की स्थापना के लिए बहुत अधिक स्थान तथा अधिक श्रमिकों की आवश्यकता हुई। अब तक 'भूमि' को ही सम्पत्ति समझा जाता था, पर उद्योग और वाणिज्य के विस्तार होने के कारण सम्पत्ति का मुख्य रूप 'भूमि' न रहकर 'द्रव्य' या मुद्रा (Money) हो गया। अब तक वस्तुओं का आदान-प्रदान 'वस्तु-विनिमय-पद्धति' (Barter-System) द्वारा होता था पर मुद्रा के आविष्कार के साथ 'मुद्रा' के माध्यम से वस्तुओं के क्रय-विक्रय होने लगे। पहले लोग 'भूमि' को एकत्रित करके अपने 'गौरव' की वृद्धि करते थे, पर औद्योगिक युग में भूमि के स्थान पर 'मुद्रा-संग्रह' का महत्त्व बढ़ गया। इस औद्योगिक युग में जिन औद्योगिक संस्थाओं की उत्पत्ति हुई, उनका नीचे संक्षेप में वर्णन किया जा रहा है—

१. सम्पत्ति (Property)—सामन्तशाही युग में भूमि को ही सम्पत्ति समझा जाता था। पर औद्योगिक युग में 'भूमि' और 'मुद्रा' दोनों अलग-अलग हो गये। 'मुद्रा' वह सम्पत्ति है जिसके माध्यम से हम संसार की किसी वस्तु को प्राप्त कर सकते हैं।

'मुद्रा' के भीतर संसार की सारी सम्पत्ति केन्द्रित है। अतः, आधुनिक युग में रुपये-पैसे को 'सम्पत्ति' कहा जाता है। इसका कहीं भी संग्रह किया जा सकता है और संसार की किसी वस्तु के बदले इसका विनिमय किया जा सकता है। पहले सम्पत्ति के ऊपर व्यक्ति का स्वामित्व 'प्रथा' के आधार पर माना जाता था, पर कालान्तर में मनुष्य की निजी सम्पत्ति के ऊपर उसका स्वामित्व कानून के आधार पर माना जाने लगा। औद्योगिक युग में सम्पत्ति के स्वामित्व के बारे में एक दूसरे प्रकार का विवाद खड़ा हुआ—वह था कि सम्पत्ति के ऊपर व्यक्तिगत स्वामित्व (Individual Ownership) होना चाहिए अथवा राज्य का स्वामित्व (State or Social Ownership) होना चाहिए। जो सिद्धान्त व्यक्तिगत स्वामित्व में विश्वास करता है उसे पूँजीवाद (Capitalism) कहते हैं। इसके विपरीत, जो सिद्धान्त सामाजिक स्वामित्व में विश्वास करता है उसे समाजवाद (Socialism) कहते हैं। इनके विषय में आगे चर्चा की जायगी।

२. निगम (Corporation)—एक व्यक्ति लघु-उद्योगों की भले ही स्थापना कर ले, पर भारी उद्योगों की स्थापना के लिए एक बहुत बड़ी रकम की आवश्यकता होती है जिसकी प्राप्ति संयुक्त-पूँजी-संगठन (Joint Stock Companies) की स्थापना करके की जा सकती है। इसके विकास के साथ 'निगमों' का विकास हुआ। वर्तमान युग का यह आर्थिक-संगठन अत्यन्त महत्त्व का है। इसके अनेक लाभ हैं। पर यह एक पूँजीवादी व्यवस्था है और इसके अन्दर वे सारे दोष विद्यमान हैं जो साधारण तौर पर पूँजीवादी व्यवस्था में विद्यमान होते हैं। इसीलिए समाजवादी व्यवस्था में इनका कोई महत्त्व नहीं है। यहाँ सारे व्यापार राज्य द्वारा संचालित होते हैं जिससे एक या अनेक व्यक्तियों को लाभ न होकर सम्पूर्ण समाज को लाभ हो।

३. प्रतियोगिता तथा एकाधिकार (Competition and Monopoly)—समाज में एक ही प्रकार के व्यवसाय करने वाले कई व्यक्ति होते हैं, अतः व्यापार के साथ 'प्रतियोगिता' रहती ही है। सम्पूर्ण पूँजीवादी व्यवस्था ही प्रतिस्पर्धा पर आधारित है। प्रारम्भ में प्रतियोगिता से ही व्यापार चला। व्यापारी, व्यापारी का गला काटता था। इससे ग्राहक को बड़ा लाभ था। यदि प्रतियोगिता न होती तो व्यापारी, ग्राहकों का खूब शोषण करते। व्यापारी सर्वदा यही चाहता है कि प्रतियोगिता को वह व्यापार से निकाल दे। इसी उद्देश्य से उसने 'निगमों' एवं 'होल्डिंग-कम्पनियों' की व्यवस्था की। इन सबका उद्देश्य प्रतियोगिता के स्थान पर एकाधिकार (Monopoly) प्राप्त करना है ताकि वे मनचाहा लाभ कमा सकें। समाजवादी व्यवस्था में चूँकि सारे व्यवसाय राज्य से संचालित होते हैं अतः वहाँ न तो कोई प्रतियोगिता होती है और न एकाधिकार की समस्या। यदि एकाधिकार होता भी है तो वह राज्य का एकाधिकार होता है न कि व्यक्ति का।

४. सहकारी-समितियाँ (Cooperative Societies)—पूँजीवादी व्यवस्था में उत्पादक एवं उपभोक्ता के बीच कुछ मध्यस्थ-व्यापारी होते हैं जो मध्यस्थता के लाभ (Middle Man's Profit) कमाना चाहते हैं। इससे उपभोक्ताओं को माल मँहगा पड़ता था। उसे दूर करने के लिए उपभोक्ता-सहकारी समितियाँ स्थापिक की गयीं। कुछ

उपभोक्ता आपस में संगठन कर थोड़ी-थोड़ी पूँजी लगाकर एक समिति का निर्माण करते हैं और इतने मुनाफ़े से माल बेचते हैं जिससे उन्हें चीजें महँगी न पड़ें और वर्ष के अन्त में उन्हें जो मुनाफ़ा होता है उसे आपस में ही बाँट लेते हैं। समाजवादी व्यवस्था में सभी व्यवसाय उपभोक्ताओं के लिए राज्य-सरकार ही करती है। अतः पृथक् रूप में किसी सहकारी समिति के गठन की कोई आवश्यकता ही नहीं होती।

५. मजदूरी (Wages)—औद्योगिक युग के पहले सामन्त-युग में किसान अथवा दास (Vassal) जो कुछ भी करते वह अपने सामन्त (Feudal Lord) के ही लिए करते थे। सामन्त-युग के बाद व्यापारी-संघ (Merchant Guilds) का जमाना आया जो किसानों को कच्चा-माल और औज़ार देकर आर्थिक माल तैयार कराते थे और फिर उन्हें बाज़ार में बेच देते थे। किसानों को उनके कार्य के लिए कुछ मजदूरी भी देते थे। इस समय बहुत-से दास-किसान इन व्यापारियों से पैसा पैदा करके अपने मालिकों की दासता से मुक्त हो गये और स्वतन्त्र रूप से मजदूरी लेकर व्यापारियों के लिए माल बनाने लगे। सामन्त-युग में पूँजी और श्रम दोनों भूमि के साथ आबद्ध थे, पर पूँजीवाद के आने के साथ पूँजी और श्रम दोनों भूमि से ही स्वतन्त्र नहीं हुए वरन् वे एक-दूसरे से भी पृथक् हो गये। पूँजी पूँजीपतियों के हाथ चली गयी और श्रम, श्रमिकों की वस्तु हो गयी। पृथक् हो जाने से दोनों की कीमत में भी पर्याप्त वृद्धि हो गयी। समाजवाद में व्यक्तिगत पूँजी तो होती नहीं और श्रमिकों का राज्य होता है, अतः पूँजी और श्रम का जो संघर्ष पूँजीवाद में दिखायी देता है, समाजवाद में उसका अभाव पाया जाता है।



७

औद्योगिक संस्थाएँ-२

सम्पत्ति

(Property)

औद्योगिक संस्थाओं में सम्पत्ति का सर्वाधिक महत्त्व है। जीवन की सफलता और असफलता कभी-कभी सम्पत्ति के मापदण्ड से ही अंकित की जाती है। जो परिवार का जीवन व्यतीत करते हैं वे जानते हैं कि पारिवारिक सुख के लिए सम्पत्ति की कितनी आवश्यकता होती है। सम्पत्ति के अभाव में परिवार का विघटन होने लगता है। इसी लिए पारिवारिक व्यक्तियों में परिग्रह (Possession) की भावना पायी जाती है। सम्पत्ति के बिना परिवार की स्थापना नहीं की जा सकती। भारतीय संस्कृति में 'अर्थ' को एक पुरुषार्थ माना गया है जिसके बिना धर्म, काम और मोक्ष की प्राप्ति नहीं की जा सकती। अर्थ, पुरुषार्थों में प्रथम पुरुषार्थ है। मनुष्य की जीवन में तीन ऐषणाएँ होती हैं—

१. वित्तैषणा, २. पुत्रैषणा, और ३. लोकैषणा। इससे भी पता लगता है कि भारतीय समाज में वित्त या सम्पत्ति का क्या महत्त्व था। पर भारत में उसी अर्थ को माना जाता था जो धर्मसम्मत हो। जो धन येन-केन-प्रकारेण प्राप्त किया जाता था वह समाज से अनुमोदित नहीं था। आजकल तो व्यक्तिगत सम्पत्ति को हेय-दृष्टि से देखना एक प्रकार का फैशन हो गया है, पर इसकी कुछ अच्छाइयाँ हैं और यह हमारे स्वभाव का एक प्रमुख अंग है।

सम्पत्ति का अधिकार

कुछ राजनीति एवं विधि-वेत्ताओं ने स्वीकार किया है कि अपनी सम्पत्ति के ऊपर प्रत्येक व्यक्ति का ऐकान्तिक अधिकार होना चाहिए। डैमले (Damle) ने कानूनी दृष्टि से सम्पत्ति को परिभाषित करते हुए कहा, "सम्पत्ति अधिकारों और कर्त्तव्यों का वह पुंज है जो भौतिक वस्तुओं के ऊपर नियन्त्रण के विषय में व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों को निर्धारित करता है।"[१] आधुनिक सभ्य समाज में व्यक्ति के सम्पत्ति के ऊपर अधिकार को मान्यता दी गयी है। हर एक समाज में व्यक्ति को साध्य-रूप (End) माना गया है जिस पर उसके सिवा किसी का अधिकार नहीं हो सकता। दास-प्रथा (Slavery) इसी कारण अमान्य कर दी गयी है। दास-प्रथा के बाद जागीरदारी (Serfdom) आयी जिसमें दास-प्रथा की बुराइयों को दूर किया गया। भारत में जमींदारी-प्रथा का इसीलिए उन्मूलन किया गया क्योंकि जमींदार किसानों से बेगार लेते थे। पर वस्तुओं के ऊपर व्यक्ति के

---

१. डैमले, सिविक्स फॉर बिगिनर्स

नियन्त्रण का अधिकार समाज द्वारा सदा स्वीकार किया गया। वस्तुएँ साध्यरूप कभी नहीं हो सकतीं। वे सदा साधन-रूप (Means) ही रहेंगी। उन पर किसी-न-किसी का अधिकार अवश्य ही होगा चाहे किसी व्यक्ति का हो या सम्पूर्ण समाज का। अतः सम्पत्ति को अधिकार की भावना से पृथक् नहीं किया जा सकता।

सम्पत्ति का मनोवैज्ञानिक आधार

वैयक्तिक सम्पत्ति का एक मनोवैज्ञानिक आधार भी है। मनोविज्ञान हमें सिखाता है कि प्रत्येक बालक के मन में **अर्जन या संग्रह करने की मूल-प्रवृत्ति** (Acquisitive Instinct) विद्यमान होती है। जानवरों में भी संग्रह की मनोवृत्ति पायी जाती है। चींटी और गिलहरी भविष्य के लिए भोजन एकत्रित करती हैं। छोटे बच्चे, बचपन में नाना प्रकार की वस्तुओं को निष्प्रयोजन ही एकत्रित करते रहते हैं। ऐसा करने से उन्हें एक प्रकार का संतोष प्राप्त होता है। वे अपनी संग्रहीत वस्तुओं को किसी को देना भी नहीं चाहते। प्रौढ़ावस्था में यही संग्रह की प्रवृत्ति सम्पत्ति-प्रेम के रूप में परिणत हो जाती है। कुछ मनोवैज्ञानिकों के अनुसार मनुष्य की संग्रह करने की प्रवृत्ति का सम्बन्ध उसकी **आत्म-अनुरक्षण** की मूल प्रवृत्ति (Instinct of Self-preservation) से है। मनुष्य की मूल-प्रवृत्ति ही सम्पत्ति के संग्रह की ओर प्रेरित करती है।

यहाँ पर ध्यान देने की बात यह है कि मनुष्य के सम्पत्ति-प्रेम की व्याख्या केवल संग्रह करने की मूल-प्रवृत्ति के माध्यम से नहीं की जा सकती। हम सम्पत्ति से प्रेम क्यों करते हैं? इसीलिए न कि उसके द्वारा हमारी आवश्यकताओं की संतुष्टि होती है। ये आवश्यकताएँ वानस्पतिक, पाशविक अथवा बौद्धिक किसी प्रकार की हो सकती हैं। जो वस्तुएँ इन आवश्यकताओं की बार-बार तुष्टि करती हैं उनके प्रति हमारे हृदय में आसक्ति का स्थायी-भाव उत्पन्न हो जाता है। प्रथम हम इन तुष्ट करने वाली वस्तुओं का साधन-रूप में प्रयोग करते हैं, पर बार-बार प्रयोग के कारण ये साधन-रूप वस्तुएँ ही साध्य-रूप ग्रहण कर लेती हैं। भारत के मनीषियों ने सिक्के के प्रति मोह को इसीलिए हेय कहा है क्योंकि सिक्के में स्वयं कोई साध्य-मूल्य नहीं है। सिक्का तो वस्तुओं को प्राप्त करने का केवल एक माध्यम है। इसमें केवल साधन-मूल्य है। इसका महत्त्व केवल इसी बात से समझा जा सकता है कि जब सरकार किसी सिक्के का प्रचलन बन्द कर देती है तो उसका मूल्य समाप्त हो जाता है। अतः, स्वतः उसमें कोई मूल्य नहीं है।

सम्पत्ति और शक्ति (Power) का सम्बन्ध बहुत प्राचीन है। प्रत्येक मनुष्य के भीतर आत्म-स्थापन (Self-Assertion) की मूल-प्रवृत्ति पायी जाती है और सम्पत्ति इस आत्म-स्थापन की प्रवृत्ति को तुष्ट करने का एक अच्छा उपाय होता है। आधुनिक युग में तो इसका महत्त्व और भी बढ़ गया है। जिसके पास धन है, उसके पास ज्ञान है, शक्ति है, वैभव, यश और बड़प्पन है।[१] धन शक्ति, आत्म-प्रकाशन और आत्म-प्रदर्शन

---

१. यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः सः पडितः सः श्रुतुवान् गुणज्ञः।
स एव वक्ता स च दर्शनीयः सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ते॥

का सबसे अच्छा माध्यम है। इसीलिए सब लोग धन की कामना करते हैं।

सम्पत्ति का अर्थ

Property (सम्पत्ति) शब्द की व्युत्पत्ति लैटिन शब्द Propriatas से हुई है, जिसका अर्थ होता है अपने (One's own) नजदीक या समीप। अत: जो भी व्यक्ति के समीप हो या अपना हो, वही उसकी सम्पत्ति कहलायेगी। अर्थात् जिस पर व्यक्ति का स्वामित्व है वही सम्पत्ति है।

स्वामित्व, सम्पत्ति का प्रथम लक्ष्ण है। स्वामित्व का अर्थ है अपना पूर्ण अधिकार। अधिकार पूर्ण तब होता है जब सम्पत्ति के उपयोग की हमें पूरी स्वतन्त्रता होती है। हम चाहें तो उसे बेच सकते हैं, बन्धक रख सकते हैं तथा दूसरे को दान भी दे सकते हैं। किसी सम्पत्ति के पूर्ण स्वामित्व के भीतर उसके सदुपयोग और दुरुपयोग दोनों का अधिकार सम्मिलित होता है। पर किसी व्यक्ति को अपनी सम्पत्ति के दुरुपयोग का अधिकार तभी तक दिया जा सकता है जब तक कि उससे दूसरों का अहित न होता हो। उदाहरण के लिए घनी बस्ती में किसी को अपने ही घर में आग लगाने की आज्ञा नहीं दी जा सकती; क्योंकि इससे दूसरों का घर भी जल जायेगा। सम्पत्ति के ऊपर अपने स्वामित्व के साथ यह भी आवश्यक है कि अन्य लोगों का उस पर स्वामित्व न हो। इसलिए सम्पत्ति अपने अधिकार का अनुमोदन पर दूसरों के अधिकार का बहिष्कार करती है।

सम्पत्ति स्वयं साध्य नहीं है बल्कि मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन मात्र है। हमें उसके उपभोग का अधिकार है। भिन्न-भिन्न युग में सम्पत्ति के लक्ष्य के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न विचार प्रगट किये गये हैं। पहले वह उपभोग का साधन समझा जाता था, पर अब इसे शक्ति का साधन समझा जाता है। जिसके पास सम्पत्ति है वह सभी प्रकार के गुणों से आभूषित माना जाता है।

सम्पत्ति पर व्यक्ति का अधिकार होता है। पर उसका अधिकार तभी सुरक्षित रह सकता है जब कि समाज या राज्य उसके इस अधिकार की रक्षा के लिए कानून बनाये और उसे क्रियान्वित करे। उसका अधिकार दूसरे लोग छीन न लें, इसके लिए समाज उसे संरक्षण प्रदान करता है और उसके अधिकार को इस प्रकार स्वीकृति प्रदान करता है। सम्पत्ति के लिए सामाजिक स्वीकृति आवश्यक है। यदि परिश्रम से सम्पत्ति अर्जित की जाती है तो सामाजिक एवं वैधानिक अनुमोदनों द्वारा उसकी रक्षा होती है। इस प्रकार सम्पत्ति का अधिकार निरपेक्ष न होकर सापेक्ष ही होता है।

चूँकि सम्पत्ति की सामाजिक एवं वैधानिक अनुमोदनों द्वारा रक्षा होती है, इसलिए इसके साथ अधिकार और कर्त्तव्य जुटे हुए हैं। वैधानिक दृष्टि से सम्पत्ति उन तमाम अधिकारों और कर्त्तव्यों का संगठन है जिनसे मनुष्य के भौतिक पदार्थों पर अधिकार और उपभोग का तरीका निश्चित होता है। इसीलिए सम्पत्ति के उपार्जन, विभाजन तथा उपभोग तीनों दृष्टियों से व्यक्ति के अधिकार और कर्त्तव्य सुनिश्चित किये गये हैं। सम्पत्ति के

अधिकार के साथ उससे सम्बन्धी दो कर्त्तव्य हैं—(क) सम्पत्ति के उपार्जन के लिए श्रम और (ख) सामान्य शुभ के लिए उपयोग। यदि सम्पत्ति के अधिकार के साथ ये दो कर्त्तव्य निहित न हों, तो उस व्यक्ति को सम्पत्ति के अधिकार से वंचित कर देना चाहिए।

सम्पत्ति की उत्पत्ति तथा विकास

सम्पत्ति की उत्पत्ति के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। पर यह प्रायः सभी स्वीकार करते हैं कि सम्पत्ति का विकास चार सोपानों में हुआ है—(१) आदिम साम्यवादी युग, (२) दासत्व युग, (३) सामन्तशाही युग और (४) पूँजीवादी युग। इनका संक्षिप्त विवरण नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है—

१. आदिम साम्यवादी युग—इस युग में लोग फल, फूल और शिकार पर जीवन-निर्वाह करते थे और उस समय न कोई धनी था, न निर्धन। न तो कोई खेती करता था और न पशु-पालन ही। सभी वस्तुएँ सबकी समझी जाती थीं। उस समय सम्पत्ति की कोई अवधारणा ही न थी और यदि थी भी, तो **सार्वजनिक सम्पत्ति** (Common Property) का ही विचार किया जाता था। सब लोग मिलकर पशुओं का शिकार करते थे और सब मिल-जुलकर बाँटकर उसका उपभोग करते थे।

२. दासत्व-युग—यह खेती व पशु-पालन का युग है। इस समय व्यक्तिगत सम्पत्ति का आविर्भाव हुआ। कुछ लोग जो शक्तिशाली थे, सामूहिक रूप से बलपूर्वक भूमि पर अधिकार करके सम्पत्तिवान् हो गये। शेष जो दुर्बल थे, भूमिहीन हो गये। उनके लिए सम्पत्तिवान् लोगों की गुलामी करने के सिवा कोई विकल्प नहीं रहा। इस युग में **सामूहिक सम्पत्ति** (Collective Property) का विकास हुआ क्योंकि इस युग में एक ही परिवार के कई लोग और साथ-साथ सगे-सम्बन्धी लोग परस्पर मिलकर किसी सम्पत्ति पर अपना अधिकार प्रकट करते थे। बलपूर्वक किसी सम्पत्ति पर अधिकार करने के लिए समूह की आवश्यकता अवश्य होती है।

३. सामन्तशाही युग—इस युग में भूमि के मालिक सामन्त व जागीरदार होते थे और खेती करने का काम दास न कर किसान लोग (Serfs) करते थे। किसानों को अपने अधीन रखने के लिए बल-प्रयोग की भी आवश्यकता पड़ती थी। इसलिए कई लोग आपस में मिलकर जागीरदारी स्थापित करते थे और अपनी खेती की देखभाल किया करते थे। इस युग में भी सम्पत्ति का जो स्वरूप था, वह बहुत कुछ सामूहिक ही था।

४. पूँजीवादी युग—तेरहवीं शताब्दी में इस युग का आविर्भाव हुआ। औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप मशीनों का आविष्कार हुआ, उत्पादन बढ़ा, श्रमिकों में बेकारी फैलने के कारण वेतन-दरें घटीं तथा पूँजीपतियों को श्रमिकों के अधिक शोषण का अवसर मिला। समाज दो वर्गों में विभाजित हो गया—पूँजीपति-वर्ग (Capitalist Class) और सर्वहारा-वर्ग (Proletariat Class)। हर व्यक्ति यही चाहता है कि मशीनों पर उसका पूर्ण प्रभुत्व हो। इस प्रकार समाज में **वैयक्तिक सम्पत्ति** (Private Property) का प्रादुर्भाव हुआ।

धन, निर्धनता और सम्पत्ति

व्यक्ति अथवा राष्ट्र जिस मात्रा में मूल्यवान् पदार्थों को अपने नियंत्रण में रखते हैं, उसी मात्रा में उनकी सम्पत्ति अथवा निर्धनता का निर्माण होता है। धन को ऐसे नियन्त्रण के प्रतीक के रूप में और कुछ निश्चित प्रतिबन्धों के आधीन व्यवहार के लिए स्वीकृत सिक्के के रूप में मूल्यांकित किया जाता है। धन की यह नियंत्रण-शक्ति एक व्यक्ति को अन्य व्यक्तियों पर श्रेष्ठता प्रदान करती है और वह समाज के सदस्यों के हित को पूर्ण अर्थों में एक सामान्य हित बनने से रोकती है। आदर्श समाज में सामान्य हित-साधन करना ही व्यक्ति एवं समाज का कर्त्तव्य होना चाहिए। अब हमारे समक्ष जो प्रश्न उपस्थित होता है वह यह है कि उपर्युक्त प्रकार का आर्थिक नियन्त्रण एक व्यक्ति के अधिकार में होना चाहिए अथवा सम्पूर्ण समाज के हाथ में। प्लेटो ने इस बात पर विशेष बल दिया है कि किसी भी संगठित समुदाय के शासक का यह परम कर्त्तव्य है कि उसके राज्य में न तो किसी के पास अत्यधिक धन हो और न किसी के पास धन का आत्यन्तिक अभाव ही हो। धन का समाज के इने-गिने व्यक्तियों के पास केन्द्रीकरण समाज में अनेक बुराइयों को जन्म देता है। पर इस बात का सम्यक् निर्णय करना होगा कि कितने धन को अधिक कहा जाय और उसे किस प्रकार सम्पूर्ण समाज में वितरित किया जाय। यही आर्थिक समाज-दर्शन का प्रमुख उद्देश्य है।

प्रतियोगिता

मनुष्य की इच्छाएँ अनन्त हैं पर इन इच्छाओं को सन्तुष्ट करने की योग्यता एवं साधन का अभाव है। प्रत्येक व्यक्ति चाहता है कि संसार की सभी वस्तुओं के ऊपर उसका एकाधिकार हो, संसार की सभी सुन्दरियाँ उसकी परिचर्या में लगी हों एवं एकमात्र वही व्यक्ति सम्पूर्ण वीरता, यश एवं प्रतिष्ठा का भाजन हो। पर ऐसा संसार में सम्भव कब हो पाता है? हमारी योग्यता एवं वस्तुओं का सम्भरण दोनों सीमित हैं। ऐसी अवस्था में एक का अधिकार दूसरों के अभाव का सूचक हो जाता है। विशुद्ध मानवीय वस्तुएँ जो हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं, वे सबको सहज सुलभ होनी चाहिए क्योंकि ऐसा न होने पर सार्वजनिक हानि की सम्भावना कई गुना बढ़ जाती है। आवश्यक वस्तुओं के असमान वितरण से समाज में संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है और प्रतियोगिता की भावना में वृद्धि होती है। अवनत देशों में जहाँ रोटी की समस्या सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है, संघर्ष का कारण बहुधा आर्थिक कठिनाइयाँ ही होती हैं पर उन्नत देशों में जहाँ जीवन की मूल-भूत आवश्यकताओं की सहज पूर्ति हो जाती है, संघर्ष का कारण स्वामित्व नहीं वरन् उसका मूल्यांकन अधिक होता है। आज दिन रूस-अमेरिका में जो अनवरत् संघर्ष चल रहा है, वह आर्थिक कम, पर वैचारिक अधिक है। यही बात भारत और चीन के पारस्परिक संघर्ष के विषय में भी कही जा सकती है। पर यदि इन संघर्षों का सूक्ष्म विश्लेषण किया जाय तो वैचारिक संघर्षों के मूल में भी आर्थिक कारण परिलक्षित होंगे और इन आर्थिक कारणों के मूल में भी अस्तित्व का संघर्ष दिखायी देगा।

इस सम्बन्ध में हमें यहाँ केवल दो बातें कहनी है—प्रथम तो यह कि केवल अर्थ ही मानव-जीवन का पुरुषार्थ नहीं है। मानव-जीवन के सभी संघर्षों को आर्थिक कह कर ही उनकी व्याख्या करना समस्या का अति-सरलीकरण है। मानव-जीवन के अन्य पुरुषार्थ भी हैं जो संघर्ष की स्थिति को उत्पन्न करते हैं। राम-रावण युद्ध धन के लिए नहीं वरन् सीता के लिए लड़ा गया था। इसी प्रकार महाभारत का युद्ध न तो धन के लिए था; न राज्य के लिए वरन् धर्म की स्थापना के लिए किया गया था। इस प्रकार हमारी सभी समस्याओं का मूल आर्थिक नहीं है और न उनका समाधान ही आर्थिक परिप्रेक्ष्य में किया जा सकता है। दूसरी बात जो हमें यहाँ दर्शानी है वह यह है कि संघर्ष और प्रतियोगिता ही जीवन का प्राण नहीं है। **संघर्ष के मूल में प्रेम एवं प्रतियोगिता के मूल में सहयोग का भाव निहित रहता है।** पाश्चात्य समाज-दर्शन डार्विन और हर्बर्ट स्पेन्सर के **संघर्षवाद** एवं **योग्यतम की विजय** के सिद्धान्तों पर आधारित है, पर भारतीय चिन्तन-प्रणाली इनको एकांगी मानती है। भारतीय-चिन्तन-प्रणाली **सहयोगवाद** एवं **परस्पर-पूरकतावाद** पर आधारित है और यही सिद्धान्त सत्य भी है जैसा आगे स्पष्ट किया जायगा। संघर्ष करने के लिए भी सहयोग की आवश्यकता होती है, पर सहयोग के लिए यह आवश्यक नहीं कि संघर्ष किया जाय। अतः, संघर्ष की अपेक्षा सहयोग का सिद्धान्त अधिक मौलिक प्रतीत होता है।

व्यक्तिवाद और समाजवाद
(Individualism and Socialism)

समाज-दर्शन में व्यक्तिवाद और समाजवाद का विवाद डार्विन के संघर्षवाद और प्रतियोगितावाद के सिद्धान्तों पर ही आधारित है। जो सहयोगवाद और परस्पर-पूरकतावाद में विश्वास करते हैं उनके लिए व्यक्तिवाद या समाजवाद ही अन्तिम शब्द नहीं हैं। व्यक्ति और समाज के हितों के द्वैत ने ही व्यक्तिवाद और समाजवाद के द्वैत को उत्पन्न किया है। पर यदि इन समस्याओं का सूक्ष्म विश्लेषण किया जाय तो पता चलेगा कि व्यक्ति और समाज के हितों में कोई विरोध नहीं है। व्यक्ति-हित में ही समाज-हित और समाज-हित में ही व्यक्ति-हित निहित होता है। दोनों में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। इस पर कभी विचार किया जायगा।

१. एक ओर यह कहा जाता है कि **प्रतियोगिता** आर्थिक जीवन की अनिवार्य विशेषता है; व्यक्ति माँग (Demand) और सम्भरण (Supply) की पारस्परिक प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप ही आर्थिक मूल्यों का निर्धारण तथा आर्थिक वस्तुओं का सन्तोषजनक वितरण सम्भव है। यह **व्यक्तिवाद** को उत्पन्न करता है।

२. दूसरी ओर यह कहा जाता है कि प्रतियोगिता के आधार पर स्थित आर्थिक व्यवस्था अराजकता, बरबादी और सामाजिक अन्याय को उत्पन्न करती है। अतः यह वांछनीय है कि आर्थिक जगत् में प्रतियोगिता के स्थान पर **केन्द्रीय नियन्त्रण** को स्थापित किया जाय जिससे कि शोषण के स्थान पर सामाजिक न्याय की स्थापना की जा सके। इस प्रकार की विचारधारा **समाजवाद** को उत्पन्न करती है।

पाश्चात्य देशों का आर्थिक ढाँचा इसी व्यक्तिवाद और समाजवाद के संघर्ष पर आधारित है। दोनों डार्विन के संघर्षवाद पर विश्वास करते हैं। इस संघर्ष के परिणामस्वरूप कई प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न होती हैं जिनका वर्णन आगे के अध्यायों में विस्तारपूर्वक किया जायगा। यहाँ हम मुख्य रूप से चार पक्षों का सिंहावलोकन करते हुए व्यक्तिवाद और समाजवाद के अन्तर को स्पष्ट करेंगे।

१. औद्योगिक संगठन—औद्योगिक संगठन के सन्दर्भ में भी व्यक्तिवाद और समाजवाद शब्द का प्रयोग किया जाता है। व्यक्तिवाद के अनुसार समुदाय कुछ नहीं व्यक्तियों का समूह मात्र है; इसके विपरीत समाजवाद की यह मान्यता है कि समाज के विभिन्न व्यक्तियों में एक प्रकार का आन्तरिक सम्बन्ध (अंगीय एकता, सामान्य इच्छा या सामान्य हित) है। जहाँ तक सम्पत्ति के सम्बन्ध में व्यक्तिवाद और समाजवाद के प्रयोग की बात है, यहाँ केवल इतना ही कहा जा सकता है कि व्यक्तिवाद के अनुसार समाज की अपेक्षा व्यक्ति का महत्त्व कहीं अधिक है। वह स्वतन्त्र प्राणी है; अपनी योग्यता व श्रम-शक्ति के आधार पर वह जितनी चाहे उतनी सम्पत्ति का संचय कर सकता है। समाज की ओर से उस पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होना चाहिए। इसके विपरीत, समाजवाद के अनुसार, सम्पत्ति व्यक्तिगत नहीं वरन् सामाजिक वस्तु है। जिस प्रकार समाज से पृथक् व्यक्ति का अस्तित्व नहीं है; उसी प्रकार सामाजिक सम्पत्ति से पृथक् वैयक्तिक सम्पत्ति नाम की कोई वस्तु नहीं है। सम्पूर्ण सम्पत्ति समाज की है और उसी के हित में उसका व्यय होना चाहिए। किसी व्यक्ति को आवश्यकता से अधिक सम्पत्ति संचित करने का अधिकार नहीं होना चाहिए।

२. मानवीय-जीवन—व्यक्तिवादी विचारधारा जो वैयक्तिक प्रोत्साहन पर आधारित है; इस बात पर बल देती है कि धर्म, शिक्षा, औषधि, कानून, उद्योग एवं वाणिज्य में सरकारी हस्तक्षेप ठीक नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति को प्रतिस्पर्धा के आधार पर अपनी योग्यता व शक्ति के अनुसार कार्य करने का अवसर मिलना चाहिए। पर समाजवादी विचारधारा मनुष्य को सर्वथा स्वार्थी मानती है। इसलिए शिक्षा, औषधि, उद्योग वाणिज्य इत्यादि महत्त्वपूर्ण विषयों पर व्यक्ति का नियन्त्रण नहीं होना चाहिए। समाजवाद, राजधर्म, राष्ट्रीय शिक्षा-पद्धति, राष्ट्रीय मंच एवं राष्ट्रीय पुस्तकालय का पक्षपाती है। सामाजिक सम्पत्ति से इन संस्थाओं का पोषण होना चाहिए। इसी प्रकार समाजवादी व्यवस्था में सार्वजनिक चिकित्सालय; निःशुल्क औषधि-वितरण, निःशुल्क कानूनी परामर्श, वृद्धावस्था पेन्शन एवं विस्थापितों के लिए सहायता कार्य भी समाज द्वारा प्रतिपादित किये जाते हैं। यह बिलकुल असम्भव है कि वैयक्तिक सम्पत्ति द्वारा इन वस्तुओं की व्यवस्था सुचारु ढंग से सम्पादित हो सके। इनके लिए सार्वजनिक धन की आवश्यकता होती है।

पर यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि उपर्युक्त क्षेत्रों में वैयक्तिक सम्पत्ति एवं सामाजिक सम्पत्ति दोनों में सह-अस्तित्व एवं परस्पर सहयोग सम्भव है। व्यक्तिवाद और समाजवाद दोनों की बुराइयाँ परस्पर सहयोग द्वारा दूर की जा सकती हैं। दोनों एक-दूसरे को पूर्णता प्रदान करते हैं। प्रतियोगिता का अस्तित्व मानववाद के लिए असंगत नहीं है।

संघर्ष और प्रेम तथा स्पर्धा और सहयोग दोनों मानव-जीवन के यथार्थ हैं। दोनों में समन्वय स्थापित करने से ही मानव-जीवन सुखी हो सकता है।

३. वैयक्तिक सम्पत्ति एवं सामाजिक सम्पत्ति—सम्पत्ति के स्वामित्व को लेकर व्यक्तिवाद एवं समाजवाद में पर्याप्त मतभेद है। दूसरे शब्दों में हम यह भी कह सकते हैं कि सम्पत्ति के स्वामित्व का प्रश्न ही दोनों में मतभेद का प्रमुख कारण है। अतः इस विषय का वर्णन यहाँ सविस्तार प्रस्तुत किया जायगा।

वैयक्तिक-सम्पत्ति

कुछ समाज-दार्शनिकों के अनुसार सम्पत्ति एक पवित्र (Sacred) वस्तु है और हमें किसी की सम्पत्ति की ओर कुदृष्टि नहीं डालनी चाहिए। अन्य समाज-दार्शनिक सम्पत्ति को 'चोरी की वस्तु' (Theft) मानते हैं और कहते हैं कि जब तक हम दूसरों के अधिकार का हनन नहीं करेंगे तब तक सम्पत्ति एकत्रित कर ही नहीं सकते। वैयक्तिक सम्पत्ति गरीबों के शोषण का परिणाम है, अतः वह सर्वथा त्याज्य है। इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वैयक्तिक सम्पत्ति का न तो कोई धार्मिक आधार है और न नैतिक ही। किसी भी व्यक्ति को सम्पत्ति का निरपेक्ष अधिकार नहीं दिया जा सकता। पर इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि सम्पत्ति 'चोरी की वस्तु' है। व्यक्तिगत सम्पत्ति की अपनी विशेषता है। इसके द्वारा उत्पादन में वृद्धि होती है तथा मनुष्य को भौतिक सुखों की प्राप्ति होती है। भारतीय संस्कृति में 'अर्थ' को भी एक पुरुषार्थ माना गया है क्योंकि इसके बिना हम जीवन में अपने कर्त्तव्यों का निर्वाह ही नहीं कर सकते। पर अर्थ के भीतर साध्य-मूल्य न होकर केवल साधन-मूल्य ही है। सम्पत्ति, सम्पत्ति के लिए नहीं, वरन् मनुष्य द्वारा कर्त्तव्य-पालन का एक साधन है। इसीलिए यदि उत्पादन में वृद्धि के साथ, उसका न्यायोचित वितरण न हुआ, तो समाज में असमानता फैलती है और नाना प्रकार की सामाजिक बुराइयों का समाज में जन्म हो जाता है। अतः, वैयक्तिक सम्पत्ति स्वयं कोई बुराई नहीं है, उसका दुरुपयोग ही समाज में बुराइयों को जन्म देता है। इतना होते हुए भी वैयक्तिक सम्पत्ति के कुछ गुण हैं जिन पर हमें विचार कर लेना चाहिए।

वैयक्तिक सम्पत्ति के गुण

१. वैयक्तिक सम्पत्ति उद्योग और मितव्ययिता के लिए प्रोत्साहन प्रदान करती है। मनुष्य जिस वस्तु को अपनी समझता है उसके योग-क्षेम-वृद्धि की इच्छा करता है। सामाजिक सम्पत्ति का जितना दुरुपयोग होता है उतना वैयक्तिक सम्पत्ति का नहीं। किन्तु कुछ अन्य लोगों का कथन है कि उद्योग के लिए प्रोत्साहन प्रबल सामाजिक कर्त्तव्य-भावना से भी प्राप्त हो सकता है। ऐसा देखा जाता है कि जो सार्वजनिक जीवन व्यतीत करते हैं उनमें व्यक्तिगत जीवन व्यतीत करनेवालों की अपेक्षा अधिक श्रम करने की शक्ति एवं मितव्ययिता पायी जाती है।

२. वैयक्तिक सम्पत्ति का दूसरा गुण यह है कि वह मनुष्य के भीतर सुरक्षा की

भावना उत्पन्न करती है। जब मनुष्य सोचता है कि उसके बचत का पैसा बीमारी, बेकारी और वृद्धावस्था में काम आवेगा तो वह एक अपूर्व शान्ति का अनुभव करता है। वह अपने परिवार और बच्चों के हित के लिए भी कुछ पैसे एकत्रित करना चाहता है। यह वैयक्तिक सम्पत्ति द्वारा ही सम्भव है। मनुष्य को जब तक मन की शान्ति नहीं प्राप्त होगी वह विज्ञान, दर्शन, कला और संस्कृति का अनुशीलन नहीं कर सकता। पर इसके विपक्ष में यह कहा जा सकता है कि इस मन की शान्ति वैयक्तिक सम्पत्ति की अपेक्षा अन्य उपायों द्वारा भी प्राप्त की जा सकती है। यदि सरकार प्रत्याभूत-मजदूरी-प्रणाली (Guaranteed Wage System) तथा दुर्घटना, बीमारी, बेकारी और वृद्धावस्था के लिए बीमा एवं बच्चों की शिक्षा की समुचित व्यवस्था का आश्वासन दे तो इससे भी लोगों के मन में सुरक्षा की भावना उत्पन्न की जा सकती है। उपर्युक्त उपायों को समाज-दर्शन में **'सम्पत्ति के नैतिक स्थानापन्न'** कहा जाता है। रूस में सरकार की ओर से वैयक्तिक सम्पत्ति के इन नैतिक सथानापन्नों (Ethical Equivalents) की व्यवस्था की गयी है।

३. वैयक्तिक सम्पत्ति की तीसरी विशेषता यह है कि यह लोगों में उत्तरदायित्व की भावना (Sense of Responsibility) को जन्म देती है। जिन लोगों के पास निजी सम्पत्ति नहीं होती वे समाज में न तो कोई रचनात्मक कार्य कर सकते हैं और न समाज के प्रति उत्तरदायी ही हो सकते हैं। सार्वजनिक सम्पत्ति हमें मालिक से मजदूर बना देती है। मजदूरों का लक्ष्य मालिक से अधिकतम मजदूरी प्राप्त करना ही होता है। वे उत्पादन की ओर कम ध्यान देते हैं। इसके परिणामस्वरूप उत्पादन पर्याप्त घट जाता है। पर निजी सम्पत्ति में मालिकों का ध्यान अधिकतम उत्पादन की ओर होता है क्योंकि उनके मन में उत्तरदायित्व की भावना होती है। इससे उत्पादन में वृद्धि होती है और राष्ट्रीय पूँजी का भी विकास होता है। पर इसके विरोध में अन्य लोगों का तर्क यह है कि सम्पत्ति की यह पूँजीवादी व्याख्या है जो समाज की प्रगति रोककर यथा-स्थिति बनाये रखना चाहती है। निजी सम्पत्ति समाज में असमानता उत्पन्न कर वर्ग-संघर्ष उत्पन्न करती है जिससे कटुता का वातावरण फैलता है। यह ठीक है कि समाज में प्रत्येक व्यक्ति को अर्जित करने और सम्पत्ति के संग्रह का अधिकार है पर यह अधिकार कभी भी निरपेक्ष नहीं हो सकता। यह अधिकार सदा सामाजिक न्याय एवं सार्वजनिक कल्याण-सापेक्ष होता है। प्रत्येक अधिकार का अस्तित्व कर्त्तव्य पर आश्रित होता है। समाज यदि वैयक्तिक सम्पत्ति का अधिकार देता है तो केवल इसलिए कि व्यक्ति उसके माध्यम से अपना और समाज का कल्याण करेगा। पर यदि व्यक्ति अपनी सम्पत्ति का दुरुपयोग कर अपने कर्त्तव्यों का पालन नहीं करता तो समाज को अधिकार होना चाहिए कि वह व्यक्ति की सम्पत्ति का परिसीमन करे और यहाँ तक कि उसे उससे वंचित भी कर सकता है। यदि किसी व्यक्ति के हाथ में सम्पत्ति का पर्याप्त केन्द्रीकरण हो गया है जिससे समाज का शोषण हो रहा हो तो समाज उसके ऊपर मृत्यु-कर एवं वर्द्धमान-कर-प्रणाली (Pogressive Taxation) लगा कर उसकी सम्पत्ति को सीमित कर सकता है। तथ्यों के संसार में कोई अधिकार निरपेक्ष नहीं हो सकता, वह सर्वथा कर्त्तव्य-सापेक्ष होता है। राज्य का यह कर्त्तव्य है कि वह

समाज में धन के न्यायोचित वितरण की व्यवस्था करे। उत्पादन के साधन भले ही व्यक्ति के हाथ में हो पर उसके वितरण की व्यवस्था समाज व राज्य द्वारा ही होनी चाहिए। राज्य को उत्पादन में हस्तक्षेप न कर केवल वितरण के लिए पुलिस का काम करना चाहिए।

वैयक्तिक सम्पत्ति सम्बन्धी दार्शनिक विचार

वैयक्तिक सम्पत्ति के अनुमोदन करने वाले कई दार्शनिक विचार हैं उनमें पाँच प्रमुख हैं—

१. व्यक्तिवादी सिद्धान्त—संसार में मनुष्य स्वतन्त्र प्राणी हैं; उसे काम करने और आत्म-विकास करने का पूर्ण अधिकार होना चाहिए। उसे श्रम द्वारा सम्पत्ति को उपार्जित तथा उपभोग करने की भी पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए। यदि उस पर किसी प्रकार का बाह्य प्रतिबन्ध लगाया जाता है तो उसके व्यक्तित्व का पूर्ण विकास नहीं हो सकेगा। अत: निजी सम्पत्ति वांछनीय है।

उपर्युक्त सिद्धान्त में दोष यह है कि यह सामाजिक तथ्यों का पूर्ण विचार नहीं करता। यह ठीक है कि व्यक्ति-स्वातन्त्र्य होना चाहिए पर व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का अर्थ स्वेच्छाचारिता नहीं है। यदि व्यक्ति अपने स्वातन्त्र्य का दुरुपयोग करता है तो उसे समाज को प्रतिबन्धित करने का अधिकार होना चाहिए। व्यक्तिवादी सिद्धान्त पूँजीवाद को प्रोत्साहन देता है जिससे समाज में शोषण, विषमता, वर्ग-संघर्ष एवं क्रान्ति की सम्भावनाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। व्यक्तिवाद वहीं तक मान्य हो सकता है जहाँ तक कि वह समाज-विरोधी न हो। अनियन्त्रित व्यक्तिवाद समाज का अभिशाप है।

२. अधिकार-सिद्धान्त—इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को सम्पत्ति रखने का मौलिक अधिकार है क्योंकि बिना वैयक्तिक सम्पत्ति के वह अपनी उपार्जन और उपभोग की आवश्यकताओं को तुष्ट नहीं कर सकता। रूसो ने सम्पत्ति की तीन शर्तों का उल्लेख किया है—(i) जमीन पर पहले किसी का अधिकार नहीं होना चाहिए, (ii) प्रत्येक व्यक्ति को उतनी ही सम्पत्ति रखने का अधिकार है जितना उसके जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक है, (iii) सम्पत्ति का अधिकार वास्तविक श्रम द्वारा अर्जित होना चाहिए। अत: जिस सम्पत्ति का मनुष्य ने स्वयं अपने श्रम द्वारा अर्जन नहीं किया है, उसे रखने का उसे कोई अधिकार नहीं है।

अधिकार-सिद्धान्त व्यक्तिवादी सिद्धान्त का ही एक रूपान्तरण है। इस सिद्धान्त की विशेषता यह है कि यह उपार्जित सम्पत्ति को ही रखने का अधिकार देता है। पर यह सिद्धान्त भी पूँजीवाद की ओर अग्रसर करता है। सम्पत्ति का अधिकार कभी भी मौलिक अधिकार नहीं हो सकता। सम्पत्ति एक सामाजिक प्रन्यास (Trust) है जिसका सामाजिक कार्यों में ही उपयोग होना चाहिए। हम केवल एक संरक्षक (Trustee) रूप में ही वैयक्तिक सम्पत्ति को धारण कर सकते हैं। भारतीय संविधान में व्यक्ति को सम्पत्ति रखने का मौलिक अधिकार प्रदान किया गया है, पर आजकल संसद में इस बात की चर्चा चल चुकी है कि सम्पत्ति रखने के अधिकार को मौलिक अधिकारों की सूची से

निकाल देना चाहिए।[१] सम्पत्ति एक सामाजिक वस्तु है और उसका उपयोग भी सामाजिक कार्यों में ही होना चाहिए। पुनः, प्रत्येक व्यक्ति की आवश्यकताएँ अनिश्चित हैं, अतः यह तय करना कि मेरे जीवन के लिए इतना ही पर्याप्त है, कठिन है।

३. कानूनी सिद्धान्त—कुछ विद्वान् सम्पत्ति का आधार कानून मानते हैं। वैयक्तिक सम्पत्ति पर हमारा अधिकार इसलिए है कि कानून ने हमें वह अधिकार प्रदान किया है। यह मत वैयक्तिक सम्पत्ति के औचित्य-अनौचित्य पर विचार नहीं करता।

४. विज्ञानवादी सिद्धान्त—काण्ट और हेगल सम्पत्ति को मनुष्य के आत्म-विकास के लिए आवश्यक मानते हैं। आत्म-विकास के लिए वैयक्तिक सम्पत्ति आवश्यक है। पर इस सिद्धान्त में सामाजिक तथ्यों की अवहेलना की गयी है। समाज से पृथक् मनुष्य का विकास असम्भव है।

५. श्रम-सिद्धान्त—लॉक के अनुसार सम्पत्ति का आधार श्रम है। उसी सम्पत्ति को हमें रखने का अधिकार है जिसका हमने श्रम द्वारा उपार्जन किया है। इसमें भी दो शर्तों का स्पष्ट उल्लेख है—(i) उतनी ही सम्पत्ति पर हम अधिकार रखें जितनी लेने के बाद भी दूसरों के लिए पर्याप्त शेष रहे और (ii) किसी व्यक्ति को श्रम का उतना ही फल मिलना चाहिए जितना उसके उपयोग के लिए आवश्यक है। श्रम-सिद्धान्त नैतिक मूल्यों पर आधारित होने के कारण सर्वश्रेष्ठ है।

सामाजिक सम्पत्ति

व्यक्तिवाद और पूँजीवाद वैयक्तिक सम्पत्ति में विश्वास करते हैं। इसके विपरीत समाजवाद का विश्वास है कि समाज की सारी आर्थिक बुराइयों का एकमात्र कारण सम्पत्ति के ऊपर निजी स्वामित्व का अधिकार है। अतः, यदि हम इन बुराइयों को दूर करना चाहते हैं तो निजी स्वामित्व के स्थान पर सामाजिक स्वामित्व को प्रोत्साहन देना चाहिए। इस सम्बन्ध में समाजवाद, साम्यवाद एवं समष्टिवाद तीन शब्दों का समान रूप में प्रयोग किया जाता है, पर तीनों में भेद हैं। समाजवाद उत्पादन-पद्धति पर बल देता है, साम्यवाद उचित वितरण पर बल देता है तथा समष्टिवाद केन्द्रीय संगठन-प्रणाली पर विशेष बल देता है। पर इन विभिन्नताओं के होते हुए भी जहाँ तक सम्पत्ति के सामाजिक स्वामित्व का प्रश्न है तीनों सिद्धान्त एकमत हैं।

जो वस्तुएँ निजी सम्पत्ति की तालिका में आती है वे दो प्रकार की होती हैं—(१) वे वस्तुएँ जो उपभोग की सामग्री हैं; जैसे—घर, अन्न, वस्त्र इत्यादि। (२) शेष वे वस्तुएँ हैं जो अर्थोपार्जन या उत्पादन में सहायक होती हैं; जैसे—खेत, खनिज, कल-कारखाने, रुपये इत्यादि। जहाँ तक भोग्य वस्तुओं का प्रश्न है, व्यक्तिवादियों और समाजवादियों में कोई अन्तर नहीं है। दोनों के अनुसार इन पर वैयक्तिक स्वामित्व होना चाहिए। पर असाधारण परिस्थितियों में भोग्य वस्तुओं पर भी राज्य का नियन्त्रण हो सकता है; जैसे—

१. चौवालीसवें संविधान संशोधन ने सम्पत्ति के अधिकार को मौलिक अधिकारों की सूची से बहिष्कृत कर दिया है।

युद्धकाल में अन्न, वस्त्र, मिट्टी के तेल इत्यादि भोग्य वस्तुएँ होती हुई भी इन पर सरकार का नियन्त्रण होता है। इसे परिसीमन (Rationing) कहते हैं। भारत में शान्तिकाल में भी अन्न और चीनी पर आंशिक परिसीमन है। राज्य में जिस वस्तु का अभाव होता है उसे लोकहित को दृष्टि में रखकर परिसीमित करना ही पड़ता है। रूस की सरकार पहले रोटी का परिसीमन करती थी, पर उत्पादन में वृद्धि के साथ इसके परिसीमन की आवश्यकता समाप्त हो गयी।

अब हम उन वस्तुओं पर विचार करेंगे जो उत्पादन में सहायक हो सकती हैं; जैसे—भूमि, बैंक, रेलवे, कारखाने इत्यादि। समाजवादियों का विचार है कि इन पर वैयक्तिक स्वामित्व के स्थान पर सामाजिक स्वामित्व होना चाहिए। वैयक्तिक स्वामित्व से पूँजीवाद और साम्राज्यवाद का उदय होता है क्योंकि पूँजी सम्पूर्ण समाज में वितरित न होकर चन्द पूँजीपतियों के हाथ में केन्द्रित हो जाती है। अत:, यदि हम चाहते हैं कि पूँजी से सम्पूर्ण समाज को लाभ पहुँचे तो उपर्युक्त उत्पादक वस्तुओं का समाजीकरण अवश्य होना चाहिए।

तीसरी वस्तु रुपया है जिससे भोग्य वस्तुएँ भी प्राप्त की जा सकती हैं और साथ-साथ पूँजी के रूप में वह उत्पादन का साधक भी हो सकता है। जहाँ तक रुपये से भोग्य वस्तुओं को प्राप्त करने का प्रश्न है, उसे निजी-सम्पत्ति मानने में कोई हानि नहीं है, पर यदि उसी को वैयक्तिक पूँजी में लगाया जाता है तो इससे हानि होने की सम्भावना बढ़ जाती है। इस विषय पर हम एक दूसरे दृष्टिकोण से भी विचार कर सकते हैं। किसी के पास सम्पत्ति कहाँ से आती है? इसके दो ही स्रोत हैं—या तो वह कमाकर उसे प्राप्त करता है या पूर्वजों से उसे वह सम्पत्ति मिलती है। यदि सम्पत्ति को उपार्जित माना जाय, तो जो जितना ही अधिक शारीरिक या मानसिक श्रम करे, उसके पास सम्पत्ति भी उतनी ही अधिक मात्रा में होनी चाहिए। पर समाज में बात बिलकुल विपरीत पायी जाती है। यदि श्रम को सम्पत्ति का स्रोत मान लिया जाय तो कल-कारखानों और खानों में काम करने वाले श्रमिकों तथा गणित के अध्यापकों का वेतन सर्वाधिक होना चाहिए। पर उनका वेतन कम्पनी के मैनेजिंग डायरेक्टरों से बहुत ही कम होता है यद्यपि इन्हें बहुत ही कम शारीरिक या मानसिक श्रम करना होता है। अत:, विचार करने से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि जो बड़ी आमदनियाँ हैं जिनके आधार पर बड़ी सम्पत्तियाँ एकत्र की जाती हैं, वे श्रम मात्र की पुरस्कार नहीं हैं। दूसरों के श्रम से अनुचित लाभ उठाने, परहित का हनन करने, 'परमर्म को छेदन करने' से ही पूँजीपति बड़ी रकम एकत्रित करने में सफल होते हैं। जो लोग सम्पत्ति जमा करते हैं, उनको सम्पूर्ण राष्ट्र से सहायता मिलती है। राज्य उनके व्यवसाय की सुविधा के लिए सड़क बनवाता है, रेल चलाता है, पुलिस और सेना रखता है। उनके हित-साधन के लिए कानून बनाये जाते हैं। इतना निश्चित है कि पूँजीपतियों के पास जो पूँजी होती है, वह सहस्त्रों मनुष्यों के शरीर और मस्तिष्क के श्रम का फल है। अत:, कोई एक व्यक्ति इसका स्वामी नहीं माना जा सकता। पूँजीपतियों की पूँजी सार्वजनिक सम्पत्ति होनी चाहिए जिससे कि वह पूँजी, शिक्षा, स्वास्थ्य-रक्षा

इत्यादि पर खर्च होकर पुनः उन सहस्रों मनुष्यों तक पहुँच जाय जिन्होंने वस्तुतः उसको पैदा किया था।

अब पैतृक सम्पत्ति पर विचार कीजिये। प्रत्येक व्यक्ति की इच्छा होती है कि वह अपनी सन्तान के लिए कुछ-न-कुछ कमाकर एकत्रित करे जिससे कि मरने के बाद उन्हें कठिनाइयों का सामना न करना पड़े। पर यह श्रम-सिद्धान्त के प्रतिकूल है। जो श्रम करे वह सम्पत्ति का भोग करे, यह बात तो समझ में आती है, पर बिना श्रम किये ही किसी को भोग्य-सामग्री उपलब्ध हो जाय, यह सर्वथा अनुचित है। यदि किसी व्यक्ति-विशेष का पुत्र होने से एक मनुष्य सम्पत्ति भोगने का अधिकारी हो सकता है, तो दूसरा मनुष्य मन्त्री का पुत्र होने से मन्त्री, सेनापति का पुत्र होने से सेनापति, कवि का पुत्र होने से कवि तथा गणितज्ञ का पुत्र होने से गणितज्ञ हो सकता है। पर ऐसा कोई नहीं मानता। इसी प्रकार सम्पन्न के मरने पर उसके पुत्र का सम्पत्ति का उत्तराधिकारी होना भी उतना ही निराधार है जितना कि सेनापति के मरने पर उसके पुत्र का सेनापति नियुक्त किया जाना। वस्तुतः मरने पर सम्पत्ति सार्वजनिक हो जानी चाहिए। यदि सबको काम देने और भरण-पोषण का भार राज्य अपने ऊपर ले ले तो पिता की सम्पत्ति पुत्र को मिलने की कोई आवश्यकता नहीं है। संम्पन्न पिता की सन्तान होने से उसे यों ही कई प्रकार के लाभ मिल चुके होंगे। पर जब तक राज्य इन सारी चीजों का दायित्व अपने ऊपर नहीं लेता, तब तक किसी व्यक्ति को उसके पैतृक सम्पत्ति से वंचित करने का उसे कोई नैतिक अधिकार नहीं है। हाँ, पैतृक सम्पत्ति को मृत्यु-कर और उत्तराधिकार-कर लगाकर परिसीमित किया जा सकता है। सम्पत्ति जितनी ही अधिक होती है, 'टैक्स' की दर भी उतनी ही ऊँची होती है। इस नियन्त्रण के साथ पैतृक सम्पत्ति के उपभोग का अधिकार होना चाहिए।

कार्ल मार्क्स के विचार

मार्क्स और एंजिल्स ने अपनी पुस्तक कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो (Communist Manifesto) में पूँजीवादी सम्पत्ति (Bourgeois Property) का विरोध किया है। पूँजीवादी सम्पत्ति से तात्पर्य उस सम्पत्ति से है जो श्रम से उपार्जित न होकर श्रमिकों के शोषण द्वारा उत्पन्न हुई है। श्रम द्वारा उपार्जित सम्पत्ति का मार्क्स विरोधी नहीं है। वह केवल उत्पादक-सम्पत्ति (Productive Property) के वैयक्तिक स्वामित्व का ही विरोधी है। उपार्जित भोग्य-सम्पत्ति का उन्मूलन वह नहीं चाहता। दूसरे शब्दों में वह व्यक्तिगत सम्पंत्ति (Personal Property) का नहीं वरन् निजी सम्पत्ति (Private Property) का उन्मूलन चाहता है। पूँजी सामूहिक प्रयत्न का परिणाम है, अतः वह केवल एक व्यक्ति की सम्पत्ति नहीं हो सकती। पूँजी, व्यक्तिगत नहीं वरन् एक सामाजिक शक्ति है।

''पूँजीवादी समाज में, श्रम का उपयोग पूँजी की वृद्धि के लिए किया जाता है, पर समाजवादी समाज में श्रम का उपयोग श्रमिकों के हित और उनके जीवन-स्तर की वृद्धि

के लिए किया जाता है। इस प्रकार पूँजीवादी व्यवस्था में भूत, वर्तमान पर शासन करता है, पर समाजवादी समाज में वर्तमान, भूत पर शासन करता है। पूँजीवादी समाज में पूँजी एक स्वतन्त्र शक्ति है और उसकी अपनी विशेषता है, किन्तु जीवित प्राणियों में परस्पर-निर्भरता होती है और उनमें कोई विशेषता नहीं पायी जाती।"

"इस प्रकार की व्यवस्था का जब उन्मूलन किया जाता है, तो पूँजीवादी इसे व्यक्तिगत विशेषता और स्वतन्त्रता का अपहरण कहते हैं। उनका कथन बिलकुल सत्य है। पूँजीपतियों की वैयक्तिक विशेषता और उनकी स्वतन्त्रता तथा स्वेच्छाचारिता का उन्मूलन ही हमारा लक्ष्य है। जब हम निजी-सम्पत्ति (Private Property) के उन्मूलन को अपना उद्देश्य घोषित करते हैं तो कुछ लोग डर से काँपने लगते हैं। ....जनसंख्या के ९/१० भाग में निजी-सम्पत्ति का अभाव ही उसके १/१० भाग में निजी-सम्पत्ति के अस्तित्व का कारण है। ....जब हम तुम्हारी निजी-सम्पत्ति के उन्मूलन का विचार प्रगट करते हैं तो तुम हमारे ऊपर क्रुद्ध होते हो, पर ठीक यही हमारा उद्देश्य है।"[१]

इस प्रकार हम देखते हैं कि मार्क्स और एंजिल्स के अनुसार निजी सम्पत्ति समाज की सारी बुराइयों की जड़ है। इन बुराइयों को दूर करने के लिए ही वे निजी-सम्पत्ति का खण्डन और सामाजिक सम्पत्ति का मण्डन करते हैं। वे निजी-सम्पत्ति की पवित्रता में विश्वास नहीं करते। निष्क्रिय सम्पत्ति (Functionless Property) समाज का अभिशाप है। प्रत्येक सम्पत्ति का सम्बन्ध श्रम से होना चाहिए और सामाजिक कार्यों में उसका उपयोग होना चाहिए। निजी-सम्पत्ति के आधार पर अन्य लोगों को गुलाम बनाना सामाजिक अपराध है।

सम्पत्ति के विषय में हिन्दू-विचार

हिन्दू, अर्थात् भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार सम्पत्ति एक सामाजिक प्रन्यास या धरोहर (Trust or Mandate) है जिसका उपयोग सामाजिक कल्याण के लिए होना चाहिए। भागवत में स्पष्ट लिखा है कि जितना धन क्षुधा-तृप्ति के लिए अत्यावश्यक हो, उतना ही धन हमें धारण करना चाहिए। यदि कोई इससे अधिक की कामना करता है तो वह चोर है। सामाजिक हित-अहित का ध्यान न रखकर जो धन का संग्रह करता है वह अपराधी है। हिन्दू-विचार निजी-सम्पत्ति का विरोधी नहीं है पर उसका उपयोग समाज-हित में होना चाहिए। पाश्चात्य अर्थशास्त्र इच्छाओं की वृद्धि को ही सभ्यता का मानदण्ड मानता है, पर हिन्दू चिन्तन-प्रणाली के अनुसार इच्छाओं का संयम ही सभ्यता का मानदण्ड है क्योंकि कामनाओं की तृप्ति कभी हो ही नहीं सकती। महाभारत में ययाति ने कहा है—"इच्छाओं की पूर्ति करने से इच्छाओं की संतुष्टि कभी नहीं मिल सकती।"[२] अतः हमें उन पर संयम करना चाहिए। संयम करने के लिए सम्पत्ति के उपभोग की

---

१. मार्क्स एण्ड एंजिल्स, कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो

२. न जातुकामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णावर्तमेव भूय एवाभिवर्धते॥ —महाभारत, आदि पर्व, ७२, ४९

अपेक्षा उसे समाज-कल्याण में लगा देना अधिक श्रेयस्कर है। गाँधीजी कहा करते थे कि यदि संसार में जो कुछ उपलब्ध है, उसका उपभोग सभी संयमपूर्वक करें, तो सर्वोदय का उद्देश्य सरलतापूर्वक पूरा हो सकता है। इस सम्बन्ध में गाँधीजी ईशोपनिषद् के निम्न मंत्र[१] की बड़ी प्रशंसा करते थे और कहते थे कि केवल इस मंत्र पर ही चलने से संसार से अभावग्रस्तता समाप्त हो सकती है। हिन्दू-संस्कृति के अनुसार सम्पत्ति, यज्ञ करने का एक माध्यम है। इसीलिए गाँधीजी अस्तेय और अपरिग्रह पर विशेष बल देते थे। बिना दूसरों को खिलाये स्वयं भोजन करना एक प्रकार की चोरी है। गीता में भी अर्जुन को सम्बोधित करते हुए भगवान् कृष्ण ने कहा था, "यज्ञ (कर्म, परिश्रम) द्वारा देवताओं को प्रसन्न किये बिना जो खाता है, वह चोर है।"[२] तात्पर्य यह है कि पाश्चात्य आर्थिक प्रणाली में जो 'सम्पत्ति' का भाव है, उस प्रकार की कल्पना भारत में नहीं है। सम्पत्ति के ऊपर निजी स्वामित्व हो या सामाजिक स्वामित्व हो, इसकी यहाँ चिन्ता कम की गयी है। चिन्ता यहाँ केवल इस बात की है कि वह मनुष्य कैसा है जो उस सम्पत्ति का उपयोग करताहै। सम्पत्ति की अपेक्षा भारत में व्यक्ति को विशेष महत्त्व दिया गया है। यदि मनुष्य किसी सम्पत्ति को केवल व्यक्तिगत लाभ के लिए उपयोग करता है, तो उसे सामाजिक चोर कहा जाता है। पर यदि वह उसी सम्पत्ति का प्रयाग सामाजिक कल्याण के लिए करता है, तो वह हमारे आदर का पात्र है। भारत में सम्पत्ति की यही कल्पना है।

भारत में 'धन का उपार्जन धन के लिए' कभी नहीं किया गया। धन का उपार्जन लोक-हित-साधन के लिए ही किया जाता है। पाश्चात्य अर्थशास्त्र का नारा है—'जो कमायेगा, वह खायेगा।' भारतीय अर्थशास्त्र का नारा है, "जो कमायेगा, वह खिलायेगा।" भारतीय परिवार में गार्हस्थ्य-आश्रम का यही महत्त्व है। यहाँ सम्पत्ति को विभिन्न ऋणों को चुकाने का साधन माना गया है। दैव-ऋण बिना धन के नहीं चुकाया जा सकता। भारतीय चिन्तन प्रणाली में सम्पत्ति को यज्ञ की 'हविषा' या 'समिधा' के रूप में लिया जाता है। यह साधन मात्र ही है। आधुनिक पश्चिम में जे०ए० हॉब्सन (J.A. Hobson) नामक लेखक ने उस सम्पत्ति को समाज की सारी बुराइयों का मूल माना है जो साधन के स्थान पर 'साध्य-रूप' में ली जाती है। इस साध्य-रूप सम्पत्ति को सम्पत्ति न कहकर विपत्ति (Improperty) कहा गया है।

४. यातायात और संचार-संगठन—समाज के कुछ ऐसे औद्योगिक कार्य हैं जिन पर बिना केन्द्रीय नियन्त्रण के सुचारु रूप से कार्य सम्पादित होना असम्भव है। सड़कों, पुलों और रेलगाड़ियों का निर्माण व प्रयोग; पानी, गैस और बिजली का वितरण; गाँव और शहरों की योजना; डाक और तार का संवहन; भूमि का वितरण इत्यादि ऐसे व्यापक स्तर के कार्य हैं कि वे समूचे देश और कभी-कभी सम्पूर्ण विश्व को प्रभावित

---

१. ॐ ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंपित् जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥

२. इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः॥ —गीता, III, १२

करने वाले होते हैं। इन कार्यों की व्यापकता से स्पष्ट है कि व्यक्तिगत नियन्त्रण कीअपेक्षा केन्द्रीय-नियंत्रण यहाँ अधिक सफल होगा। पर लघु-मात्रा में प्रयुक्त होने वाली विभिन्न लोगों की आवश्यकताओं और काम में आने वाली वस्तुओं पर केन्द्रीय नियन्त्रण अनावश्यक है। उन्हें व्यक्तिगत साहस के लिए ही छोड़ देना चाहिए। भूमि के प्रयोग के विषय में यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि व्यक्तिगत स्वामित्व का फल लाभदायक होता है। सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि जिन कामों में विशेष अभिरुचि, आविष्कार-कौशल्य या दक्षता की आवश्यकता हो उन्हें व्यक्तिगत साहस पर ही छोड़ देना श्रेयस्कर होता है। वास्तव में यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय तो व्यक्तिवादी और समाजवादी व्यवस्था में कोई विरोध नहीं है। हमारा आदर्श व्यक्तिवादी व्यवस्था ही होनी चाहिए क्योंकि इसी में व्यक्ति को महत्ता प्रदान की गयी है, पर समाजवादी व्यवस्था इसकी कमियों की पूर्ति (Supplement) कर सकती है। जिन कार्यों का व्यापक राष्ट्रीय महत्त्व है और जिन्हें व्यक्ति या व्यक्तियों का संगठन धनाभाव के कारण पूरा नहीं कर सकता, उन कार्यों को सरकार को अपने हाथ में ले लेना चाहिए। पर यदि व्यक्ति के स्वातन्त्र्य और उसकी गरिमा की रक्षा करनी है तो समाजवादी व्यवस्था को व्यक्तिवादी व्यवस्था का स्थानापन्न (Supplant) नहीं बनाना चाहिए।

८

राज्य
(State)

समाज-दर्शन में 'राज्य' शब्द का प्रयोग एक निश्चित और असंदिग्ध अर्थ में किया जाता है। इस शब्द के साथ कभी-कभी राष्ट्र या सरकार, जनता या देश और कभी-कभी कुछ अन्य शब्द भी मिला दिये जाते हैं। किन्तु इन सब शब्दों के समाज-दर्शन और राजनीति-विज्ञान में अपने निजी अर्थ होते हैं और इनका 'राज्य' शब्द से भेद स्पष्ट न करना अनर्थकारी होता है। उदाहरण के लिए जब कभी हम 'राज्य-प्रबन्ध', 'राज्य-नियम', 'राज्य-सहायता' आदि की चर्चा करते हैं तो हम वस्तुतः 'सरकार' के लिए राज्य शब्द का प्रयोग करते हैं। उसी प्रकार, जब हम भारतीय राज्य-संघ की इकाइयों की चर्चा करते हैं— पंजाब, मद्रास, उत्तर प्रदेश इत्यादि राज्य—अथवा उन पचास राज्यों की जिनसे संयुक्त राज्य अमेरिका बना है, तो हम 'राज्य' जब्द का प्रयोग उसके वैज्ञानिक अर्थ में न कर साधारण अर्थ में ही करते हैं। अतः, 'राज्य' (State) शब्द के वास्तविक अर्थ को हृदयंगम करने के लिए, उसे अन्य समान शब्दों जैसे—समाज, समुदाय, जनता, देश, जाति, राष्ट्रीयता, राष्ट्र, सरकार, सम्प्रभु-राज्य इत्यादि से पृथक करना होगा जिन पर हम क्रमशः विचार करेंगे।

१. समाज (Society)—राज्य और समाज का भ्रम मानव-जीवन के लिए बड़ा अनर्थकारी होता है। समाज के साथ राज्य की समता करना, मानव-जीवन के सभी अंगों में राज्य के हस्तक्षेप को न्याय्य ठहराना है। अरस्तू (Aristotle) का राज्य सर्वांगीण राज्य था, क्योंकि उन्होंने राज्य और समाज में कोई अन्तर नहीं किया था। एक अधिनायक (Dictator) भी इस ओर कम ही ध्यान देगा क्योंकि जीवन का ऐसा कोई भी क्षेत्र नहीं है जो अधिनायक के राज्य के अन्तर्गत न हो। हिटलर और मुसोलिनी के लिए राज्य से ऊपर, उसके पार और उसके बाहर कुछ भी नहीं था।

समाज का अर्थ जीवन की सम्पूर्ण योजना है और जीवन के समग्र उद्देश्य को पूरा करने के लिए भिन्न-भिन्न प्रयोजनों के कार्यों को करते हुए यह भिन्न मण्डलों के द्वारा एक दूसरे से सम्बद्ध है। उन प्रयोजनों में राजनीतिक प्रयोजन भी एक है और राज्य इस प्रयोजन को सम्पन्न करता है। अतः, राज्य कुछ भी विशिष्ट उद्देश्यों की पूर्ति के लिए बनाया गया प्राणियों का एक समूह है। राज्य और समाज के भौगोलिक क्षेत्र एक हो सकते हैं। उनकी सदस्य संख्या भी एक हो सकती है। फिर भी उत्पत्ति, उद्देश्यों और कार्यों की दृष्टि से उनमें अन्तर है। राज्य का केवल एक ही उद्देश्य है और वह है राजनीतिक उद्देश्य और उसके कार्य इस उद्देश्य से सम्बन्धित हैं। इसके विपरीत, समाज के अनेक उद्देश्य हैं। मैकाइवर (Maciver) के शब्दों में, "राज्य का संगठन समस्त सामाजिक संगठन नहीं

है। राज्य के उद्देश्य में समस्त उद्देश्य शामिल नहीं हैं जिनके लिए मानवता प्रयत्नशील है। राज्य जिन उपायों से अपना उद्देश्य प्राप्त करता है, वे उन उपायों का कुछ अंश ही हैं जिनका अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए मनुष्य समाज में रहकर उपयोग करता है।"

समाज प्राकृतिक और सहज प्रवृत्तिजन्य है, पर राज्य विवेक एवं इचछा का परिणाम है, अतः राज्य से पहले समाज का अस्तित्व है और उसमें सभी संगठित या असंगठित जातियाँ समाविष्ट होती है। संगठन किसी समाज को अनिवार्य विशेषता नहीं है। किन्तु राज्य को अनिवार्यतः संगठित होना चाहिए।

राज्य निश्चित रूप से एक प्रादेशीय संगठन है। समाज किसी विशिष्ट प्रदेश तक सीमित नहीं हो सकता। राज्य के प्रति निष्ठा रखने का यह अर्थ नहीं हो जाता कि मनुष्य के समस्त सामाजिक दायित्व समाप्त हो जाते हैं।

राज्य आदेश निकालता है और उसकी अवज्ञा होने पर दण्ड देता है। पर समाज रीति-रिवाजों और नैतिक नियमों द्वारा उन आदेशों का पालन करवाता है। वह सामाजिक दबाव का प्रयोग कर सकता है, बल का नहीं। बार्कर के शब्दों में—"राज्य वह संगठन है जो समाज के न जो बराबर है और न ही सम-विस्तार वाला है, किन्तु जो विशिष्ट ध्येय की प्राप्ति के लिए निश्चित व्यवस्था के रूप में उसके अन्तर्गत निर्मित होता है।"

२. समुदाय (Community)—व्यक्तियों का वह समूह है जो किसी निश्चित भौगोलिक स्थान (Locality) पर रहता है और उसमें जातीय-भावना (Community Feeling) पायी जाती है तथा एक सामान्य हित (Common Interest) की पूर्ति करता है, जैसे—समाजवादी समुदाय, एपिक्यूरियन समुदाय, पाइथेगोरियन समुदाय इत्यादि। घनिष्ठता (Intimacy) समुदाय का प्रधान लक्षण है। कोई भी समाज एक समुदाय कहला सकता है जबकि वह कुछ आध्यात्मिक सूत्र अथवा सामान्य हित के लक्ष्य के द्वारा एक आन्तरिक बन्धन में बँधा हो। सम्पूर्ण मानव-जाति यदि सात्विक रूप से एक भ्रातृत्व का रूप धारण करके एक सामान्य हित का लक्ष्य लेकर आगे बढ़ती है तो उसे हम एक समुदाय के रूप में वर्णित कर सकते हैं।

राज्य को भी एक समुदाय माना जा सकता है यदि उसके नागरिकों में स्थानीयता, जातीय-भावना, सामान्य-हित की धारणा एवं घनिष्ठता विद्यमान हो। घनिष्ठता समुदाय का प्रधान लक्षण है।

३. जनता (People)—जनता व्यक्तियों का वह समूह है जो आवश्यक रूप से एक स्थान पर न रहते हुए भी परम्परा और स्थायी भाव की एकता बनाये रखते हैं। उदाहरण के लिए, यहूदी लोग एक स्थान पर एक साथ नहीं रहते लेकिन वे कुछ दृढ़ परम्पराओं, भाषा, धार्मिक भावना, अनेक ऐतिहासिक घटनाओं व स्मृतियों तथा संघों द्वारा पूर्णतः सम्बद्ध रहे हैं। भारतीयों और चीनियों के विषय में भी यही बात लागू होती है। वे दक्षिण-पूर्व एशिया और अफ्रीका के प्रायः सभी देशों में पाये जाते हैं। वे पृथक्-पृथक् देशों में रहते हुए भी उनमें सामान्य भाषा, धर्म, परम्परा, संस्कृति एवं स्मृतियाँ पायी जाती है। वे जनता के ही अंग हैं। भाषा, धर्म, परम्पराओं एवं संस्कृति की समानता जनता के

निर्माण के लिए आवश्यक है। भारत में भिन्न-भिन्न प्रकार की भाषाओं को बोलने वाले विभिन्न धर्मावलम्बी और भिन्न-भिन्न परम्पराओं के लोग पाये जाते हैं। एक ही राज्य में विभिन्न प्रकार की जनता तथा विभिन्न राज्यों में एक ही प्रकार की जनता पायी जा सकती है। इससे प्रकट होता है कि राष्ट्र जनता नहीं है। जर्मनी में राजनीति, धर्म और जाति की भिन्नता होते हुए भी एक पितृभूमि के स्थायी-भाव के कारण वह एक दृढ़ राष्ट्र कहा जाता है। विचारों में वैभिन्य होते हुए भी यदि देश के प्रति अटूट निष्ठा है, तो राष्ट्र का निर्माण हो सकता है।

४. देश (Country)—देश, प्रमुख रूप से एक भौगोलिक इकाई है, पर यह कोई ठीक नहीं है कि सभी देशों की सीमाएँ प्राकृतिक गुणों द्वारा स्पष्ट रूप से निर्धारित हो। उदाहरण के लिए भारत और पाकिस्तान के बीच कोई प्राकृतिक सीमाएँ नहीं हैं पर फिर भी वे दो देश कहे जाते हैं। पूर्व पाकिस्तान व पश्चिमी पाकिस्तान की सीमाएँ बिलकुल पृथक् है पर फिर भी वे एक देश कहे जाते हैं।[१] यही बात पूर्वी जर्मनी और पश्चिमी जर्मनी के विषय में भी लागू होती है। संक्षेप में—एक राष्ट्र या जाति द्वारा बसी हुई भूमि को देश कहा जाता है। पर यह परिभाषा भी पूरी तरह लागू नहीं होती। प्राचीन यूनान में नगर-राज्यों में भिन्न-भिन्न जातियाँ निवास करती थी, पर फिर भी उसे एक देश कहा जाता था। दूसरी ओर, आयरलैंड और ब्रिटेन के निवासियों में जातीय घनिष्ठता है, पर फिर भी वे एक देश नहीं माने जाते। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि 'देश' शब्द विशुद्ध भौगोलिक नहीं है, वह अंशतः भौगोलिक और अंशतः राजनीतिक है। कभी-कभी 'देश' शब्द का प्रयोग 'राष्ट्र' के लिए भी किया जाता है पर दोनों में स्पष्ट अन्तर है जैसा कि आगे के विवेचन से स्पष्ट हो जायगा।

५. जाति (Race)—कुछ मनुष्य दूसरे मनुष्यों से अपने शारीरिक-गठन में पर्याप्त भिन्न होते हैं और उनकी यह शारीरिक भिन्नता, उनके स्वभाव, विचार, भावनाओं और क्रियाओं की भिन्नता का कारण बन जाती है। एक नीग्रो और एक ट्यूटन में स्पष्ट भिन्नताएँ होती हैं। इसी प्रकार एक भारतीय और एक चीनी की शारीरिक बनावट में पर्याप्त भिन्नता होती है। ऐसे भिन्न शारीरिक गठन वाले मनुष्य एक जनता (People) का निर्माण नहीं कर सकते, पर यदि उनके भीतर एक ही राष्ट्र के प्रति पर्याप्त निष्ठा है तो वे एक जनता का निर्माण कर ले जाते हैं। यहूदियों के बारे में यह विख्यात है कि उनकी राष्ट्रीय परम्पराएँ अन्य जातियों से पृथक् होते हुए भी वे जिस देश में रहते हैं उससे इतने घुल-मिल जाते हैं कि एक जनता के अंग आसानी से बन जाते हैं। भारतवर्ष में नेपालियों और पारसियों के विषय में भी यही बात लागू होती है। दुःख के साथ कहना पड़ता है कि मुसलमान भाई इतने दिनों से भारत में रहते हुए भी इस देश के साथ अपने को उस सीमा तक आत्मसात् नहीं कर सके जितना वे कर सकते थे। पाकिस्तान के निर्माण के बाद तो यह और भी कठिन हो गया है। पर इतना कहा जा सकता है कि पृथक् जाति के होने के

१. पूर्व पाकिस्तान अब एक स्वतन्त्र राष्ट्र घोषित हो चुका है जिसे बंगलादेश कहते हैं।

कारण ही किसी की राष्ट्रीयता संदिग्ध हो जाती है, ऐसा निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, यद्यपि इसकी सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता।

६. राष्ट्रीयता (Nationality)—राष्ट्रीयता उन लोगों का समूह है जिनका एक ही देश में निवास करना अथवा सामान्य स्थायी भाव के कारण आपस में सम्बद्ध होना अनिवार्य नहीं हैं, पर उनका एक-दूसरे के साथ जाति, भाषा अथवा किसी पूर्व साहचर्य-सम्बन्ध द्वारा सम्बद्ध होना आवश्यक है। उदाहरण के लिए लंका, बर्मा, मलेशिया, थाईलैण्ड इत्यादि देशों में भारतीय जाकर बस गये हैं और बहुतों ने उन देशों की नागरिकता भी स्वीकार कर ली है, पर जाति, भाषा और पूर्व साहचर्य-सम्बन्धों की समानता के कारण अब भी उनकी राष्ट्रीयता भारतीय समझी जाती है। इसी प्रकार संयुक्त-राज्य अमेरिका में भारत के प्रायः सभी प्रदेशों के व्यक्ति जाकर बस गये हैं और उन लोगों ने वहाँ की नागरिकता भी स्वीकार कर ली है, फिर भी वे भारतीय राष्ट्रीय (Indian Nationals) कहे जाते हैं। जनता और राष्ट्रीयता में अन्तर यह है कि जनता में मूल देश के प्रति एक सामान्य स्थायी-भाव होता है पर राष्ट्रीयता में इस स्थायी भाव का होना अनिवार्य नहीं है।

७. राष्ट्र (Nation)—नेशन (राष्ट्र) शब्द की व्युत्पत्ति लैटिन शब्द 'नेशियो' (Natio)—से हुई, जिसका अर्थ है 'पैदा होना'। परिणामस्वरूप, व्युत्पत्ति की दृष्टि से, राष्ट्र से अभिप्राय वे लोग हैं, जिनका विकास एक नस्ल से हो। बर्जेस (Burgess) ने राष्ट्र की परिभाषा करते हुए लिखा है कि राष्ट्र, "भौगोलिक एकता वाले एक प्रदेश में वसी हुई नृवंशीय एकता (Ethnic Unity) वाली जनसंख्या है।" नृवंशीय एकता से उनका तात्पर्य उस संख्या से है जिसकी सामान्य भाषा और साहित्य, सामान्य परम्परा और इतिहास, सामान्य रीति-रिवाज तथा उचित एवं अनुचित की सामान्य चेतना है। जाति (Race) में रक्त की पवित्रता आवश्यक है जिससे कि उसका विशिष्ट शारीरिक गठन निर्धारित होता है। राष्ट्रीयता में जाति, भाषा इत्यादि का सम्बन्ध अनिवार्य है। जनता में जाति और भाषा के सम्बन्ध के साथ-साथ मूल देश के प्रति दृढ़ स्थायीभाव भी होना आवश्यक है। जाति, राष्ट्रीयता और जनता में व्यक्तियों का एक ही भौगोलिक इकाई में निवास करना आवश्यक नहीं है, पर राष्ट्र में जनता की भौगोलिक एकता अनिवार्य है। राष्ट्र में रक्त की पवित्रता आवश्यक नहीं है। इसमें भाषा, वंश, धर्म इत्यादि किसी की भी समानता अनिवार्य नहीं है। स्विट्जरलैण्ड के निवासियों में भाषा, वंश, धर्म इत्यादि किसी की भी समानता नहीं है, पर वे राष्ट्र का निर्माण करते हैं। किन्तु यदि लोगों में समान भाषा, समान वंश, समान धर्म इत्यादि हों तो राष्ट्र निश्चित रूप से सबल होता है।

राष्ट्र के निर्माण के लिए केवल दो तत्त्वों की आवश्यकता होती है—१. भौगोलिक एकता और २. सामान्य स्थायी-भाव या प्रेम। बार्कर (Barker) ने राष्ट्र की परिभाषा देते हुए अधिक यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाया है। वे लिखते हैं, "राष्ट्र ऐसे व्यक्तियों का समूह है जो किसी निश्चित प्रदेश में निवास करते हों और जिनमें एक ही भूमि पर निवास करने के कारण परस्पर प्रेम हो।" इसके लिए समान संस्कृति का होना आवश्यक है। जो बन्धन लोगों को एक राष्ट्र-निर्माण के लिए जोड़ते हैं, वे मनोवैज्ञानिक तथा

आध्यात्मिक हैं। वे चेतनापूर्ण भावनाएँ हैं जो सामान्य इतिहास की स्मृतियों द्वारा जोड़ी जाती हैं। यह भावना विदेशी शत्रुओं के विरुद्ध सामान्य संघर्ष और परस्पर मिल कर रहने की इच्छा तथा समस्त समाज की समृद्धि के लिए संयुक्त प्रयास के रूप में प्रगट होती है। यही राष्ट्र-प्रेम कहा जाता है। यह पीढ़ी-दर-पीढ़ी नागरिकों में प्रवाहित होती रहती है। अतः, राष्ट्र, लोगों की एकता की चेतना की अभिव्यक्ति है। डॉ० गार्नर के शब्दों में, "एक राष्ट्र सांस्कृतिक समानता का एक सामाजिक समूह है जो अपने मानसिक जीवन (Psyche) और अभिव्यक्ति की एकता के विषय में पूर्ण चेतन एवं दृढ़-निश्चयी है।"

८. सरकार (Government)—जिस प्रकार राज्य और समाज में भेद न करने से समाज में राज्य के हस्तक्षेप का मार्ग प्रशस्त हो जाता है, उसी प्रकार राज्य और सरकार में भेद न करने के कारण भी राज्य में सरकार के हस्तक्षेप का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। इंग्लैण्ड के स्टुअर्ट शासक अपनी निरंकुश सत्ता को न्याय्य सिद्ध करने के लिए दोनों में कोई भेद नहीं मानते थे। फ्रांस के सम्राट् लुई चौदहवें (Louis XIV) कहा करते थे, "मैं राज्य हूँ" (I am the State)। हॉब्स (Hobbes) जैसे राजनीतिक दार्शनिक भी राज्य और सरकार का एक ही अर्थ में प्रयोग करते थे। पर राज्य और सरकार दो पृथक् वस्तुएँ हैं। सरकार, राज्य का एक आवश्यक तत्त्व है जो यद्यपि उसके अस्तित्व के लिए आवश्यक है, किन्तु फिर भी उसे राज्य का पर्यायवाची नहीं कहा जा सकता। सरकार की रचना उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए होती है जिसके लिए राज्य की स्थापना की जाती है। चूँकि सरकार राज्य की सेविका है, अतः सरकार की शक्तियाँ मौलिक नहीं है। सरकार वही कार्य कर सकती है जिसकी राज्य के द्वारा अपेक्षा की जाती है। इस प्रकार सरकार को हम निम्न रूप में परिभाषित कर सकते हैं—

"सरकार कानून द्वारा नियन्त्रित वह सुव्यवस्थित जीवन प्रणाली है जिसे कानून का निर्माण करने तथा उसे क्रियान्वित करने का मान्य अधिकार प्राप्त होता है।"[१] सरकार एक व्यक्ति या एक से अधिक व्यक्तियों द्वारा निर्मित हो सकती है, इसका अधिकार निरपेक्ष और सापेक्ष दोनों हो सकता है। उसकी शक्ति पूरे राष्ट्र पर अथवा उस राष्ट्र के कुछ भाग पर अथवा अनेक राष्ट्रों तक व्यापक हो सकती है।

सरकार, राज्य की जनसंख्या का एक छोटा-सा अंश है और उसे वह उद्देश्य पूर्ण करने का काम सौंपा गया है जिसके लिए राज्य का अस्तित्व होता है। राज्य एक कल्पना (Abstraction) है जबकि सरकार एक सुदृढ़ वास्तविकता है। लॉस्की ने ठीक ही कहा है कि व्यावहारिक प्रशासन के प्रयोजन के लिए राज्य सिवा सरकार के कुछ नहीं है।

इसके अतिरिक्त राज्य का स्वरूप स्थायित्व और निरन्तरता का है, सरकारें परिवर्तनशील तथा नाशवान हैं। अंग्रेजी संविधान का यह सिद्धान्त-सूत्र है—"राजा मर गया, राजा चिरंजीवी हो।"[२] इसका अर्थ ही यह है कि सरकार नश्वर है, पर राज्य अपेक्षाकृत एक शाश्वत संस्था है।

---

१. मेकेञ्जी, जे० एस०, सोशल फ़िलॉसॉफी, पृ० १२८

२. The king is dead, long live the king.

९. राज्य (State)—राज्य, "जनता का वह समूह है जो वहाँ की सरकार के अतिरिक्त प्रत्यक्ष रूप से किसी भी दूसरी शक्ति द्वारा नियन्त्रित नहीं होता।"[२] इस दृष्टि से स्थानीय सरकार द्वारा शासित किसी जिले को राज्य नहीं कह सकते, क्योंकि वह केन्द्रीय सरकार द्वारा संचालित व नियन्त्रित होता है। किन्तु राष्ट्र को राज्य में शामिल किया जा सकता है जो किसी-न-किसी अंश में स्व-नियंत्रित हो। संयुक्त-राज्य अमेरिका की विभिन्न इकाइयों को 'राज्य' कहा जाता है क्योंकि आन्तरिक मामलों में उन्हें पूर्ण स्वायत्तता (Autonomy) प्राप्त होती है। इसी प्रकार भारतीय संघ के विभिन्न प्रान्तों को राज्य की संज्ञा दी गयी है क्योंकि राज्य के विषयों (State Subjects) में वे पूर्ण रूप से स्वतन्त्र है। किन्तु होमरूल (Home Rule) प्राप्त अथवा औपनिवेशिक स्वतन्त्रता प्राप्त राज्यों को पृथक् राज्य के रूप में मानना कठिन है क्योंकि उनकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती। प्रभुसत्ता सम्पन्न इकाई को ही राज्य की संज्ञा दी जाती है।

१०. संप्रभुतासम्पन्न राज्य (Sovereign State)—चूँकि कुछ राज्य पूर्णतः स्वतन्त्र नहीं होते, इसीलिए राज्य और संप्रभुता सम्पन्न राज्य में अन्तर किया गया है। संप्रभुता सम्पन्न राज्य वह राज्य है जो पूर्णतः स्वतन्त्र होता है। पूर्ण स्वतन्त्रता से तात्पर्य यहाँ स्वेच्छाचारिता या उच्छृङ्खलता से नहीं है। स्वतन्त्रता से यहाँ तात्पर्य है—अपने ही द्वारा बनाये गये नियमों द्वारा संचालित होना। जिसके ऊपर बाह्य शासन न हो वही पूर्ण रूप से स्वतन्त्र होता है। अतः स्वतन्त्रता का अर्थ हुआ—आन्तरिक नियमों द्वारा संचालन। संप्रभुता का यहाँ जिस अर्थ में प्रयोग किया गया है वह सरकार में रह भी सकती है और नहीं भी रह सकती। लुई चौदहवें ने दावा किया था कि प्रभुत्वशक्ति का निवास उसी में है, और विशुद्ध राज-तन्त्र (Monarchy) में ऐसा असम्भव भी नहीं है। कुलीन-तन्त्र (Aristocracy) में संप्रभुता कुछ विशिष्ट व्यक्तियों में निहित होती है जो परस्पर मिलकर शासन-सूत्र चलाते हैं। इसके विपरीत प्रजातन्त्र (Democracy) में संप्रभुता सम्पूर्ण जनता में निवास करती है। संप्रभुता और आत्म-नियन्त्रण में कोई विरोध नहीं है। संवैधानिक-शासन, स्वेच्छाचारी नहीं होता, उसे भी देश के संविधान की मर्यादा के भीतर कार्य करना होता है। पर इससे संवैधानिक शासन की संप्रभुता में किसी प्रकार का व्याघात नहीं होता। भारत में एक लिखित संविधान है जो सरकार की शक्ति की सीमा को निर्धारित करता है। कभी-कभी सरकार के विभिन्न अंग ही एक-दूसरे की सीमा को मर्यादित करते हैं। ऐसी अवस्था में सरकार के एक या अधिक अंगों का कुछ निश्चित सिद्धान्तों के आधार पर जनता द्वारा चुनाव होता है। यह चुनाव-प्रणाली जितनी ही विकसित होगी, निर्वाचित सरकार उतनी ही मात्रा में जनता की इच्छा का प्रतिनिधित्व करेगी और उसी मात्रा में राज्य की सम्प्रभुता जनता में निवास करेगी।

उपर्युक्त कथन का यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि इस शासन-प्रणाली में शासन जनता करती है। कभी-कभी ऐसा होता है कि निर्वाचित सरकार जनता की इच्छा के

---

१. मेकेञ्जी, जे०एस०, सोशल फ़िलॉसॉफी, पृ० १२९

अनुसार कार्य नहीं करती और वास्तव में कुछ लोग चाहते भी यही है कि निर्वाचित सदस्यगण अपने विवेक से कार्य करें। अतः, राज्य में **अन्तिम प्रभु-सत्ता** (Ultimate Sovereignty) और **शासन-सत्ता** (Ruling Power) में भेद करना आवश्यक है। राज्य में अन्तिम प्रभुसत्ता तो जनता में निवास करती है, पर शासन-सत्ता, सरकार में निवास करती है। परिवार के शासन में भी प्रायः यही बात देखी जाती है; शिशु, परिवार में सर्व-प्रभुत्व-सम्पन्न होता है पर परिवार का वास्तविक शासन माता-पिता करते हैं।

यहाँ ध्यान रखने की बात यह है कि संप्रभुता दो प्रकार की हो सकती है— **आन्तरिक संप्रभुता** (Internal Sovereignty) और **बाह्य संप्रभुता** (External Sovereignty)। आन्तरिक संप्रभुता का अर्थ यह है कि राज्य अपने अन्तर के प्रदेशों पर शासन करता है, पर स्वयं इन प्रदेशों द्वारा शासित नहीं होता। बाह्य संप्रभुता से तात्पर्य यह है कि राज्य अन्य राज्यों के किसी भी प्रकार के दबाव या हस्तक्षेप से स्वतन्त्र है। यदि राज्य का अधिकार-शक्ति पर किसी सन्धि की शर्तें लागू होती हैं अथवा यदि वह अन्तर्राष्ट्रीय नियमों द्वारा मर्यादित है, तो इससे उसकी संप्रभुता पर किसी प्रकार का व्याघात नहीं पड़ता। उपर्युक्त मर्यादाएँ स्वयं अपने-आप द्वारा आरोपित मर्यादाएँ हैं और राज्य स्वयं अपनी इच्छा से इन मर्यादाओं का पालन करता है। किन्तु ऐसी कोई अन्य बाह्य शक्ति नहीं है जो उसे आज्ञा पालन के लिए बाध्य कर सके। परिणामस्वरूप, प्रत्येक राज्य अन्य राज्यों से स्वतन्त्र है। राज्य की प्रभुता मौलिक और स्वेच्छाचारी शक्ति है, इसे विभाजित नहीं किया जा सकता। गेटेल (Gettell) ने ठीक ही कहा है, प्रत्येक राज्य ''यदि प्रभुता निरंकुश नहीं है तो राज्य नहीं रह सकता, यदि प्रभुता विभक्त हो तो एक से अधिक राज्य रहते हैं। राज्य की प्रभुता के पीछे कोई कानूनी शक्ति नहीं रह सकती और उसकी सीमा पर कानूनी रोक भी नहीं होती।''

इन विभिन्न शब्दों के विशिष्ट अर्थ समझने के बाद हम इस स्थिति में पहुँच चुके हैं कि राज्य की समुचित परिभाषा की जाय।

राज्य की परिभाषा

(Definition of State)

राज्य एक आवश्यक और सार्वभौम संस्था है पर कोई भी दो लेखक राज्य की परिभाषा पर एकमत नहीं है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक लेखक और विचारक ने अपने-अपने दृष्टिकोण से राज्य की परिभाषा और व्याख्या की है। यदि कोई समाजशास्त्री है तो वह समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से, दार्शनिक है तो दार्शनिक दृष्टिकोण से, अर्थशास्त्री है, तो आर्थिक दृष्टि से और यदि विधिवेत्ता है तो कानूनी दृष्टिकोण से राज्य को परिभाषित करेगा। यही परिभाषाओं की भिन्नता का प्रमुख कारण है। हालैण्ड[१] (Holland) राज्य की इस प्रकार व्याख्या करते हैं—''साधारणतया एक निश्चित प्रदेश में रहने वाले मनुष्यों के उस संगठन को राज्य कहते हैं जहाँ बहुमत या मनुष्यों के वर्ग-

---

१. हॉलैण्ड द एलिमेण्ट्स ऑव जुरिस्प्रूडेन्स, पृ० ४६

विशेष की इच्छा अपने विरोधियों पर बहुमत या वर्ग की शक्ति के द्वारा शासन-सूत्र का संचालन करती है।" यह विधिवादी परिभाषा है। यह परिभाषा, एक निश्चित भूभाग तथा जनसंख्या इन दो तत्त्वों पर विशेष बल देती है। फिलीमोर[१] ने अन्तर्राष्ट्रीय विधि के दृष्टिकोण से राज्य को परिभाषित किया है, "राज्य वह राजनीतिक समुदाय है जो एक निश्चित भू-भाग पर स्थायी रूप से निवास करता है, जो एक से कानूनों, आदतों तथा रिवाजों द्वारा परस्पर बँधा होता है, जो एक संगठित सरकार के माध्यम द्वारा अपनी सीमा के भीतर निवास करने वाले सब मनुष्यों तथा वस्तुओं पर स्वतन्त्र प्रभुसत्ता का प्रयोग करता हुआ नियन्त्रण करता है तथा जिसे भू-मण्डल के राष्ट्रों के साथ युद्ध एवं सन्धि करने तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध स्थापित करने का अधिकार प्राप्त होता है।" इस परिभाषा में राज्य के चारों आवश्यक तत्त्वों—निश्चित भू-भाग, जनसंख्या, राजनीतिक संगठन एवं राज-सत्ता पर विशेष बल दिया गया है। कुछ दार्शनिकों ने राज्य तथा अन्य समुदायों के पारस्परिक सम्बन्धों के आधार पर भी राज्य की परिभाषा दी है। इस श्रेणी के विचारक मुख्यतः दो प्रकार के हैं—प्रथम एक-समुदायवादी (Monists) और द्वितीय बहु-समुदायवादी (Pluralists)। एक-समुदायवादी राज्य को समाज में सर्वश्रेष्ठ स्थान देते हैं और उसे अन्य समुदायों से उच्च स्थान देते हुए उनको राज्य के अधीन मानते हैं। इनके अनुसार केवल राज्य ही सम्पूर्ण संप्रभुता-सम्पन्न है। एरिस्टॉटल से लेकर बेन्थम और आधुनिक युग में लॉस्की ने इस दृष्टिकोण के आधार पर राज्य की परिभाषा दी है। एरिस्टॉटल ने कहा है—"राज्य अथवा राजनीतिक समुदाय जो सब समुदायों में श्रेष्ठतम होता है और जिसके अन्तर्गत अन्य सब आ जाते हैं, अन्य किसी भी समुदाय की अपेक्षा, अधिक मात्रा में सर्वोच्च शिव को लक्ष्य बना कर चलता है।"[२] इसी प्रकार प्रोफेसर लॉस्की ने राज्य की सर्वोच्च सत्ता को सिद्ध करते हुए लिखा है, "राज्य एक प्रादेशिक समाज है, जो सरकार और प्रजा में विभाजित है और जो अपने नियत भौगोलिक क्षेत्र में अन्य सब व्यवस्थाओं पर सर्वोच्च सत्ता रखता है।"[३]

इसके विपरीत बहु-समुदायवादियों ने राज्य की सर्वोच्चता का खण्डन किया है। उनके अनुसार समाज का लक्ष्य मानव के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास करना है। मानवीय व्यक्तित्व के विभिन्न पहलू होते हैं और भिन्न-भिन्न समुदाय इन विभिन्न पहलुओं का विकास करते हैं। राज्य, मानव-जीवन के केवल राजनीतिक और नागरिक पहलू का ही विकास करता है, अन्य पहलुओं का विकास अन्य समुदाय करते हैं। अतः मानव के सर्वतोमुखी विकास के लिए अन्य समुदाय उतने ही उपयोगी हैं जितना राज्य। बहु-समुदायवादी इस प्रकार राज्य को सर्वश्रेष्ठ समुदाय नहीं मानते हैं। मैकाइवर (MacIver)

---

१. विल्सन द्वारा उद्धृत, एलिमेण्ट्स ऑव मॉडर्न पॉलिटिक्स, पृ० ५२

२. एरिस्टॉटल, पॉलिटिक्स, जॉवेट-४, अध्याय १

३. The State is a territorial society, divided into government and subjects claiming within its allotted physical area, a supremacy over all other institutions.

ने इसी दृष्टिकोण से राज्य की व्याख्या की है। वह कहता है, "......हमें यह घोषित करना चाहिए कि राज्य कुटुम्ब अथवा चर्च की श्रेणी का ही एक समुदाय होता है। इन्हीं के समान उसका निर्माण भी सदस्यों के एक विशेष प्रकार से संगठित समूह द्वारा सीमित उद्देश्यों के लिए होता है। राज्य का संगठन पूर्ण समाज का संगठन नहीं होता। न ही वे उद्देश्य, जिनके लिए राज्य का अस्तित्व होता है, सब उद्देश्य होते हैं जिनकी प्राप्ति मानव-जाति करना चाहती है।......"[१]

राज्य-सम्बन्धी उपर्युक्त दोनों दृष्टिकोणों के विषय में ध्यान देने की बात यह है कि दोनों ही एकांगी मत हैं। यदि एक-समुदायवादी राज्य को अन्य समुदायों की तुलना में इतना ऊँचा उठा देते हैं कि उसके निरंकुश होने की सम्भावना बढ़ जाती है तो बहु-समुदायवादी राज्य के अतिरिक्त अन्य समुदायों को इतना अधिक महत्त्वपूर्ण बना देते हैं कि व्यावहारिक रूप से वे सब समुदाय निरंकुशता की उस सीमा तक पहुँच सकते हैं कि समाज में अराजकता फैल जाय। अतः, एक-समुदायवाद और बहु-समुदायवाद के बीच सम्यक् संतुलन से ही राज्य की समुचित व्याख्या की जा सकती है।

उद्देश्य एवं कार्यों के आधार पर भी कुछ विचारकों ने राज्य को परिभाषित करने की चेष्टा की है। इस विषय में व्यक्तिवादी, उपयोगितावादी, विज्ञानवादी, समाजवादी तथा साम्यवादी इत्यादि विभिन्न विचारधाराओं के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के मत व्यक्त किये गये हैं। इन विचारधाराओं ने राज्य के उद्देश्य एवं कार्यों पर अपना-अपना मत व्यक्त किया है। व्यक्तिवादियों के अनुसार राज्य आवश्यक होते हुए भी यह एक बुराई है क्योंकि इसके अस्तित्व से व्यक्ति-स्वातन्त्र्य में बाधा पहुँचती है। राज्य का कार्य पुलिस की भाँति समाज का संरक्षण है। इसी प्रकार उपयोगितावादियों के अनुसार राज्य एक ऐसी संस्था है जिसका निर्माण मनुष्य की सुरक्षा, सुविधा और हित के लिए किया गया है तथा जिसका उद्देश्य अधिकतम मनुष्यों के अधिकतम सुख की व्यवस्था करना है। विज्ञानवादियों के अनुसार राज्य एक ऐसी संस्था है जिसका अपना चेतन व्यक्तित्व तथा जिसकी अपनी इच्छा होती है तथा जिसके व्यक्तित्व और इच्छा में व्यक्ति का व्यक्तित्व तथा उसकी इच्छा निहित रहती है। समाजवादी विचारकों के अनुसार राज्य एक ऐसी संस्था है जिसका सामूहिक हित-साधन है। इसी प्रकार साम्यवादियों के अनुसार राज्य एक ऐसी संस्था है जिसका कार्य पूँजीपतियों के हित के लिए श्रमिकों का शोषण करना है। पूर्ण साम्यवादी व्यवस्था स्थापित होने पर राज्य का स्वतः लोप हो जायगा।

उपर्युक्त विभिन्न दार्शनिकों द्वारा दी गयी परिभाषाओं का यदि सम्यक् विश्लेषण किया जाय तो विज्ञानवादी परिभाषा के सिवा अन्य सभी परिभाषाएँ अपूर्ण हैं। व्यक्तिवाद के अनुसार राज्य व्यक्ति-स्वातन्त्र्य में बाधक है, पर सच पूछा जाय तो राज्य ही हमारे समक्ष ऐसी आदर्श परिस्थितियाँ उपस्थित करता है जिससे कि व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की पूर्ण रक्षा सम्भव होती है। उपयोगितावादियों का यह विचार कि राज्य का कार्य अधिकतम

---

१. मैकाइवर, द मॉडर्न स्टेट, पृ० ७

मनुष्यों के अधिकतम सुख की व्यवस्था करना है, भी मान्य नहीं हो सकता क्योंकि सुख व्यक्तिगत वस्तु है, उसका सामान्यीकरण नहीं किया जा सकता। सुखवादी विचार में अन्तर्विरोध भी पर्याप्त रूप में पाये जाते हैं। समाजवादी विचारधारा में समाज के सारे कार्य राज्य को सौंप दिये जाते हैं जिन्हें बेचारा राज्य अकेले ही वहन नहीं कर सकता। साम्यवादी तो राज्य के अस्तित्व को ही अभिशाप मानते हैं और उनके आदर्श समाज में राज्य का कोई अस्तित्व ही नहीं है। पर यह कोरी कल्पना की बात है। हम किसी ऐसे समाज की कल्पना ही नहीं कर सकते जिसमें राज्य का अस्तित्व न हो। इस दृष्टि से राज्य की विज्ञानवादी विचारधारा सर्वोत्तम है क्योंकि इसमें व्यक्ति और राज्य के उद्देश्यों में पूर्ण तादात्म्य सम्बन्ध बताया गया है। राज्य हमारी सामान्य इच्छा का प्रतीक है और सामान्य इच्छा ही व्यक्ति की वास्तविक इच्छा होती है।

ऊपर तत्त्व-विभाग, कानून, अन्तर्राष्ट्रीय, नियम, राज्य तथा अन्य समुदायों के सम्बन्ध और उद्देश्य एवं कार्यों के आधार पर राज्य के विभिन्न पक्षों का वर्णन प्रस्तुत किया गया। किन्तु तत्त्वों के सिवा अन्य आधारों पर की गयी व्याख्या पूर्ण नहीं कही जा सकती। कानूनी व्याख्या, राज्य के स्वरूप को केवल कानून पर आधारित करती है, पर यह उसका एकांगी रूप है। राज्य के स्वरूप में कानून ही सब कुछ नहीं होता। अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अनुसार जो राज्य की परिभाषा दी गयी है वह सर्वथा उचित है क्योंकि इसमें राज्य के सभी चारों तत्त्वों—जनता, भूमि, शासन एवं संप्रभुता को स्थान दिया गया है। जहाँ तक अन्य समुदायों के सम्बन्ध पर आधारित राज्य की परिभाषा का प्रश्न है, वह राज्य के सामुदायिक स्वरूप पर ही बल देती है, अन्य पक्षों से उसका कोई सरोकार ही नहीं है। उद्देश्यों तथा कार्यों के दृष्टिकोण से की गयी व्याख्या उसके स्वरूप का वर्णन न कर, राज्य का क्या कार्यक्षेत्र है अथवा होना चाहिए, इस पर बल देती है। अतः, निष्कर्ष निकलता है कि केवल तत्त्वों के आधार पर की गयी परिभाषा ही राज्य के सही रूप पर प्रकाश डालती है। वे तत्त्व हैं—जनता, भूमि, शासन एवं संप्रभुता। इस प्रकार हम राज्य मनुष्यों के उस समुदाय को कह सकते हैं जो एक से उद्देश्यों से परस्पर संगठित हो, जो किसी निश्चित भू-भाग पर स्थायी रूप से बसा हुआ हो, जिसका एक शासन-तन्त्र हो तथा जो स्वयं पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न हो।

राज्य के मूल तत्त्व

(Elements of the State)

राज्य के मूल तत्त्वों के विषय में प्रायः सभी विचारक एक मत है कि प्रत्येक राज्य में निम्न मूल तत्त्व होने चाहिए—

(१) जनसंख्या
(२) प्रदेश
} राज्य के भौतिक आधार

(३) सरकार
(४) प्रसंभुता
} राज्य के आध्यात्मिक आधार

१. जनसंख्या (Population)—हम जनसंख्या के बिना राज्य का निर्माण नहीं कर सकते। मनुष्य ही राज्य का निर्माण करते हैं। किन्तु राज्य के निर्माण के लिए पर्याप्त जनसंख्या होनी चाहिए। अकेले एक परिवार के सदस्यों से राज्य नहीं बनता। यहाँ परिवारों का एक लम्बा क्रम होना चाहिए। यद्यपि, राज्य-निर्माण करने वाले लोगों की संख्या पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया जा सकता, पर इतना तो कहा ही जा सकता है कि जनसंख्या ऐसी होनी चाहिए जो राज्य का निर्माण कर सके। प्लेटो और एरिस्टॉटल ने राज्य की जनसंख्या पर निश्चित प्रतिबन्ध लगाये हैं। उनके आदर्श एथेन्स (Athens) और स्पार्टा (Sparta) जैसे ग्रीक-नगर-राज्य थे। प्लेटो के अनुसार आदर्श राज्य की जनसंख्या ५०४० होनी चाहिए। एरिस्टॉटल के अनुसार राज्य की जनसंख्या न तो बहुत बड़ी होनी चाहिए और न ही बहुत छोटी। उसका आकार ऐसा होना चाहिए कि वह आत्म-निर्भर रहने के साथ ही भली प्रकार शासित हो सके। रूसो (Rousseau) ने, जो प्रत्यक्ष लोकतन्त्र का बड़ा समर्थक है, एक राज्य-निर्माण के लिए आदर्श जनसंख्या १०,००० निश्चित की है।

आधुनिक प्रवृत्ति ऐसे राज्यों के पक्ष में है जिनमें बहुत बड़ी जनसंख्या हो। राज्य की जनशक्ति ही युद्ध एवं शान्ति का साधन समझी जाती है। आज चीन अपनी अपार जनशक्ति के कारण ही अमेरिका और रूस दोनों को चुनौती देता है। यदि इज़राइल के पास जनशक्ति होती तो शायद ही दुनिया की कोई शक्ति उसके मुकाबले में खड़ी हो सकती। हिटलर (Hitler) और मुसोलिनी (Mussolini) की सरकारों ने एक निश्चित अल्पतम संख्या के ऊपर बच्चे पैदा करने वाली दम्पति को सरकारी सहायताएँ दी थीं। रूस भी जनसंख्या की वृद्धि को प्रोत्साहन देता है। यदि भारत के पास चीन की तरह अपार जनशक्ति होती तो शायद १९६२ के युद्ध में उसे चीन से पराजय का मुख न देखना पड़ता।

किन्तु आज दिन जनसंख्या का आकार राज्य का मानदण्ड नहीं माना जाता। नेपाल, इजराइल, मारीशस, सेनगल, माली इत्यादि लघु राज्यों को संयुक्त राष्ट्र-संघ में वही मौलिक अधिकार प्राप्त हैं जो भारत, रूस, अमेरिका इत्यादि बड़े राज्यों को प्राप्त हैं। राज्य की जनसंख्या में गुणों का महत्त्व, राज्य की जनसंख्या के आकार से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। इजराइल और जर्मनी गुणों के आधार पर ही श्रेष्ठ राज्य कहे जाते हैं।

२. प्रदेश (Territory)—जिस प्रकार जनसंख्या, राज्य के लिए आवश्यक है, उसी प्रकार एक निश्चित भू-भाग होना भी इसके लिए अनिवार्य है क्योंकि मनुष्यों का राजनीतिक समुदाय जब तक किसी निश्चित भू-भाग पर स्थायी नहीं हो जाता, वह राज्य नहीं कहा जा सकता। पर्यटक कबीलों की जनसंख्या होती है पर उनका कोई राज्य नहीं होता क्योंकि उनके अधिकार में कोई ऐसा भू-भाग नहीं होता जिस पर वे निवास करते हों। कुछ दिनों पूर्व, यहूदी लोग यूरोप के विभिन्न राज्यों में बसे हुए थे, उनके अपने रीति-रिवाज, धर्म और नियम आदि थे, किन्तु चूँकि उनके पास अपना कोई ऐसा भूखण्ड नहीं था जिस पर वे स्थायी रूप से निवास कर सकते, उन्हें राज्य नहीं कह सकते थे। पर इजराइल (Israel) की स्थापना के साथ उन्हें एक ऐसा निश्चित भू-भाग प्राप्त हो गया है

जिस पर वे स्थायी रूप से निवास करने लगे हैं, और इस प्रकार उन्हें एक राज्य कहने में कोई बाधा नहीं है। भू-खण्ड, राज्य का एक अत्यन्त आवश्यक अंग है।

वस्तुत: निश्चित प्रदेश ही एक ऐसा तत्त्व है जो राज्य को अन्य समुदायों से पृथक् करता है। राज्य के अतिरिक्त मनुष्यों के अन्य समुदाय भी होते हैं, किन्तु उनका कार्यक्षेत्र किसी निश्चित प्रदेश तक ही सीमित नहीं होता। वे अन्तर्देशीय, देशीय, प्रान्तीय तथा स्थानीय सभी प्रकार के होते हैं किन्तु राज्य का सम्बन्ध और उसका अधिकार किसी निश्चित भू-खण्ड से होता है और इस प्रकार राज्य अन्य समुदायों से भिन्न होता है। एक ही भू-खण्ड पर अनेक समुदाय हो सकते हैं किन्तु राज्य का समुदाय एक भू-खण्ड पर एक ही हो सकता है। इस प्रकार भूमि, राज्य का एक अपरिहार्य अंग है जिसे किसी अवस्था में राज्य से पृथक् नहीं किया जा सकता।

जहाँ तक प्रदेश के विस्तार का सम्बन्ध है, विभिन्न राजनीतिक दार्शनिकों ने विभिन्न विचारों का प्रतिपादन किया है। प्लेटो एवं एरिस्टॉटल ने यूनान के तत्कालीन राज्यों को ध्यान में रखते हुए मत व्यक्त किया था कि राज्य की भूमि का विस्तार न बहुत बड़ा और न वहुत छोटा होना चाहिए।[१] रूसो ने भी कहा था कि राज्य का निर्माण केवल सीमित प्रादेशिक क्षेत्र में ही सम्भव है। उसने तो यहाँ तक कहा था कि राज्य की भूमि के विस्तार तथा शासन-तन्त्र के स्वरूप में भी परस्पर सम्बन्ध है। उसके अनुसार छोटे आकार के राज्यों में लोकतन्त्र, मध्यम आकार के राज्यों में श्रेणीतन्त्र तथा विशाल आकार के राज्यों में राज-तन्त्र के अतिरिक्त अन्य कोई पद्धति उपयुक्त नहीं हो सकती। मॉन्टेस्क्यू का भी लगभग यही विचार था। पर यह विचार प्राचीन युग में भले ही सत्य रहा हो, आधुनिक वैज्ञानिक युग में कभी भी मान्य नहीं हो सकता। रेल, मोटर, रेडियो, टेलीविजन, हवाई जहाज इत्यादि सञ्चार-साधनों के आविष्कार के साथ राज्य की मान्यताओं में भी परिवर्तन हुए हैं। आधुनिक युग में राज्य, उसके विस्तार द्वारा निर्धारित न होकर, उसकी जनता की विचारधारा अथवा उसकी आर्थिक अवस्था द्वारा निर्धारित किया जाता है। सुरक्षा एवं आर्थिक दृष्टि से छोटे राज्य अभिशाप ही सिद्ध होते हैं। यही कारण है कि छोटे राज्यों में परस्पर मिलकर बड़े राज्य के निर्माण करने की प्रवृत्ति दिखाई देती है।

राज्य के प्रदेश की सीमा का भी राज्य के लिए पर्याप्त महत्त्व है। किसी भी राज्य के दीर्घ अस्तित्व के लिए सीमाओं का प्राकृतिक होना अत्यन्त आवश्यक है। राज्यों के बीच की कृत्रिम सीमाएँ कभी भी स्थायी नहीं होतीं। विशाल या अखण्ड भारत की सीमाएँ प्राकृतिक थीं—उत्तर और पूर्व में हिमालय तथा दक्षिण में समुद्र, भारत को स्थायित्व प्रदान करते थे। पर भारत-विभाजन के बाद भारत और पाकिस्तान की सीमाएँ इतनी अप्राकृतिक एवं कृत्रिम हैं कि कोई असम्भव नहीं कि ये दोनों राज्य भविष्य में परस्पर संयुक्त होकर एक हो जायँ। राज्य की सम्पूर्ण भूमि एक साथ स्थित होनी चाहिए

१. प्लेटो, 'पॉलिटिक्स', बुक IV, अध्याय ४
एरिस्टॉटल, 'लॉ' बुक V, पृ० ७३७

क्योंकि ऐसा होना शासन की सुव्यवस्था के लिए, राष्ट्रीयता के विकास के लिए तथा देशवासियों की एकता के लिए अति आवश्यक है। पाकिस्तान में जो बार-बार मार्शल-लॉ (सैनिक-शासन) लागू करना पड़ता है उसका एक कारण यह भी है कि पश्चिमी पाकिस्तान और पूर्वी पाकिस्तान एक साथ अवस्थित नहीं हैं।[1]

जहाँ तक भूमि या प्रदेश के स्वामित्व का प्रश्न है, यह भी एक विवाद-ग्रस्त बात है। प्राचीन युग में राजा, राज्य का शासक होने के साथ-साथ भूमि का भी मालिक था। उसे भूमि-खण्ड का क्रय-विक्रय, आदान-प्रदान, दहेज या दान करने का अधिकार प्राप्त था। किन्तु फ्रांस की राज्य-क्रान्ति के बाद राजा, भूमि का मालिक नहीं रह गया; राज्य की प्रभुता जनता में निहित मानी जाने लगी। आधुनिक युग में एक और विवाद खड़ा किया गया है कि भूमि राज्य की है अथवा राज्य के व्यक्तियों की है। पर यह अनावश्यक विवाद है क्योंकि न तो व्यक्ति राज्य से पृथक् किया जा सकता है और न राज्य व्यक्ति से ही अलग किया जा सकता है। दोनों में अंगांगि-सम्बन्ध है। दोनों के हित भी समान हैं। अतः भूमि, राज्य और व्यक्तियों दोनों की है।

३. सरकार (Government)—किसी निश्चित भू-खण्ड पर बसा मनुष्यों का समुदाय तब तक राज्य नहीं कहला सकता जब तक कि वह राजनीतिक दृष्टि से संगठित न हो। वस्तुतः, सरकार राज्य का वह अभिन्न अंग है जिसके द्वारा राज्य उन उद्देश्यों की पूर्ति करता है जिनके लिए उसका संगठन होता है। इसके अतिरिक्त, सरकार राज्य का वह साधन है जिसके माध्यम से राज्य के जन-समुदाय की सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति होती है तथा जिसके द्वारा उस सामान्य इच्छा का क्रियान्वयन होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सरकार राज्य का एक बहुत ही आवश्यक तन्त्र है। सरकार का कार्य है—देश में ऐसी अनुकूल परिस्थितियों को उत्पन्न करना जिससे कि जनता अपने व्यक्तित्व के विभिन्न पक्षों—शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक—का पूर्ण रूप से विकास कर सके। जो सरकार इन कार्यों को जितनी सफलतापूर्वक सम्पन्न कर लेती है, वह उतनी ही उच्च कोटि की सरकार समझी जाती है।

४. संप्रभुता (Sovereignty)—राज्य की प्रभु-सत्ता, राज्य का सबसे महत्त्वपूर्ण लक्षण है। एक निश्चित प्रदेश में रहने वाले तथा सरकार-सम्पन्न लोग अनिवार्यतः राज्य का निमार्ण नहीं करते। वे एक राज्य का निर्माण तभी करेंगे जब उनके अधिकार में पूर्ण प्रभुसत्ता विद्यमान होगी। राज्य की संप्रभुता से तात्पर्य यह है कि राज्य आन्तरिक एवं बाह्य दोनों प्रकार के नियन्त्रणों से मुक्त है। राज्य की प्रभु-सत्ता के दो पक्ष हैं—आन्तरित प्रभुसत्ता तथा बाह्य प्रभुसत्ता। आन्तरिक प्रभुसत्ता का अर्थ है—अपनी सीमाओं के भीतर सत्ता का एकाधिकार होना। एक राज्य में दो प्रभुसत्ता निवास नहीं कर सकतीं। यदि किसी राज्य में दो प्रभुसत्ता हैं तो वह राज्य ही नहीं है। राज्य में सत्ता का एकाधिकार होना चाहिए। इसी प्रकार बाह्य प्रभुसत्ता का अर्थ है—बाह्य नियन्त्रण से मुक्ति। प्रत्येक राज्य

१. पूर्वी पाकिस्तान अब एक स्वतन्त्र राष्ट्र 'बंगलादेश' के रूप में घोषित हो चुका है।

अन्य राज्यों से स्वतन्त्र होता है। उसके सारे कार्य स्वेच्छा से प्रतिपादित किये जाते हैं; कोई बाह्य सत्ता उसके कार्यों को प्रतिबन्धित नहीं कर सकती। उदाहरणार्थ, स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व भारत में राज्य के अन्य सभी लक्षण विद्यमान थे—जनता, प्रदेश और सरकार सभी कुछ थे—पर उसे राज्य नहीं कहा जा सकता था क्योंकि बाह्य रूप से वह इंग्लैण्ड की सरकार की प्रभुसत्ता के अधीन था। आन्तरिक प्रभुसत्ता होते हुए भी उसमें बाह्य सत्ता का नितान्त अभाव था। इसीलिए वह राज्य नहीं था। अतः बाह्य संप्रभुता भी राज्य का एक आवश्यक तत्त्व है।

संक्षेप में—प्रत्येक राज्य में जनसंख्या, निश्चित प्रदेश, वैधानिक सरकार तथा प्रभुसत्ता अवश्य होनी चाहिए। इनमें से किसी का अभाव होने पर उसे 'राज्य' का पद नहीं दिया जा सकता। तदनुसार, उत्तर-प्रदेश, कश्मीर, पश्चिमी बंगाल इत्यादि 'राज्य' नहीं है। इसी प्रकार संयुक्त राज्य अमेरिका के पचास राज्यों को भी 'राज्य' की संज्ञा नहीं दी जा सकती। उनमें स्वायत्तता (Autonomy) भले ही हो, पर प्रभुसत्ता नहीं पायी जाती। प्रभुता-सम्पन्न देश ही 'राज्य' कहलाने का अधिकारी है। भारत के विभिन्न प्रान्तों को राज्य कह कर पुकारना भारत की अखण्डता को चुनौती देना है। इनके नाम-परिवर्तन की महती आवश्यकता है।

राज्य का प्राकृतिक आधार

(The Natural Basis of the State)

मुख्य रूप से राज्य के सम्बन्ध में यह प्रश्न उठाया जाता है कि उसकी सामाजिक संगठन की आधारभूत प्रणालियाँ प्राकृतिक हैं अथवा कृत्रिम। परिवार, शैक्षणिक एवं औद्योगिक संस्थाएँ निश्चित रूप से प्राकृतिक होती हैं क्योंकि वे किसी-न-किसी रूप में मानव-जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं (काम-वासना, क्षुधा, जिज्ञासा इत्यादि) की पूर्ति करती हैं। पर जब ऐसे संगठन सरकार के नियन्त्रण में आ जाते हैं तो उनमें कुछ-न-कुछ कृत्रिमता अवश्य ही आ जाती है। सच पूछा जाय तो सरकार या शासन के विभिन्न रूप स्वयं स्वैच्छिक या कृत्रिम होते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि सरकारी संगठन मानव की मूल प्रकृति से व्युत्पन्न न होकर बाह्य दबाव द्वारा उस पर आरोपित किए गये हैं। इस बात से इनकार भी नहीं किया जा सकता कि कभी-कभी सरकारी संगठन हमारी इच्छा के विरुद्ध हमारे ऊपर थोप दिये जाते हैं। जब एक राष्ट्र किसी दूसरे राष्ट्र पर विजय प्राप्त करता है और उस पर अपने कानूनों को लागू करता है तो निश्चित है कि यह कार्य विजित राष्ट्र की प्रकृति के अनुकूल नहीं होगा; यह उसकी प्रकृति के बिलकुल प्रतिकूल भी हो सकता है। अतः, कुछ विचारकों के अनुसार राज्य एक कृत्रिम संस्था है।

पर बात ऐसी नहीं है। राज्य उतनी ही स्वाभाविक और प्राकृतिक संस्था है जितनी परिवार, विवाह इत्यादि। प्रत्येक समाज में किसी-न-किसी रूप में राज्य-प्रणाली रही अवश्य है, उसका रूप चाहे जो कुछ भी रहा हो। कुछ पदार्थों के लिए किसी विशेष तापक्रम पर जलना स्वाभाविक है किन्तु जिन परिस्थितियों के द्वारा वह तापक्रम उत्पन्न

किया जाता है, वह कृत्रिम हो सकती है। दूसरा उदाहरण ले लीजिये। मनुष्यों को शरीर की सुरक्षा के लिए कपड़े पहनना स्वाभाविक है, पर जिस विशेष ढंग व फैशन से वे पहने गये हैं, वे रूढ़िगत हो सकते हैं। कार्लाइल द्वारा रचित पुस्तक सरटार रिसार्टस (Sartor Resartus) में सभी मानवीय रूढ़ियों एवं परम्पराओं की तुलना कपड़ों के साथ की गयी है। पर इसका यह अर्थ नहीं है कि वे कृत्रिम हैं। कपड़ों का पहनना उतना ही स्वाभाविक है जितना खाना और पीना। जब रूसो ने यह कहा कि मानव स्वतन्त्र उत्पन्न हुआ है, परन्तु वह सब जगह बन्धनों में आवद्ध है, तो उससे उसका अर्थ सामाजिक नियन्त्रणों की स्वाभाविकता से इनकार करना नहीं था, प्रत्युत् उसका उद्देश्य कृत्रिमता से प्राकृतिकता का अन्तर प्रदर्षित करना ही था। कोई वस्तु प्राकृतिक है, इसका अनुमान इस बात से भी लगाया जा सकता है कि उसका अस्तित्व इतर प्राणियों में पाया जाता है अथवा नहीं। अधिकांश पशुओं के गिरोहों में उनका एक नेता होता है जो उनकी क्रियाओं को केवल नियत्रित ही नहीं करता, वरन् उन्हें बाध्य भी करता है। इसी प्रकार अपने स्वभाव के कारण ही मनुष्य को एक केन्द्रीय संगठन की आवश्यकता होती है जो उसके आत्म-नियन्त्रण की आवश्यकता की पूर्ति करती है। भोग और योग दोनों मानव-जीवन के सत्य हैं। स्वतन्त्रता का अर्थ अतन्त्रता, स्वेच्छाचारिता या स्वैरता नहीं है, वरन् प्राकृतिक नियमों के अनुसार आचरण करना है। अतः, स्वतन्त्रता और नियमबद्धता में कोई विरोध नहीं है। राज्य हमारे संयम और योग की आवश्यकता की ही पूर्ति करता है। अतः यह कृत्रिम संस्था न होकर बिलकुल प्राकृतिक व स्वाभाविक है। कभी-कभी यह कहा जाता है कि राज्य एक प्राकृतिक संस्था नहीं है क्योंकि वह बल-प्रयोग का सहारा लेती है और कोई मनुष्य अपने ऊपर बल-प्रयोग को स्वाभाविक नहीं कहेगा। पर यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय तो पता चलेगा कि कभी-कभी मनुष्य अचेतन रूप से अपने ऊपर बल-प्रयोग को पसन्द करता है। यदि हमसे कोई भूल हो जाती है तो हमारी अन्तरात्मा चाहती है कि हमें दण्ड मिले। अतः, बल-प्रयोग विशेष अवस्थाओं में आवश्यक समझा जाता है, यद्यपि यह एक दुर्भाग्यपूर्ण आवश्यकता है। यदि बल-प्रयोग को नितान्त अनावश्यक भी समझ लिया जाय, तो भी केन्द्रीय संगठन और मार्ग-दर्शन की विधि का कम महत्त्व अथवा उसकी कम प्राकृतिकता नहीं रह जाती। किसी भी सरकार की प्रणाली किस हद तक प्राकृतिक है, यह इस बात पर निर्भर करती है कि वह किस हद तक लोगों के मार्गदर्शन की आवश्यकता की पूर्ति करती है। यह निश्चित है कि राज्य हमारा मार्गदर्शन करता है। अतः यह कृत्रिम नहीं है।

राज्य की उत्पत्ति और उसके सिद्धान्त

(Origin of the State and its Theories)

ऊपर के राज्य के प्रारम्भिक परिचय में हमने देखा कि इसकी उत्पत्ति मानव-जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हुई है। राज्य का मानव-जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। यही कारण है कि आदि काल से समाज में किसी-न-किसी रूप में राज्य का अस्तित्व रहा

है। किन्तु फिर भी राज्य का आविर्भाव कब और कैसे हुआ, यह अब भी एक रहस्य बना हुआ है। मानव-विज्ञान (Anthropology), जाति-विज्ञान (Ethnology) और तुलनात्मक भाषा-विज्ञान (Philology) के हाल के अनुसंधानों ने इस विषय पर कुछ प्रकाश डाला है, परन्तु ये सब राज्य की तर्कपूर्ण व्याख्या प्रस्तुत नहीं करते। अतः, राज्य की उत्पत्ति का वर्णन करते समय हमें कुछ-न-कुछ कल्पना का सहारा अवश्य लेना पड़ेगा। गिलक्राइस्ट ने ठीक ही कहा है, "उन परिस्थितियों के विषय में, जिनमें राजनीतिक चेतना का प्रथम उदय हुआ, हमें इतिहास से कुछ भी जानकारी प्राप्त नहीं हो सकती। जहाँ इतिहास असफल हो जाता है, वहाँ हम कल्पना का सहारा लेते हैं।"[१] ऐसी अवस्था में, समय-समय पर वर्णित और प्रत्येक युग की विकासशीलता के साथ परिवर्तित कुछ सिद्धान्तों का यहाँ आलोचनात्मक परीक्षण किया जायगा। उनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त निम्नलिखित हैं—

१. दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त (The Theory of Divine Origin),
२. शक्ति-सिद्धान्त (The Theory of Force),
३. पैतृक-मातृक-सिद्धान्त (The Patriarchal and Matriarchal Theories),
४. सामाजिक समझौते का सिद्धान्त (The Theory of Social Contract),
५. विकासवादी सिद्धान्त (The Evolutionary Theory)।

१. दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त

व्याख्या—दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त अति प्राचीन सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार यह ईश्वर की इच्छा थी कि लोग संसार में राजनीतिक समाज के राज्य में निवास करें और उनके ऊपर शासन करने के लिए उसने अपने प्रतिनिधि को भेजा। इस प्रकार राज्य मानवीय नहीं वरन् दैवी संस्था है। ईश्वर राज्य में या तो स्वयं शासन करता है या किसी प्रतिनिधि को इस कार्य के लिए नियुक्त करता है जो ईश्वर के लिए शासन करता है। मनुष्य-जाति के हित और कल्याण के लिए ईश्वर ने राज्य को जन्म दिया है। जब संसार की सभी वस्तुएँ ईश्वर की कृति है, तो भला राज्य इसका अपवाद कैसे हो सकता है? प्रारम्भिक शासक पुरोहित और राजा के अथवा जादूगर और राजा के संयोग थे। शासक पुरोहित राजा (Priest Kings) थे। एक शासक की जो शक्ति और भक्ति होती थी, वह उसके पुरोहित या जादूगर रूप पर निर्भर करती थी। धर्म और राजनीति प्राथमिक समाज में इतने घुले-मिले थे कि उन्हें अलग करने के लिए दोनों के बीच विभाजन की रेखा नहीं खींची जा सकती थी।

दैवी सिद्धान्त का विकास—दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त के समर्थकों में यहूदी सर्वप्रथम थे। उनका विश्वास था कि ईश्वर राजा को नियुक्त करता है, वह उसे गद्दी से अलग करता है और वही उसे मार सकता है। ब्लंशली के शब्दों में, "राज्य ईश्वर की कृति है और पृथ्वी पर दैवी सरकार का सीधा प्रकाशन है।" ग्रीस और रोम में भी इसी

---

१. गिलक्राइस्ट : प्रिन्सिपुल्स ऑव पोलिटिकल साइन्स, पृ० ४९

सिद्धान्त को मान्यता दी गयी है। रोम के लोगों का विश्वास था कि ईश्वर अप्रत्यक्ष रूप से राज्य का संचालन करता है। प्लूटार्क के शब्दों में—"एक नगर की स्थापना नहीं हो सकती।" इसी प्रकार मिश्र के प्राचीन निवासी राजा को सूर्य-पुत्र समझते थे। जापान में तो आज तक राजा मिकाडो को सूर्य-देवता का पुत्र कहा जाता है। जब यूरोप में ईसाई धर्म का अभ्युदय हुआ, दैवी सिद्धान्त को बड़ा बल मिला। ईसाई धर्म के अनुसार मनुष्य पहले स्वर्ग में था, किन्तु पापों के कारण उसे पृथ्वी पर भेज दिया गया। फिर ईश्वर ने पृथ्वी पर शासन करने के लिए राज्य को स्थापित किया तथा राजा की नियुक्ति की। राजा ईश्वर का प्रतिनिधि है, अतः उसकी आज्ञाएँ मानना प्रजा का परम धर्म है। सेण्ट पॉल का उपदेश है, "प्रत्येक आत्मा को उच्चतर शक्तियों के अधीन होना चाहिए, क्योंकि ईश्वर की शक्ति के अतिरिक्त और कोई शक्ति नहीं है। सभी सांसारिक शक्तियाँ ईश्वर की दी हुई हैं। अतः, जो उनकी अवज्ञा करता है, वह ईश्वराज्ञा की अवहेलना करता है और जो लोग ऐसा करते हैं, उन पर ईश्वरीय शाप गिरेगा।"[१] मध्ययुग में इसी आधार पर पोपशाही और पवित्र रोमन साम्राज्य के बीच झगड़ा उठ खड़ा हुआ था। दोनों अपने को ईश्वर का प्रतिनिधि कहकर प्रजा पर शासन करना चाहते थे।

भारत में भी आदिकाल में दैवी सिद्धान्त को माना जाता था। महाभारत में कहा गया है कि कृतयुग में शासक और शासित नहीं थे। लोग धर्म के अनुकूल कार्य करते हुए पारस्परिक रक्षा करते थे। पाप की उत्पत्ति, व्यक्तिगत सम्पत्ति के उदय और उससे उत्पन्न झगड़ों के कारण देवताओं को शान्ति और रक्षा की आवश्यकता हुई। वे ब्रह्मा के पास गये और उनसे उन्होंने व्यवस्था, सुरक्षा और शासन के लिए शासक की प्रार्थना की। प्रार्थना स्वीकार करते हुए ब्रह्मा ने मनु को शासक नियुक्त किया। अतः ईश्वर ने ही राजा को अपना प्रतिनिधि बनाया। गीता में श्रीकृष्ण ने दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त को ही दुहराया है—"मनुष्यों में मैं राजा हूँ।"[२] आचार्य चाणक्य के अनुसार, "राजा, यम और इन्द्र का स्थानापन्न होता है; उसका अपमान कदापि नहीं करना चाहिए।"

राजा का दैवी अधिकार—राज्य की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त के आधार पर राजाओं के दैवी अधिकार का समर्थन किया गया। इंगलैण्ड के स्टुअर्ट राजाओं ने इस सिद्धान्त का सहारा लिया। जेम्स प्रथम का विश्वास था कि राजाओं को दैवी अधिकार प्राप्त है। उसने लिखा था—"राजा लोग पृथ्वी पर भगवान् की श्वास लेती हुई मूर्तियाँ हैं और उनके आदेशों की अवज्ञा, भगवान की अवज्ञा है। जिस प्रकार परमात्मा के कृत्य का विरोध करना नास्तिकता और ईश्वर-निन्दा है, उसी तरह एक प्रजा-जन में यह भाव होना कि राजा क्या कर सकता है, अथवा यह कहना कि राजा क्या नहीं कर सकता, अधर्म और ईश्वर-विरोध है।" यह भी कहा गया है कि राजा को मानवीय निर्णय के प्रति उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। वह केवल परमात्मा के प्रति उत्तरदायी है, "एक बुरे राजा का निर्णय परमात्मा द्वारा किया जायगा, किन्तु उसकी प्रजा उसका निर्णय नहीं कर

१. सेण्टपॉल टु रोमन्स, XIII, १-७
२. गीता, अध्याय १०, श्लोक २७

सकती और न ही किसी नियम बनाने वाली मानवीय संस्था, जैसे न्यायालयआदि में राजा के विरुद्ध विचार किया जा सकता है।"[१]

राजाओं के दैवी अधिकार के सिद्धान्त की प्रमुख बातें निम्नलिखित हैं—

१. राजतन्त्र दैवी विधान है और राजा अपनी सत्ता ईश्वर से प्राप्त करता है।

२. राजतन्त्र पैतृक है; यह राजा का ईश्वरीय अधिकार है कि वह पिता से पुत्र को प्राप्त हो।

३. राजा केवल ईश्वर के प्रति उत्तरदायी है, और

४. राजा की विधि-विहित शक्ति का विरोध पाप है।

आलोचना—प्राचीन समय में इस सिद्धान्त का अवश्य कुछ मूल्य था, पर अब यह सर्वथा निराधार समझा जाता है। इसके निम्न प्रमुख कारण हैं—

१. यह सिद्धान्त अवैज्ञानिक, अनैतिहासिक तथा अनुभव के विरुद्ध है। अनुभव द्वारा दैवी सिद्धान्त कभी भी सत्यापित नहीं किया जा सकता। वस्तुत:, राज्य एक मानवीय संस्था है। राज्य और उसके कानूनों का बनाना मनुष्य का काम है, ईश्वर का नहीं।

२. दैवी सिद्धान्त के अनुसार राजा प्रजा के प्रति नहीं वरन् ईश्वर के प्रति उत्तरदायी है। यह सिद्धान्त राजा की स्वेच्छाचारिता एवं निरंकुशता का समर्थन करता है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि इस सिद्धान्त की ओट में राजाओं ने अपनी प्रजा पर पर्याप्त अत्याचार किया है। पुन:, सुयोग्य राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि भले ही मान लिया जाय, पर उसके अयोग्य उत्तराधिकारियों को ईश्वर का प्रतिनिधि कैसे माना जा सकता है? राजा को ईश्वर के साथ-साथ मानव के प्रति भी उत्तरदायी होना चाहिए।

३. दैवी सिद्धान्त वस्तुत: एक धार्मिक सिद्धान्त है, अत: सामाजिक एवं राजनीतिक क्षेत्रों में इसका उपयोग नहीं किया जा सकता। धर्म बहुत कुछ आस्था व विश्वास की वस्तु है, पर समाज-दर्शन और राजनीति में मनुष्य अपनी बुद्धि व विवेक से काम करता है। अत:, दैवी सिद्धान्त सामाजिक समस्याओं का उचित समाधान प्रस्तुत नहीं कर सकता।

४. दैवी सिद्धान्त नैतिकता की कसौटी पर भी खरा नहीं उतरता। चर्च-पिताओं की मान्यता के अनुसार ईश्वर ने बुरे राजा को जनता के पापों के लिए दण्ड देने को चुना है। अब प्रश्न यह है कि यदि ईश्वर बुरे राजाओं के माध्यम से जनता को दण्ड देता है तो वह ईश्वर, ईश्वर नहीं है। और यदि सचमुच ईश्वर ने राजा को उत्पन्न किया है तो वह बुरा कभी हो ही नहीं सकता। दैवी सिद्धान्त इस समस्या का उचित समाधान प्रस्तुत नहीं करता।

५. दैवी सिद्धान्त व्यक्ति के व्यक्तित्व एवं उसकी स्वतन्त्रता का हनन करता है। इसमें राजा के अधिकार की तो बात कही गयी है, पर प्रजा के अधिकारों की चर्चा भी नहीं की गयी है। अत: यह रूढ़िवादी सिद्धान्त है।

दैवी सिद्धान्त का महत्त्व—दैवी सिद्धान्त में अनेक दोषों के होते हुए भी इसका

---

१. सबाइन, ए हिस्ट्री ऑव पोलिटिकल थियरी, पृ० ३९५

ऐतिहासिक महत्त्व है। राजनीति और धर्म की परस्पर सम्बद्धता ने समाज में व्यवस्था, शान्ति और संयम स्थापित करने में पर्याप्त योगदान किया है। व्यक्ति की दृष्टि से भी इस सिद्धान्त का पर्याप्त महत्त्व है। इसके द्वारा मनुष्य में आज्ञा-पालन, सहयोग, कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व की भावना आयी। ईश्वरीय कानूनों से व्यक्ति डरता है, अतः दैवी सिद्धान्त से मनुष्य में कानून के प्रति निष्ठा की भावना का आविर्भाव हुआ। इससे देश की एकता भी सुरक्षित रहती है।

२. शक्ति-सिद्धान्त (The Theory of Force)

व्याख्या—शक्ति-सिद्धान्त, राज्य की उत्पत्ति का एक बहुत ही प्राचीन सिद्धान्त है। एक पुरानी कहावत है कि "युद्ध राजा को उत्पन्न करता है।" प्राकृतिक न्याय-सिद्धान्त (Priciple of Natural Justice) के अनुसार दुर्बलों के ऊपर बलवान् अवश्य शासन करेगा। इसे कोई रोक नहीं सकता। बलवान् राजा होगा और दुर्बल उसकी प्रजा। यही प्रकृति का न्याय है। इस सिद्धान्त के समर्थकों का तर्क है कि मनुष्य स्वभावतः सामाजिक प्राणी होने के साथ-साथ युयुत्सु (झगड़ालू) भी है। उसमें अधिकार की एक उत्कट लालसा विद्यमान है। ये दोनों इच्छाएँ उसे बल-प्रदर्शन की प्रेरणा देती हैं। मानव-विकास के प्रारम्भिक चरणों में जो व्यक्ति शारीरिक बल में दूसरों से बढ़-चढ़ कर होता था, वह निर्बलों के ऊपर अधिकार करके उन्हें दास बना लेता था। इस प्रकार वह अपने अनुयायियों का एक दल बना लेता; दूसरों के साथ लड़ता और दुर्बलों को अपने अधीन कर लेता था। पुनः, अपने अनुयायियों की संख्या में वृद्धि कर, वह एक क़बीले का मुखिया बन जाता था। उस समय विभिन्न जातियों और क़बीलों में परस्पर लड़ाई होती रहती थी। इस प्रकार युद्ध करते-करते जो अन्त में विजयी होकर सर्व शक्तिशाली घोषित होता, राजा बना दिया जाता था। ह्यूम ने अपनी पुस्तक 'ओरिजिनल कॉण्ट्रैक्ट' (Original Contract) में लिखा है कि "राज्य की उत्पत्ति उस समय हुई होगी जब किसी मानव-दल के नेता ने शक्तिशाली और प्रभावशाली होकर अपने अनुयायियों पर अधिकार जमाकर उन पर अपनी हुकूमत लादी होगी।" इसी प्रकार बाल्टेयर का यह कथन कि "प्रथम राजा एक भाग्यशाली योद्धा था", राज्य की उत्पत्ति के शक्ति-सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है।

शक्ति-सिद्धान्त का विकास—शक्ति-सिद्धान्त अति प्राचीन सिद्धान्त है। प्राचीन काल में ग्रीस के सोफिस्ट विचारकों ने सर्वप्रथम शक्ति-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, जिसका उल्लेख प्लेटो के रिपब्लिक के थेमीमैकस नामक पात्र के इस कथन में मिलता है कि "न्याय शक्तिशाली के हित के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।"[१] मध्यकालीन यूरोप में जब चर्च और राज्य में अत्यधिक विरोध था, चर्च के नेताओं ने दावा किया कि राज्य को चर्च के अधीन होना चाहिए क्योंकि उसकी उत्पत्ति पाशविक शक्ति के आधार पर हुई है। पोप ग्रेनरी सप्तम के शब्दों में, "राजाओं और सामन्तों की उत्पत्ति उन लोगों में से हुई

---

१. प्लेटो, रिपब्लिक I, एस० ३३८ सी०

जिन्होंने परमात्मा को भूलकर उद्दण्डता, लूटमार, कपट, हत्या और प्रत्येक अपराध से, संसार में शासक के रूप में बुराई का प्रसार करते हुए अपने साथी मनुष्यों पर मदान्धता तथा असहनीय धारणा के साथ राज्य किया है।" आधुनिक काल में समाजवादी विचारकों का भी मत है कि राज्य शक्तिमूलक संस्था है और उसका विकास इस प्रकार हुआ है कि कुछ शक्तिशाली लोग जनसाधारण का शोषण करते रहते हैं। लेनिन के शब्दों में, "राज्य पूँजीपतियों के हाथ में एक ऐसा साधन है जिससे वे बहुसंख्यक समाज पर शासन करते हैं।"[1] उनके अनुसार राज्य-संस्था का उन्मूलन होना चाहिए तथा ऐसी राज्य-संस्था का निर्माण होना चाहिए जो शक्ति के आधार पर जनता का शोषण न कर सके। अराजकतावादी (Anarchists) विचारकों का भी मत है कि राज्य-संस्था का आधार शक्ति एवं बलप्रयोग होने के कारण, वह मनुष्यों का हित एवं कल्याण कभी नहीं कर सकती। अतः, उसे पूर्णतया नष्ट करके एक ऐसे समाज का निर्माण करना चाहिए जिसका आधार शक्ति न होकर स्वेच्छा हो और जनसाधारण अपने सामूहिक हितों की साधना के लिए स्वेच्छापूर्वक संगठन करने के लिए स्वतन्त्र रहें। इनके अनुसार राज्य एक आवश्यक बुराई है, अतः इसका कार्यक्षेत्र न्यूनतम होना चाहिए।

इसके अतिरिक्त दार्शनिक सिद्धान्तों के आधार पर भी शक्ति-सिद्धान्त का समर्थन किया जा सकता है। इसमें 'प्राकृतिक-न्याय का नियम' (Principle of Natural Justice) और डार्विन का 'संघर्ष-सिद्धान्त' अति महत्त्वपूर्ण है। यह प्रकृति का नियम है कि शक्तिशाली निर्बलों पर शासन करता है। 'जिसकी लाठी, उसकी भैंस' या 'मत्स्य-न्याय' एक प्राकृतिक सत्य है जो प्रकृति के सभी क्षेत्रों में—वनस्पति-क्षेत्र से मानव-क्षेत्र तक—चरितार्थ होता पाया जाता है। जर्मन दार्शनिक ट्रायट्स्की (Trietschke) ने घोषित किया, "राज्य, आक्रमण और प्रतिरक्षा की सार्वजनिक शक्ति है जिसका मुख्य काम युद्ध करना और न्याय की व्यवस्था करना है।" उन्होंने उसमें कहा कि "इतिहास का महत्त्व राष्ट्रों के निरन्तर संघर्ष में निहित है।" और "हथियारों के प्रति प्रेम इतिहास के अन्त तक वैध रहेगा।" जनरल वॉन बर्नहार्डी (General Von Bernhardi) ने घोषित किया, "शक्ति ही सर्वोच्च सत्य है, और इस बात का निर्णय कि सत्य क्या है युद्ध द्वारा होगा। युद्ध प्राणिशास्त्रीय रीति से सत्य का निर्णय करता है क्योंकि इसके निर्णय वास्तविक तथ्यों पर आधारित होते हैं।" नीत्शे (Nietzsche) ने शक्ति-प्राप्ति की इच्छा के सिद्धान्त का प्रचार किया। नीत्शे मनुष्य की 'प्रभु-शक्ति' के गुणों की प्रशंसा करते हैं और कहते हैं कि वह व्यक्ति सर्वाधिक प्रशंसनीय है जो बलवान है। हिटलर और मुसोलिनी ने इन समाज-दार्शनिकों की शिक्षाओं को मूर्त रूप दिया। उनके विचार में बल-प्रयोग एक राष्ट्र के मान, सांस्कृतिक प्रभाव, विश्व में व्यापारिक प्रभुता और देश में नागरिकों की राज-भक्ति स्थिर रखने के लिए सामान्य साधन है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक शक्ति-

---

1. The State is the instrument of exploitation in the hands of capitalists who rule over the majority of the population. —*Lenin*

सिद्धान्त के समर्थकों की संसार में कमी नहीं रही है। मनुष्य स्वभावत: अधिकार (Self Assertion) की इच्छा रखता है और इसीलिए बलशालियों द्वारा निर्बलों पर अधिकार जमा लेने के कारण राज्य की उत्पत्ति हुई है। यह विचारधारा 'जिसकी लाठी, उसकी भैंस' (Might is Right) अथवा 'शक्तिशाली ही जीवित रहेगा' (Survival of the Fittest) जैसी भावनाओं पर आधारित है। मध्यकालीन यूरोप में जो महान् क्रान्तियाँ हुईं, वे इसी शक्ति-सिद्धान्त के विकृत समर्थन के परिणामस्वरूप ही हुई थीं। आधुनिक काल में हमें इसके दर्शन रूस के जारिज्म, जर्मनी के नाज़िज़्म तथा इटली के फासिज्म के रूप में मिलते हैं।

आलोचना—अब हम इस बात पर विचार करेंगे कि शक्ति-सिद्धान्त कहाँ तक राज्य की उत्पत्ति-सम्बन्धी समस्याओं को सुलझाता है। यह ठीक है कि कभी-कभी शक्ति ने राज्य की उत्पत्ति में पर्याप्त योग दिया है। इसको भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि राज्य के लिए शक्ति अपरिहार्य है क्योंकि उसके बिना राज्य आन्तरिक एवं बाह्य सुरक्षा की व्यवस्था नहीं कर सकता। फिर भी शक्ति-सिद्धान्त राज्य की उत्पत्ति की सभी समस्याओं का समुचित समाधान प्रस्तुत नहीं करता, क्योंकि केवल शक्ति के प्रयोग से ही राज्य की उत्पत्ति हो गई हो, ऐसी बात नहीं है। इसके कई कारण हैं—

१. राज्य की उत्पत्ति केवल शक्ति ही से नहीं हुई है। शक्ति राज्य के तत्त्वों में केवल एक ही तत्त्व है। राज्य की उत्पत्ति के लिए रक्त-सम्बन्ध, धार्मिक एकता और आर्थिक हित आदि अनेक तत्त्वों की आवश्यकता होती है। लीकॉक (Leacock) के शब्दों में—"शक्ति सिद्धान्त की भूल यह है कि समाज के विकास में जिस वस्तु का स्थान केवल एक तत्त्व रहा है, उसे यह एकमात्र नियामक तत्त्व की महानता प्रदान करता है।"[१] तर्कशास्त्र की भाषा में इस भूल को 'एकान्तिक विशिष्टता का दोष' (Fallacy of Exclusive Particularity) कहते हैं।

२. वस्तुतः, राज्य का आधार बल-प्रयोग नहीं प्रत्युत् सामान्य इच्छा है। केवल बल-प्रयोग किसी को संगठित नहीं कर सकता, क्योंकि "बल-प्रयोग सदैव छिन्न-भिन्न करता है, जब तक कि वह सर्वमान्य इच्छा के अनुरूप न हो।"[२] राज्य के अस्तित्व के लिए बल-प्रयोग आवश्यक है, किन्तु इसका प्रयोग औषधि के रूप में होना चाहिए, नित्य की खुराक जैसा नहीं। गिलक्राइस्ट ने ठीक ही कहा है, "बल राज्य की एक कसौटी (Criterion) है, परन्तु उसका सार (Essence) नहीं। यदि वह राज्य का सार बन जाये, तो राज्य का अस्तित्व उसी समय तक रह सकता है, जब तक कि शक्ति बनी रहे। शक्ति का विवेकहीन प्रयोग सभी क्रान्तियों का पूर्वगामी रहा है। राज्य का स्थायी आधार नैतिक बल होता है। औचित्यपूर्ण बल उन मानव-मस्तिष्कों के समान ही स्थायी होता है जिन पर वह आश्रित होता है।" वस्तुतः, राज्य का आधार बल नहीं, वरन् नैतिकता और कानून

---

१. लीकॉक, एलिमेण्ट्स ऑव पोलिटिकल साइन्स, पृ० ३३

२. मेकाइवर, द मॉडर्न स्टेट, पृ० २२२

है। ग्रीन के कथनानुसार, "राज्य का निर्माण साधारण बल-प्रयोग के द्वारा होता है जो लिखित अथवा अलिखित कानून के अनुसार आन्तरिक तथा बाह्य आक्रमणों से नागरिक के अधिकारों की रक्षा के लिए किया जाता है।"

३. यदि शक्ति-सिद्धान्त के अनुसार 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाली कहावत चरितार्थ की जाय तो व्यक्ति की स्वतन्त्रता ही संकटग्रस्त हो सकती है। वस्तुतः राज्य निर्बल और सबल दोनों की रक्षा के लिए है। विदेशी सम्बन्धों के निर्वहन में यदि शक्ति-सिद्धान्त का अनुसरण किया जाय तो अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति कभी भी स्थापित नहीं हो सकती।

४. राज्य की उत्पत्ति का कारण केवल शक्ति ही नहीं, वरन् मानव-चेतना भी है जिसने नैतिक आदर्शों को ग्रहण कर लिया है। गिलक्राइस्ट ने ठीक ही कहा है, "राज्य, सरकार तथा वास्तव में सभी संस्थाएँ मानव-चेतना के परिणाम होती हैं और वे ऐसी कृतियाँ होती हैं जो मानव के नैतिक उद्देश्य को समझने के फलस्वरूप उत्पन्न हुई हैं।"

शक्ति-सिद्धान्त का मूल्य—यद्यपि शक्ति-सिद्धान्त पूर्ण रूप से सत्य नहीं है, पर पूर्ण रूप से वह असत्य भी नहीं है। शक्ति और शान्ति दोनों में पर्याप्त सम्बन्ध है। भगवान् विष्णु के एक हाथ में यदि पद्म है तो अन्य तीनों हाथों में चक्र, शंख और गदा है जो शक्ति के प्रतीक हैं। यह ठीक है कि नैतिक नियम राज्य के सार हैं, पर जब तक शक्ति द्वारा इन नियमों को क्रियान्वित नहीं किया जाता, इन नियमों का कोई महत्त्व नहीं है। कानून और शक्ति एक ही तत्त्व के स्थिर और गत्यात्मक दो पहलू हैं। उन्हें पृथक् नहीं किया जा सकता। शक्ति के अभाव में कदाचित् ही राज्य की सत्ता बनी रहे। राज्य के विकास एवं संचालन दोनों में शक्ति की आवश्यकता पड़ती है, यद्यपि यह आवश्यक है कि उस शक्ति का प्रयोग उचित ढंग से जन-साधारण के हितों के संरक्षण के लिए किया जाना चाहिए।

३. पैतृक-मातृक सिद्धान्त (Patriarchal and Matriarchal Theories)

इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य की उत्पत्ति परिवार से हुई है। वास्तव में परिवार ही सर्वप्रथम समाज की इकाई थी, अतः राज्य के जन्म के पीछे परिवार का प्रमुख हाथ रहा है। मैकाइवर (MacIver) का कथन है कि "परिवार ही प्रथम सामाजिक इकाई थी और उसी में हमको प्रथम सरकार के कीटाणु दृष्टिगोचर होते हैं। जिन आवश्यकताओं के वशीभूत परिवार का जन्म हुआ होगा प्रायः उन्हीं आवश्यकताओं के कारण नियमों की सृष्टि हुई। इस प्रकार प्रारम्भिक परिवार ही सरकार का आदिम रूप था—आदिम ही नहीं बल्कि परिवार तो सरकार का विस्तृत रूप ही था।" परिवार ही सदस्यों पर नियंत्रण रखता है; वही सदस्यों की सुरक्षा का प्रबन्ध करता है; वही आखेट और भोजन की व्यवस्था करता है। संक्षेप में, परिवार ही व्यक्तियों की समस्त सुख-सुविधाओं का ध्यान रखता है। यही राज्य का भी काम है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि परिवार ही राज्य का मूल स्रोत है। परिवार में पिता जिस रूप में परिवार के अन्य सदस्यों को नियन्त्रित करता था, वही रूप मानवीय सरकार का आदि स्रोत था। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है

कि पितृ-प्रधान परिवार से राज्य की उत्पत्ति हुई अथवा मातृ-प्रधान परिवार से? जिस सिद्धान्त के अनुसार पितृ-प्रधान परिवार से राज्य की उत्पत्ति हुई, उसे राज्य का पैतृक सिद्धान्त कहते हैं, और जिस सिद्धान्त के अनुसार मातृ-प्रधान परिवार से राज्य की उत्पत्ति हुई, उसे मातृक-सिद्धान्त कहते हैं जिन पर क्रमशः विचार किया जायगा।

पैतृक सिद्धान्त

व्याख्या—इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य, परिवार का ही विस्तृत रूप है। परिवार का गठन प्रारम्भ में केवल एक मनुष्य, उसकी स्त्री और उनके बच्चों से होता था। पिता परिवार का मुखिया था और परिवार के सब सदस्यों पर उसका पूर्ण अधिकार था। जब उसके बच्चों के ब्याह्न हुए तो परिवार का विस्तार हुआ और नवीन परिवारों की स्थापना हुई। किन्तु मूल परिवार के पिता का अधिकार अक्षुण्ण बना रहा। इससे पितृ-प्रधान परिवार का निर्माण हुआ। कालान्तर में पितृ-प्रधान परिवार में भी विस्तार हुआ और वह एक कुल (Clan) बन गया। कुल के सदस्य रक्त-सम्बन्ध के कारण एक-दूसरे के साथ सम्बद्ध थे और सब मूल परिवार के जीवित वृद्ध-पुरुष के अधिकार को स्वीकार करते थे। इस प्रकार एक कुल अपने ही विस्तार द्वारा एक कबीला (Tribe) बन गया। समय बीतने पर कबीले के कई सदस्य अपने कुल-कबीले में से निकल गये और नये प्रदेशों में बस गये। इसके परिणामस्वरूप प्रगति की इस विधि के अनुसार कई नये कबीलों की स्थापना हुई। रक्त-सम्बन्ध से सम्बद्ध कबीलों ने सामान्य उद्देश्य की पूर्ति के लिए, विशेषकर अन्य कबीलों के आक्रमणों के विरुद्ध अपनी रक्षा के लिए, मिलकर कार्य किया। इससे एक ऐसे सर्वमान्य अधिकारी की आवश्यकता प्रतीत हुई जिसकी छत्र-छाया में संभी एकत्र हो सकते थे। इस प्रकार राज्य अस्तित्व में आया। लीकॉक (Leacock) के शब्दों में—"पहले एक गृहस्थी, उसके बाद एक पितृ-प्रधान परिवार, उसके बाद एक वंश के लोगों का कबीला और अन्ततः एक राष्ट्र—इस आधार पर सामाजिक क्रमों की उत्पत्ति होती है।"[१]

पैतृक सिद्धान्त का विकास—यों तो पैतृक सिद्धान्त प्राचीन-काल से चला आ रहा है, पर आधुनिक युग में सर हेनरी मेन (Sir Henry Maine) इस सिद्धान्त के प्रबल समर्थक हैं। उन्होंने 'एन्शिएट लॉ' तथा 'द अर्ली हिस्ट्री ऑव इन्स्टीट्यूशन्स' नामक पुस्तकों में इस सिद्धान्त का समर्थन किया है। मेन के शब्दों में, "परिवार ऐसा प्रारम्भिक समूह होता है, जो सबसे बड़े पुरुष पूर्वज की सामान्य अधीनता से जुड़ा होता है। परिवारों के योग से कुल बनता है। कुलों के योग से जाति का निर्माण होता है। जातियों का योग राज्य का निर्माण करता है।"[२]

इस सिद्धान्त की तीन प्रमुख धारणाएँ हैं—

(१) पैतृक सिद्धान्त में पैतृकता मुख्य तथ्य है।

---

१. लीकॉक, एलिमेण्ट्स ऑव पोलिटिकल साइन्स, पृ० ३८

२. मेन, एन्शिएण्ट लॉ, पृ० १२८

(२) सम्बन्ध का निश्चय एक ही बाप-दादों के पुरुषों के माध्यम से होता है। स्त्री-पक्ष का उत्तराधिकारी सम्बन्ध के प्राथमिक भाग में शामिल नहीं होता।

(३) कुटुम्ब का पिता ही समस्त अधिकारों का भागी होता है। उसका अधिकार सर्वथा पूर्ण और उसका अधिकार-क्षेत्र उत्तराधिकारियों तथा उनके अन्य सम्बन्धियों तक विस्तृत होता है।

आलोचना—राज्य की उत्पत्ति का पैतृक सिद्धान्त समस्या का अति-सरलीकरण है। मैक्लेनान (McLennan) तथा अन्य विद्वान् इस बात से इनकार करते हैं कि प्रारम्भ में पितृ-प्रधान परिवार समाज की मूल इकाई थी। इन विद्वानों के अनुसार पितृ-प्रधान प्रणाली से पूर्व मातृ-प्रधान प्रणाली थी और परिवार की अपेक्षा क़बीला समाज की प्राचीनतम इकाई थी। पैतृक सिद्धान्त की अपेक्षा मातृक सिद्धान्त के पक्ष में अधिक तथ्य सामने आये हैं। समाज के आदि काल में विवाह व्यवस्था नहीं थी। एक स्त्री एक से अधिक पुरुषों के साथ विवाह करती थीं और वंशावली पिता द्वारा नहीं, प्रत्युत् माता द्वारा निर्धारित की जाती थी क्योंकि एक से अधिक पति होने के कारण यह निश्चित नहीं किया जा सकता था कि बच्चे का वास्तविक पिता कौन है। अत: प्रारम्भ में पैतृक परिवार न होकर मातृक परिवार ही होते थे।

पैतृक सिद्धान्त का महत्त्व—पैतृक सिद्धान्त में कुछ भी दोष हों पर इसमें इतना सत्य तो है ही कि परिवार, राजनीतिक समाज की प्रथम इकाई थी और राज्य के विकास के क्रम में आनुवंशिक सम्बन्ध भी एक आवश्यक तत्त्व था।

मातृक सिद्धान्त

व्याख्या—मैंक्लेनान (McLennan), मॉर्गन (Morgan) और जैंक्स (Jenks) मातृक सिद्धान्त के प्रबल समर्थक है। इन विचारकों ने प्रारम्भिक समाज में पितृ-प्रधान परिवार की सम्भावना को अस्वीकार किया है। इनके अनुसार पितृ-प्रधान परिवार वहीं सम्भव है जहाँ या तो एक-विवाह या अनेक-विवाह की संस्था विद्यमान हो जो समाज के प्रारम्भ में विद्यमान नहीं थी। विवाह का प्राचीनतम रूप बहु-पतित्व (Polyandry) था। विवाह की इस संस्था में पति और पत्नी के सामान्य सम्बन्ध विद्यमान नहीं होते; सम्बन्ध स्थिर न होकर शिथिल होता है। समाज की इस व्यवस्था में यौन-सम्बन्धों की शिथिलता होती है और रक्त-सम्बन्ध स्त्रियों से निर्धारित किया जाता है, पुरुषों से नहीं। पिता का कुल उसकी पत्नी से भिन्न होता था, क्योंकि कुल या क़बीले के बाहर ही विवाह करने की प्रथा जारी थी। इस प्रकार के मातृ-सत्तात्मक परिवारों के उदाहरण अब भी आस्ट्रेलिया एवं मलाया के आदिवासियों तथा भारत में द्रविड़ जातियों में पाये जाते हैं।

पर अधिक दिनों तक स्त्री परिवार का केन्द्र न रह सकी। पारिवारिक समस्याओं की जटिलता ने स्त्री को पुरुष की शरण में जाने को विवश किया। मातृक परिवार तभी तक कायम रहा, जब तक कि पुरुष चरवाहे का जीवन (Pastoral Life) व्यतीत करते थे। कृषि-जीवन प्रारंभ होने के साथ पैतृक परिवारों की स्थापना हुई। व्यक्तियों ने खानाबदोशी

का जीवन छोड़कर वैयक्तिक वैवाहिक जीवन व्यतीत करना चाहा। इस प्रकार मातृ-सत्तात्मक परिवारों के स्थान पर पितृ-सत्तात्मक परिवारों का उदय हुआ। अत: मातृ-सत्तात्मक सिद्धान्त, पितृसत्तात्मक सिद्धान्त का पूर्वगामी है। इनमें कोई विरोध नहीं है।

आलोचना—बहुपतित्व-प्रथा (Polyandry) आज भी संसार के कई भागों और भारत में मालबार के भागों तथा कांगड़ा की पहाड़ियों में विद्यमान है। किन्तु विषय के समर्थन में पर्याप्त प्रमाण नहीं है कि मातृ-प्रधान प्रणाली से ही समाज का प्रारम्भ हुआ। इसके अतिरिक्त स्त्री प्रजनन का साधन है। प्रकृति ने उसे पराश्रित बनाया है। शारीरिक शक्ति में दुर्बल होने के कारण वह एक ऐसी योनि द्वारा अधिकृत होती है जो शारीरिक शक्ति में उससे बलवान् है। अत:, मातृक सिद्धान्त, पैतृक सिद्धान्त का स्थान नहीं ले सकता। इतिहास दोनों ही प्रणालियों के समान उदाहरण प्रस्तुत करता है। डॉ० लीकॉक (Leacock) ने ठीक ही कहा है, "कहीं तो मातृक सिद्धान्त और कहीं पैतृक सिद्धान्त के आधार पर शासन का नियम दिखायी देता है—दोनों में से कोई भी सम्भवत: दूसरे द्वारा स्थानान्तरित किया जा सकता है।" बात कुछ भी हो, दोनों सिद्धान्तों से यह पूर्णत: सिद्ध होता है कि राज्य के विकास में परिवार ही मूल कड़ी है।

४. सामाजिक अनुबन्ध का सिद्धान्त (Theory of the Social Contract)

व्याख्या—ऐतिहासिक महत्त्व की दृष्टि से, राज्य के विषय में, सामाजिक अनुबन्ध का सिद्धान्त सबसे महत्त्वपूर्ण है। इस सिद्धान्त का अभिप्राय यह है कि प्रारम्भ में मनुष्य प्रारम्भिक अवस्था में रहता था और इस स्थिति को सुधारने के लिए उसने जान-बूझ कर पारस्परिक अनुबन्ध किया। प्रारम्भिक अवस्था का समाज राजनीतिक रूप में संगठित नहीं था। उस समय प्रत्येक व्यक्ति अपना व्यक्तिगत जीवन व्यतीत करता था; उस पर किसी प्रकार का बाह्य मानवीय बन्धन नहीं था। व्यक्तियों के न तो कोई मान्य अधिकार थे और तत्सम्बन्धी कर्त्तव्य ही। अत:, उन पर कोई बाह्य नियम लागू नहीं होते थे। प्राकृतिक अवस्था में रहने वाले मनुष्यों पर केवल प्रकृति के नियम या प्राकृतिक नियम (Law of Nature or Natural Law) ही लागू होते थे।

प्राकृतिक अवस्था कैसी थी, इस विषय में सामाजिक अनुबन्ध सिद्धान्त के विचारकों में पर्याप्त मतभेद है। कुछ ने इसे 'आदर्श सरलता और परम सुख' का राज्य कहा है। कुछ अन्य विचारकों ने इसे 'अन्धकारपूर्ण और कष्टपूर्ण' राज्य के रूप में चित्रित किया है और इसे 'जंगली हिंसक' राज्य कहा है, जहाँ 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाली कहावत चरितार्थ होती थी। औरों के अनुसार यह "अरक्षा की दशा थी, जो यद्यपि जंगलीपन की नहीं थी, लेकिन जिससे कुछ स्पष्ट असुविधाएँ तो होती ही थीं।" जो कुछ भी हो, सभी विचारक सहमत हैं कि जो लोग प्राकृतिक अवस्था में रहते थे उन्हें अन्तत:, किन्हीं कारणों से, उसे छोड़ना पड़ा और उसकी जगह नागरिक समाज या सर्वमान्य राज्य को स्थान देना पड़ा। अब मनुष्यों के आचरण प्राकृतिक नियम द्वारा संचालित न होकर, मनुष्य निर्मित नियमों द्वारा संचालित होने लगे।

यदि मनुष्यों का प्राकृतिक जीवन संघर्षमय था तो उसके निराकरण के लिए और यदि वह शान्तिमय था तो उसकी सुरक्षा के लिए उन्होंने पारस्परिक अनुबन्ध द्वारा नागरिक समाज की स्थापना की। परस्पर सहमति द्वारा सामाजिक नियमों का निर्माण हुआ। इस प्रकार, प्राकृतिक नियम की जगह मानवीय नियम और प्राकृतिक अधिकारों की जगह सामाजिक अधिकारों का प्रादुर्भाव हुआ। ये अधिकार पारस्परिक रूप से स्वीकृत सत्ता द्वारा घोषित एवं आत्मार्पित किये गये।

राज्य के विकास की यह सारी प्रक्रिया अनुबन्ध के फलस्वरूप थी। वह "व्यक्ति के निजी स्वार्थों द्वारा किया हुआ सौदा था, जिसमें सुख-सुविधाओं के बदले में दायित्वों का विनिमय किया गया था।" पर इस अनुबन्ध की मूल धारणाओं के विषय में समाज दार्शनिकों में पर्याप्त मतभेद है जिनका आगे वर्णन किया जायगा। सामाजिक अनुबन्ध की शर्तों का वर्णन करने से पहले उसके इतिहास पर थोड़ा दृष्टिपात कर लेना समीचीन होगा।

सामाजिक अनुबन्ध का इतिहास—सामाजिक अनुबन्ध का सिद्धान्त अत्यन्त प्राचीन है। ग्रीस में सबसे पहले सोफिस्टों ने इसका प्रतिपादन किया। प्लेटो ने अपनी क्राइटो (Crito) और रिपब्लिक (Republic) रचनाओं में इस सिद्धान्त का उल्लेख किया है। इसके विपरीत, अरस्तू ने अनुबन्ध सिद्धान्त को अस्वीकार करते हुए लिखा है कि राज्य एक प्राकृतिक व्यवस्था है। मध्ययुग तथा बाद में भी सामाजिक अनुबन्ध के सिद्धान्त ने राजनीतिक लेखकों के विचारों को पर्याप्त प्रभावित किया। मेनगोल्ड (Manegold) ने इस मत का समर्थन किया कि यदि "राजा उस समझौते को भंग करता है जिसके अनुसार उसे राजा चुना गया था तो उसे अपने पद से हटाया जा सकता है।"[१]

सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में इसके समर्थकों में पर्याप्त वृद्धि हुई। हूकर (Hooker) सर्वप्रथम वैज्ञानिक लेखक थे जिन्होंने सामाजिक अनुबन्ध के सिद्धान्त की तर्कपूर्ण व्याख्या की। किन्तु इसका वास्तविक समर्थन हॉब्स (Hobbes), लॉक (Locke) तथा रूसो (Rousseau) ने किया। सामाजिक अनुबन्ध-सिद्धान्त का हमारा विवेचन इन्हीं तीन दार्शनिकों के विचारों पर आधारित होगा। इन तीनों लेखकों को सामूहिक रूप से अनुबन्धवादी (Contractualists) कहा जाता है।

भारतीय सामाजिक चिन्तन-प्रणाली में भी इसका उल्लेख पाया जाता है। चन्द्रगुप्त मौर्य के सचिव कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में इसका उल्लेख किया है, "बड़ी मछलियाँ छोटी मछलियों को हड़प जाती हैं, इस कहावत के अनुसार अशासन से पीड़ित लोगों ने सर्वप्रथम मनु को अपना राजा चुना; और अपने उत्पादित अनाज का १/६ भाग तथा अपनी व्यापारिक वस्तुओं का १/१० भाग राज-सत्ता को देना स्वीकार किया। इस धन की सहायता द्वारा राजा ने अपने प्रजाजनों की सुरक्षा और शान्ति को स्थिर रखने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लिया।"[२]

---

१. सवाइन द्वारा उद्धृत, ए हिस्ट्री ऑव पोलिटिकल थियरी, पृ० २२१

२. अर्थशास्त्र, बुक I, अध्याय १२

अब हम सामाजिक अनुबन्ध सिद्धान्त की व्याख्या उसके विभिन्न पहलुओं का दिग्दर्शन करते हुए प्रस्तुत करेंगे।

सामाजिक अनुबन्ध-सिद्धान्त (हॉब्स, लॉक और रूसो)

सामाजिक अनुवन्ध-सिद्धान्त का विवेचन हम पाँच दृष्टिकोण से करेंगे—(१) मानवस्वभाव की व्याख्या, (२) प्राकृतिक अवस्था, (३) समझौतें के कारण, (४) समझौते का रूप, और (५) राजसत्ता का स्वरूप। फिर सामाजिक अनुबन्ध-सिद्धान्त का मूल्यांकन प्रस्तुत किया जायगा।

मानव-स्वभाव की व्याख्या—हॉब्स के अनुसार मनुष्य स्वार्थी, असामाजिक, झगड़ालू, अविश्वासी, असहयोगी, युद्ध-प्रिय, लोभी, मक्कार, अहंकारी तथा एक-दूसरे का शत्रु है। पर उसकी यह अवस्था अधिक दिनों तक कायम नहीं रह सकती। उसकी सुख की इच्छा, मृत्यु का भय तथा इच्छित वस्तुओं की प्राप्ति की आशा, उसे शान्ति और मैत्री स्थापित करने की प्रेरणा प्रदान करती है और वह एक व्यक्ति (राज्य) के अधीन हो जाता है। लॉक एवं रूसो ने मानव-स्वभाव की इसके बिलकुल विपरीत व्याख्या की है। लॉक के अनुसार मनुष्य स्वभाव से सामाजिक, सहयोगी, प्रेमी, दयावान्, शान्तिप्रिय, नैतिक और परस्पर समता का भाव रखने वाला है। वह स्वभावतः स्वतन्त्रता-प्रेमी है। रूसो के मत में भी, मनुष्य स्वभावतः अच्छा है। उसमें स्वार्थ के साथ परार्थ की भी भावना विद्यमान है। वह स्वतन्त्र, समान और आत्म-निर्भर है। उसकी आवश्यकताएँ सीमित हैं। घृणा, द्वेष, अहंकार आदि का उसमें आत्यन्तिक अभाव है। वह निर्भय, सन्तुष्ट और शान्तिपूर्ण है। इस प्रकार हम देखते हैं कि एक ओर हॉब्स और दूसरी ओर लॉक और रूसो के मानव-स्वभाव की व्याख्याएँ परस्पर विरुद्ध हैं।

प्राकृतिक अवस्था—मानव की प्राकृतिक अवस्था के विषय में भी हॉब्स, लॉक और रूसो में पर्याप्त मतभेद है। हॉब्स के अनुसार प्राकृतिक अवस्था अशान्ति, युद्ध, भय और जंगलीपन की अवस्था है। जीवन एकाकी, दीन, अपवित्र, पाशविक एवं क्षणभंगुर है। सत्य-असत्य, न्याय-अन्याय, पाप-पुण्य और अच्छाई-बुराई का यहाँ कोई स्थान नहीं है। व्यक्ति स्वच्छन्द और स्वतन्त्र है। निरन्तर संघर्ष की अवस्था है। मत्स्य-न्याय या 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाली कहावत सब जगह चरितार्थ होती है। किसी प्रकार का मानवीय नियम यहाँ लागू नहीं होता। वह केवल प्रकृति के नियमों को मानता है। लॉक के विचार हॉब्स के बिलकुल विपरीत है। वह प्राकृतिक अवस्था को शान्ति, सम्पन्नता, सहयोग, समानता, स्वतन्त्रता और सामाजिकता की अवस्था मानता है जिसमें जीवन प्रेम, मित्रता और सद्भावना पर आधारित है। रूसो भी लॉक से मिलती-जुलती प्राकृतिक अवस्था का वर्णन करता है। उसके अनुसार यह अवस्था स्वतन्त्रता, समानता, भ्रातृत्व, शान्ति, सन्तोप, सुख एवं आत्म-निर्भरता की आदर्श अवस्था है।

अनुबन्ध के कारण—अनुबन्ध के कारण को लेकर भी तीनों दार्शनिकों में पर्याप्त मतभेद है। हॉब्स के अनुसार प्राकृतिक अवस्था शक्ति-सिद्धान्त द्वारा संचालित

होती थी। चारों ओर बलवानों का राज्य था और निर्बल हर जगह सताये जाते थे। यह अवस्था असह्य थी जो अनिश्चित काल तक स्थिर नहीं रह सकती थी। मनुष्य संहार और मृत्यु से अत्यन्त भयभीत था। उसे जीवन और सम्पत्ति की रक्षा की आवश्यकता महसूस हुई। इन कारणों से सब मनुष्यों ने मिलकर इस संहारक अवस्था को त्याग देने का विचार किया। उन्हें एक ऐसी शक्ति (राज्य) की आवश्यकता प्रतीत हुई जो उनके जीवन और सम्पत्ति की रक्षा करे, कानून बनाये तथा समाज में उसे क्रियान्वित करे। लॉक के अनुसार प्राकृतिक अवस्था आदर्श रूप होते हुए भी अव्यावहारिक एवं असुविधाजनक थी क्योंकि उसमें कोई सुनिश्चित, प्रकट एवं सर्वमान्य अवस्था नहीं थी जो उचित-अनुचित का निर्णय कर पारस्परिक मतभेद दूर कर सके। प्राकृतिक नियमों को स्पष्ट करने और न्याय तथा कानूनों का पालन करवाने के लिए एक शक्ति की आवश्यकता हुई। अतः लोगों ने मिलकर समझौता किया। रूसो के अनुसार भी प्राकृतिक अवस्था एक आदर्श अवस्था थी। इस अवस्था में जब परिवर्तन हुआ तो समझौते की आवश्यकता हुई। सभ्यता और संस्कृति के विकास के साथ असमानता, अहंकार, स्वार्थ, युद्ध, हिंसा, द्वेष, भेदभाव और मानवता का पतन आदि बातें घटित हुईं। अतः जीवन और सम्पत्ति की रक्षा के लिए तथा स्वतन्त्र, समान और आदर्श जीवन के क्षेम के लिए राज्य और समाज की स्थापना हुई।

अनुबन्ध का स्वरूप—हॉब्स ने जिस अनुबन्ध की कल्पना की है वह सामाजिक अनुबन्ध है क्योंकि हॉब्स राज्य तथा समाज में कोई भेद नहीं मानता था। यह अनुबन्ध प्रत्येक का सबके साथ और सबका प्रत्येक के साथ हुआ जिसके अनुसार प्रत्येक ने अपनी प्राकृतिक अवस्था को त्याग दिया। सभी व्यक्तियों ने अपनी शक्ति, स्वतन्त्रता और अधिकार एक व्यक्ति को समर्पित कर दिया जिसे 'लेवाथा' कहा गया। इस प्रकार राजसत्ता अनुबन्ध के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुई। यह अनुबन्ध पूर्ण, निरंकुश, अटल और अखण्ड है। इससे समाज और राज्य दोनों की स्थापना हुई। लॉक ने राज्य की स्थापना में दो प्रकार के अनुबन्ध का उल्लेख किया है—पहले अनुबन्ध से समाज की और दूसरे से राज्य की स्थापना हुई। एक अनुबन्ध मनुष्यों ने आपस में किया तथा दूसरा सामूहिक रूप से समाज तथा राजा के बीच हुआ। इस प्रकार यह अनुबन्ध सामाजिक और राजनीतिक दोनों प्रकार का है। इस अनुबन्ध में व्यक्ति के सभी अधिकार समर्पित नहीं हो जाते, वरन् वह अपने कुछ ही अधिकार समाज और राज्य को समर्पित करता है। इससे एक सीमित राजसत्ता की स्थापना होती है, पर इसके लिए सब मनुष्यों का एकमत होना आपश्यक होता है। रूसो के अनुसार अनुबन्ध मनुष्य की व्यक्तिगत इच्छा और उसकी सामान्य इच्छा के बीच होता है। प्रत्येक मनुष्य समाज में अपने अधिकार और स्वतन्त्रता को केन्द्रित करके उन्हें वास्तविक रूप में पा लेता है; कोई कुछ खोता नहीं है। सामूहिक रूप से किया गया यह अनुबन्ध इस प्रकार सामान्य इच्छा का रूप ले लेता है। मनुष्य में नैतिकता की भावना इसी से आती है। यह समझौता एक ही है जिससे राजनीतिक समाज की स्थापना होती है।

राजसत्ता का स्वरूप—राजसत्ता के विषय में भी हॉब्स, लॉक और रूसो ने

भिन्न-भिन्न मत व्यक्त किये हैं। हॉब्स के अनुसार अनुबन्ध के फलस्वरूप निरंकुश, स्वेच्छाचारी, सर्वोच्चसत्ताधारी राजा का प्रादुर्भाव होता है। राजा के ऊपर कोई नियंत्रण नहीं होता। उसकी शक्ति असीम और अधिकार अनियंत्रित होते हैं। राजसत्ता के विरुद्ध विद्रोह करना अक्षम्य अपराध समझा जाता है। राजा किसी के प्रति उत्तरदायी नहीं होता। वह न्यायी होता है और कभी भी किसी के प्रति अन्याय नहीं कर सकता। गृह-युद्ध, अशान्ति और अराजकता के युग में हॉब्स ने ऐसी राजसत्ता को उपयुक्त समझा। लॉक, राजसत्ता को इस प्रकार का एकपक्षीय और अनियंत्रित अधिकार देने का विरोध करता है। लॉक का कथन है कि राजसत्ता जनता और शासक के बीच अनुबन्ध का परिणाम है; अतः वह दोनों में विभाजित है। इस प्रकार उसकी सत्ता निरंकुश, स्वेच्छाचारी और असीम कभी नहीं हो सकती। चूँकि समझौता समाज व शासक में हुआ है, अतः शासक उससे बाध्य है। शासक और शासित प्रजा दोनों समझौते से बाध्य हैं। यदि राजा जनकल्याण को अपना लक्ष्य नहीं बनाता, तो उसे पदच्युत किया जा सकता है और जनता उसके विरुद्ध विद्रोह कर सकती है। रूसो के अनुसार राज-सत्ता किसी एक व्यक्ति अथवा समूह में निहित नहीं है, वरन् वह सम्पूर्ण समाज व जनता में निहित है जिसे उसने सामान्य इच्छा (General Will) का नाम दिया। सामान्य इच्छा, समाज की इच्छा है जो सदा शुभ, नैतिक, न्यायिक तथा उचित है। अतः राज्य की शक्ति का आधार सामान्य इच्छा है। यह सामान्य इच्छा 'सत्य' पर आधारित होती है जो अखण्ड, अटल, अविभाज्य, असीमित, आदर्श और सर्वोच्च है। यह कानून का स्रोत है तथा सामान्य जनहित इसका लक्ष्य है। रूसो ने इस प्रकार वास्तविक लोकतन्त्र की आधारशिला रखी।

यदि हॉब्स, लॉक और रूसो के मतों का तुलनात्मक विवेचन किया जाय तो पता लगेगा कि जो कुछ हॉब्स ने कहा है, लॉक ने उसका खण्डन किया है और रूसो ने दोनों के बीच समन्वय करने का प्रयत्न किया है। निम्न बातों से यह भली-भाँति स्पष्ट हो जायगा—

१. यदि हॉब्स के मत में मनुष्य स्वार्थी, युयुत्सु और बुरा है, तो लॉक के विचार में वह निःस्वार्थी शान्तिप्रिय और अच्छा है और रूसो के अनुसार वह स्वार्थी भी है और निःस्वार्थी भी; स्वतन्त्र भी है, परतन्त्र भी; युद्धप्रिय भी है, शान्तिप्रिय भी; प्रकृति की अवस्था में वह एक आदर्श पशु भी है और सभ्यता के युग में वह पतनोन्मुख मनुष्य भी है।

२. हॉब्स के मत में प्राकृतिक अवस्था युद्ध, द्वेष और कलह की है, तो लॉक के मत में वह शान्ति और सहयोग की तथा रूसो के मत में वह आदर्श स्वतंत्रता और समानता की अवस्था है।

३. हॉब्स केवल एक समझौता मानता है जो सामाजिक है, लॉक दो समझौते में विश्वास करता है जो क्रमशः सामाजिक और राजनीतिक है, पर रूसो एक ही समझौता मानता है जो सामाजिक और राजनीतिक दोनों युगपद हैं।

४. यदि हॉब्स के अनुसार राजसत्ता निरंकुश और स्वेच्छाचारी है तो लॉक के अनुसार वह सीमित और परिमित है और रूसो के अनुसार वह पुनः अखण्ड, असीम तथा अविभाज्य एवं सामान्य इच्छा पर आधारित है।

५. हॉब्स राजतन्त्र का समर्थक है, लॉक वैधानिक राजतन्त्र का और रूसो लोकतन्त्र का। रूसो प्रारम्भ तो लॉक की भाँति करता है, पर अन्त हॉब्स की भाँति।

आलोचना

१. ऐतिहासिक दृष्टिकोण से अनुबन्ध सिद्धान्त एक कोरी कल्पना है। इतिहास के आदि काल में ऐसा कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता कि राज्य की रचना विचारपूर्ण ढंग से स्वेच्छापूर्ण समझौते से हुई हो। सभ्यता के आदि काल में जब लोगों को सरकार की कला का तनिक भी अनुभव नहीं था, यह कल्पना भी नहीं की जा सकती कि लोगों ने किसी राजनीतिक संगठन के निर्माण के बारे में सोचा हो। वास्तविकता यह है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और वह केवल समाज में ही रह सकता है। समाज में रहने के लिए यह आवश्यक है कि वह अपनी स्वेच्छाचारिता को प्रतिबन्धित करे। इन ऐच्छिक प्रतिबन्धों के कारण ही सरकार का जन्म हुआ। इस प्रकार समाज और राज्य प्राकृतिक संस्थाएँ हैं। इनका जन्म स्वतः हमारी सामाजिक आवश्यकताओं के कारण हुआ। इनके लिए किसी सामाजिक अनुबन्ध की आवश्यकता नहीं थी।

२. सामाजिक अनुबन्धवादियों ने मनुष्यों की एक प्राकृतिक अवस्था का वर्णन किया है जिसमें मानव-निर्मित नियमों का आत्यन्तिक अभाव था। पर यह एक कोरी कल्पना ही है। मानव-शास्त्रियों का कथन है कि प्रारम्भिक अवस्था के लोग भी किसी-न-किसी प्रकार की नियमित जिन्दगी व्यतीत करते थे और वे रीति-रिवाजों और परम्पराओं के पूरे भक्त थे। अतः अनुबन्धवादियों की प्राकृतिक अवस्था नाम की कोई वस्तु वास्तव में है ही नहीं।

३. सामाजिक अनुबन्ध-सिद्धान्त के अनुसार व्यक्तियों ने अपनी व्यक्तिगत रक्षा और सम्पत्ति की सुरक्षा के लिए आपस में अनुबन्ध किया। किन्तु इतिहास इसका साक्षी नहीं है। प्राचीनतम काल में नियम व्यक्तिगत न होकर सामाजिक थे। समाज की इकाई व्यक्ति न होकर परिवार था। सम्पत्ति सबकी समझी जाती थी। उस काल में रीति-रिवाज के नियम बनते थे और प्रत्येक आदमी समाज में अपने दर्जे के अन्दर पैदा होता था। यह पसन्द अथवा स्वैच्छिक प्रबन्ध का विषय नहीं था। "जो दास के रूप में पैदा हुआ है, उसे दास ही रहने दो; शिल्पकार, शिल्पकार ही रहेगा; पुराहित या पादरी पुरोहित या पादरी ही रहेगा।" यह पदस्थिति की आज्ञा है और हम किसी दास द्वारा कोई अनुबन्ध करने की स्वतन्त्र पसन्द की कल्पना भी नहीं कर सकते। अतः सर हेनरी मेन के अनुसार "अनुबन्ध प्रारम्भिक नहीं है, प्रत्युत समाज का लक्ष्य है।"[१]

४. प्राकृतिक अधिकारों और प्राकृतिक स्वतन्त्रता का विचार तर्कहीन और भ्रमपूर्ण है। प्राकृतिक अवस्था में स्वतन्त्रता का कोई अस्तित्व ही नहीं हो सकता। नियम, स्वतन्त्रता की पहली शर्त है। संयम या निरोध के अभाव में स्वतन्त्रता शुद्ध एवं सरल

---

१. Contract is not the beginning, but the end of society. —मेन, एन्शिएण्ट लॉ, पृ० १०८-११०

अराजकता है। चूँकि प्राकृतिक दशा पूर्व-राजनीतिक और पूर्व-सामाजिक है, इसलिए उस पर कोई नागरिक नियम लागू नहीं होता। अधिकारों की उत्पत्ति समाज में ही होती है और प्रत्येक अधिकार के साथ तदनुरूप कर्तव्य संयुक्त होता है। यदि समाज ही न हो तो हम अधिकारों के विषय में सोच ही नहीं सकते। अत:, समाज के उत्पन्न होने के पूर्व अधिकारों का अस्तित्व नहीं था।

५. यदि सामाजिक अनुबन्ध-सिद्धान्त का तर्क-पूर्ण विश्लेषण किया जाय तो यह कभी भी मान्य नहीं हो सकता। व्यक्ति और राज्य के बीच का सम्बन्ध स्वेच्छापूर्वक स्थापित नहीं किया गया है। हममें से प्रत्येक को अनिवार्यत: राज्य का सदस्य होना पड़ता है। "हममें से प्रत्येक व्यक्ति राज्य में जन्म लेता है, हम राज्य के भाग हैं और राज्य हमारा अंग है।" वर्क (Burke) ने ठीक ही कहा है, "राज्य को काली मिर्च और कहवा, वस्त्र या तम्बाकू अथवा ऐसे ही अन्य घटिया कारोबार के हिस्सेदारी के समझौते के समान नहीं समझना चाहिए जिसे अस्थायी स्वार्थ के लिए कर लिया और जब दोनों पक्षों में से किसी ने चाहा तो भंग कर दिया....इसे पवित्रता की दृष्टि से देखना होगा.....यह साझेदारी पूर्ण वैज्ञानिक है, यह साझेदारी पूर्ण कलात्मक है। यह हर उपाय से और हर प्रकार से पूर्ण साझेदारी है। चूँकि इस प्रकार की हिस्सेदारी का लक्ष्य कई पीढ़ियों में भी प्राप्त नहीं किया जा सकता, इसलिए यह हिस्सेदारी न केवल उन लोगों में हो जाती है जो जी रहे हों प्रत्युत् उनमें भी जो मर चुके हैं और उनमें भी जिन्हें जन्म लेना है।"

सिद्धान्त का महत्त्व—सामाजिक अनुबन्ध-सिद्धान्त गलत होते हुए भी इसका महत्त्व है। यह स्वीकार करता है कि सरकार लोगों की अनुमति पर निर्भर रहती है। लॉक एवं रूसो ने स्पष्ट घोषणा की कि, "राजा अपनी शक्ति परमात्मा से प्राप्त नहीं करता, बल्कि लोगों से प्राप्त करता है और वह केवल अच्छी सरकार की शर्त के आधार पर ही उस पद पर बना रह सकता है।" इस प्रकार अनुबन्ध-सिद्धान्त ने "उत्तरदायित्वहीन शासकों तथा वर्गीय हितों का सामना करके अपने काल में हितकारी कार्य किया है।"

५. विकासवादी सिद्धान्त (The Evolutionary Theory)

अब तक राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जितने सिद्धान्तों का विवेचन किया गया, उनमें से एक ने भी राज्य की उत्पत्ति पर पूर्ण प्रकाश नहीं डाला। राज्य न तो दैवी है, न वह शक्ति पर आधारित है, न परिवार का विकास है और न सामाजिक समझौते का ही परिणाम है। अर्थात् राज्य का किसी प्रकार निर्माण नहीं हुआ, अपितु वह विकास का परिणाम है। वास्तव में वह एक प्राकृतिक संस्था है जिसका जन्म मानव-जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हुआ है और जो अच्छे जीवन के निमित्त चल रहा है। विकासात्मक सिद्धान्त के अनुसार राज्य उत्पत्ति एवं विकास का परिणाम है। यह विकास क्रमश: एवं निरन्तर बहुत समय तक चलता रहा और अन्त में उसने वर्तमान राज्य का जटिल रूप धारण कर लिया। बर्जेस (Burgess) ने ठीक ही कहा है कि राज्य "मानव-समाज का निरन्तर विकास है जिसका आरम्भ अत्यन्त अधूरे और विकृत किन्तु

उन्नतिशील रूपों में अभिव्यक्त होकर मनुष्यों के एक समग्र एवं सार्वभौम संगठन की ओर विकसित हुआ है।"[१] मानव-जीवन के प्रारम्भ में ही वे परिस्थितियाँ विद्यमान थीं जिन्होंने धीरे-धीरे विकसित होकर राज्य का सुव्यवस्थित रूप धारण कर लिया।

वस्तुतः यह निश्चित करना अत्यन्त कठिन है कि राज्य कब और कैसे अस्तित्व में आया। इतिहास, नृवंश विज्ञान, शारीरिक विज्ञान और तुलनात्मक भाषा विज्ञान के अनुसंधानों द्वारा राज्य के विकास पर पर्याप्त प्रकाश पड़ा है। राज्य के विकास का क्रम भी सब जगह एक-सा नहीं रहा है। प्रकृति, परिस्थिति और स्वभाव के भेदों के कारण विभिन्न समयों, अवस्थाओं और स्थानों में राज्य के विकास का क्रम भी भिन्न रहा है। जैसा कि सुमनर (Sumner) और केलर (Keller) ने कहा है, "चूँकि विकास के समयों में कोई निश्चित विभाजन रेखाएँ अथवा दरारें नहीं हैं, बल्कि केवल परिवर्तन के क्षेत्र है, यह कहना कि राज्य का उद्भव सबसे पहले किस समय होता है, उसी प्रकार असम्भव है जिस प्रकार यह निश्चित करना असम्भव है कि नैतिक प्रथाएँ कब कानून बन जाती हैं या किस समय बालक, युवक और युवक, प्रौढ़ बन जाता है।"[२] जिस प्रकार भाषा और मनुष्य की नैतिक चेतना का क्रमशः विकास हुआ है, ठीक उसी प्रकार राज्य का विकास भी धीरे-धीरे हुआ है। राज्य के विकास में कई कारणों और तत्त्वों का हाथ रहा है। उनमें से प्रमुख ४ तत्त्व हैं—(१) रक्त-सम्बन्ध, (२) धर्म, (३) शक्ति और (४) राजनीतिक चेतना। इन प्रमुख तत्त्वों का सविस्तार वर्णन समाज के विकासवादी सिद्धान्त का विवेचन करते समय कर दिया गया है।[३] यहाँ दुबारा उनका वर्णन करना अनावश्यक है। संक्षेप में यहाँ इतना ही वर्णन किया जा सकता है कि राज्य से पूर्व परिवार थे जो राज्य के छोटे रूप थे। धर्म की भीरुता ने उसे एकता प्रदान की। शक्ति ने कुटुम्ब को जाति में, जाति को कबीलों में तथा कबीलों को राज्य रूप में परिणत किया। राजनीतिक चेतना ने राज्य के रूप को हमारे सामने स्पष्ट किया। इन चारों तत्त्वों ने राज्य के विकास में पर्याप्त योगदान किया।

राज्य का स्वरूप
(Nature of the State)

राज्य के स्वरूप के सिद्धान्तों का पूर्ण विवेचन करना तो राजनीति-शास्त्र का विषय है। समाज-दर्शन में राज्य के स्वरूप विषयक सिद्धान्तों के दार्शनिक आधार का ही वर्णन किया जा सकता है। राज्य सम्बन्धी अवधारणाओं का समाज-दर्शन में एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। अतः उनका दर्शनिक विवेचन यहाँ प्रस्तुत करना कोई अप्रासंगिक न होगा।

राज्य के स्वरूप पर विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार व्यक्त किये गये हैं। समाजशास्त्रियों की दृष्टि में राज्य, समाज का ही एक रूप है। नीतिशास्त्रियों के

---

१. बर्जेस, पोलिटिकल साइन्स एण्ड कॉन्स्टिट्यूशनल लॉ, वॉल्यूम १, पृ० ५९
२. सुमनर एण्ड केलर, द साइन्स ऑव सोसाइटी, वॉल्यूम १, पृ० ६९५
३. इसी पुस्तक के 'समाज' विषयक अध्याय में देखिये।

अनुसार, राज्य एक नैतिक संस्था है जिसका उद्देश्य मनुष्यों के नैतिक लक्ष्यों की पूर्ति करना है। ऐतिहासिक दृष्टि से राज्य मानव-इतिहास की कृति है और विकासशील संस्था होने के कारण उसके स्वरूप एवं आदर्शों में निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण के अनुसार राज्य एक ऐसी संस्था है जिसके कार्य-कलाप मनोवैज्ञानिक नियमों द्वारा संचालित होते हैं। राजनीतिशास्त्र के अनुसार राज्य एक राजनीतिक संगठन है जो आन्तरिक एवं बाह्य शान्ति की स्थापना के लिए निर्मित किया गया है। विधि-शास्त्रीय दृष्टिकोण के अनुसार राज्य एक कानूनी संस्था है जो विधान के अनुसार मनुष्यों पर शासन करती है और उनके वैधानिक अधिकारों की रक्षा करती है। व्यक्तिवादियों के अनुसार राज्य साध्य न होकर व्यक्ति की स्वतन्त्रता को अक्षुण्ण रखने का साधन मात्र है। विज्ञानवादी विचारकों के अनुसार राज्य, मनुष्य के हित और कल्याण का एक साधन-मात्र न होकर स्वयं साध्य होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि विभिन्न दार्शनिकों ने राज्य के स्वरूप के विषय में विभिन्न धारणाएँ व्यक्त की हैं। यहाँ हम राज्य के स्वरूप के विषय में पाँच प्रमुख दार्शनिक विचारों का संक्षेप में विवेचन करेंगे। वे निम्नलिखित हैं—

१. विधिशास्त्रीय सिद्धान्त (Juristic Theory),
२. जैविक सिद्धान्त (Organic Theory),
३. सामाजिक समझौते का सिद्धान्त (Social Contract Theory),
४. विज्ञानवादी सिद्धान्त (Idealistic Theory),
५. मार्क्सवादी सिद्धान्त (Marxian Theory)।

१. विधिशास्त्रीय सिद्धान्त (Juristic Theory)

राज्य एक व्यक्ति के रूप में (State as a Person)—विधिशास्त्रीय सिद्धान्त के अनुसार राज्य एक कानूनी संस्था है जो विधि निर्माण करती है, उसकी व्याख्या करती हैऔर फिर उसे कार्य-रूप में परिणत भी करती है। वह स्वयं भी कानून का अनुसरण करती है और इसी कारण जनता को कानून के अनुसार कार्य करने के लिए बाध्य करने का उसे अधिकार प्राप्त होता है। कानून के निर्माण के सम्बन्ध में उसकी शक्ति असीम और उसका क्षेत्र सर्वव्यापक होता है। संक्षेप में—राज्य कानून है और कानून का एकमात्र स्रोत राज्य है।

राज्य का व्यक्तित्व—राज्य के स्वरूप को कानूनी मानने के परिणामस्वरूप विधिशास्त्रियों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि राज्य का एक कानूनी व्यक्तित्व है। अन्य शब्दों में, राज्य कानून की वह कृति है जिसका अपना एक व्यक्तित्व होता है, जिसकी एक चेतना होती है तथा जिसकी एक इच्छा होती है। यह सब लगभग उसी प्रकार होता है जिस प्रकार एक साधारण व्यक्ति का व्यक्तित्व, चेतना तथा इच्छा होती है। राज्य व्यक्तियों का समुदाय-मात्र नहीं है; राज्य का एक पृथक् व्यक्तित्व तथा उसकी एक पृथक् सत्ता होती है। उसके अपने हित, अपने अधिकार, अपने ध्येय, अपने उद्देश्य तथा उन्हें

प्राप्त करने के अपने उपाय होते हैं। सारांश यह है कि राज्य का अपना एक व्यक्तित्व है और वह उसी प्रकार कार्य करता है जिस प्रकार कोई व्यक्ति। व्यक्तियों की तरह राज्यों की भी सम्पत्ति होती है, वह उसे बेच सकता है तथा और सम्पत्ति खरीद सकता है।

राज्य रूपी व्यक्ति के हित उन व्यक्तियों से पृथक् और भिन्न हो सकते हैं जिनसे वह बना होता है क्योंकि उसका हित उन व्यक्तियों तक ही सीमित नहीं होता जो किसी विशेष समय पर उसके सदस्य होते हैं, अपितु वह उन व्यक्त्यों के हितों तक भी व्यापक होता है जो भविष्य में उसके सदस्य हो सकते हैं। यही कारण है कि राज्य को ऐसे भी कानून बनाने का अधिकार होता है जो वर्तमान पीढ़ी के मनुष्यों के लिए अहितकर है पर भविष्य की पीढ़ी के मनुष्यों के लिए हितकर है। इस प्रकार राज्य के हित मनुष्यों के हितों से अधिक व्यापक और स्थायी होते हैं। राज्य के व्यक्तित्व की सत्ता और उसका अस्तित्व व्यक्तियों की सत्ता से पूर्णतः पृथक् एवं स्थायी माना जाता है।

विधिशास्त्रीय सिद्धान्त के समर्थकों में गीर्के, टीटस्के, ब्लंशली और जेलीनेक आदि जर्मन लेखकों का विशेष स्थान है। गीर्के ने तो यहाँ तक कहा है कि केवल राज्य का ही नहीं, बल्कि सभी मानव-संस्थाओं का वास्तविक व्यक्तित्व होता है और वे व्यक्ति की तरह ही इच्छा तथा कार्य कर सकती है। ब्लंशली का कथन है कि "राज्य मनुष्यों का एक ऐसा समुदाय है जो एक निश्चित प्रदेश पर, शासक और शासित तथा एक नैतिक पुल्लिग व्यक्तित्व के रूप में संगठित है।"[१] ब्लंशली ने राज्य को एक नैतिक संगठन माना है तथा उसका व्यक्तित्व पुरुषोचित गुणों से सम्पन्न है। उसके अनुसार राज्य पुल्लिग तथा चर्च स्त्रीलिंग है। इसका कारण केवल यही है कि जर्मन भाषा में लोग राज्य और चर्च को इन्हीं लिंगों में प्रयोग करते हैं। इन लिंगों के प्रयोग में एक बहुत बड़ा रहस्य छिपा है। यह प्रयोग इस कारण है कि राज्य-प्रशासन के कार्य का सम्पादन जितनी निपुणता से पुरुष कर सकता है, स्त्रियाँ उतनी निपुणतापूर्वक नहीं कर सकतीं। स्त्रियाँ परिवार और धर्म के कामों में विशेष निपुण होती हैं। इतना होते हुए भी यह कहना पड़ेगा कि ब्लंशली ने इस तथ्य को अतिरंजित रूप में व्यक्त किया है। उपमा-उपमान के आधार पर निकाले गये निष्कर्ष सम्भाव्य ही होते हैं।

आलोचना

१. विधिशास्त्रीय सिद्धान्त की बड़ी आलोचना की गयी है। कुछ विचारकों के अनुसार राज्य ही कानून का एकमात्र स्रोत नहीं है। कानून का स्रोत राज्य न होकर वे प्रथाएँ, परम्पराएँ एवं मनुष्य के व्यवहार होते हैं जो दीर्घकाल से समाज में प्रचलित होते हैं। दुग्वी (Duguit) जैसे विधिशास्त्रियों का तो यहाँ तक विचार है कि कानून की सत्ता तो राज्य के अस्तित्व के पहले भी विद्यमान थी। जब राज्य बना तो उसने पहले से प्रचलित प्रथाओं, परम्पराओं आदि को स्वीकार कर लिया। अतः, केवल राज्य को ही कानून का स्रोत नहीं माना जा सकता।

---

१. ब्लंशली, द थियरी ऑव द स्टेट, बुक I, अध्याय १

२. राज्य के व्यक्ति-रूप होने की भी पर्याप्त आलोचना की गयी है। राज्य के कानूनी व्यक्तित्व की बात कोरी कल्पना है और उसे कोई वास्तविक शक्ति अथवा अधिकार देने की बात करना सर्वथा अनुचित है। वास्तविकता यह है कि जब हम राज्य को कानूनी व्यक्तित्व प्रदान करते हैं तो हमारा तात्पर्य यह नहीं होता कि राज्य भी एक व्यक्ति है, अपितु हमारा तात्पर्य केवल इतना ही होता है वह एक ऐसी सर्वोच्च संस्था है जिसकी सामूहिक इच्छा, सामूहिक कार्य करने की शक्ति, सामूहिक कानूनी क्षमता तथा सामूहिक उत्तरदायित्व होते हैं जो उसमें रहने वाले व्यक्तियों की व्यक्तिगत इच्छा, व्यक्तिगत कार्य करने की शक्ति, व्यक्तिगत कानूनी क्षमता तथा व्यक्तिगत उत्तरदायित्व से भिन्न होते हैं। राज्य स्वयं व्यक्ति नहीं होता फिर भी उसको व्यक्ति की तरह मानकर हम उसमें व्यक्ति जैसी विशेषताओं का आरोपण करते हैं। पर इससे यह नहीं समझना चाहिए कि राज्य कोई काल्पनिक या अवास्तविक सत्ता है।

३. इसी प्रकार ब्लंशली के इस कथन में सत्यांश अवश्य है कि राज्य कुछ ऐसी विशेषताओं से युक्त होता है जो पुरुषों से सम्बन्धित होती हैं। राज्य निर्णय करता है, उन्हें कार्य-रूप में परिणत करता है और उनके लिए उत्तरदायी होता है। पर ऐसा तो एक बैंक अथवा फुटबाल क्लब के सम्बन्ध में भी चरितार्थ होता है परन्तु कोई भी उन्हें व्यक्ति के रूप में नहीं मानेगा।

४. राज्य के विषय में यह कहना प्रायः कठिन होता है कि निर्णयों का उत्तरदायित्व कहाँ है? एकतन्त्रीय या निरंकुश शासन में राजा स्वभावतः उत्तरदायी होता है। ब्रिटेन में प्रशासनिक कार्यों का उत्तरदायित्व प्रधानमंत्री पर होता है, पर कहा यह जाता है कि "राजा कोई अशुभ कार्य नहीं कर सकता है।" सारांश यह है कि व्यक्ति ही राज्य की ओर से कार्य करते हैं; और राज्य को एक व्यक्ति के रूप में नहीं माना जा सकता।

२. जैविक सिद्धान्त (Organic Theory)

व्याख्या—जैविक सिद्धान्त राज्य को काल्पनिक न मानकर उसे एक ऐसा वास्तविक व्यक्ति मानता है जिसमें प्राणि-शरीर के सब गुण विद्यमान होते हैं। अन्य शब्दों में, जैविक सिद्धान्त राज्य का वर्णन प्राणि-विज्ञान की भाषा में करता है। इसमें उन व्यक्तियों को जिनसे राज्य बनता है, प्राणि-शरीर के कोशों (Cells) के समान माना जाता है तथा उनमें और राज्य में उसी प्रकार का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध माना जाता है जैसा प्राणि-शरीर तथा उसके विभिन्न अंगों में होता है। राज्य का जैविक सिद्धान्त एक ओर विधिशास्त्रीय सिद्धान्त के दोषों को दूर करता है तो दूसरी ओर व्यक्तिवादी (Individualistic) अथवा यान्त्रिक (Mechanistic) सिद्धान्त की बुराइयों को भी दूर करने का प्रयास करता है। विधि-शास्त्रीय सिद्धान्त के अनुसार, राज्य एक अमूर्त नैतिक संस्था है, पर जैविक सिद्धान्त राज्य को एक मूर्त और वास्तविक संस्था मानता है जिसके स्वरूप और कार्यों का हम साक्षात् प्रत्यक्ष कर सकते हैं। इसी प्रकार इस सिद्धान्त का यह प्रतिपादन कि राज्य एक शारीरिक एकता है जिसमें उन व्यक्तियों का, जिनके द्वारा वह

बनता है कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता तथा उनका अस्तित्व सम्पूर्ण शरीर पर निर्भर होता है, उस विशुद्ध व्यक्तिवादी सिद्धान्त के सर्वथा प्रतिकूल है जिसमें राज्य व्यक्तियों का ऐसा समूह मात्र माना जाता है जिसके भीतर प्रत्येक व्यक्ति अपना जीवन-निर्वाह पृथक् रूप से तथा राज्य की किसी महत्त्वपूर्ण सहायता के बिना कर सकता है।

जैविक सिद्धान्त की प्रमुख बात यह है कि जिस प्रकार एक जीवधारी के, चाहे वह पशु हो या पौधा, कई भाग होते हैं जो एक-दूसरे पर तथा सम्पूर्ण ढाँचे पर अन्तर्निभर होते हैं उसी प्रकार राज्य ऐसे व्यक्तियों द्वारा निर्मित होता है जो एक-दूसरे के साथ इस ढंग से सम्बद्ध होते हैं कि प्रत्येक अन्य पर और अन्ततः समाज पर निर्भर होता है। लीकॉक (Leacock) ने राज्य और उसके घटक व्यक्तियों के परस्पर सम्वन्ध को स्पष्ट करते हुए लिखा है, "शरीर के साथ हाथ का, अथवा पेड़ के साथ पत्ती का जो और जैसा सम्बन्ध होता है, वही समाज के साथ मनुष्य का होता है। यह उसमें विद्यमान है और वह उसमें"[१]। अतः, राज्य एक जैविक एकता—"एक सजीव आध्यात्मिक प्राणी है।"

जैविक सिद्धान्त का इतिहास—वास्तव में जैविक सिद्धान्त उतना ही प्राचीन है जितना स्वयं सामाजिक विचारधारा। प्लेटो ने राज्य की तुलना महान् आकार के व्यक्तियों से की थी। उसका कहना है, "सर्वोत्तम व्यवस्थित राज्य (Commonwealth) वह है जिसका आकार विषयक संगठन सिद्धान्ततः निकटतर रूप में व्यक्ति के अनुरूप जान पड़े।" सिसरो (Cicero) राज्य के प्रधान को मानव-शरीर पर शासन करनेवाली आत्मा के समान मानता था। मध्ययुग में जॉन ऑव सैलिसबरी (John of Salisbury), मार्सिगलियो (Marsiglio) इत्यादि लेखकों ने भी इस सिद्धान्त का समर्थन किया था। आधुनिक काल में हॉब्स और रूसो ने भी जैविक सिद्धान्त का समर्थन किया था।

उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में सामाजिक अनुबन्ध-सिद्धान्त (Social Contract Theory) के ह्रास होने के साथ राज्य के जैविक स्वरूप के सिद्धान्त को नवीन शक्ति प्राप्त हुई। प्राचीन और मध्ययुग के लेखकों ने राज्य और प्राणी के बीच केवल सादृश्य (Similarity) स्थापित किया था। उनका तो केवल यह कहना था कि राज्य जैविक रचना से मिलता-जुलता है। किन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के लेखकों ने राज्य को स्वयं एक जैविक रचना मान लिया। राज्य और जीव के तादात्म्य (Identity) को अतिरंजित रूप में भी पेश किया गया। उदाहरण के लिए, उस काल में राज्यरूपी शरीर के साथ पोषण-व्यवस्था, स्नायविक प्रणाली, परिचालन-व्यवस्था (Circulatory System) आदि गुण भी लगा दिये गये। "जीवधारी सादृश्यों और समानताओं के द्वारा इस सिद्धान्त की मोहकता इतनी विस्तार से फैल गयी कि कुछ समय के लिए तो राजनीति-विज्ञान का प्राकृतिक विज्ञान द्वारा उदरस्थ किये जाने का भय प्रतीत होने लगा।"

इस नये सिद्धान्त का कि राज्य एक जीवमान सावयव इकाई है, जन्म जर्मनी में हुआ और वहाँ उसे भारी समर्थन भी मिला। ब्लंशली (Bluntschli) के लेखों में इस नवीन सिद्धान्त की पराकाष्ठा हुई। उनके विचार में राज्य "मानव जीवधारी रचना की

१. लीकॉक, एलिमेण्ट्स ऑव पोलिटिकल साइन्स, पृ० ७५

प्रतिमूर्ति है।'' उन्होंने आगे कहा कि जिस प्रकार, ''एक तैलचित्र तेल के मात्र विन्दुओं के समूह से कुछ अधिक होता है, जिस प्रकार एक प्रस्तर-मूर्ति संगमरमर के टुकड़ों से कुछ अधिक हैं, जिस प्रकार एक मनुष्य जीवाणुओं के परिमाण तथा रक्त-जीवाणुओं की अपेक्षा कुछ अधिक होता है, इसी प्रकार राष्ट्र केवल नागरिकों के यौगिक की अपेक्षा कुछ अधिक होता है, और राज्य नियमों के केवल संग्रह की अपेक्षा कुछ अधिक होता है।'' ब्लंशली ने अपनी जैविक तुलना को इस सीमा तक आगे बढ़ा दिया कि राज्य को यौन-गुणों के साथ जोड़ दिया और उसे पुरुष का रूप प्रदान किया।

जैविक सिद्धान्त के विषय में हर्बर्ट स्पेन्सर के विचार—राज्य के जैविक सिद्धान्त का इंग्लैण्ड के विद्वान् दार्शनिक हर्बर्ट स्पेन्सर ने प्रबल समर्थन किया। उनके अनुसार समाज एक जीवमान इकाई है और इसमें जीवमान इकाई के प्रायः सभी गुण पाये जाते हैं। उनमें निम्न समानताएँ पायी जाती हैं—

१. एक जीवमान इकाई और समाज के गुण समान होते हैं और उनके विभिन्न भागों के बीच जो स्थायी सम्बन्ध होते हैं, वे समान होते हैं।

२. दोनों की विकास विधि एक ही है। स्पेन्सर का मत था कि पशु और सामाजिक संस्थाओं का आरम्भ कीटाणुओं के रूप में होता है, और उन सबका आकार समान और सरल होता है; पर जैसे-जैसे उनमें विकास होता है, वे आकार में असमान और जटिल होते चले जाते हैं। दोनों अवस्थाओं में वे समानता और सरलता से असमानता और जटिलता की दिशा में अग्रसर होते हैं। ''जिस प्रकार निम्नतम दर्जे का पशु समस्त पेट, श्वास लेने वाला सपाट अंग-सा होता है, उसी प्रकार प्रारम्भिक समाज समष्टि रूप में योद्धा, शिकारी, झोपड़ियाँ बनाने वाला या औज़ार बनाने वाला होता है। जैसे-जैसे समाज जटिलता की ओर अग्रसर होता है, श्रम-विभाजन की उत्पत्ति होती है, अर्थात् जानवरों में भिन्न कृत्यों वाले नये अंग प्रकट होते हैं जो मौलिक विशेषताओं की दृष्टि से पूर्णतया समान हो जाते हैं।''

३. जीवमान इकाई और समाज या राज्य के भागों में प्रत्येक अवस्था में पारस्परिक अन्तर्निभरता होती है। जिस प्रकार हाथ बाँह पर निर्भर करता है और बाँह शरीर और सिर पर निर्भर करती है, उसी प्रकार सामाजिक जीवमान इकाई के भाग एक-दूसरे पर आश्रित होते हैं। जिस प्रकार एक अंग की स्वस्थ या रुग्ण अवस्था अन्य अंगों के स्वास्थ्य और कृत्यों को प्रभावित करती है, उसी प्रकार समाज का एक अंग दूसरे अंगों पर इतना निर्भर होता है कि एक का सुख-दुःख बाकी समस्त समाज को प्रभावित करता है। ''जिस प्रकार यदि किसी जीवमान इकाई के किसी अंग के ठीक कार्य न करने पर उसके सभी अंगों को आघात सहन करना होता है, ठीक उसी प्रकार यदि सामाजिक जीवमान इकाई में लोहार काम करना छोड़ देता है, अथवा खान में काम करने वाला काम बन्द कर देता है, अथवा खाद्य उत्पन्न करने वाला काम नहीं करता, अथवा समाज की अर्थ-नीति में वितरण का काम करने वाला अपने स्वाभाविक कार्य को पूर्ण नहीं करता, तो इसका आघात सभी को सहन करना पड़ता है।''

४. समाज और जीवमान इकाई दोनों का क्षय-विक्षय होता है और उसके बाद पुनर्निर्माण। जिस प्रकार एक जीवमान इकाई में छिद्र और रक्त-जीवाणु नष्ट हो जाते हैं और उनकी जगह नये उत्पन्न हो जाते हैं, उसी प्रकार राज्य में पुराने व्यक्ति मर जाते हैं और नये व्यक्तियों के लिए स्थान रिक्त कर देते हैं।

५. इसके उपरान्त स्पेन्सर राज्य और जीवमान इकाई के बीच कुछ आकारगत समानताएँ भी उपस्थित करता है। उसका कहना है कि समाज में भी जीवमान इकाई की भाँति एक जीवन-प्रणाली (Sustaining System), वितरण प्रणाली (Distributing System) और नियामक प्रणाली (Regulating System) के रूप में तीन आनुक्रमिक प्रणालियाँ हैं। शरीर और जीवन-प्रणाली के रूप में मुँह, पेट अँतड़ियाँ और गला है जिसके द्वारा खाद्य का पाचन होता है और सम्पूर्ण शारीरिक यन्त्र जीवित रहता है। समाज या राज्य की भी अपनी एक जीवन-प्रणाली है और यह उत्पादन-प्रणाली है, जिसमें उत्पादन करने वाले क्षेत्र तथा कृषि-क्षेत्र सम्मिलित हैं। इसी प्रकार जीवमान् इकाई की वितरक प्रणाली में रक्त-शिरा, दिल, धमनियाँ और नाड़ियाँ हैं जो सम्पूर्ण शरीर में रक्त का संचरण करती हैं। राज्य के ढाँचे में संवहन और यातायात के साधन वितरक प्रणाली के समान हैं। धमनियों और नाड़ियों का मानव-शरीर के लिए जो अर्थ है, समाज के लिए सड़कों, रेलों, डाक और तार का भी वही अर्थ है। अन्त में, नियामक प्रणाली, मोटर-यन्त्र के तारों जैसी है, जो सम्पूर्ण शरीर को नियमित करती है। राजनीति रूपी देह में सरकार व्यक्तियों का नियमन करती है और उनके क्रिया-कलापों पर नियन्त्रण रखती है। इस प्रकार, सरकार राज्य की नियामक प्रणाली है। इस तरह हर्बर्ट स्पेन्सर ने निष्कर्ष निकाला कि राज्य एक जीवमान् इकाई (Organism) है।

राज्य और समाज को एक जीवमान् इकाई मानते हुए भी स्पेन्सर ने दोनों के अन्तर की उपेक्षा नहीं की है। राज्य और जीवमान् इकाई में 'पूर्ण समानता' नहीं है। उसके अनुसार एक जीवमान् इकाई की रचना का आधार ठोस है, अर्थात् उसके अंगों में परस्पर निकटता और सम्बद्धता है, पर सामाजिक शरीर की इकाइयाँ विविक्त (Discrete) हैं और उनमें कोई ठोस संगठन नहीं दिखाई देता जैसा जीवित प्राणियों में देखा जाता है। समाज और जीवित प्राणी के बीच एक दूसरे अन्तर की ओर भी स्पेन्सर ने संकेत किया है जो "सामाजिक संगठन द्वारा लक्ष्य-प्राप्ति की हमारी इच्छा को अत्यधिक प्रभावित करता है।" उनका कथन है कि एक जीवमान् इकाई में सम्पूर्ण शरीर के एक निश्चित भाग में चेतना केन्द्रीभूत होती है, किन्तु राज्यरूपी शरीर में कोई 'स्नायविक चेतना' (Nerve Sensorium) नहीं होती। तात्पर्य यह है कि जीवित शरीर की भाँति समाज में चेतना का कोई एक केन्द्र नहीं होता, वह समाजरूपी सम्पूर्ण शरीर में विकीर्ण रहता है। समाज में प्रत्येक व्यक्तिगत संदस्य की अन्यों से स्वतन्त्र सत्ता होती है और वह स्वयं चेतना का एक केन्द्र होता है। समाज का प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छानुसार कार्य करने में स्वतन्त्र होता है। अर्थात् शरीर में तो केवल एक ही आत्मा होती है, पर समाज रूपी शरीर में असंख्य आत्माएँ होती हैं।

उपर्युक्त महत्त्वपूर्ण भेदों को स्वीकार करते हुए भी स्पेन्सर ने राज्य के जैविक सिद्धान्त को अस्वीकार नहीं किया। जैविक सिद्धान्त के प्रति अपनी आस्था रखते हुए भी उन्होंने अपने व्यक्तिवाद के सिद्धान्त (Theory of Individualism) का प्रतिपादन किया जिसके अनुसार राज्य को चाहिए कि वह व्यक्ति को अपने निजी कल्याण के लिए मुक्त छोड़ दे क्योंकि "समाज का अस्तित्व उसके सदस्यों के लाभ के लिए है, न कि उसके सदस्यों का अस्तित्व समाज के लाभ के लिए है।" पर स्पेन्सर ने यह अनुभव नहीं किया कि राज्य के सदस्यों का स्वतन्त्र अस्तित्व उसके जैविक सिद्धान्त के प्रतिकूल बात है। इस प्रकार हर्बर्ट स्पेन्सर ने स्वयं अपने सिद्धान्त का खण्डन कर दिया है।

जैविक सिद्धान्त का मूल्यांकन—राज्य का जैविक सिद्धान्त निस्सन्देह एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है क्योंकि यह राज्य की एकता के ऊपर विशेष बल देता है। राज्य मनुष्यों का समूह मात्र नहीं है; वह एक सामाजिक एकता है। मनुष्यों के बीच अन्तर्निभरता पायी जाती है; वे कभी भी एकाकी जीवन व्यतीत नहीं कर सकते। प्रत्येक मनुष्य का हित समष्टि हित में सन्निविष्ट है। जिस प्रकार शरीर का कोई अंग उसके महत्त्व को नष्ट किये बिना शरीर से अलग नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार व्यक्ति को भी समाज या राज्य से उसके व्यक्तित्व को नष्ट किये बिना, पृथक नहीं किया जा सकता। राज्य का जैविक इकाई के रूप में सामूहिक जीवन होता है, अतः समाज के प्रत्येक अंग को समाज के सामान्य उद्देश्य की सिद्धि के लिए पूरा योगदान देना चाहिए। **यह तभी हो सकता है जबकि समाज की सभी इकाइयाँ अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार अपने कर्त्तव्य का पालन करें।** जिस प्रकार शरीर के सभी अंगों के कार्यों में पृथक्ता होते हुए भी शरीर के सामान्य उद्देश्यों की वे सिद्धि करते हैं, ठीक उसी प्रकार राज्य के सदस्यों के गुणों और कार्यों में भिन्नता होते हुए भी उन्हें राज्य के सामान्य उद्देश्यों की सिद्धि के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए। समाज या राज्य के हित में ही उनका हित सम्मिलित है। **राज्य के सदस्यों के कार्यों में पृथक्ता होते हुए भी उनमें लक्ष्य की एकता होनी चाहिए।** तभी राज्य की भलाई हो सकती है।

१. उपर्युक्त बातों में राज्य को एक जीवमान् इकाई के रूप में मानने में कोई हानि नहीं है। राज्य और उसके सदस्यों में परस्पर निर्भरता और लक्ष्य की एकता होनी अनिवार्य है। किन्तु यदि इससे आगे बढ़कर राज्य और एक जैविक इकाई में पूर्णोपमा (पूर्ण समानता) स्थापित करने का प्रयास किया जाता है—जैसा कि जैविक सिद्धान्तवादियों ने किया है—तो इससे नाना प्रकार की भ्रान्त धारणाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। राज्य और एक जीवमान् इकाई के बीच समानता दिखलानेवाले यह भूल जाते हैं कि जिन समानताओं पर उन्होंने बल दिया है, वे उन्हीं सीमाओं में सत्य प्रमाणित होती हैं जहाँ वे एक-दूसरी को आवर्त करती हैं। जिन अंगों या विशेषताओं की तुलना की जाती है, वे समान न होकर वास्तव में भिन्न होती हैं, क्योंकि बिलकुल समान वस्तुओं में तुलना नहीं की जाती। तुलना वहीं की जाती है जहाँ समानताएँ और विभिन्नताएँ दोनों साथ साथ रहती हैं। अतः जो शरीर के लिए सत्य है, कोई आवश्यक नहीं कि वह राज्य के लिए भी सत्य प्रमाणित हो।

२. जैविक शरीर और राज्य के बीच अनेक समानताएँ विलकुल काल्पनिक हैं। उदाहरण के लिए, जैविक शरीर की कोशिकाओं और राज्य के व्यक्तियों के बीच कोई समानता नहीं है। कोशिकाएँ शरीर के ऊपर पूर्ण रूप से निर्भर हैं; उनका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। "प्रत्येक टुकड़े में विचारने या इच्छा की कोई शक्ति नहीं है और उसका अस्तित्व मात्र सम्पूर्ण जीवन की सहायता करने और उसे स्थिर रखने के लिए होता है।" इसके विपरीत, व्यक्ति का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व होता है, वह विवेकशील और नैतिक प्राणी है और वह यन्त्र की भाँति कार्य नहीं करता। कुछ मामलों में, प्रत्येक व्यक्ति का शारीरिक जीवन, सम्पूर्ण से स्वतन्त्र होता है। यह ठीक है कि मनुष्य अपने को समाज से स्वतन्त्र रखकर अपना कल्याण नहीं कर सकता, फिर भी वह समाज के बिना अपना निजी जीवन व्यतीत कर सकता है। इसके विपरीत किसी जैविक इकाई के भाग, सम्पूर्ण से पृथक् होकर एक क्षण भी अपने अस्तित्व को कायम नहीं रख सकते। अतः, राज्य या समाज को एक जैविक इकाई के रूप में मान्यता देना खतरे से खाली नहीं है।

३. राज्य और किसी जैविक इकाई के जन्म, उन्नति और पतन की विधियाँ पृथक्-पृथक् हैं। दो जैविक इकाइयों के संसर्ग से एक तृतीय जैविक इकाई की उत्पत्ति होती है, पर राज्य के विषय में यही बात नहीं कही जा सकती। इसी प्रकार दोनों की प्रगति और विकास की विधियाँ भी अलग-अलग हैं। किसी जैविक इकाई की उत्पत्ति और विकास आन्तरिक कारणों से होता है। वह "अचेतन रूप में, इच्छा-शक्ति से स्वतन्त्र अपने वातावरण और प्राणि-विषयक विश्व के प्राकृतिक नियमों मात्र पर निर्भर रहते हुए बढ़ता है।"[१] इसके विपरीत, राज्य और उसके नियमों का विकास, परिवर्तित आवश्यकताओं और माँगों के अनुरूप होता रहता है और यह सारा परिवर्तन सदस्यों की इच्छा और चेतन यत्नों के परिणामस्वरूप होता है। "इसकी उन्नति, यदि इस रूप में इसे कहा जा सकता है, अधिकांशतः इसके व्यक्ति-सदस्यों के चेतन-कार्य का परिणाम होती है और अधिकतर आत्म-संचालित होती है।" किसी जैविक इकाई की मृत्यु भी हो जाती है, किन्तु राज्य स्थायी और निरन्तर जीवित रहता है।

४. जैविक सिद्धान्त का प्रयोग परस्पर-विरोधी सिद्धान्तों की पुष्टि के लिए किया गया है। इसका प्रयोग व्यक्तिवाद से लेकर समाजवाद तक के समर्थन के लिए किया गया है। हर्बर्ट स्पेन्सर ने स्वयं इसका प्रयोग यथेच्छाकारिता (Laissez faire) के लिए किया है जिसके अनुसार राज्य को मनुष्य के जीवन में कम-से-कम हस्तक्षेप करना चाहिए। समाज व्यक्ति के लिए है, व्यक्ति समाज के लिए नहीं है। इसके विपरीत, जर्मन लेखकों का मत है कि, "राज्य, उच्चतम जैविक रचना के रूप में महत्त्वपूर्ण इकाई है और सामूहिक उन्नति तथा सामाजिक प्रगति का आदर्श है।" वे राज्य को सब कुछ समझते हैं। इस प्रकार जैविक सिद्धान्त के समर्थक उग्र समाजवाद और राज्य के निरंकुशवाद का अनुमोदन करते हैं। स्पेन्सर के जैविक सिद्धान्त की आड़ में उक्त जर्मन लेखक कहते हैं, "राज्य सब जीवों से महान् जीवधारी है, सबसे महत्त्वपूर्ण इकाई है। वह सामुदायिक

१. गेटेल, इन्ट्रोडक्शन टु पोलिटिकल साइन्स, पृ० ८८

क्रियान्विति है और वही सामाजिक प्रगति का दर्पण है।'' यहाँ पर ध्यान रखने की बात यह है कि जैविक सिद्धान्त से जो जर्मन लेखकों ने निष्कर्ष निकाले हैं उनमें स्वयं स्पेन्सर के निष्कर्षों से भी अधिक प्रामाणिकता है क्योंकि जिस प्रकार किसी जैविक पूर्णिक इकाई के हित के लिए उसके अंगों का बलिदान किया जा सकता है, ठीक उसी प्रकार राज्य के हित के लिए व्यक्तियों का बलिदान किया जा सकता है। यह समाजवाद है, इससे व्यक्तिवाद नहीं निकल सकता। इसका केन्द्रीय विचार व्यक्ति और राज्य को मिलाकर एक करना है। जेलिनेक ने ठीक कहा है, ''हमारे लिए अच्छा तो यही है कि हम पूर्णतया सिद्धान्त को रद्द कर दें अन्यथा समता की इसकी बृहद् राशि उस अच्छाई को नष्ट कर देगी जो थोड़ी-सी अच्छाई इस सिद्धान्त में विद्यमान है।''

३. सामाजिक समझौते का सिद्धान्त (Social Contract Theory) अथवा यांत्रिक सिद्धान्त (Mechanistic Theory)

सामाजिक समझौते का सिद्धान्त प्रमुख रूप से राज्य की उत्पत्ति का सिद्धान्त है, पर इसका प्रयोग राज्य के स्वरूप, प्रयोजन एवं उद्देश्य को स्पष्ट करने के लिए भी किया गया है। राज्य की उत्पत्ति से सम्बन्धित सिद्धान्तों के विवेचन के समय सामाजिक समझौते के सिद्धान्त का विस्तृत विवेचन किया जा चुका है। पर वहाँ राज्य की उत्पत्ति के विषय में ही विशेष चर्चा की गयी है, उसके स्वरूप के बारे में केवल अनौपचारिक रूप से ही वर्णन किया गया है। यहाँ हम राज्य के स्वरूप के विषय में ही विशेष रूप से वर्णन करेंगे। राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में वर्णित इस सिद्धान्त के विवेचन में हमने देखा कि प्रारम्भ में मनुष्य पूर्व-राजनीतिक प्रकृत अवस्था में रहता था तथा स्वेच्छापूर्वक उसने एक अनुबन्ध या इकरार करके अपनी प्रकृत अवस्था का अन्त किया और राज्य-संस्था की उत्पत्ति की। अर्थात्, इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य वह समुदाय है जिसका संगठन किन्हीं निश्चित प्रयोजनों एवं उद्देश्यों की सिद्धि के लिए मनुष्यों ने किया है। राज्य-संस्था के निर्माण के साथ राज्य और उसके सदस्यों के कुछ अधिकार और कर्त्तव्य निश्चित हो जाते हैं। राज्य का यह उत्तरदायित्व हो जाता है कि वह मनुष्यों के जानमाल की रक्षा करे, उनके हित एवं कल्याण की साधना करे, उनके वैयक्तिक अधिकारों एवं उनकी स्वतन्त्रता की रक्षा करे और अन्य सम्भव उपायों से उनकी उन्नति में सहायक हो; तथा मनुष्यों का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वे राज्याज्ञा का पालन करें, करों के रूप में वृत्ति दें तथा ऐसा कोई काम न करें जिससे कि समझौते की शर्तों का उल्लंघन हो।

सामाजिक समझौते के उपर्युक्त सिद्धान्त से राज्य के स्वरूप के विषय में निम्न निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। प्रथम यह है कि राज्य एक नैसर्गिक संस्था न होकर, एक कृत्रिम संस्था है जिसका निर्माण मनुष्य कुछ निश्चित उद्देश्यों की सिद्धि के लिए करते हैं। अत:, उद्देश्य पूर्ण होने पर राज्य-संस्था भंग भी की जा सकती है। राज्य, मनुष्यकृत अनेक समुदायों के समान ही एक ऐसा समुदाय होता है जिसके स्वरूप में मनुष्यों की इच्छानुसार परिवर्तन किया जा सकता है, जिसे कोई नवीन रूप दिया जा सकता है अथवा

जिसे पूर्णतः भंग किया जा सकता है। जैविक सिद्धान्त के विरुद्ध इस सिद्धान्त के अनुसार, राज्य का स्वरूप शरीर के समान न होकर, एक इमारत के समान होता है जो मनुष्य की इच्छानुसार बनायी जाती है तथा जिसमें मनुष्यों की इच्छानुसार वृद्धि अथवा परिवर्तन किये जा सकते हैं। इस प्रकार इस सिद्धान्त के अनुसार चूँकि राज्य-संस्था मनुष्य-कृत समझौते पर आधारित है, वह पूर्णतः कृत्रिम है और यदि समझौते के अनुसार वह अपने उद्देश्य की पूर्ति अथवा कर्त्तव्य के पालन में असफल रहती है, तो मनुष्यों को अधिकार है कि ये उसकी आज्ञाओं का पालन न करें और उसके विरुद्ध विद्रोह कर दें।

आलोचना—राज्य के सामाजिक समझौते का सिद्धान्त अट्ठारहवीं शताब्दी के क्रान्ति-युग में अधिक मान्य हुआ, क्योंकि उस समय राज्य के दैवी और स्वेच्छाचारी स्वरूप को अमान्य ठहराने के लिए इस सिद्धान्त का सर्वाधिक उपयोग किया गया। किन्तु आधुनिक युग में सामाजिक समझौते पर आधारित राज्य के मनुष्यकृत कृत्रिम स्वरूप को कोई मान्यता प्राप्त नहीं है। राज्य को कृत्रिम मानने का अर्थ यह होगा कि मनुष्य के लिए उसकी सदस्यता ऐच्छिक है तथा उसकी आज्ञाओं का पालन करना उसकी इच्छा पर निर्भर करता है जो वास्तविकता के बिलकुल प्रतिकूल है। सच बात तो यह है कि राज्य एक कृत्रिम संस्था न होकर एक नैसर्गिक संस्था है जो मानव की सामाजिक प्रवृत्तियों के विकास का प्रतिफल है। मनुष्य की यह स्वाभाविक प्रकृति है कि वह समुदाय बना कर रहे और सामाजिक जीवन व्यतीत करे। राज्य उसकी इसी सामाजिक भावना का सर्वोच्च मूर्त रूप है।

राज्य एक यन्त्र के रूप में—राज्य के सामाजिक समझौते का सिद्धान्त राज्य की अपेक्षा व्यक्ति को अधिक महत्त्व देता है। यह एक प्रकार का व्यक्तिवादी सिद्धान्त है। हॉब्स के स्वेच्छाचारी और निरंकुश राज्य को भी यदि व्यक्ति चाहें तो भंग कर सकते हैं क्योंकि राज्य व्यक्तियों से ही तो मिलकर बना है। लॉक के अनुसार भी—व्यक्तियों की इच्छा से ही राज्य का निर्माण हुआ है और व्यक्ति प्राकृतिक अधिकारों का केन्द्र है। अतः, राज्य को इस मर्यादित ढंग से कार्य करना चाहिए कि व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों पर कोई आघात न पहुँचे। वस्तुतः सामाजिक समझौते का सिद्धान्त व्यक्ति को साध्य और राज्य को उस साध्य की पूर्ति का साधन (Mechanism) मानता है। इसी कारण व्यक्तिवादियों ने राज्य के कार्यों को बहुत ही सीमित कर रखा है। इसे न तो व्यक्तियों के हित-साधन का पर्याप्त अधिकार दिया गया है और न अहितकारी शक्तियों के प्रतिरोध का ही उत्तरदायित्व प्राप्त है। यह सब व्यक्तियों के ऊपर छोड़ दिया गया है। राजनीति-विज्ञान में इस सिद्धान्त को **यथेच्छाकारिता या निर्हस्तक्षेप** सिद्धान्त (Laissez faire Theory) कहते हैं। इस सिद्धान्त का सार यह है कि व्यक्ति प्रधान है और राज्य व्यक्ति के उद्देश्यों की पूर्ति का साधन। कुछ समाजवादी भी निर्हस्तक्षेप-सिद्धान्त का एक भिन्न रूप में प्रचार करते हैं। उनका कहना है कि राष्ट्रीय जीवन की रक्षा और समाज-व्यवस्था के प्रतिपादन के उपकरण के रूप में बल का आश्रय छोड़ देना चाहिए। उनके विचार के अनुसार भी, राज्य, व्यक्तियों के व्यक्तित्व के विकास का केवल साधन ही है; उसे साध्य कभी नहीं

समझना चाहिए। पर बल के सर्वथा परित्याग के सिद्धान्त का समर्थन नहीं किया जा सकता, क्योंकि जब बल का एक रूप में परित्याग कर दिया जाता है तो वह दूसरे रूप में स्वयं उत्पन्न हो जाता है। जो एक ओर राज्य के वल का विरोध करते हैं, दूसरी ओर वर्गीय हिंसा को समर्थन प्रदान करते हैं। इस मत के समर्थन में बर्ट्रण्ड रसेल[१] (B. Russell) का नाम लिया जाता है। उनके अनुसार यदि हमें मानव समाज में मौलिक एकता स्थापित करनी है तो हमें उसकी रचना विवेक के आधार पर नहीं, वरन् मनोवेगों (Impulses), वासनाओं (Passions) और अभिरुचियों (Interests) के आधार पर करनी होगी।

पर यदि व्यक्तिवाद का यही अर्थ है जैसा कि बर्ट्रण्ड रसेल ने ऊपर चित्रित किया है तो हम उसे कभी स्वीकार नहीं कर सकते। रसेल स्वेच्छाचारिता और स्वतन्त्रता के भेद को नहीं समझते। स्वेच्छाचारी होने से हम अपनी स्वतन्त्रता कभी भी अक्षुण्ण नहीं रख सकते। संयमित जीवन ही वास्तव में स्वतन्त्रता का उपयोग कर सकता है। स्वेच्छाचारी जीवन के विरुद्ध राज्य को हस्तक्षेप करने का पूर्ण अधिकार होना चाहिए। स्वेच्छाचारिता से राज्य का नियन्त्रण कहीं श्रेयस्कर है। सुसमायोजित राज्य के अस्तित्व के लिए स्थायी व्यवस्था आवश्यक होती है। पर इस ध्येय की प्राप्ति के लिए पर्याप्त बल का विधान होना चाहिए। विश्व-संगठन की सफलता के लिए भी एक सुदृढ़ प्रतिरक्षात्मक बल की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार, जब तक राज्यों में वर्तमान अराजकता की अवस्था रहेगी, तब तक हम बल की आवश्यकता से कदापि मुक्त नहीं हो सकते।

४. विज्ञानवादी सिद्धान्त (Idealistic Theory)

राज्य का विज्ञानवादी सिद्धान्त जिसे दार्शनिक या आध्यात्मिक सिद्धान्त भी कहते हैं, परम्परागत दार्शनिक विज्ञानवाद का ही एक व्यावहारिक रूप है। मूलतः यह सिद्धान्त प्लेटो और एरिस्टॉटल की शिक्षाओं से उत्पन्न हुआ है किन्तु आधुनिक युग में जर्मन दार्शनिक हेगल (Hegel) ने भी इसका समर्थन किया है। इंगलैण्ड में टी०एच० ग्रीन, एफ०एच० ब्रैडले और डॉ० बी० बोसांके विज्ञानवादी विचारधारा के प्रमुख प्रतिनिधि हैं। इसका पूर्ण विवरण डॉ० बोसांके के 'फिलॉसॉफिकल थियरी ऑव द स्टेट' (Philosophical Theory of the State) में मिलता है।

दार्शनिक विज्ञानवाद—दार्शनिक विज्ञानवाद की मान्यता है कि जगत् के मूल में एक चेतन तत्त्व या आत्मा विद्यमान है और जगत् में जो विविधता और नानात्व दिखायी देता है वह उसी चेतन सत्ता की अभिव्यक्ति मात्र है। राजनीतिक जगत्, सम्पूर्ण जगत् का ही तो एक भाग है, अतः उसके मूल में भी वही चेतन तत्त्व विद्यमान है तथा राजनीतिक जगत् की विभिन्न राजनीतिक संस्थाओं और व्यक्तियों के जो राजनैतिक क्रिया-कलाप हैं वे व्यक्ति के आध्यात्मिक विचारों के ही परिणाम हैं। अतः, राजनीतिक विज्ञानवाद इस बात का अध्ययन करता है कि किस प्रकार मनुष्यों का राजनीतिक जीवन उसकी

---

१. रसेल, बी०, प्रिन्सिपुल्स ऑव सोशल रिकन्स्ट्रक्शन, पृ० ९७

आत्मिक, बौद्धिक तथा मानसिक वृत्तियों द्वारा संचालित होता है और राज्य किस प्रकार मनुष्य की उन वृत्तियों का परिणाम है। इस प्रकार विज्ञानवादी सिद्धान्त, राज्य का स्पष्टीकरण, चूँकि आध्यात्मिक दृष्टिकोण से करता है, अतः इसे राज्य का आध्यात्मिक सिद्धान्त (Metaphysical Theory) भी कहते हैं। चूँकि उसका आधार दार्शनिक है अतः उसे राज्य का दार्शनिक सिद्धान्त (Philosophical Theory) भी कहते हैं।

विज्ञानवाद और राज्य का स्वरूप—इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य कोई कृत्रिम संस्था नहीं है वल्कि, मनुष्यों का एक प्राकृतिक और स्वाभाविक संवास है। राज्य व्यक्ति का ही एक व्यापक रूप है; अतः व्यक्ति और राज्य में कोई विरोध नहीं हो सकता। भौतिक संस्था न होकर आध्यात्मिक संवास होने के कारण, उसका कार्य व्यक्तियों के बाह्य क्रिया-कलापों को नियन्त्रित करना ही नहीं, अपितु व्यक्ति को नैतिक बनाना भी है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसे यह अधिकार होना चाहिए कि वह व्यक्ति के समस्त क्रिया-कलापों को नियन्त्रित कर सके और उसकी स्वतन्त्रता को मर्यादित कर सके। नैतिकता क्या है, इसका निश्चय करना भी राज्य का काम है। दूसरे शब्दों में राज्य का कार्यक्षेत्र तथा अधिकार असीमित है। राज्य के विरुद्ध व्यक्ति के कोई अधिकार नहीं हो सकते, क्योंकि राज्य का विरोध करना आत्म-निषेध करने के समान ही होता है। राज्य के आदेशों का पालन करना व्यक्ति का परम-कर्त्तव्य है।

स्वतन्त्रता—विज्ञानवाद की स्वतन्त्रता की कल्पना व्यक्तिवादी कल्पना से बिलकुल पृथक् है। उसके अनुसार स्वतन्त्रता का अर्थ न तो अतन्त्रता है और न परतन्त्रता, वरन् आत्मा के नियमों द्वारा संचालित होना है। राज्य, आत्मा का ही बाह्य-रूप है। राज्य के नियम, आत्मा द्वारा प्रतिपादित नियमों के ही मूर्त-रूप हैं। विज्ञानवाद की मान्यता है कि राज्याज्ञा, व्यक्ति के नैतिक संकल्प (Moral Will) का ही मूर्त-रूप है, अतः राज्याज्ञा का पालन करने में व्यक्ति वस्तुतः अपने संकल्प का ही पालन करता है। इस प्रकार स्वेच्छानुसार स्वच्छन्द आचरण करने से नहीं, वरन् राज्याज्ञा के माध्यम से, अपने नैतिक संकल्प और अपनी नैतिक इच्छा के अनुकूल चलने में ही व्यक्ति वास्तविक स्वतन्त्रता का अनुभव कर सकता है।

साध्य और साधन—राज्य के बिना मानव-व्यक्तित्व का पूरा विकास और उत्थान सम्भव नहीं है। मनुष्य स्वभावतः एक सामाजिक प्राणी है और राज्य नैतिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए एक अपूर्व साधन है। व्यक्ति और राज्य के उद्देश्यों में कोई विरोध नहीं है। दोनों का उद्देश्य व्यक्ति की पूर्णता है। नैतिक दृष्टि से राज्य स्वयं अपने-आप में उद्देश्य नहीं है। वह एक साधन है जिसके माध्यम से गन्तव्य तक पहुँचा जा सकता है। ब्रिटिश विज्ञानवादियों का यही विचार है। पर जर्मन विज्ञानवादियों के अनुसार राज्य साध्य और व्यक्ति उसका साधन है। व्यक्ति की नैतिकता और स्वतन्त्रता राज्य-प्रदत्त होती है और राज्य के अन्तर्गत रह कर ही व्यक्ति स्वतन्त्र और नैतिक जीवन व्यतीत कर सकता है। इसलिए, यदि व्यक्ति को मानव-जीवन के सर्वोत्कृष्ट ध्येयों और प्रयोजनों की साधना करनी है, तो उसे राज्य की साधना करनी चाहिए। राज्य एक आवश्यक बुराई न होकर

एक आवश्यक अच्छाई है और उसकी आज्ञा का पालन करना हमारा परम कर्त्तव्य है।

जैविक इकाई—विज्ञानवाद राज्य को एक जैविक इकाई (Organic Unity) मानता है। उसके अनुसार राज्य एक केन्द्रीय सामाजिक व्यवस्था है जिसमें व्यक्ति को अपना उपयुक्त स्थान बनाना होता है। व्यक्ति का स्वयं अपने-आप में न कोई महत्त्व है और न मूल्य। उसका जो कुछ भी महत्त्व है वह केवल इसलिए है कि वह एक जैविक इकाई का अभिन्न अंग है। राज्य से पृथक् व्यक्ति केवल एक अनैतिक आकलन (Unethical Abstraction) है। भारत के प्राचीन विचारकों ने भी विचार व्यक्त किये हैं कि राज्य-संस्था के अभाव में व्यक्ति का जीवन सम्भव नहीं है। 'राज्य-धर्म' को उन्होंने ऐसा धर्म माना है, जिसके अनुसार मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन संचालित हो सकता है और उसे उन्होंने ऐसे धर्म के रूप में मान्यता दी है जिसके अन्तर्गत सब धर्म समा सकते हैं तथा जिस पर अन्य सब धर्म आश्रित रहते हैं।[1]

इंगलैण्ड का सुप्रसिद्ध विज्ञानवादी दार्शनिक ब्रैडले[2] (F.H. Bradley) भी राज्य को एक जैविक इकाई मानता है। अन्तर केवल इतना ही है कि उसका राज्य नैतिक जैविक इकाई (Ethical Organism) है। उसकी मान्यता के अनुसार व्यक्ति जो कुछ होता है, वह वस्तुतः समाज के कारण ही होता है तथा उसका व्यक्तित्व उसके सामाजिक सम्बन्धों पर निर्भर होता है। जिस प्रकार अवयवी में दो प्रकार के अंग होते हैं—प्रथम बाह्य जैसे हाथ-पैर आदि और दूसरे आन्तरिक जैसे रक्त, स्नायु इत्यादि—उसी प्रकार जनसंख्या, भूमि एवं अन्य शासन-संस्थाएँ राज्य के बाह्य अंग हैं तथा उसका नैतिक उद्देश्य और तत्सम्बन्धी नियमादि उसके आन्तरिक अंग होते हैं। जिस प्रकार अवयवी में उसके अंगों का निश्चित स्थान और निश्चित कार्य होते हैं तथा अपने-अपने स्थान के कार्यों को पूर्ण करने में ही अवयवी और उसके उन अंगों का कल्याण होता है, उसी प्रकार राज्य के अंगों अर्थात् व्यक्तियों के निश्चित स्थान तथा निश्चित कार्य होते हैं। ब्रैडले ने इसे 'मेरा स्थान तथा उसके कर्त्तव्य' (My Station and its Duties) का नाम दिया है। व्यक्ति और राज्य का कल्याण इसी में है कि व्यक्ति अपने स्थान के कार्यों को अच्छी प्रकार करता रहे। दूसरे शब्दों में—व्यक्ति पूर्णतः राज्य के अधीन है तथा राज्य से पृथक् उसके कोई अधिकार नहीं हो सकते। राज्याज्ञा का पालन करना ही उसका परम कर्त्तव्य है।

पर प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि क्या प्रत्येक अवस्था में व्यक्ति को राज्याज्ञा का पालन करना चाहिए? अथवा किन्हीं परिस्थितियों में वह राज्याज्ञा की अवहेलना भी कर सकता है? व्यक्ति सम्प्रभु (Sovereign) और प्रजा (Subject) दोनों है। राज्य जब उसके

---

१. यथा राजन्हस्तिपदे पदानि,
संलीयन्ते सर्वं सत्वोद्भवन्ति
एवं धर्मान्राज धर्मेषु सर्वान्,
सर्वावस्थ संप्रलीनान्ति बोधः।

२. ब्रैडले, एफ०एच०, एथिकल स्टडीज

व्यक्तित्व के क्षेत्र का अतिक्रमण करता है, तब उसे अधिकार है कि वह राज्य के विरुद्ध विद्रोह कर दे। ऐसी अवस्था में विद्रोह करना एक सार्वजनिक कर्त्तव्य हो जाता है। जेम्स सेठ (James Seth) का कहना है कि निम्न दो अवस्थाओं में व्यक्ति का विद्रोह करनां उचित है—१. जब राज्य एक व्यक्तिगत नागरिक अथवा एक व्यक्ति समूह के रूप में काम करने लगता है और २. जब सामान्य इच्छा या लोक-सम्मति (General Will) का तत्कालीन स्वरूप इतना अनुपयुक्त हो जाता है कि उसके सुधार की आवश्यकता होती है। अर्थात्, राज्य जब सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व नहीं करता और सामान्य शुभ का सम्वर्द्धन नहीं करता तो उसके विरुद्ध विद्रोह करना हमारा नैतिक कर्त्तव्य है। इसका कारण यह है कि राज्य केवल जैविक इकाई ही नहीं है, वरन् वह जैविक इकाइयों की जैविक इकाई (Organism of Organisms) है। राज्य के अंग स्वयं अवयवी होते हैं; उनकी एक केन्द्रीय चेतना होती है जिसके अनुसार उनके प्रत्यंग अपने कार्य सम्पादित करते हैं।

राज्य का अपौरुषेय रूप—राज्य की अपौरुषेय अवधारणा फिक्टे (Fichte) और हेगल (Hegel) के दर्शनों में पायी जाती है। इंग्लैण्ड में डॉ० बोसांके (Bosanquet) इस अवधारणा के सर्वोत्तम प्रतिनिधि हैं। हेगेल ने राज्य को ईश्वर (God) तक कहा है और इस अवधारणा के सभी समर्थकों ने राज्य को सदस्यों के सर्वोत्तम आदर्शों का साकार रूप बतलाया है। डॉ० बोसांके के अनुसार राज्य राष्ट्र की यथार्थ इच्छा (Real Will) की अभिव्यक्ति है जिसका विशेष व्यक्ति केवल आंशिक रूप में ही प्रतिनिधित्व करते हैं। पर यहाँ यह स्वीकार करना ही होगा कि इस प्रकार की अवधारणा केवल **'आदर्श राज्य'** (Ideal State) में ही चरितार्थ हो सकती है। वास्तविक राज्यों में पूर्ण रूप से इस आदर्श का व्यक्तीकरण असम्भव है। किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि ये आदर्श वास्तविक राज्यों में चरितार्थ हो ही नहीं सकते। आदर्श, आदर्श तभी कहा जायगा जब कि उसकी सिद्धता (Actuality) की सम्भावना विद्यमान हो। आदर्श राज्य साकार किया जा सकता है। पर इससे यह अर्थ नहीं निकालना चाहिए कि आदर्श राज्य वैज्ञानिकों, कलाकारों, धार्मिक व्यक्तियों, कवियों और दार्शनिकों का निर्माण करता है अथवा आदर्श राज्य के सभी नागरिक आदर्श रूप ही होते हैं; ऐसी बात नहीं है। राज्य का कार्य केवल इतना ही है कि अपने नागरिकों के चारों ओर ऐसा स्वस्थ वातावरण उत्पन्न करे कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी प्रतिभा को विकसित करके 'पूर्ण व्यक्तित्व' प्राप्त कर ले। राज्य के प्रमुख कार्य हैं—कानूनों का निर्माण करना और समाज में उन्हें क्रियान्वित करना, सामूहिक अध्यवसायों का संगठन, आन्तरिक शान्ति-स्थापन तथा सामाजिक मूल्यों के सभी कार्यों की रक्षा और उनका प्रोत्साहन इत्यादि। किसी वस्तु का निर्माण करना व्यक्तियों और ऐच्छिक समितियों का काम है, पर उनकी रक्षा करना, उन्हें प्रोत्साहित करना तथा संगठित करना राज्य का काम है।

डॉ० बोसांके के अनुसार सभी संस्थाएँ विचाररूप होती हैं। जिस प्रकार व्यक्तिगत विचार होते हैं तथा उनका स्थान व्यक्ति का मन होता है, उसी प्रकार संस्थाओं के भी विचार होते हैं और उनके आश्रय का स्थान सामूहिक मन (Group Mind) होता है।

उसके द्वारा संस्थाओं को प्रेरणा मिलती है और वे क्रियाशील रहती हैं। बोसांके के अनुसार अन्य संस्थाओं की तरह राज्य का भी एक सामूहिक मन होता है। वह सार-रूप से व्यक्तियों के व्यक्तिगत मनों का सामान्य अंश होता है तथा उसमें उत्पन्न होनेवाले विचारों के अनुसार राज्य के कार्य होते हैं।

हेगल ने राज्य को केवल विज्ञान रूप ही नहीं, वरन् उसे पृथ्वी पर ईश्वर का ही रूप माना है। भगवान् राज्य के रूप में पृथ्वी पर रहते हैं। राज्य के आदेश, भगवान् के आदेश हैं। राज्य की आज्ञाओं का पालन भगवान् का आदेश-पालन है। राज्य के आदेशों के पीछे नैतिक अनुज्ञा होती है क्योंकि वे नैतिक चैतन्य से उद्‌भूत होते हैं। चूँकि, भगवान् की तरह राज्य भी सर्वज्ञ, सर्व-शक्तिमान्, पूर्ण, अखण्ड और न्यायी है और नैतिक मूल्यों का रक्षक है, इसलिए राज्य का आदेश-पालन सभी नागरिकों का पुनीत कर्त्तव्य है।

राज्य के अपौरुषेय रूप में, उसे साधन नहीं, वरन् साध्य-रूप माना गया है। इसकी अधिकार-शक्ति अपरिमित है और इसकी क्षमता निर्बाध है। इस रूप में विज्ञानवादी राज्य को "भगवान् की एक मूर्ति के रूप में मंच पर स्थापित करता है, जिसके चरणों में, उसके सदस्यों से आशा की जाती है कि वे नत-मस्तक होंगे और उसकी पूजा करेंगे।"

राज्य एक शक्ति या बल के रूप में—कुछ विद्वानों के अनुसार बल या शक्ति ही राज्य का सार-तत्त्व है। राज्य के भीतर सम्पूर्ण समुदाय को नियन्त्रित करने की शक्ति है और वह शक्ति निरपेक्ष तथा प्रभुत्व-सम्पन्न है। एच-वॉन ट्रेटस्की (H. Von Treitsche) का विशेष आग्रह है कि राज्य की अनिवार्य विशेषता उसकी शक्ति या बल है। ट्रेटस्की के पहले फिक्टे (Fichte) और हेगल (Hegel) ने भी राज्य के लिए शक्ति का समर्थन किया था। जर्मनी में शक्ति-सिद्धान्त को विशेष मान्यता प्राप्त हुई क्योंकि उस समय लोग प्रशिया (Prussia) की विशेष परिस्थितियों से बहुत प्रभावित थे। बात यह है कि राज्य एक समायोजित समुदाय है जिसके निश्चित कानून और लक्ष्य होते हैं और आवश्यकता पड़ने पर उन्हें क्रियान्वित करने के लिए कभी-कभी शक्ति का प्रयोग करना ही पड़ता है। इस शक्ति का प्रयोग दो प्रकार से हो सकता है—प्रथम आन्तरिक नियन्त्रण के लिए और दूसरा बाह्य संरक्षण के लिए। प्लेटो ने इसीलिए, राज्य की उपमा उस कुत्ते से दी है जो घर के लोगों का मित्र, पर अपरिचितों का शत्रु होता है। पर यह उपमा बहुत मान्य नहीं है। आधुनिक काल में एक राज्य दूसरे राज्य से शत्रुता नहीं, बल्कि मैत्री स्थापित करने का प्रयत्न करता है। साधारण परिस्थितियों में तो यही होता है। असाधारण परिस्थितियों में जब मैत्री-सम्बन्ध स्थापित करने में राज्य असफल हो जाता है तभी उसे शक्ति की आवश्यकता होती है। अतः, यह कहना कि बल ही राज्य का आवश्यक तत्त्व है, मान्य नहीं हो सकता। यह सत्य है कि जहाँ शासन होगा, उसका कुछ-न-कुछ विरोध अवश्य ही होगा और कभी-कभी उस विरोध के निवारण के लिए शक्ति का प्रयोग आवश्यक भी हो जाता है। पर इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि शक्ति-प्रयोग ही राज्य का सार है। माता, पिता, अध्यापक और उद्योगों के संयोजक दण्ड-विधान

के किसी-न-किसी रूप को मानते ही हैं, पर इससे यह कोई अनुमान नहीं कर सकता कि सम्बन्धों के लिए शक्ति एक आवश्यक पहलू है। वास्तव में राज्य का सार है—केन्द्रीय अधिकार और नियन्त्रण। नियन्त्रण करने के लिए शक्ति एक साधन है। अन्य साधन भी हो सकते हैं। आधुनिक युग में शक्ति-प्रयोग को नियन्त्रण का उचित साधन नहीं माना जाता।

वास्तव में शक्ति-सिद्धान्त कुछ अंशों में 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' (Might is right), "शक्तिशाली ही जीवित रहेगा" (Survival of the Fittest) अथवा 'अस्तित्व के लिए संघर्ष' (Struggle for Existence) नामक जैविक सिद्धान्तों पर आधारित है। किन्तु प्राणि-जीवन के लिए इस सिद्धान्त का बहुत ही गलत रूप में प्रयोग किया गया है। मानव-जीवन के विषय में तो इस सिद्धान्त का प्रयोग बहुत ही विकृत रूप में किया गया है। 'अस्तित्व के लिए संघर्ष' सिद्धान्त के अनुसार, वही प्राणी संसार में अपने अस्तित्व को कायम रख सकता है जिसके भीतर अपनी परिस्थितियों के प्रति समायोजन की अधिकतम क्षमता विद्यमान हो, और जिस प्राणी के भीतर इस प्रकार की समायोजन-क्षमता विद्यमान न होगी, वह स्वतः नष्ट हो जायगा। किन्तु प्राणि-जगत् में यह सिद्धान्त चरितार्थ होते हुए नहीं दीख पड़ता। देखा तो यह जाता है कि संसार में जो जीव अधिक संघर्षरत या आक्रामक है, उसका विकास तो होता नहीं, बल्कि वह जल्दी ही नष्ट हो जाता है। शेर, बाघ, भालू, हिटलर और मुसोलिनी इस बात के ज्वलन्त प्रमाण हैं। मानव-जीवन में सर्वोत्कृष्ट लक्ष्यों की प्राप्ति संघर्ष द्वारा न होकर चेतन प्रयास द्वारा सम्भव होता है। युद्ध तो जीवन की सर्वोत्कृष्ट वस्तुओं को सर्वप्रथम नष्ट कर देता है। अतः, राज्य का सार-तत्त्व शक्ति नहीं, वरन् केन्द्रीय नियन्त्रण है। शक्ति तो केन्द्रीय नियन्त्रण का एक साधन मात्र है।

यहाँ हम इस बात को स्पष्ट कर देना अपना परम कर्त्तव्य समझते हैं कि उपर्युक्त दोनों [illegible] एकांगी हैं। केवल केन्द्रीय नियन्त्रण को अथवा केवल शक्ति को राज्य का सार बतलाने वाले विचार दोनों ही एकांगी हैं। तथ्य तो यह है कि केन्द्रीय नियन्त्रण और शक्ति दोनों ही राज्य के सार-तत्त्व हैं। केन्द्रीय नियन्त्रण और शक्ति दोनों एक ही राज्य के स्थैतिक (Static) और गत्यात्मक (Dynamic) दो पहलू हैं। इनमें से न तो किसी का अतिरेक होना चाहिए और न उपेक्षा। हिटलर ने शक्ति-सिद्धान्त को अतिरंजित किया, अतः अन्त में उसका विनाश हुआ। इसके विपरीत भारत ने शक्ति की उपेक्षा की, जिसके परिणामस्वरूप उसे आज दिन दुर्दिन का सामना करना पड़ रहा है। केन्द्रीय नियन्त्रण और शक्ति दोनों ही राज्य के सार हैं।

निष्कर्ष—विज्ञानवाद के अनुसार राज्य एक नैतिक संस्था है जिसकी उत्पत्ति व्यक्ति की नैतिक आवश्यकताओं के आधार पर हुई है। विज्ञानवाद आत्मा को प्रमुख स्थान देता है और उसकी स्वतन्त्रता प्रत्येक अवस्था में अक्षुण्ण रखना चाहता है क्योंकि स्वतन्त्रता या संकल्प-स्वातन्त्र्य आत्मा का प्रमुख लक्षण है। यह स्वतन्त्रता आन्तरिक और बाह्य दो प्रकार की होती है। आन्तरिक स्वतन्त्रता का अर्थ है आत्म-संयम जो नीति-शास्त्र

का विषय है। बाह्य स्वतन्त्रता का तात्पर्य है—ऐसी परिस्थितियों का होना जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपने वास्तविक हित के कार्य कर सके तथा उसे ऐसा करने में किसी प्रकार की बाधा का सामना न करना पड़े। ऐसी परिस्थितियों के प्राप्त होने की प्रागपेक्षा है—मानवीय मौलिक अधिकारों का संरक्षण जिसके लिए राज्य की आवश्यकता होती है। अधिकारों की व्यवस्था द्वारा राज्य व्यक्ति की स्वतन्त्रता की रक्षा करता है।

साधारणतया, व्यक्ति अपने अधिकारों के समान ही दूसरों के अधिकारों का भी आदर करना चाहता है, परन्तु क्रोध, घृणा या स्वार्थ के वशीभूत होकर कभी-कभी वह दूसरों के अधिकारों की अवहेलना भी करने लगता है। यह अवहेलना सार्वजनिक दृष्टि से वांछनीय नहीं होती और सभी की यह सामान्य इच्छा (General Will) होती है कि सभी के अधिकारों की रक्षा हो। इसी सामान्य इच्छा के परिणामस्वरूप ही राज्य की सृष्टि होती है। टी०एच० ग्रीन के अनुसार, राज्य सामान्य इच्छा का ही मूर्त रूप है। हमें राज्य का आदेश इसलिए मानना चाहिए कि हम यह अनुभव करते हैं कि इस आदेश-पालन से सार्वजनिक हित की वृद्धि होगी। राज्यादेश, सार्वजनिक हित-साधन का सर्वोत्तम उपाय है। पर राज्य को आदेश देते समय व्यक्तियों के अधिकारों का भी ध्यान रखना चाहिए। ग्रीन के अनुसार राज्य वैयक्तिक अधिकारों का केवल संरक्षक है, उनका जनक नहीं। अधिकारों की उत्पत्ति समाज में होती है। ग्रीन के मतानुसार व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा के लिए राज्य आवश्यक है, पर उनके स्रोत को सामाजिक स्वीकृति में दिखाकर ग्रीन ने वैयक्तिक अधिकारों के सम्बन्ध में राज्य की स्थिति उस सर्व-शक्ति-सम्पन्नता की नहीं रखी है जिसका प्रतिपादन हेगल ने किया है।

हेगल के अनुसार, राज्य का क्षेत्र असीम है और राज्य के विरुद्ध व्यक्ति के कोई अधिकार सम्भव नहीं है। पर ग्रीन राज्य के पूर्ण प्रभुत्व का समर्थक होते हुए भी धर्म और नैतिकता के क्षेत्र में राज्य प्रत्यक्ष रूप से क्रियाशील हो, इसका वह समर्थन नहीं करता। उसका मत है कि राज्य के पास धर्म और नैतिकता की अभिवृद्धि के प्रत्यक्ष साधन नहीं हैं। अतः, मानव-जीवन को नैतिक बनाने के अपने उद्देश्य की प्राप्ति, राज्य प्रत्यक्ष रीति से नहीं, वरन् परोक्ष रूप से ही कर सकता है। वह परोक्ष रूप यह है कि नैतिक जीवन के मार्ग में आने वाली बाह्य बाधाओं को राज्य रोके। ग्रीन[१] के शब्दों में—राज्य का कार्य अच्छे जीवन के मार्ग की बाधाओं के मार्ग में बाधा पहुँचाना है। इस प्रकार राज्य स्वयं साध्य न होकर अच्छे मानव-जीवन का साधन मात्र ही है। यदि वह इस साध्य की साधना नहीं करता तो नागरिक राज्य की आज्ञा पालन करने को बाध्य नहीं है और वह राज्य के विरुद्ध विद्रोह भी कर सकता है।

विज्ञानवाद की बहुत-सी अनुचित आलोचनाएँ की गयी हैं। इसका कारण यह है कि जर्मन और अंग्रेज विज्ञानवादियों की शिक्षाओं और वैयक्तिक विज्ञानवादी विचारकों की शिक्षाओं के अन्तर को नहीं समझा गया। ग्रीन का दर्शन इन सभी आलोचनाओं का समुचित उत्तर दे देता है।

---

१. To act as an hindrance to hindrances against good life. —ग्रीन, टी०एच०

५. मार्क्सवादी सिद्धान्त (The Marxian Theory)

मार्क्सवादी विचारधारा में राज्य को एक बुराई माना गया है और इसी कारण मार्क्सवाद न केवल पूँजीवाद का अन्त चाहता है, वरन् अन्त में राज्य से भी मुक्त होना चाहता है। मार्क्सवाद, राज्य के विषय में अपने विचार तीन चरणों में प्रस्तुत करता है—

१. पूर्व-क्रान्तिकारी चरण (The Pre-Revolutionary Stage)।

२. क्रान्तिकारी चरण (The Revolutionary Stage)।

३. उत्तर-क्रान्तिकारी चरण (The Post-Revolutionary Stage)।

१. पूर्व-क्रान्तिकारी चरण—यह वास्तव में समाजवाद की स्थापना से पूर्व पूँजीवादी चरण है। मार्क्सवादियों के अनुसार, राज्य पूँजीपतियों के हाथों में एक ऐसा यन्त्र है जिसके द्वारा वह श्रमिक-वर्ग का शोषण करता है। लेनिन के शब्दों में "राज्य एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग को कुचलने का यन्त्र मात्र है।"[1] मार्क्स ने घोषित किया कि "साम्राज्यवाद, पूँजीवाद के अन्दर, राज्य-शक्ति का अत्यधिक भ्रष्ट और अन्तिम स्वरूप है।" राज्य के कानून पूँजीपतियों के शोषण की इच्छा के प्रतीक तथा उसके पोषक होते हैं। उनकी सहायता से पूँजीपति अतिरिक्त-मूल्य को लाभ के रूप में स्वयं हड़प कर लेते हैं। यही नहीं, राज्य की सहायता से वे श्रमिक वर्ग का दमन करते हैं। राज्य के द्वारा ही पूँजीपतियों का समाचार-पत्र आदि पर नियन्त्रण हो जाता है और वे भी श्रमिक वर्ग का विरोध ही करते हैं। इस प्रकार, राज्य वर्ग-संघर्ष में पूँजीपतियों का सहायक है तथा उसका एकमात्र उद्देश्य इस वर्ग-संघर्ष में पूँजीपतियों को विजयी बनाये रखना है। लेनिन ने स्पष्ट घोषणा की है—"राज्य वर्ग-विद्वेष की अनिवार्यता का परिणाम व उसी का प्रतिरूप है और जब तक इसका अस्तित्व है, वर्ग-विद्वेष समाप्त नहीं हो सकता।"[2]

२. क्रान्तिकारी चरण—मार्क्सवादी मूल रूप से राज्य को एक बुराई मानते हैं, पर पूँजीवादी व्यवस्था व साम्यवादी व्यवस्था के मध्य के संक्रमणकाल में उसका पूर्ण उपयोग करना चाहते हैं। वर्ग-संघर्ष और शोषण की पूँजीवादी व्यवस्था का अन्त करने के लिए वे राज्य की शक्ति को क्रान्ति के द्वारा अपने हाथ में लेकर सर्वहारा अधिनायक-तन्त्र स्थापित करना चाहते हैं। वे सर्वहारा अधिनायकतन्त्र (Dictatorship of the Proletariat) द्वारा राज्य का प्रयोग पूँजीपतियों के नाश करने में तथा देश में वर्गविहीन समाज की स्थापना करने में प्रयुक्त करना चाहते हैं। इस संक्रमणकालीन अधिनायकतन्त्र के स्वरूप के विषय में मार्क्सवादियों में पर्याप्त मतभेद है। मार्क्स का विचार था कि इस अधिनायकतन्त्र का आधार प्रजातन्त्रीय होगा और श्रमिक वर्ग इसके संगठन तथा कार्य में भाग लेंगे। पर रूस की क्रान्ति के बाद लेनिन ने मार्क्स की इस विचारधारा को अव्यावहारिक बताया और इस बात पर बल दिया कि अधिनायकतन्त्र का संचालन केवल साम्यवादी दल द्वारा होना चाहिए। आगे चल

---

1. The State is nothing but the machine for the suppression of one class by another. —*Lenin*
2. The State is the product and manifestation of the irreconciliabiliy of class-antagonism. —*Lenin*

कर इसी विचार का समर्थन स्टैलिन और एञ्जिल्स ने भी किया। एञ्जिल्स ने कहा है, "चूँकि राज्य एक अस्थायी संस्था है, जिसका प्रयोग क्रान्तिकाल में विरोधियों को बलपूर्वक दबाने के लिए करना है, स्वतन्त्र तथा लोकप्रिय राज्य की बात करना पूर्णतः निरर्थक है। जब तक सर्वहारा वर्ग को राज्य की आवश्यकता है, उसकी आवश्यकता स्वतन्त्रता के लिए नहीं, वरन् विरोधियों के दमन के लिए है और जब स्वतन्त्रता की बात सम्भव हो जायगी, राज्य का अस्तित्व स्वतः समाप्त हो जायगा।"

३. उत्तर-क्रान्तिकारी चरण—क्रान्तिकारी चरण में सर्वहारा वर्ग का राज्य के ऊपर अधिनायकतन्त्र स्थापित हो जाता है, पर इसका यह अर्थ नहीं है कि वह राज्य को एक स्थायी संस्था के रूप में स्वीकार करना चाहता है। मार्क्सवादियों के अनुसार, सर्वहारा वर्ग के अधिनायक तन्त्र के रूप में, राज्य का जीवन अस्थायी है तथा साम्यवादी व्यवस्था की स्थापना के बाद उसका अपने-आप अन्त हो जायगा। इसका कारण यह है कि राज्य का एकमात्र कार्य वर्ग-संघर्ष में पूँजीपतियों का समर्थन करना तथा उनके द्वारा श्रमिकों के शोषण को बनाये रखना है। वर्ग-विहीन समाज की स्थापना के बाद—जिसमें न पूँजीपति रहेंगे और न उनके द्वारा किसी का शोषण होगा—राज्य के लिए कोई कार्य शेष नहीं रहेगा और इस प्रकार उसका अस्तित्व स्वतः मिट जायगा। एञ्जिल्स ने स्पष्ट कहा है, "राज्य का पहला कार्य जिसमें वह सम्पूर्ण समाज के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करता है, समाज की ओर से उत्पादन के साधनों का नियन्त्रण करना है और यही उसका अन्तिम स्वतन्त्र कार्य भी है। इसके बाद सामाजिक सम्बन्धों में राज्य का हस्तक्षेप अनावश्यक हो जायगा और वह अन्तिम रूप से समाप्त हो जायगा......राज्य समाप्त नहीं किया जायेगा, वह स्वयमेव समाप्त हो जायेगा।" लेनिन का भी यही विचार था।

राज्य के प्रति साम्यवादी दृष्टिकोण के सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिए कि समाजवादी व्यवस्था की स्थापना के बाद राज्य की समाप्ति के समय के विषय में उनका दृष्टिकोण परिवर्तित हो गया है। अब मार्क्सवादी लोग, राज्य के अस्तित्व को समाजवादी व्यवस्था की स्थापना के बाद भी उस समय तक बनाये रखना चाहते हैं जब तक कि पूँजीवादी व्यवस्था का संसार भर से अन्त नहीं हो जाता और सर्वत्र समाजवाद की स्थापना नहीं हो जाती। लेनिन ने इस बात को स्पष्ट करते हुए कहा है कि राज्य के स्वयं समाप्त होने की परिस्थितियों में एक आवश्यक परिस्थिति यह भी है कि साम्यवाद के लिए अन्यत्र से कोई भय की बात न रहे और पूँजीवादी व्यवस्था का अन्त होकर सर्वत्र समाजवाद स्थापित हो जाय।

आलोचना—मार्क्सवाद की राज्य सम्बन्धी विचारधारा बिलकुल त्रुटिपूर्ण है। उसके अनुसार राज्य वर्ग-संघर्ष का एक यन्त्र तथा पूँजीपतियों के आधिपत्य और उनके शोषण को सुरक्षित रखने का केवल एक साधन है। अतः यह एक बुरी संस्था है। पर यह दृष्टिकोण न्याय-संगत नहीं है। राज्य स्वयं में न अच्छा है और न बुरा। वह तो केवल एक यन्त्र है जिसकी अच्छाई या बुराई उसके प्रयोग पर निर्भर करती है। राज्य का अपना कोई उद्देश्य नहीं होता। वह न तो किसी का शत्रु है और न किसी का मित्र। पूँजीपति यदि

राज्य का उपयोग अपने हितों के संरक्षण और संवर्द्धन के लिए करते हैं तो सर्वहारा वर्ग भी अपने अधिनायकतन्त्र द्वारा श्रमिकों के हित-साधन के लिए राज्य का उपयोग करता है। मार्क्सवादियों ने सर्वहारा वर्ग के अधिनायकतन्त्र के रूप में राज्य का प्रयोग करके संसार को यह बता दिया है कि राज्य अनिवार्य रूप से केवल पूँजीपतियों के हित और श्रमिकों के शोषण का ही साधन नहीं है। प्रश्न राज्य के अस्तित्व और अनस्तित्व का नहीं है, प्रश्न है उसके सदुपयोग और दुरुपयोग का। भगवान् श्रीराम ने राजतन्त्र द्वारा राम-राज्य स्थापित किया जिसमें सभी लोग सुखी थे, दूसरी ओर चीनी समाजवाद ने राज्यशक्ति का उपयोग विरोधियों के दमन, हिंसा, अत्याचार इत्यादि कार्यों के लिए किया। राज्यशासन को चलाने वाला शासक-वर्ग अच्छा या बुरा होता है जो उसके चरित्र पर निर्भर करता है। राज्य के अच्छे-बुरे होने का यहाँ कोई प्रश्न नहीं है।

इसके अतिरिक्त, राज्य आन्तरिक सुव्यवस्था तथा विदेशी आक्रमणों से रक्षा के लिए भी तो आवश्यक है। स्वयं लेनिन ने कहा है कि राज्य के ऊपर सर्वहारा वर्ग का अधिनायकतन्त्र तब तक समाप्त नहीं होगा जब तक समाजवादी देश अन्य पूँजीवादी देशों से घिरे हुए हैं। अत:, बाह्य सुरक्षा की दृष्टि से राज्य की महत्ता को यहाँ स्वीकार किया गया है। मार्क्सवादियों का लक्ष्य है—वर्ग-विहीन समाज की स्थापना करना। पर वर्गों का अस्तित्व समाप्त नहीं किया जा सकता। भेदता ही संसार का आधार है। जब अभेदता स्थापित होगी तो संसार का अस्तित्व ही न रहेगा। अत: वर्ग तो रहेंगे ही। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि इन वर्गों का संघर्ष होता रहे या परस्पर सहयोग की स्थिति रहे। यदि उनमें संघर्ष होता है तो विनाश निश्चित है। इस वैज्ञानिक युग में जब भीषणतम अस्त्रों का आविष्कार हो चुका है, कोई भी आर्थिक व्यवस्था दूसरे को नष्ट नहीं कर सकती। एक-दूसरे को नष्ट करने के प्रयास में दोनों ही विनष्ट हो जायेंगे: अत: उनमें संघर्ष के स्थान पर सहयोग होना चाहिए। संघर्ष और सहयोग दोनों प्रकृति के नियम हैं। दोनों परस्पर परिपूरक हैं। इसी में विश्व का हित है।

राज्य और नैतिकता
(The State and Morality)

राज्य और नैतिकता के सम्बन्ध के विषय में हम दो प्रकार से विचार कर सकते हैं—प्रथम तो यह कि राज्य स्वयं नैतिकता के विचारों से किस अर्थ में और किस सीमा तक आबद्ध हैं और दूसरा यह कि किस सीमा तक वह अपने नागरिकों में नैतिकता की अभिवृद्धि के लिए प्रयत्न कर सकता है। इन पर हम अलग-अलग विचार प्रस्तुत करेंगे।

जहाँ तक प्रथम प्रश्न का सम्बन्ध है—जो लोग राज्य को शक्ति के रूप में प्रस्तुत करते हैं उनके अनुसार राज्य स्वयं नैतिकता को उत्पन्न करता है, अत: वह किसी प्रकार की नैतिकता से स्वयं आबद्ध नहीं हो सकता। वह केवल शक्ति-सिद्धान्त से ही आबद्ध है। जिस प्रकार इतर प्राणियों में मत्स्य-न्याय चलता है, उसी प्रकार संस्थाओं में भी शक्ति-न्याय लागू होता है। पर जैसा पहले कहा गया है कि केवल शक्ति से राज्य

की यथेष्ट व्याख्या नहीं की जा सकती। यह राज्य का केवल एक पहलू है। राज्य का प्रमुख कार्य है—देश की सीमाओं के भीतर न्याय-स्थापन और बाह्य शत्रुओं से देश की सुरक्षा। इन दोनों कर्त्तव्यों के समुचित परिपालन के लिए शक्ति की आवश्यकता होती है। किन्तु राज्य यदि केवल शक्ति पर ही अधिक निर्भर रहता है तो वह सरलता से न्याय नहीं कर सकता। यदि उसके कार्यों को इस आधार पर न्याय-सिद्ध करने की कोशिश की जाय कि 'आवश्यकता अन्धी होती है।', तो उसके नागरिकों से हम यह आशा नहीं कर सकते कि वे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करते समय इसी सिद्धान्त का प्रयोग नहीं करेंगे। यदि वह अनैतिकतापूर्वक अपने पड़ोसी राज्यों को लूटता है, तो वह अपने नागरिकों को अपने पड़ोसियों को लूटते समय केवल शक्ति के द्वारा ही रोक सकता है। पर जहाँ नैतिकता केवल शक्ति पर आधारित होती है, वह नैतिकता नहीं, वरन् नैतिकता का निषेध है। विशप बटलर (Bishop Butler) ने केवल शक्ति (Mere Power) और वैधानिक शक्ति (Legitimate Authority) के बीच जो अन्तर स्थापित किया है वह व्यक्ति और राज्य दोनों के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है। यह सर्वथा सत्य है कि राज्य के कार्य व्यक्तियों के कार्यों से भिन्न होते हैं। राज्य द्वारा किया गया कोई कार्य राज्य की दृष्टि से तर्क-संगत प्रतीत होता है, पर यदि वही कार्य व्यक्ति करे, तो उसे कभी भी तर्क-संगत नहीं ठहराया जा सकता। पर फिर भी दोनों अवस्थाओं में सत् और असत् का भेद तो रहेगा ही। सत्-असत् और शुभ-अशुभ प्रत्ययों का सम्बन्ध नीति-शास्त्र से है, अतः इसका विस्तृत विवेचन यहाँ करना सम्भव नहीं है।

जहाँ तक दूसरे प्रश्न की बात है, उसका उत्तर प्रथम प्रश्न के उत्तर में ही निहित है। यदि नैतिकता शक्ति के द्वारा क्रियान्वित नहीं की जा सकती, तो राज्य के साथ मूलतः उसका सम्बन्ध एक शैक्षणिक ही रह जाता है। इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि प्रत्यक्ष रूप में नैतिकता का प्रोत्साहन देना राज्य का कार्य नहीं है। राज्य का कार्य केवल इतना ही है कि वह अपने नागरिकों की शिक्षा का समुचित और यथेष्ठ प्रबन्ध करे और इस शिक्षा के भीतर नैतिक शिक्षा का भी समावेश किया जा सकता है। पर इस शिक्षा का स्वरूप क्या हो, उसकी पद्धति कैसी हो, उसकी मान्यताएँ क्या हों, इन सब बातों में राज्य को हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। इन सब बातों का निर्धारण शिक्षण-संस्थाओं पर ही छोड़ देना चाहिए। समाज-दर्शन के दृष्टिकोण से, शिक्षण-संस्थाएँ सरकारी नियन्त्रण से मुक्त होनी चाहिए। राज्य-सरकार को शिक्षण-संस्थाओं की स्वायत्तता का आदर करना चाहिए। एरिस्टॉटल, नीति-विज्ञान और राजनीति-विज्ञान में घनिष्ठ सम्बन्ध मानता था, इस कारण राज्य को अधिकार था कि वह व्यक्ति के जीवन का जिस प्रकार चाहे, नियमन करे। पर आधुनिक युग, जो श्रम-विभाजन को स्वीकार करता है, शिक्षा को सरकारी नियन्त्रण से मुक्त ही रखना चाहता है। राज्य का कार्य तो इन संस्थाओं की रक्षा करना और उनके लिए इस प्रकार का समुचित वातावरण उत्पन्न करना है जिससे कि वे स्वतन्त्र रूप में अपनी प्रतिभा का विकास कर सकें। राज्य इन शिक्षण-संस्थाओं का स्थानापन्न नहीं हो सकता।

राज्य और धर्म

धर्म एवं व्यक्ति का बहुत दिनों से बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। अतः यह स्वाभाविक है कि व्यक्ति के जीवन के प्रत्येक पहलू पर धर्म का प्रभाव रहे। व्यक्ति का राजनीतिक जीवन भी धर्म के प्रभाव से अछूता नहीं रहा है और राजनीतिक इतिहास के अध्ययन से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि धर्म एवं राज्य का सम्बन्ध किसी-न-किसी रूप में अवश्य रहा है। समय-समय पर राज्य के ऊपर धर्म की प्रधानता का रूप बदलता रहा है, पर राज्य और धर्म में किसी-न-किसी प्रकार का सम्बन्ध रहा अवश्य है।

प्राचीन काल में धर्म का राज्य पर पर्याप्त प्रभाव था। राजा लोग स्वतन्त्रतापूर्वक और साधिकार अपने राज्य में उस धर्म-विशेष का प्रचार करते थे जिसके वे अनुयायी होते थे। उस समय राज्य का स्वरूप ही धार्मिक (Theocratic) था और राज्य की सत्ता ईश्वर से उद्भूत मानी जाती थी। धर्म की परिधि के बाहर राजनीति का कोई मूल्य ही नहीं था। उस समय सम्पूर्ण राजनीतिक प्रक्रियाएँ धार्मिक विधि (Canon Law) द्वारा सम्पादित होती थीं। धर्म-विशेष के अनुयायी ही एक राज्य के नागरिक होते थे अर्थात् जो राज्य के पूर्ण नागरिक के रूप में रहना चाहते थे, उन्हें राज्य द्वारा मान्य धर्म का अनुयायी होना पड़ता था। पाकिस्तान बहुत कुछ इसी प्रकार का धार्मिक (Theocratic) देश है।

पर राज्य और धर्म के इस गठबन्धन ने जनता का बहुत ही अनुचित शोषण किया। राज्य का स्वरूप ईश्वरीय होने के कारण, राज्याज्ञा को ईश्वरीय आज्ञा कह कर पुकारा गया और भोली-भाली जनता को औचित्य-अनौचित्य का विचार किये बिना ही उनका पालन करने को बाध्य किया गया। ईश्वर का प्रतिनिधि होने के कारण, राज्याज्ञा के पालन करने से ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। इस प्रकार व्यक्ति के महत्त्व को समाप्त कर उसे राज्य का साधन-मात्र बना दिया गया। प्राचीन काल में धार्मिक राज्य की यही परिकल्पना थी।

धार्मिक राज्य की कल्पना प्रजातान्त्रिक आदर्शों के बिलकुल प्रतिकूल थी, क्योंकि इससे व्यक्ति और राज्य दोनों की गरिमा नष्ट हुई है। परिणामस्वरूप धार्मिक राज्य के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया खड़ी हुई। राज्य और धर्म-संस्था (Church) में संघर्ष हुआ और अन्त में राज्य विजयी हुआ। क्रमशः धर्म (Religion) पर आधारित राजनीति की मान्यता कम होती गयी और धर्म तथा राज्य दोनों की सीमा का विभाजन किया गया। राज्य का सम्बन्ध लौकिक जगत् से है किन्तु धर्म का सम्बन्ध पारलौकिक जगत् से है। अतः दोनों का सम्मिश्रण सम्भव नहीं है। इस विचारधारा ने धर्म-निरपेक्ष राज्य (Secular State) को जन्म दिया। यहाँ ध्यान रखने की बात यह है कि पाश्चात्य चिन्तन-प्रणाली में धर्म का अर्थ मजहब, सम्प्रदाय या रिलिजन से है। इसका अर्थ उस शाश्वत नियम से नहीं है जो जगत का अधिष्ठान है।

धर्म-निरपेक्ष राज्य का स्वरूप

धर्म-निरपेक्ष राज्य वह राज्य है जिसकी ओर से किसी धर्म विशेष का प्रचार नहीं किया जाता और जो धार्मिक सहिष्णुता के आधार पर बिना किसी भेद-भाव के राज्य के

सभी नागरिकों को सभी प्रकार की सुविधाएँ प्रदान करता है। इसकी तीन प्रमुख विशेषताएँ हैं—

१. धर्म-निरपेक्ष राज्य धर्म को आन्तरिक विश्वास की वस्तु मानता है। उसे राज्य द्वारा नियन्त्रित व संचालित नहीं किया जा सकता।

२. धर्म-निरपेक्ष राज्य धर्म तथा राजनीति की पृथकता में विश्वास करता है और यह मानता है कि धर्म के नाम पर किसी नागरिक के साथ न तो पक्षपात (Favour) किया जा सकता है और न भेद-भाव (Discrimination)। तात्पर्य यह है कि राजनीतिक समस्याओं के समाधान में धर्म को आयाम नहीं बनाया जा सकता।

३. धर्म-निरपेक्ष राज्य, धर्म के क्षेत्र में व्यक्ति को स्वतन्त्र छोड़ देने या अहस्त-क्षेपनीति (The Doctrine of Laissez-faire) में विश्वास करता है। अर्थात् राज्य को धार्मिक जीवन में तब तक हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है जब तक कि उसे ऐसा करना सामाजिक हित के लिए आवश्यक न हो जाय।

भारत में कुछ लोग निहित स्वार्थों की आड़ लेकर धर्म-निरपेक्षता का अर्थ धर्म-विहीनता से लगाते हैं। पर सच पूछा जाय तो एक पूर्ण धार्मिक व्यक्ति ही धर्म-सहिष्णु या धर्म-निरपेक्ष हो सकता है। डॉ० राधाकृष्णन् ने स्पष्ट कहा है, "धर्म-निरपेक्ष होने का तात्पर्य अधर्मी होना अथवा संकुचित धार्मिकता पर चलना नहीं होता, वरन् उसका तात्पर्य पूर्णत: आध्यात्मिक होना होता है।"[१]

भारतीय दृष्टिकोण

भारत धर्म-प्रधान देश रहा है, पर ऐसा होते हुए भी धर्म ने राज्य को कभी भी विकृत नहीं किया जैसा कि पश्चिम में पाया जाता है। पाश्चात्य देशों में राजा को धर्म से भी ऊपर माना जाता था। कहा जाता था कि "राजा कभी कोई असत् कार्य नहीं कर सकता" (King can do no wrong)। पर भारतीय परम्परा इसे मानने को तैयार नहीं है। प्राचीन भारत में जब राजा का अभिषेक होता था तो वह खड़ा होकर कहता था, "अदण्ड्योऽस्मि, अदण्ड्योऽस्मि, अदण्ड्योऽस्मि", पर राजा के यह कहने पर पुरोहित हाथ में पलाश का दण्ड लेकर उसकी पीठ पर मारता था और कहता था, 'नहीं, धर्म दण्डोऽस्ति' अर्थात् तेरे ऊपर भी धर्म का दण्ड है। यह प्रक्रिया तीन बार दुहराई जाती थी। यह इसलिए किया जाता था जिससे कि राजा को ज्ञात हो जाय कि वह सॉवरेन नहीं है, एकमात्र सॉवरेन धर्म ही है। यहाँ तक कि धर्म ईश्वर से भी बड़ा है क्योंकि यदि ईश्वर अधर्म करने लगे तो वह ईश्वर नहीं रह जायगा। अधर्म दुर्बलता का द्योतक है और धर्म सबलता का द्योतक है। ईश्वर के ऊपर धर्म का शासन होने से ईश्वर के ऐश्वर्य में किसी प्रकार का व्याघात नहीं होता क्योंकि स्वेच्छाचारिता में न तो शक्ति है और न संकल्प-स्वातन्त्र्य। धर्मशीलता अथवा आत्म-संयम में ही संकल्प-स्वातन्त्र्य की अभिव्यक्ति होती है। जो संयमी होगा, वही सर्व-शक्तिसम्पन्न होगा।

---

१. डॉ० एस० राधाकृष्णन्, भाषण

धर्म-राज्य और धार्मिक राज्य

जब किसी राज्य पर कुछ थोड़े-से धर्म-गुरुओं का प्रभुत्व होता है तो उसे धार्मिक राज्य (Theocratic State) कहते हैं जैसे ईरान। जो उस धर्म को मानते हैं उन्हें सारे अधिकार दे दिये जाते हैं, पर अन्य लोग द्वितीय श्रेणी के नागरिक समझे जाते हैं। होली रोमन-राज्य (Holy Roman Empire) और खिलाफत-राज्य इसी पर आधारित था। यहाँ राज्य और मजहब में एक ऐसा अनैतिक गठबन्धन था जिसने राज्य को अपने कर्त्तव्य से च्युत कर दिया था। धर्म-राज्य और धार्मिक राज्य (मज़हबी-राज्य, साम्प्रदायिक राज्य) में पर्याप्त भेद है। धर्म-राज्य के भीतर सबको अपने मजहब के अनुसार कार्य करने की स्वतन्त्रता है पर यह स्वतन्त्रता वहीं तक है जहाँ तक कि दूसरे मजहब की स्वतन्त्रता का व्याघात न होता हो। पर धार्मिक राज्य में ऐसा सम्भव नहीं है। जैसे मुस्लिम राज्य में काफिरों के लिए कोई स्थान नहीं है। वे केवल नीच टहल के लिए खिराज गुजार के रूप में मुसलमानों की सेवा के लिए रह सकते हैं। ऐसे काफिरों को जिम्मी कहा जाता है। उन्हें समानता के अधिकार नहीं दिये जा सकते। मुसलमान धर्म-सत्ता और राजनीतिक-सत्ता के एकीकरण में विश्वास करते हैं। जहाँ उनके हाथ में धर्म-सत्ता के साथ-साथ राजनीतिक सत्ता नहीं रही, उस देश को उन्होंने शत्रु-देश (दारुल हरब) करार दे दिया। पर जहाँ दोनों सत्ताएँ इसलाम के हाथ में रहीं उसे उन्होंने मित्र-देश (दारुल-इसलाम) क़रार दे दिया। इसलाम हमेशा एक सत्ता-सम्पन्न धार्मिक देश में विश्वास करता है जिससे कि वह काफिरों का धर्म-परिवर्तन कर सके। इसे 'खिलाफत' भी कहते हैं। यह एक धार्मिक राज्य (Theocratic State) की मान्यता है।

धर्म-राज्य, धार्मिक राज्य से बिलकुल पृथक् है। भारतीय चिन्तन-प्रणाली में धर्म का अर्थ मजहब या सम्प्रदाय से नहीं, वरन् धारणा-शक्ति से है। 'धारयतीति धर्मः'। धर्म का अर्थ गुण भी होता है। कोई भी अपने गुणों का परित्याग नहीं कर सकता, क्योंकि ऐसा करने से वह नष्ट हो जायगा। अतः राज्य मजहब-निरपेक्ष भले ही हो, वह धर्म-निरपेक्ष कभी नहीं हो सकता। धर्म-निरपेक्ष राज्य उतना ही गलत है जितना ताप-विहीन अग्नि या चैतन्य-विहीन आत्मा। धर्म के नाम पर भारत में कभी भी अत्याचार नहीं हुआ। भगवान् कृष्ण द्वैपायन व्यास का वचन है—'अन्तराचापि तु तद्दृष्टे।' (वेदान्त सूत्र ३/४/३६)। हमारी जाति और सम्प्रदाय के बाहर भी पूर्णत्व को पहुँचे हुए मनुष्य हैं। इस दृष्टि से हिन्दू-धर्म पूर्ण धर्म-निरपेक्ष धर्म है। तात्त्विक दृष्टि से धर्म-निरपेक्ष राज्य एक आत्मघाती कल्पना है।



९

न्याय (सामाजिक)

न्याय की अवधारणा

'राज्य' के अध्याय में हमने देखा कि राज्य का मूल उद्देश्य अपनी सीमाओं के भीतर न्याय स्थापना और उसकी रक्षा करना होता है। पर 'न्याय' क्या है? उसकी अवधारणा क्या है, इस बात को स्पष्ट करना कोई सरल कार्य नहीं है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से न्याय का अर्थ होता है किसी शासक द्वारा दिया गया 'आदेश'। 'न्याय' शब्द 'नय्' धातु से निकला है जिसका अर्थ होता है 'मार्ग-दर्शन करना'। अत: न्याय का अर्थ वह आदेश है जो हमारा मार्ग-दर्शन करता है। कुछ लोगों के अनुसार न्याय वह है जिससे शक्तिशाली लोगों का स्वार्थ-साधन होता है। प्लेटो की प्रसिद्ध पुस्तक रिपब्लिक (Republic) में थ्रेसिमेकस (Thrasymachus) ने इसी मत का प्रतिपादन किया है। भारतीय चिन्तन-प्रणाली में इसे 'मत्स्य-न्याय' या 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' (Might is right) के नाम से पुकारा जाता है। इसे प्राकृतिक न्याय-सिद्धान्त (The Principle of Natural Justice) भी कहते हैं। प्रकृति का यह नियम है कि बलवान्, निर्बल पर शासन करता है। अत: इस सिद्धान्त के अनुसार न्याय कुछ शक्तिशाली लोगों की स्वार्थ-सिद्धि का केवल एक साधन है।

यदि यह मान भी लिया जाय कि न्याय शक्तिशाली लोगों की स्वार्थ-पूर्ति का साधन है, तो प्रश्न उत्पन्न होता है कि शक्तिशाली लोगों का वास्तविक हित क्या है? पुन:, शक्तिशाली लोग भी तो मानव ही होते हैं, अत: इससे सम्बन्धित दूसरा महान् प्रश्न उठ खड़ा होता है कि मानव का परम-शुभ (Ultimate Good) क्या है? सच पूछा जाय तो एक शासन-शक्ति का कर्त्तव्य अपने स्वार्थों की पूर्ति करना नहीं है वरन् सब लोगों के हित का साधन करना है। शासन सदा लोकहितकारी होना चाहिए। यह समस्या एक तीसरी समस्या को जन्म देती है कि मानव के परम-शुभ से हमारा क्या तात्पर्य है? पर मानव के परम-शुभ का अनुसन्धान करना समाज-दर्शन का नहीं, वरन् नीति-विज्ञान का कार्य है। यहाँ केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि प्रसन्नता, कल्याण, शुभ, आत्म-साक्षात्कार, जीवन-विकास इत्यादि ऐसे शुभ हैं जिन्हें मानव अपने जीवन के आदर्श मानता है और उन्हें प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। अत: न्याय का तात्पर्य उस आदेश से नहीं है जिसे शासन-शक्ति अपने निहित स्वार्थों की सिद्धि के लिए देती है, वरन् उस आदेश से है जो उसे शासित जनता के सामान्य हित के लिए देनी चाहिए। पर यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि शासन-शक्ति स्वयं नागरिकों का हित नहीं कर सकती। नागरिकों का हित स्वयं उनके प्रयत्नों द्वारा ही साध्य हो सकता है। कभी-कभी

यह कहा जाता है कि नागरिकों के प्रयत्न उनके हित के ही एक अंश होते हैं। उदाहरण के लिए कहा जाता है कि सत्य का अनुशीलन उसकी प्राप्ति से कहीं श्रेयस्कर है। यद्यपि इसमें पूर्ण सत्य नहीं है, पर फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि मनुष्य जिन वस्तुओं को प्राप्त करना चाहता है उनका महत्त्व, उनके गुण-दोष-विवेचन और चयन पर आधारित होता है। परम-शुभ अनुदान नहीं वरन् एक उपलब्धि है। कोई बाह्य-शक्ति इसे प्रदान नहीं कर सकती। अतः, प्रश्न यह नहीं है कि जन-हित को कैसे प्राप्त किया जा सकता है, वास्तविक प्रश्न यह है कि शासन-शक्ति उस परम-शुभ की प्राप्ति में कितना सहयोग दे सकती है। मानवीय प्रयत्न और राज्य-द्वारा प्रदत्त परिस्थितियाँ दोनों मिलकर शुभ को उत्पन्न करती हैं। अतः **सामाजिक न्याय का केवल एक ही अर्थ हो सकता है—समाज के सभी व्यक्तियों को अपनी आन्तरिक शक्तियों को विकसित करने का समान अवसर प्राप्त होना।**

राज्य-सत्ता अपने नागरिकों के प्रत्येक हित की प्राप्ति नहीं करा सकती। वह नागरिकों के सर्वोत्तम हित के लिए केवल उन्नत सामाजिक व्यवस्था की स्थापना और रक्षा ही कर सकती है। इस समस्या के तीन प्रमुख पक्ष हैं जिनकी ओर एरिस्टॉटल[१] (Aristotle) ने संकेत किया है—प्रथम प्रश्न यह है कि समाज की वह कौन-सी सर्वोत्तम व्यवस्था है जिसे राज्य स्थापित कर सकता है? दूसरा प्रश्न यह है कि परिवर्तनशील परिस्थितियों में इस व्यवस्था की किस प्रकार भली-भाँति रक्षा की जा सकती है? तीसरा प्रश्न यह है कि यदि किसी कारण यह व्यवस्था भंग हो जाती है तो किस प्रकार उसे पुनः स्थापित किया जा सकता है? एरिस्टॉटल के अनुसार प्रथम प्रश्न का सम्बन्ध वितरण-सम्बन्धी न्याय और अन्य दो प्रश्नों का सम्बन्ध शोधक न्याय से है। एरिस्टॉटल ने शोधक न्याय को पुनः विनिमय और प्रतिशोध की विभिन्न विचारधाराओं में विभाजित किया है। सर्वप्रथम हम वितरण-सम्बन्धी न्याय के विषय में विचार प्रस्तुत करेंगे।

वितरण-सम्बन्धी न्याय

यहाँ मुख्य प्रश्न यह है कि समाज की ऐसी कौन-सी सर्वोत्तम व्यवस्था हो सकती है जिससे कि सम्पूर्ण समाज का अधिकतम हित-साधन हो सके? प्लेटो ने इस समस्या का सर्वोत्तम समाधान प्रस्तुत किया है। उसके अनुसार, समाज की सर्वोत्तम व्यवस्था वह है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को वह स्थान दिया गया है जिसके लिए वह योग्यतम है, जिसमें उस कार्य की पूर्ति के लिए उसे आवश्यक सामग्री और साधन प्रचुर मात्रा में उपलब्ध किया गया है। ब्रैडले (Bradley) ने 'मेरा स्थान तथा उसके कर्त्तव्य' (My station and its Duties) सिद्धान्त में इसी बात की पुष्टि की है। इसी आदर्श-समाज की स्थापना के लिए ही भगवान् श्रीकृष्ण ने 'स्वभाव' व 'स्व-धर्म' के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। वितरण सम्बन्धी सामाजिक न्याय की यही मौलिक अवधारणा है।

---

१. एथिक्स, बुक V, अध्याय II-V

यह ठीक है कि किसी भी विस्तृत राज्य में प्लेटो की आवधारणा में निहित सभी कुछ प्राप्त करना सम्भव नहीं है। पर राज्य को अपने इस उद्देश्य को कभी भी दुर्लक्ष्य नहीं करना चाहिए। यद्यपि राज्य को अपने प्रत्येक नागरिक को उसके योग्यतम स्थान में अवस्थित करना व्यावहारिक रूप से सम्भव नहीं है, पर फिर भी राज्य इतना तो अवश्य ही कर सकता है कि वह अपने देश में इस प्रकार की आदर्श शासन-व्यवस्था स्थापित करे कि किसी नागरिक को आत्म-लाभ के उद्देश्य में किसी प्रकार का अवरोध उत्पन्न न हो। शिक्षा इस कार्य में पर्याप्त मदद दे सकती है। इसी प्रकार भूमि-प्राप्ति के अधिकार, श्रम-विनिमय इत्यादि सुविधाओं द्वारा राज्य समुचित वातावरण उत्पन्न कर सकता है। सामाजिक न्याय के लिए यह भी आवश्यक है कि देश-वासियों में निर्धनता का अभाव हो। धन का न्यायिक वितरण समाज के उत्थान की प्रागपेक्षा है। यदि राज्य प्रत्येक व्यक्ति को योग्यतम स्थान दे भी देता है, तो कभी भी उसके कार्य की इति-श्री नहीं समझी जानी चाहिए। राज्य का यह कर्त्तव्य है कि वह सर्वेक्षण और निरीक्षण द्वारा देखे कि नागरिक अपने कर्त्तव्य का समुचित पालन कर रहे हैं अथवा नहीं। वह ऐसी शिक्षा-पद्धति को प्रोत्साहन दे सकता है जिससे कि नागरिकों की प्राकृतिक शक्तियों का केवल विकास ही नहीं, वरन् उनमें नागरिक उत्तरदायित्व की भावना भी जागरित हो। इसी प्रकार राज्य से यह आशा नहीं की जा सकती कि वह अपने नागरिकों को उन सारी सामग्रियों और उपकरणों से युक्त कर देगा जो उनके आत्म-विकास के लिए आवश्यक है, पर वह इतना तो कर ही सकता है कि देश में धन का ऐसा न्यायिक वितरण हो कि न तो कोई इतना निर्धन हो कि वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति ही न कर सके और न दूसरे इतने धनवान हों कि वे धन का दुरुपयोग और अपव्यय करें। इसी प्रकार राज्य, देशवासियों के लिए उचित आवास-व्यवस्था, जल और विद्युत् का उचित सम्भरण, पुस्तकालय, कला-संग्रहालय तथा यात्रा आदि की सुविधाएँ प्रदान कर सकता है जिससे कि आत्म-विकास के लिए नागरिकों को किसी प्रकार की असुविधा न होने पाये।

प्लेटो ने राज्य-व्यवस्था के सम्बन्ध में जिन सामान्य सिद्धान्तों का वर्णन किया है वे नियामक (Regulative) सिद्धान्त है। यदि कहीं इसका अपवाद पाया जाता है तो उससे सामान्य सिद्धान्तों की प्रामाणिकता में भी किसी प्रकार का व्याघात नहीं पहुँचता। एरिस्टॉटल ने भी कहा है कि राज्य के कानून सामान्यतः वही कुछ प्रदान कर सकते हैं जो लोगों के लिए सर्वोत्तम होता है। असाधारण व्यक्तियों के लिए राज्य तब तक कोई व्यवस्था नहीं कर सकता जब तक कि उनकी संख्या पर्याप्त न हो। पर यदि उनकी संख्या पर्याप्त हो गयी, तो वे असाधारण नहीं रह जायेंगे। उदाहरण के लिए किसी राज्य में प्रजातान्त्रिक व्यवस्था सर्वोत्तम राज्य-व्यवस्था मानी जा सकती है क्योंकि सामान्य रूप से प्रजातन्त्र, कुलीनतन्त्र अथवा राज-तन्त्र से अच्छी राज्य-व्यवस्था है। पर यह भी सत्य है कि संसार में राम-राज्य की भाँति आज तक कोई भी सुखी राज्य जन्म न ले सका यद्यपि वह प्रजातन्त्र न होकर विशुद्ध राजतन्त्र था। पर इस एक अपवाद के कारण राजतन्त्र को प्रजातन्त्र से श्रेयस्कर नहीं माना जा सकता। यही बात भूमि के स्वामित्व के विषय में भी

कही जा सकती है। कुछ लोग व्यक्तिगत स्वामित्व के पुजारी हैं तो कुछ अन्य लोग सामाजिक स्वामित्व पर बल देते हैं। साधारणतः यही समझा जाता है कि सामाजिक स्वामित्व, व्यक्तिगत स्वामित्व से श्रेयस्कर है, पर व्यक्तिगत स्वामित्व की भी अपनी अच्छाइयाँ हैं जिनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। सामान्यतः, सब लोगों के लिए जो सामान्य हित की बात है, कानून उसे दे सकता हैं; व्यक्तिगत समस्याओं का समाधान कैसे हो, यह एक पृथक् प्रश्न है। इसका समाधान सिद्धान्त द्वारा नहीं, तथ्यों द्वारा होना चाहिए।

शोधक न्याय

यदि मान भी लिया जाय कि किसी विशेष समुदाय में वितरण-सम्बन्धी न्याय की स्थापना की जा चुकी है तो कभी-कभी कुछ ऐसे विध्वंसक तत्त्व सामने आ जाते हैं जो न्याय के संतुलन को भंग करना चाहते हैं और इन्हीं विध्वंसक तत्त्वों के खण्डित करने का सही मार्ग ही हमें एरिस्टॉटल[१] के शोधक-न्याय (Corrective Justice) में प्राप्त होता है। वितरण-सम्बन्धी न्याय किसी आकस्मिक घटना, व्यक्ति के बीच किसी समझौते अथवा किसी व्यक्ति या समूह द्वारा विघ्न उत्पन्न कर भंग किया जा सकता है। विघ्न उत्पन्न करनेवाले व्यक्ति या व्यक्ति-समूह विभिन्न समुदायों या सम्प्रदायों के हो सकते हैं जिनका सम्बन्ध कुछ अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों से जुड़ा होता है जिनका वर्णन करना यहाँ समीचीन न होगा। दुर्घटनाओं की क्षति-पूर्ति कुछ अंशों तक बीमे द्वारा की जा सकती है तथा कभी-कभी इसका प्रावधान राज्य द्वारा भी किया जाता है। अनुबन्ध (Agreement) के विषय में आगे विनिमय-सम्बन्धी न्याय के रूप में वर्णन किया जायगा। व्यक्तियों द्वारा एक-दूसरे को पहुँचायी गयी चोट या हानि एक ऐसी व्यवस्था है जिसका सरकारों से सीधा सम्बन्ध होता है। क्षति में अधिकतर संविदा-भंग, लूट या व्यक्तिगत हिंसा इत्यादि बातें आती हैं। संविदा-भंग की पूर्ति, समय अथवा अवसर की क्षतिपूर्ति करके की जा सकती है। पर यदि समय की हानि घातक है अथवा माल की प्राप्ति भी नहीं की जा सकती तो यह सब व्यक्तिगत क्षति में आयेगा। लूट के सम्बन्ध में भी यही बात लागू होती है। सामान्यतः व्यक्तिगत हानियों अथवा चोटों की क्षतिपूर्ति नहीं की जा सकती। आँख की पुनः प्राप्ति असम्भव है और न उसका कोई स्थानापन्न ही हो सकता है। 'जैसे को तैसा' वाली कहावत क्षतिपूर्ति नहीं, वरन् एक प्रतिशोध है जिसका कभी भी समर्थन नहीं किया जा सकता क्योंकि दो बुराइयाँ एक अच्छाई को उत्पन्न नहीं कर सकतीं। राज्य का कार्य केवल इतना ही हो सकता है कि वह सुरक्षां-व्यवस्था द्वारा, विविध दण्ड-विधियों द्वारा, मादक द्रव्यों तथा घातक अस्त्रों पर प्रतिबन्ध लगाकर और नैतिक शिक्षा का प्रावधान करके इन घटनाओं को रोकने का प्रयत्न करे।

विनिमय-सम्बन्धी न्याय

कुछ समाज-दार्शनिकों का मत है कि विनिमय-सम्बन्धी न्याय शोधक-न्याय के अन्तर्गत आयेगा, पर यह धारणा ठीक नहीं है। विनिमय-न्याय (Justice in Exchange)

१. एथिक्स, बुक V, अध्याय ६

को शोधक-न्याय के अन्तर्गत लाने का अर्थ यह होगा कि विनिमय के पहले वितरण में किसी प्रकार का असाधारणत्व उत्पन्न हो गया है जिसका शोधन करने के लिए विनिमय की आवश्यकता है। यदि वास्तविक रूप में देखा जाय तो पता चलेगा कि समाज में जो विनिमय होते हैं वे सेवाओं के रूप में होते हैं जो वितरण के ही आवश्यक अंग हैं। यदि ठीक प्रकार से देखा जाय तो लोग अपने औजारों तथा उत्पादन के उपकरणों का विनिमय नहीं करते वरन् श्रम द्वारा उपार्जित वस्तुओं का ही विनिमय करते हैं। इस प्रकार के विनिमय द्वारा ही वे भोजन, वस्त्र तथा जीवन की अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। इस प्रकार विनिमय सम्बन्धी समस्या वितरण-न्याय का ही एक भाग है। राज्य का यह परम कर्त्तव्य है कि वह देखे कि समाज में वस्तुओं का अधिकतम उत्पादन हो और उनका न्यायोचित विनिमय तथा वितरण हो जिससे कि प्रत्येक व्यक्ति की आवश्यकताओं का सम्भरण हो सके। कुछ विचारकों ने इस प्रकार के आदर्श समुदाय की कल्पना की है जिसमें वितरण और विनिमय सम्बन्धी दोनों न्याय पर्याप्त मात्रा में प्राप्त हो सकते हैं, पर अन्य समाज-विचारकों ने जटिल समाज में इस प्रकार की सम्भावना के प्रति सन्देह प्रकट किया है। जब तक इस प्रकार के आदर्श समुदाय की स्थापना नहीं हो जाती, लोगों को अपनी परिस्थितियों के साथ समायोजन करके अपनी योग्यतानुसार वस्तुओं का उत्पादन व विनिमय करना चाहिए। इस प्रकार के विनिमय को सहज बनाने के लिए ही मुद्रा-जमानत और विविध प्रकार के ऋण की पद्धतियाँ चलायी गयीं और अन्त में एक जटिल बैंक-पद्धति को जन्म दिया गया। इनके विस्तार में हमें जाने की आवश्यकता नहीं है। समाज-दर्शन के दृष्टिकोण से यहाँ केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि **सर्वोत्तम सामाजिक व्यवस्था वह होगी जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यता के अनुसार अच्छी प्रकार से कार्य करेगा जिसके बदले में उसे उसकी आवश्यकताओं के अनुसार वस्तुएँ प्राप्त होती रहेंगी।** यह आदर्श सामाजिक व्यवस्था अर्थशास्त्र के माँग और सम्भरण द्वारा स्थापित नहीं की जा सकती। माँग और सम्भरण द्वारा कार्य को सम्पन्न करने में निम्न प्रमुख दोष पाये जाते हैं—

(क) लोगों को उनकी योग्यता के अनुसार काम नहीं मिलता।

(ख) वे उसमें अपनी पूरी शक्ति नहीं लगाते।

(ग) कभी ऐसा भी होता है कि एक ही काम के लिए अनेक लोग उपलब्ध हो जाते हैं पर अन्य कार्यों के लिए लोग मिलते ही नहीं।

(घ) लोगों की माँग सदा उनकी आवश्यकताओं के अनुसार नहीं होती; कभी-कभी वे ऐसी भी माँग प्रस्तुत करते हैं जो उनके लिए हानिकारक होती है।

(ङ) कभी-कभी मूल्यवान् वस्तुओं की माँग बहुत कम होती है।

उपर्युक्त दोषों को निम्न उपायों द्वारा दूर किया जा सकता है—

(क) तकनीकी प्रशिक्षण की अच्छी विधियाँ;

(ख) क्षमतापूर्ण श्रमिक-विनिमय;

(ग) कुछ अत्यावश्यक वस्तुओं का पूर्ण सरकारी नियन्त्रण;

(घ) हानिकारक वस्तुओं पर प्रतिबन्ध या टैक्स;

(ङ) यथार्थ मूल्यों के गुण-दोष विवेचन की शिक्षा।

पुरस्कार और दण्ड
(Reward and Punishment)

पुरस्कार और दण्ड का बड़ा सामाजिक महत्त्व होता है। पुरस्कार में समाज में अच्छे गुणों को प्रोत्साहन मिलता है तथा दण्ड से बुरे गुणों के प्रति लोगों में अनास्था उत्पन्न होती है। **पुरस्कार और दण्ड से तात्पर्य है—अनुमोदन अथवा अननुमोदन के संकेतों के रूप में भावात्मक या अभावात्मक मूल्यों का समर्थन।** साधारणतया पुरस्कार द्वारा लोगों को प्रसन्नता होती है और दण्ड द्वारा पीड़ा, किन्तु सदैव ऐसा नहीं होता। एक मनुष्य उस समय पुरस्कार लेना बिलकुल नापसन्द कर सकता है जब वह यह सोचेगा कि उसने कोई कार्य करने में अपने कर्त्तव्य-पालन के अतिरिक्त कुछ भी नहीं किया है। पर फिर भी सामाजिक दृष्टि से ऐसे कार्यों के लिए कुछ-न-कुछ प्रशस्ति देना आवश्यक होता है। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति समझता है कि उसने समाज में कोई बुरा कार्य किया है जिसके लिए उसे दण्ड मिलना चाहिए, तो मिलने पर वह प्रसन्न भी हो सकता है। कभी-कभी तो ऐसा होता है कि यदि कोई बाह्य सत्ता उसे दण्ड नहीं दे पाती तो वह स्वयं प्रायश्चित्त करके अपराध से मुक्त होने का प्रयत्न करता है और यदि अपराध की मात्रा अधिक हुई तो कभी-कभी लोग आत्महत्या भी कर डालते हैं। अत: प्रसन्नता या अप्रसन्नता, पुरस्कार या दण्ड के लक्षण नहीं माने जा सकते।

जब भावात्मक या अभावात्मक मूल्य क्षतिपूर्ति के रूप में किसी को अर्पित किये जाते हैं तो उन्हें पुरस्कार या दण्ड के रूप में वर्णित करना उचित नहीं है। जैसे सरकार यदि किसी व्यक्ति को इसलिए पेन्शन देना स्वीकार कर लेती है कि उसके कार्य-काल में उसे उचित पारिश्रमिक नहीं दिया गया तो इसे पुरस्कार की संज्ञा नहीं दी जा सकती, भले ही उसमें अनुमोदन की भावना शामिल हो। इसके विपरीत, यदि किसी व्यक्ति को किसी क्षतिपूर्ति के लिए आदेश दिया जाता है, तो उसमें अननुमोदन की भावना होते हुए भी उसे दण्ड की संज्ञा नहीं दी जा सकती, क्योंकि वह भी कुछ अंशों में आस्थगित (Deferred) भुगतान के रूप में ही होती है। अत: एरिस्टॉटल जो पुरस्कार ओर दण्ड का विश्लेषण क्षति-पूर्ति के रूप में करता है, वह कभी भी मान्य नहीं हो सकता।

इसी प्रकार, पशुओं को दिये गये पुरस्कार और दण्ड भी वास्तव में पुरस्कार और दण्ड की परिधि में नहीं आते। वे पशुओं को कुछ कार्यों को करने के लिए प्रेरित करने अथवा कुछ अन्य कार्यों से विरत करने के लिए ही दिये जाते हैं। जब हम पशुओं के जीवन में किसी सुनिश्चित आदत को उत्पन्न करने में सफल हो जाते हैं तो हम कहते हैं कि यह हमने पुरस्कार या दण्ड-विधि द्वारा किया है जो वास्तव में सही नहीं है। इसमें अनुमोदन या अननुमोदन का कोई भी भाव निहित नहीं है। किसी कार्य को सम्पन्न करने के पूर्व ही अनुमोदन अथवा अननुमोदन का कोई प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। दूसरी बात

यह है कि जो परिणाम हम पुरस्कार या दण्ड द्वारा प्राप्त करते हैं वह उनके अभाव में भी प्राप्त किया जा सकता है। पुनः, पशुओं से तथाकथित पुरस्कारों और दण्डों द्वारा वही परिणाम चाहना एक कृत्रिम तरीका है। बच्चों को दिये जाने वाले पुरस्कार और दण्ड भी कुछ इसी प्रकार के होते हैं। उनका उद्देश्य उनके कार्यों का अनुमोदन अथवा अननुमोदन करना नहीं, वरन् किसी कार्य को करने के लिए प्रेरित करना मात्र है। उनकी तुलना गधे के सामने गाजर लटकाने या घोड़े को एड़ लगाने से की जा सकती है। यद्यपि उनमें अनुमोदन या अननुमोदन के तत्त्व वर्तमान हैं, पर उन्हें पुरस्कार या दण्ड कहने की अपेक्षा एक प्रकार का रिश्वत या उत्कोच कहना अधिक ठीक होगा। इसके विपरीत, जब गाँधीजी की प्रस्तर-प्रतिमा स्थापित की जाती है अथवा मार्शल स्टालिन की कब्र खोदकर निकृष्ट स्थान पर रख दी जाती है तो यह दोनों काम अनुमोदन अथवा अननुमोदन के रूप में किये जाते हैं और उन्हें पुरस्कार अथवा दण्ड के रूप में वर्णित भी किया जा सकता है पर इससे सम्बन्धित व्यक्तियों को न तो कोई प्रसन्नता होती है और न किसी प्रकार की पीड़ा ही।

पुरस्कार और दण्ड विषयक न्याय का विवेचन करते समय हमें इनके उपर्युक्त अर्थों को सदा ध्यान में रखना होगा। जब हम क्षतिपूर्ति की कोटि में इन शब्दों की व्याख्या करते हैं तो बात बिलकुल स्पष्ट हो जाती है। क्षति-पूर्ति का सिद्धान्त, एरिस्टॉटल के अनुसार, शोधक न्याय से सम्बन्धित है, जिसके अनुसार यदि अन्यायवश किसी व्यक्ति को उसकी वस्तुओं से वंचित कर दिया गया है, तो न्याय की यह माँग है कि उसे उसका स्थानापन्न दे दिया जाय। इसमें निहित सिद्धान्त यह है, "जिस व्यक्ति के पास बहुत कम है, उसे दिया जाय और जिसके पास आवश्यकता से अधिक है उससे ले लिया जाय।" इसके विपरीत, जब पुरस्कार या दण्ड को उद्दीपक (Stimulant) के रूप में ग्रहण किया जाता है तो वह किसी-न-किसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए ही दिया जाता है। यदि लक्ष्य या उद्देश्य अपने-आप में शुभ है और दिया जानेवाला पुरस्कार अथवा दण्ड उन्नति में सहायक है तो उसका औचित्य स्वतः सिद्ध हो जाता है। यदि पशुओं और बच्चों को किसी विशेष प्रकार का प्रशिक्षण देना है जिससे किसी शुभ उद्देश्य की पूर्ति होती हो तो उन्हें उत्साहित और उद्दीप्त करने के लिए पुरस्कार अथवा दण्ड की व्यवस्था की जा सकती है, यदि वह निर्दयतापूर्ण और अपमानजनक न हो। वयस्कों के लिए ऐसे साध्य चुनने का किसी को अधिकार नहीं दिया जा सकता जिसके विषय में स्वयं उनकी अनुमति न ले ली गयी हो। हाँ, आत्मानुशासन के लिए उठाये गये उपायों के लिए उनकी सहमति आवश्यक नहीं है। अतः पुरस्कार और दण्ड के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिए अनुमोदन और अननुमोदन के लक्ष्य तथा उनके आधार को स्पष्ट करना आवश्यक है। पुरस्कार और दण्ड का औचित्य तभी सिद्ध हो सकता है जब वे लक्ष्य की प्राप्ति के सर्वोत्तम साधन हों, निर्दयतापूर्ण और अपमानजनक न हों तथा ऐसे व्यक्ति द्वारा क्रियान्वित किये जायँ जिसे अनुमोदन अथवा अननुमोदन करने का अधिकार प्राप्त हो।

पुरस्कार की अपेक्षा दण्ड की ओर ध्यान देने की विशेष आवश्यकता है। उत्तम

कार्य करने के लिए वयस्कों का पुरस्कार यही है कि वे भविष्य में भी इसी प्रकार के उत्तम कार्य करते रहें और उनके मार्ग में किसी प्रकार का अवरोध उत्पन्न न होने पाये। गलत और अनुचित कार्यों के लिए ही विशेष व्यवहार की आवश्यकता होती है। दण्ड के विभिन्न सिद्धान्त और उनसे सम्बन्धित कार्य तो स्पष्ट ही हैं। निवारक-सिद्धान्त (Preventive Theory) सब पर लागू होता है। एरिस्टॉटल का क्षति-पूर्ति सिद्धान्त (Compensatory Theory) केवल क्षति-पूर्ति पर ही लागू होता है। निवर्तक सिद्धान्त (Deterrent Theory) जिसको रूसो और हर्बर्ट स्पेन्सर ने प्रतिपादित किया है, उद्दीपन के रूप में कार्य करता है। प्रतिकारी सिद्धान्त (Retributive Theory) अपने सुधारात्मक और शैक्षणिक रूप में अनुमोदन-अननुमोदन रूप में प्रयोग किया जाता है। इनके विषय में यहाँ थोड़ा विचार कर लेना अप्रासंगिक न होगा।

दण्ड के सिद्धान्त

दण्ड की गुरुता और उसके उद्देश्य के अनुसार विचारकों ने दण्ड के विषय में तीन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है—

१. प्रतिफलात्मक सिद्धान्त (Retributive Theory)

प्रतिफल से तात्पर्य है प्रतिकार या बदला लेना। इस सिद्धान्त का आधार है—जैसे को तैसा, आँख के लिए आँख और दाँत के लिए दाँत। इसके अनुसार दण्ड का स्वरूप अपराधी से अपराध का बदला लेना है।

प्राचीन काल में दण्ड-व्यवस्था का सिद्धान्त प्रतिफलात्मक ही था। उस समय अपराध व्यक्तियों के विरुद्ध माना जाता था। परिणामस्वरूप अपराधी को उस व्यक्ति को सौंप दिया जाता था जिसकी उसने हानि की है। उस व्यक्ति को इस अपराधी से बदला लेने का पूर्ण अधिकार दे दिया जाता था। पर सभ्यता की उन्नति और राजनीतिक संगठन की जटिलता के साथ शान्ति, सुरक्षा तथा जनता के अधिकार और उसकी स्वतन्त्रता का प्रबन्ध राज्य ने व्यक्ति से अपने हाथ में ले लिया। फलतः अब कोई अपराध किसी व्यक्ति के विरुद्ध नहीं, वरन् सीधे राज्य के विरुद्ध समझा जाता है। इस प्रकार प्रतिकार का अधिकार भी राज्य को ही रहता है, न कि उस व्यक्ति को जिसकी कोई हानि होती है। अतः यह उचित ही है कि प्रतिकार के लिए राज्य दण्ड की व्यवस्था करे। राज्य अपनी सर्वोच्च सत्ता द्वारा शक्ति का प्रयोग करके अपराधी से प्रतिकार लेता है। काण्ट (Kant) और हेगल (Hegel) इसी सिद्धान्त के प्रतिपादक हैं। उनके मतानुसार, दण्ड अपराधी के लिए एक निषेधात्मक पुरस्कार है।

मूल्यांकन—प्रतिफलात्मक सिद्धान्त एक जंगली सिद्धान्त है जिसका कोई भी सभ्य व सुसंस्कृत व्यक्ति समर्थन नहीं कर सकता। यह सिद्धान्त वस्तुतः राज्य को एक अत्याचारी संस्था बना देता है। परन्तु, राज्य का स्वरूप एक अत्याचारी संस्था का नहीं है। यदि राज्य वही करता है जो व्यक्ति करता है, तो राज्य भी उतना ही अपराधी है जितना व्यक्ति और फिर राज्य को दण्ड देने का कोई अधिकार नहीं रह जाता। प्रतिकार या प्रतिशोध

की भावना एक ऐसे दुश्चक्र को जन्म देती है जिससे मुक्त होना व्यक्ति और राज्य दोनों के लिए कठिन हो जाता है। अतः यह धारणा उचित नहीं है कि दण्ड-व्यवस्था का उद्देश्य केवल प्रतिकार करना ही है और राज्य का अस्तित्व प्रतिकार लेने के लिए ही है। राज्य और दण्ड-व्यवस्था का उद्देश्य प्रतिकारात्मक ही न होकर सुधारात्मक भी है।

२. निवर्तक सिद्धान्त (Deterrent Theory)

इस सिद्धान्त का मूल मंत्र यह है कि दण्ड इसलिए नहीं दिया जाता कि अपराधी ने अपराध किया है, बल्कि इसलिये दिया जाता है कि भविष्य में वह अपराध न कर सके। इस सिद्धान्त के समर्थकों का कहना है कि दण्ड केवल प्रतिकार के लिए नहीं दिया जाता, वरन् वह इसलिए भी दिया जाता है कि अपराधी भविष्य में अपराध न करे और साथ-ही-साथ अन्य व्यक्तियों के सम्मुख इस प्रकार का उदाहरण प्रस्तुत हो जाय कि वे इस प्रकार के अपराध करने का दुस्साहस न कर सकें। इस प्रकार निवर्तक सिद्धान्त के समर्थक दण्ड-व्यवस्था का उद्देश्य अपराधी को अन्य व्यक्तियों के लिए चेतावनी देना मानते हैं। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए दण्ड-व्यवस्था का आयोज़न अपराधी और जनता के हृदय में भय उत्पन्न करने के लिए किया जाता है। अतः स्वाभाविक है कि इस सिद्धान्त पर आधारित दण्ड-व्यवस्था अत्यन्त कठोर और उग्र होगी।

अति प्राचीन काल में निवर्तन ही दण्ड-व्यवस्था का आधार था। लोगों को अपराध से विरत करने के लिए कठोरतम और कभी-कभी अमानुषिक दण्ड दिये जाते थे। उदाहरण के लिए भारत में मौर्य-काल में साधारण अपराधों के लिए भी प्राण-दण्ड दिये जाते थे। आचार्य कौटिल्य का भी इस सिद्धान्त में विश्वास था। उन्होंने १७ पकार के निवर्तक दण्डों की व्यवस्था की थी। मध्यकालीन यूरोप और इंगलैण्ड में अपराधियों को दहकते लोहे से दागा जाता था, उनके नाक-कान काट लिये जाते थे, उन्हें खुलेआम प्राण-दण्ड दिया जाता था और कभी-कभी उन्हें जिन्दा जला दिया जाता था। ईरान में आज कल इस सिद्धान्त के अनुयायियों का बोलबाला है।

मूल्यांकन—जिस प्रकार प्रतिफलात्मक सिद्धान्त की आलोचना की गयी है, उन्हीं आधारों पर निवर्तक सिद्धान्त की भी आलोचना की गयी है। दोनों सिद्धान्त जंगली, अमानुषिक और मानवीय गरिमा के विपरीत हैं। यदि इस दण्ड-व्यवस्था के आधार पर अपराधों की तीव्रता और संख्या में कमी होती, तो इसका किसी प्रकार समर्थन किया भी जा सकता था। पर इतिहास इसका साक्षी है कि कठोर दण्ड-व्यवस्था अपराधों को रोकने में पूर्णतः सफल नहीं रही है। वर्तमान विचारकों का तो कथन है कि कठोर दण्ड अपराधियों की कुप्रवृत्तियों पर प्रतिबन्ध लगाने में तो असफल होता ही है, वह उन्हें भयंकर अपराधी भी बना देता है। इसके अतिरिक्त, कठोर दण्ड-व्यवस्था अन्य व्यक्तियों को भी भयभीत नहीं कर पाती क्योंकि हम देखते हैं कि प्राण-दण्ड हत्याओं को रोक नहीं सकता है। निवर्तक दण्ड, अपराधी और अन्य व्यक्तियों के हृदय में कुछ भय अवश्य उत्पन्न करता है, पर उस भय का कोई स्थायी प्रभाव नहीं होता।

निवर्तक सिद्धान्त का सबसे बड़ा दोष यह है कि एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति का साधन मानता है। अपराधी को दण्ड केवल इसलिए नहीं दिया जाता कि उसने अपराध किया है, वरन् इसलिए भी दण्ड दिया जाता है कि अन्य लोग अपराध से विरत हों। पर व्यक्ति स्वयं एक साध्य है, उसे समाज के लिए साधन के रूप में बलिदान नहीं किया जाना चाहिए। न्याय का यह साधारण नियम है कि किसी अपराधी को उसके अपराध के अनुसार ही दण्ड देना चाहिए। अपराध की मात्रा से अधिक दण्ड देना कभी भी न्यायोचित नहीं ठहराया जा सकता।

३. सुधारात्मक सिद्धान्त (Reformative Theory)

प्रतिफलात्मक और निवर्तक सिद्धान्त मनुष्य के संकल्प-स्वातन्त्र्य-सिद्धान्त पर आधारित है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक मनुष्य के पास संकल्प-स्वातन्त्र्य विद्यमान है। वह कठिनतम परिस्थितियों में भी अपनी स्वतन्त्रता को अक्षुण्ण बनाये रखता है। अतः यदि बाह्य परिस्थितियों के प्रभाव के कारण हमारी आत्मा ने कोई गलत निर्णय ले लिया, तो इसके लिए बाह्य परिस्थितियाँ नहीं, वरन् स्वयं हमारी आत्मा उत्तरदायी है। आत्मा के इस अपराध के लिए उसे प्रतिफलात्मक या निवर्तक दण्ड मिलना चाहिए। यह आत्मनियन्त्रणवाद (Self Determinism) है। यह एक दार्शनिक सिद्धान्त है।

इस सिद्धान्त के विपरीत एक दूसरा सिद्धान्त है जिसे बाह्य-नियंत्रणवाद (External-determinism) कहते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति अपराधी पैदा नहीं होता और यदि वह अपराध करता है तो परिस्थितियों से विवश होकर करता है। अपराध और अपराधी समाज की ही उपज होते हैं। कोई व्यक्ति स्वयमेव अपराधी हो जाता हो, बात ऐसी नहीं है। अपराधी वंश में जन्म लेना, निर्धनता, अशिक्षा, अज्ञानता इत्यादि ऐसी परिस्थितियाँ हैं जो मनुष्य के मन को विकृत कर उसे अपराधी बना देती हैं। अतः, बाह्य परिस्थितियों में सुधार किये बिना, मनुष्य के विकृत मन को स्वस्थ नहीं किया जा सकता और जब तक मनुष्यों का मन स्वस्थ नहीं होता, अपराध की मनोवृत्ति को दूर नहीं किया जा सकता। अतः, अपराध का मूल कारण अपराधी नहीं, वरन् बाह्य परिस्थितियाँ हैं। अतः, यदि इन परिस्थितियों का सुधार किया जाय और अपराधी वंश में उत्पन्न बालकों को उनसे पृथक् रखा जाय, दरिद्रता का निवारण किया जाय, अशिक्षा को दूर किया जाय, लोगों के साथ न्याय किया जाय और सबको उचित भरण-पोषण के साधन सुलभ कर दिये जायँ तो यह पूर्णतया सम्भव है कि समाज के भीतर से अपराध की मनोवृत्ति समाप्त की जा सकती है। इसके अतिरिक्त, बाह्य परिस्थितियों के कारण मन में जो विकृति पहले से उत्पन्न हो चुकी है, उसकी मनोवैज्ञानिक चिकित्सा द्वारा सुधार करके उसे आसानी से दूर किया जा सकता है। बाह्य और आन्तरिक दोनों परिस्थितियों में सुधार करके मनुष्य को अपराध की मनोवृत्ति से मुक्त किया जा सकता है। सारांश यह है कि व्यक्ति की अपराधी मनोवृत्ति एक सामाजिक रोग है तथा उसका उचित उपचार तभी हो सकता है जब दण्ड-व्यवस्था सुधारात्मक हो। दण्ड का उद्देश्य न तो बदला लेना और न अपराधी

के हृदय में भय उत्पन्न करना ही होना चाहिए, बल्कि उसका उद्देश्य अपराधी के मस्तिष्क और हृदय का परिवर्तन होना चाहिए।

मूल्यांकन—दण्ड के सुधारात्मक सिद्धान्त का अपना महत्त्व है। इस सत्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि मनुष्य की अपराधी वृत्तियों के लिए परिस्थितियाँ कुछ सीमा तक अवश्य उत्तरदायी होती हैं। पर यह भी ध्यान रखने की बात है कि मनुष्य परिस्थितियों का दास नहीं है। आत्मा अपनी असीम संकल्प-शक्ति का उपयोग करके परिस्थितियों पर विजय प्राप्त कर सकती है। अतः अपराध के लिए परिस्थितियों को ही पूर्ण रूप से दोषी समझना आत्मा की असीम संकल्प-शक्ति में अविश्वास प्रकट करना है जो सही नहीं है। विपरीत परिस्थितियों के होने पर भी यदि आत्मा चाहे तो वह अपने संकल्प-स्वातन्त्र्य को अक्षुण्ण रख सकती है। अतः, यह स्वीकार करना पड़ेगा कि आत्मा स्वेच्छा से ही अपराधी होना स्वीकार करती है जिसके प्रायश्चित्त के लिए उसे दण्ड देना आवश्यक हो जाता है। दूसरी बात यह है कि सुधारात्मक सिद्धान्त आत्मा को परतंत्र बना देता है जो तथ्य के विपरीत है। दूसरी बात यह है कि सुधारात्मक सिद्धान्त केवल बाल-अपराधियों पर ही लागू होता है। प्रौढ़ और उग्र अपराधियों पर इसे लागू नहीं किया जा सकता। बालक इतना अबोध होता है कि उसके ऊपर बाह्य परिस्थितियों का विशेष प्रभाव पड़ सकता है। वह यह भी निर्णय नहीं कर पाता कि वह जो कुछ कर रहा है, वह वांछनीय है अथवा अवांछनीय। वह अधिकतर अपराध अंध-भावनाओं और संवेगों के वशीभूत करता है, उसमें उसके विचारों का कोई विशेष योगदान नहीं होता। अतः, मनोवैज्ञानिक और सुधारात्मक उपायों द्वारा उसकी अपराध-मनोवृत्ति को दूर किया जा सकता है। पर यही बात प्रौढ़ अपराधियों पर लागू नहीं होती। प्रौढ़ अपराधियों के अपराध केवल भावनाओं के वशीभूत होकर नहीं किये जाते, बल्कि काफी सोच-विचार कर और गणनापूर्वक किये जाते हैं। उनकी अपराधी-मनोवृत्ति इतनी दृढ़ हो चुकी होती है कि सुधारात्मक उपायों द्वारा उन्हें दूर करना कठिन ही नहीं, वरन् असम्भव भी होता है। अतः ऐसे अपराधियों को प्रतिफलात्मक या निवर्तक दण्ड देने के सिवा कोई विकल्प नहीं होता। प्रथम हमें अपराधी का सुधार करने का प्रयत्न अवश्य करना चाहिए, पर यदि सुधार करना सम्भव न हो तो उसे दण्ड देना चाहिए। दण्ड उसके अपराध के गुण और मात्रा के अनुसार निर्धारित होना चाहिए।

४. आदर्शवादी सिद्धान्त (Idealistic Theory)

इस सिद्धान्त के अनुसार दण्ड व्यक्ति को इसलिए नहीं दिया जाता कि उसके अपराध का बदला लेना है अथवा उसे दण्ड देने से अन्य लोग अपराध करने से डरेंगे, वरन् दण्ड इसलिए दिया जाता है कि अपराधी ने अनैतिकता के वशीभूत होकर एक अनैतिक कार्य किया है। राज्य उन्हीं परिस्थितियों में व्यक्ति के लिए दण्ड का विधान करता है जब वह अपनी नैतिक इच्छा का स्वतन्त्र प्रयोग करने में असफल रहता है। इस सिद्धान्त के समर्थकों का कहना है कि दण्ड की मात्रा व्यक्ति द्वारा की हुई अनैतिकता के

अनुपात में होनी चाहिए। अतः, दण्ड एक घृणित अथवा अनैतिक कार्य न होकर नैतिकता का एक सक्रिय पोषक है। वह एक ओर व्यक्ति की नैतिक इच्छा को कार्य करने की स्वतन्त्रता प्रदान करता है तो दूसरी ओर व्यक्ति की अनैतिक भावना पर आघात पहुँचा कर उसका सुधार करता है। इस प्रकार, दण्ड कठोरता अथवा अत्याचार का प्रतीक न होकर नैतिकता का सम्बल बन जाता है।

मूल्यांकन—आदर्शवादी सिद्धान्त अव्यावहारिक है। इसकी अव्यावहारिकता निम्न दो कारणों से स्पष्ट हो जाती है। प्रथम कारण तो यह है कि अपराध के परिणामस्वरूप होनेवाली नैतिक क्षति का ठीक-ठीक अनुमान लगाना सम्भव नहीं है। अतः, दिये जाने वाले दण्ड का अनुपात निश्चित करना भी असम्भव है। इसके अतिरिक्त, दण्ड को नैतिकता पर आधारित मान कर उसे व्यक्ति के आन्तरिक पहलू से ही सम्बद्ध मान लिया गया है, जब कि अपराध और दण्ड का जितना सम्बन्ध व्यक्ति के आन्तरिक पहलू से होता है, उतना ही उसके बाह्य पहलू से भी होता है।

यदि दण्ड के चारों सिद्धान्तों का सूक्ष्म निरीक्षण किया जाय तो पता चलेगा कि वे चारों सिद्धान्त एकाङ्गी हैं। सब में थोड़ी-बहुत अच्छाइयाँ विद्यमान हैं, पर साथ ही उनमें कठिनाइयाँ भी हैं। प्रतिफलात्मक सिद्धान्त जो 'खून के बदले खून' सिद्धान्त पर आधारित है, राज्य को निर्दयी बना देता है और इससे अपराधों का न तो निराकरण हो पाता है और न समाज का कल्याण ही। निवर्तक सिद्धान्त से अपराधों की संख्या घटने के बजाय बढ़ती है और यह न्याय-संगत भी नहीं है। इसी प्रकार सुधारात्मक और आदर्शात्मक सिद्धान्त अव्यावहारिक सिद्धान्त है जिन पर चलने से सम.ज का बहुत बड़ा अहित हो सकता है। अपराधियों का सुधार करना कोई सरल कार्य नहीं है। अ. ..ग्य में पूर्णतः आदर्श दण्ड-व्यवस्था वही हो सकती है जो इन सभी सिद्धान्तों पर आधारित हो तथा जिसके अन्तर्गत प्रतिफल, निवर्तन और सुधार तीनों की ही समुचित व्यवस्था हो।

साम्य-न्याय

(Equity)

कभी-कभी ऐसा देखा जाता है कि जो बात कानूनी रूप से सही है, वह व्यक्तिगत रूप से अथवा सामाजिक हित की दृष्टि से सही नहीं होती। बात यह है कि कानून इतना सामान्य और व्यापक होता है कि वह विशेष परिस्थितियों पर पूरी तरह ध्यान नहीं दे पाता। यही कारण है कि साम्य-न्याय (Equity) की अवधारणा को कानूनी न्याय (Legal Justice) की अवधारणा से पृथक् कर लिया गया है। इस दृष्टि से साम्य अवस्था (Equitable Arrangement) वह होगी जिसमें पूर्णतः न्याय पाया जाता हो, क्योंकि यह व्यवस्था सभी सम्भावित परिस्थितियों को ध्यान में रखकर निर्मित की जाती है। साम्य-न्याय को कानूनी न्याय द्वारा पूर्णतः व्यक्त नहीं किया जा सकता। कभी-कभी कानूनी निर्णय देने में विशेष परिस्थितियों (साम्य-न्याय) का भी विचार किया जाता है और निर्णय कानूनी न्याय के ऊपर आधारित न होकर विशुद्ध साम्य-न्याय पर ही

आधारित होते हैं। एक अपराधी मनुष्य विशेष परिस्थितियों में पूर्णतः या आंशिक रूप में अपने दोष से मुक्त हो सकता है। जैसे यदि कोई असहाय स्त्री यह जानकर कि उसका नन्हा बच्चा भूख से तड़प-तड़प कर मर जायगा, अपने बच्चे को मार डालती है तो उसका अपराध विशेष परिस्थितियों के कारण बहुत कुछ न्यून हो जाता है। इसी प्रकार एक अयोग्य व्यक्ति अपने प्राप्त वैध अधिकारों से भी वंचित किया जा सकता है। ऐसी परिस्थितियों में उपकारी व्यक्तियों और ऐच्छिक संघों का यह परम कर्त्तव्य हो जाता है कि वे कानून की इन कमियों के कारण समाज में जो विकट समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं, उन्हें दूर करने का प्रयत्न करें।

जब भावात्मक कानून (Positive Law) समय बीतने के साथ, नयी और परिवर्तित सामाजिक अवस्थाओं के लिए अनुपयुक्त हो जाता है, तो उसे उपयुक्त बनाने के लिए औपचारिक उपायों के साथ अनौपचारिक उपाय भी अपनाये जाते हैं। "साम्य-न्याय नये कानून बनाने या पुराने में परिवर्तन करने की अनौपचारिक विधि है जो व्यवहार की शुद्ध निष्पक्षता या समानता पर निर्भर करती है।"[१] साम्य-न्याय वर्तमान कानून की अपूर्णता की क्षति-पूर्ति करने का प्रयत्न करता है। इसका लक्ष्य समानता अथवा न्याय प्राप्त करना होता है और इसका आधार प्राकृतिक कानून होता है जो विवेक द्वारा कार्यान्वित किया जाता है।

प्राकृतिक अधिकार
(Natural Rights)

कानूनी दृष्टि से प्रत्येक नागरिक को राज्य द्वारा प्रदत्त कुछ अधिकार प्राप्त होते हैं। नैतिक दृष्टि से उसके अधिकार पूर्व वर्णित न्याय तथा साम्य जैसे विचारों द्वारा निर्धारित किये जाते हैं। यदि कानूनी और नैतिक अधिकार एक-दूसरे के अनुरूप नहीं होते तो नैतिक अधिकार के रूप में कानूनी अधिकार को लाने के लिए कोई भी तर्क-संगत उपाय ग्रहण किये जा सकते हैं। समाज में बिना अराजकता और गृह-युद्ध की स्थिति उत्पन्न किये यदि सक्रिय विरोध द्वारा किसी सरकार से हम अपने नैतिक अधिकार प्राप्त कर सकें, तो उसे करना चाहिए। यहाँ हमारे प्राकृतिक अधिकारों का प्रश्न जुड़ा हुआ है। प्राकृतिक अधिकार से हमारा तात्पर्य उस अधिकार से है जो किसी सुव्यवस्थित समुदाय के संविधान में वर्णित है। यदि इस दृष्टि से विचार किया जाय तो प्राकृतिक अधिकार और नैतिक अधिकार में कोई अन्तर ही नहीं रहेगा। वास्तव में वे दोनों एक ही हैं। पर कुछ लोग प्राकृतिक अधिकार का एक भिन्न ही अर्थ लेते हैं। उसका सम्बन्ध किसी सुसंगठित राज्य के निर्माण से पूर्व 'प्राकृतिक राज्य' की अवधारणा से संयुक्त किया जाता है जो वास्तव में ठीक नहीं है। हॉब्स ने प्राकृतिक अवस्था का वर्णन करते हुए लिखा है, "प्राकृतिक रूप से प्रत्येक व्यक्ति को सब चीजें प्राप्त करने का अधिकार है, अर्थात् सभी वस्तुओं के सम्बन्ध में जैसा चाहता है वैसा ही प्रयोग और

१. गिलक्राइस्ट, प्रिन्सिपुल्स ऑव पोलिटिकल साइन्स, पृ० १६१-६२

उपभोग कर सकता है और उन्हें प्राप्त कर सकता है।" पर हम पहले ही निवेदन कर चुके हैं कि प्राकृतिक राज्य की अवधारणा काल्पनिक है। दूसरी बात यह है कि एक सुव्यवस्थित समुदाय का अस्तित्व एक अव्यवस्थित समुदाय के अस्तित्व से कहीं अधिक प्राकृतिक और स्वाभाविक है। अतः, संक्षेप में हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि प्राकृतिक अधिकार वही है जिसे कोई सुसंगठित समाज मान्यता प्रदान करे।

अधिकार और कर्त्तव्य
(Rights and Obligations)

अधिकार और कर्त्तव्य में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। अधिकार चाहे साम्यिक हों अथवा कानूनी, वे व्यक्ति द्वारा कर्त्तव्य-पालन पर आश्रित होते हैं। साम्यिक अधिकारों के लिए तो यह विशेष रूप से स्पष्ट है। प्लेटो के न्याय की अवधारणा के अनुसार, किसी व्यक्ति के अधिकार उसके नागरिक कर्त्तव्यों के पालन पर निर्भर होते हैं। उदाहरण के लिए, समाज के प्रत्येक व्यक्ति को आत्म-विकास के लिए स्वतन्त्रता और सुअवसर का अधिकार मिलना चाहिए, पर यदि वह इन अधिकारों का दुरुपयोग करता है तो समाज इन अधिकारों से उसे वंचित कर सकता है। अधिकारों का प्रयोग वांछित लक्ष्य की पूर्ति के लिए ही करना चाहिए। कानूनी दृष्टि से यह समझा जाता है कि यदि अधिकार एक व्यक्ति को दिये गये हैं तो कर्त्तव्य दूसरे व्यक्तियों के लिए मान्य होते हैं। उदाहरण के लिए, यदि किसी व्यक्ति को सम्पत्ति का अधिकार है तो शेष अन्य व्यक्तियों को यह कर्त्तव्य हो जाता है कि उसकी सम्पत्ति की वे रक्षा करें। इसी प्रकार कानूनी दृष्टि से कर्त्तव्य भावात्मक न होकर केवल निषेधात्मक ही है। भावात्मक कर्त्तव्यों को कानून द्वारा लागू करना सम्भव नहीं होता। पर यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि किसी भी अधिकार के उपभोग में तत्सम्बन्धी कर्त्तव्यों का पालन निहित होता है। इस दृष्टि से कभी-कभी 'पूर्णकर्त्तव्य' (Perfect Obligation) और 'अपूर्णकर्त्तव्य' (Imperfect Obligation) में भेद किया जाता है। पूर्ण कर्त्तव्य वे हैं जो कानूनी दृष्टि से हमारे ऊपर लागू किये जाते हैं और अपूर्ण कर्त्तव्य वे हैं जो कानून बिना हमारी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अपहरण किये हमारे ऊपर लागू नहीं कर सकता। सच पूछा जाय तो समाज के किसी व्यक्ति को किसी वस्तु के उपभोग का पूर्ण अधिकार तब तक नहीं दिया जा सकता, जब तक कि वह कर्त्तव्य-पालन का व्रत नहीं लेता। अतः, सामाजिक हित की दृष्टि से पूर्ण अधिकार (Perfect Rights) और अपूर्ण कर्त्तव्य (Imperfect Obligations) का कोई अर्थ नहीं है। अधिकार एक सामाजिक वस्तु है। किसी व्यक्ति का अधिकार तभी तक अक्षुण्ण रह सकता है जब तक कि उससे समाज का कोई अहित नहीं होता। अतः, प्रत्येक अधिकार कुछ कर्त्तव्यों पर आश्रित होता है।

●

१०

सामाजिक आदर्श

(Social Ideals)

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। व्यक्ति समाज की इकाई है। व्यक्तियों के समूह से ही समाज का निर्माण होता है। मानव-जीवन के अन्य पहलुओं की भाँति समाज भी एक विकासमान् और वर्द्धमान इकाई है। प्रगति जीवन का लक्षण है। जो जीवित है, उसमें विकास होता है, वृद्धि होती है या प्रगति होती है। समाज के जीवित इकाई होने के कारण उसमें भी विकास होता है और प्रगति होती है। विकासमान होने के कारण हमें केवल यही नहीं देखना है कि कोई समाज वर्तमान में क्या है, वरन् यह भी देखना है कि उसमें क्या होने की क्षमता विद्यमान है। यह बात सभी जीवमान और विकासशील वस्तुओं पर लागू होती है। इन वस्तुओं का अध्ययन करते समय हमें सदा ध्यान में रखना चाहिए कि उनके विकास की साध्यता (Potentiality) क्या है? प्रायः सभी वस्तुएँ ऐसी होती हैं कि उनके विकास की साध्यता सीमित होती है। उदाहरण के लिए, एक बीज एक विशेष प्रकार के पौधे के रूप में और एक भ्रूण, एक विशेष प्रकार के जीव के रूप में विकसित हो जाता है। यदि उनमें हम किसी प्रकार का परिवर्तन चाहें तो असम्भव ही होता है किन्तु इसके विपरीत, हम मानव-जाति के विकास की सम्भावनाओं के सम्बन्ध में किसी प्रकार की सीमाएँ निश्चित नहीं कर सकते। हमें स्वयं अपने और इस विशाल जगत् के विषय में इतना अधिक ज्ञान हो सकता है कि हम अपनी भौतिक परिस्थितियों पर पूर्ण नियन्त्रण और अपने सामाजिक सम्बन्धों को पूर्ण विकसित कर सकते हैं। इस प्रकार यह कथन सत्य ही है कि "मनुष्य वर्तमान रूप में अपूर्ण अवश्य है, पर उसमें पूर्ण होने की क्षमता विद्यमान है।" अपूर्ण, पूर्ण को नहीं जान सकता। इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि हमें अपने आदर्शों की जानकारी नहीं है। पर अपूर्ण के भीतर पूर्ण होने की क्षमता विद्यमान है। अतः, हम दूसरी दृष्टि से यह भी कह सकते हैं कि अपूर्ण को सिद्ध रूप में तो नहीं, पर साध्य रूप में पूर्ण की जानकारी अवश्य है। पूर्ण की कुछ-न-कुछ जानकारी होने के कारण ही हम अपने लक्ष्य को निर्दिष्ट करने में सफल होते हैं। अब हम समाज के उन मूलभूत आदशों का वर्णन करेंगे जिन्हें प्राप्त करने के लिए प्रत्येक समाज प्रयत्नशील रहता है। ये आदर्श अधिकांश रूप में सरकार की प्रमुख अवधारणाओं से सम्बन्धित होते हैं जिन्हें हम अभिजात्य (Aristocratic) और लोकतान्त्रिक (Democratic) आदर्शों के रूप में चित्रित कर सकते हैं। इन आदर्शों का विवेचन करने के पूर्व यह जानना श्रेयस्कर होगा कि इन दोनों सरकारों के वास्तविक लक्ष्य क्या हैं?

सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि **अभिजात्यतन्त्र** का आदर्श प्रमुख रूप से निपुणता तथा उच्चतम **वैयक्तिक विकास** को प्राप्त करना होता है, जबकि **लोकतन्त्र** का आदर्श है स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व। सर्वप्रथम हम दोनों आदर्शों का सामान्य विश्लेषण प्रस्तुत करेंगे, फिर उनके अन्तर्गत विशिष्ट आदर्शों का पृथक्-पृथक् विश्लेषण किया जायगा।

अभिजात्य आदर्श

निपुणता या दक्षता तथा व्यक्तिगत व्यक्तित्व का विकास, अभिजात्य आदर्श कहे जाते हैं। मनुष्य अपने व्यक्तित्व को इतना उत्कृष्ट बनाये कि वह विकास के उच्चतम शिखर तक पहुँच सके। ऐसे ही योग्य व्यक्ति सामाजिक सेवा और सार्वजनिक प्रशासन के लिए नियुक्त किये जाते हैं। अभिजात्य आदर्श मनुष्यों के भीतर पाये जाने वाले वैयक्तिक भेदों (Individual Differences) पर आधारित होते हैं। लोकतान्त्रिक आदर्श मनुष्यों की सामान्य विशेषताओं (Common Characteristics) पर आधारित होते हैं।

अभिजात्य आदर्शों की प्रकृति पर सबसे अच्छा वर्णन हमें प्लेटो की रिपब्लिक (Republic) और कार्लाइल (Carlyle) तथा रस्किन (Ruskin) की रचनाओं में मिलता है। इसका एक विकृत रूप हमें नीत्शे (Nietzsche) के अति-मानव के सिद्धान्त में भी मिलता है। इस विषय में होमर की यह उक्ति प्रसिद्ध है; ''दूसरों से अधिक समृद्ध बनो और उनका अतिक्रमण करो''। आधुनिक युग में इसकी झलक ''कुलीनों के प्रति कर्त्तव्य'' इत्यादि पद-समूहों में पायी जाती है। इस सिद्धान्त के समर्थक दैवी और वीरोचित गुणों से सम्पन्न व्यक्तियों की आराधना करते हैं जो खतरों के साथ खेलना चाहते हैं और अपनी जाति और देश के मस्तक को ऊँचा रखने के लिए इस प्रकार का बलिदान करने को उद्यत रहते हैं। अभिजात्यतन्त्र का ध्येग समाज के लिए योग्यतम व्यक्तियों की उपलब्धि करना तथा मुख्य रूप से ऐसे लोगों की खोज करना है जो शासन के लिए उत्तम सिद्ध हो सकें। प्लेटो के न्याय की कल्पना के अनुसार समाज का प्रत्येक व्यक्ति कोई-न-कोई विशिष्ट कार्य करने की क्षमता रखता है। सामाजिक न्याय की यह माँग है कि राज्य व्यक्ति को उसकी योग्यता के अनुसार कार्य दे। इस न्याय के अनुसार समाज के सभी व्यक्ति अभिजात्य कुल की सदस्यता ग्रहण कर लेंगे। अंत:, अभिजात्य गुणों को अन्य साधारण गुणों से पृथक् करने के लिए कहा जा सकता है कि किसी गुण को अभिजात्य गुण तभी कहा जायगा जब वह विशेष रूप से शासकों के लिए प्रयुक्त किया गया हो। पर अभिजात अपने प्राप्त अधिकारों का दुरुपयोग न कर सकें, इसलिए उनके ऊपर कुछ संयम और अनुशासन की भी व्यवस्था की गयी है। बाइबिल ने कहा है—''यदि तुममें से कोई प्रधान बनता है, तो उसे जनता का सेवक बनने दो।'' स्वामी वही हो सकता है जिसमें सेवक बनने की क्षमता विद्यमान हो। प्लेटो ने भी अपने शासकों पर पर्याप्त अनुशासन व संयम की व्यवस्था की थी जिसके अनुसार उन्हें उन तमाम विशेषाधिकारों से वंचित कर दिया गया था जो वाणिज्य और औद्योगिक वर्ग के लोगों को दिये जाते थे।

कार्लाइल (Carlyle) ने इसी तथ्य को एक दूसरे ढंग से व्यक्त किया है, "बुद्धिमानों द्वारा शासित होना मूर्खों का विशेषाधिकार है।" तात्पर्य यह है कि बुद्धिमान मूर्खों के सेवक हैं। यहाँ स्मरण रखने की बात यह है कि मध्य-युग के नाइट (Knight) शब्द का अर्थ मूलत: एक सेवक है। कुछ राजकुमारों का आदर्श-वाक्य था, 'मैं सेवा करता हूँ।' कुछ लोग अभिजात्य पुरुषों की इस विनम्रता को एक कूटनीतिक चाल मानते हैं, पर फिर भी इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि अभिजात्य आदर्श का उद्देश्य श्रेष्ठ ही होता है। एक नेता, शासक या शिक्षा-शास्त्री बनना असाधारण योग्यता का कार्य है। सभी लोगों से नेता या शासक बनने की आशा नहीं की जा सकती।

लोकतन्त्रीय आदर्श

लोकतन्त्रीय आदर्श का कभी-कभी अभिप्राय निम्न-वर्ग के शासन अथवा बहुमत के शासन से लिया जाता है। प्लेटो, कार्लाइल, रस्किन और हेनरी मेन ने लोकतन्त्र का अर्थ प्राय: इसी रूप में ग्रहण किया था। प्लेटो ने लोकतन्त्रीय शासन की निन्दा करते हुए कहा था—"लोकतन्त्र मूर्खों का शासन है।"[१] जे० आस्टिन ने लोकतन्त्र को इस प्रकार परिभाषित किया था—"प्रजातन्त्र वह सरकार है जिसके शासकमण्डल में अपेक्षाकृत सम्पूर्ण राष्ट्र का विशाल अंश भाग लेता हो।" पर यह परिभाषा ऐसी है जिसे आज शायद ही कोई स्वीकार करेगा। राष्ट्रपति लिंकन (President Lincoln) ने लोकतन्त्र की जो परिभाषा दी है उसे प्राय: अधिकांश लोग स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार लोकतन्त्र[२] "प्रजा के लिए, प्रजा के द्वारा, प्रजा की सरकार" है। यहाँ 'के लिए', 'के द्वारा' और 'की' का विशेष महत्त्व है। यहाँ 'के लिए' धर्म का, 'के द्वारा' प्रजातन्त्र का और 'की' स्वतन्त्रता का द्योतक है। सच्चा लोकतन्त्र वही है जहाँ स्वतन्त्रता और धर्माचरण दोनों विद्यमान हों। यदि कोई व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता और नागरिक अधिकारों का दुरुपयोग करता है और उसके द्वारा जनता का हित-साधन नहीं होता, तो वह सच्चा लोकतन्त्र नहीं है। परन्तु प्रेसिडेण्ट लिंकन की उक्ति का प्रथम और अन्तिम भाग सभी अच्छी सरकारों के लिए प्रयुक्त हो सकता है। सभी सरकारें प्रजा की और प्रजा के लिए होती हैं। अन्तर केवल 'प्रजा के द्वारा' के सम्बन्ध में है। अभिजात्यतन्त्र में भी प्रजा की ही सरकार होती है और वह प्रजा के हित के लिए होती है। उसके अनुसार तथाकथित लोकतन्त्रीय सरकार मुश्किल से ही सरकार कहला सकती है क्योंकि लोकतन्त्र प्रच्छन्न रूप से अराजकता का ही एक रूप है। साधारण जनता अपनी अल्पज्ञता के कारण स्वतन्त्र चिन्तन तो कर नहीं पाती, कुछ थोड़े-से प्रभावशाली व्यक्तियों के बहकावे में आकर वह वही करती है जो उसे उनसे निर्देश मिलता है। ऐसी अल्पज्ञ सरकार यथार्थ में लोगों के हित के लिए नहीं होती, बल्कि उन थोड़े-से लोगों के हित के लिए होती है जिन्होंने थोड़े समय के लिए सत्ता पर अधिकार

---

१. प्लेटो, "Democracy is a government of fools."

२. लिंकन, "Democracy is a government of the people. by the people and for the people."

कर लिया है। लोकतन्त्र के अधिवक्ता इसका प्रत्युत्तर इस प्रकार देते हैं कि लोकतन्त्रीय व्यवस्था में इन दोषों का होना आवश्यक नहीं है और यह भी अनिवार्य नहीं है कि अभिजात्य वर्ग की सरकार योग्य तथा सम्पूर्ण प्रजा के हित को ध्यान रखनेवाली हो। उनका कहना है कि सार्वजनिक हित के ध्येय की प्राप्ति के लिए सरकार प्रजा की और प्रजा के लिए ही न हो, अपितु वह प्रजा के द्वारा (प्रजातन्त्र) भी हो।

यहाँ एक मौलिक प्रश्न उठ खड़ा होता है कि प्रजा अथवा जनता से वास्तव में हमारा क्या तात्पर्य है? राजतन्त्र, अभिजात्यतन्त्र और लोकतन्त्र सभी अपनी सरकार को जनता की सरकार कहते हैं। निश्चित है कि ये सभी तन्त्र जनता शब्द का प्रयोग एक ही अर्थ में नहीं करते। अतः, यहाँ जनता शब्द का वास्तविक अर्थ समझ लेना अति आवश्यक है। सामान्य रूप से कहा जा सकता है कि प्रजा या जनता से हमारा तात्पर्य व्यक्तियों के उस समूह से है जिसमें परस्पर घनिष्ठ साहचर्य हो और जो सामान्य हित के उद्देश्य से कार्यरत हों। किन्तु यदि इस अर्थ में हम प्रजा या जनता की व्याख्या करते हैं तो शायद किसी राष्ट्र में वास्तविक रूप से इस प्रकार की जनता न पायी जाती हो। प्रत्येक राष्ट्र में कई प्रकार के गिरोह या समूह पाये जाते हैं जिनके भिन्न-भिन्न विचार होते हैं और भिन्न-भिन्न उद्देश्यों से वे कार्य करते हुए पाये जाते हैं। ऐसी अवस्था में यदि कोई सरकार बनती है तो वह कुछ लोगों की कुछ लोगों द्वारा निर्मित सरकार होगी जो उनकी स्वार्थसिद्धि करेगी जिनकी सरकार होगी। इस प्रकार वह कुछ अंशों में धनिकतन्त्र का रूप धारण कर लेती है। धनी जनता का मत-पत्र खरीद कर जैसा चाहते हैं वैसी सरकार बनवा लेते हैं। अतः इस बात में सत्यांश अवश्य है कि प्रायः सभी लोकतन्त्रीय सरकारें धनिकतन्त्रात्मक अल्पतन्त्र (Plutocratic Oligarchies) होती हैं। इतना होने पर भी जो शासन-सूत्र चलाते हैं और जिनके हित के लिए शासन चलता है उनमें किसी प्रकार का तादात्म्य नहीं होता। सरकार और जनता दो पृथक् वस्तुएँ हैं। एक सरकार, विशेषकर लोकतन्त्रीय सरकार का जीवनकाल बहुत ही अल्प होता है। वह सामान्यतः एक पार्टी की सरकार होती है और कुछ काल बाद, एक पार्टी का स्थान दूसरी पार्टी ले लेती है। दूसरी ओर प्रजा पीढ़ी-दर पीढ़ी चलती रहती है। सरकार अनित्य है, पर प्रजा शाश्वत है। सरकार जो जनता की हित-साधिका है, केवल उन्हीं लोगों का हित-साधन नहीं करती जो वर्तमान में हैं, बल्कि उनके भी हित-साधन का दावा करती है जो अब नहीं हैं अथवा जो भविष्य में उत्पन्न होंगे। इस बात का क्या भरोसा है कि सभी पार्टियाँ शाश्वत प्रजा के सम्पूर्ण हित का ध्यान देंगी? क्या यह सम्भव नहीं कि जिस प्रकार सरकारें अल्पकालीन होती हैं उसी प्रकार उनकी दृष्टि भी संकुचित होगी? इस संदर्भ में 'जनता द्वारा सरकार' (Government by the people) पद-समूह काफी भ्रामक हो सकता है। यह केवल एक अमूर्त विचार है। 'जनता द्वारा सरकार' पर बल देने का अभिप्राय यही है कि एक अच्छी सरकार में प्रजा के सामान्य हित का ध्येय निहित हो और हम ऐसी सरकार की स्थिरता में तभी विश्वास कर सकते हैं जब वह जनता की सामान्य इच्छा (General Will) की प्रतीक हो और सरकार और जनता दोनों को उस

सामान्य हित का सुबोध हो जो दोनों का लक्ष्य है। इन्हीं सब बातों पर बल देने के लिए ही स्वतन्त्रता (Liberty), समता (Equality) और भ्रातृत्व (Fraternity) का लोकतन्त्र में प्रयोग किया जाता है। इन आदर्शों का विवेचन करने से पूर्व हम अभिजात्य आदर्शों पर प्रकाश डालेंगे। अभिजात्य आदर्शों के जान लेने के बाद ही हम लोकतान्त्रिक आदर्शों का सही मूल्यांकन कर सकेंगे।

अभिजात्य आदर्श
(Aristocratic Ideals)

१. **व्यक्तिगत विकास** और दक्षता ये दो अभिजात्य आदर्श कहे जाते हैं। समाज का प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र वातावरण में अपनी आन्तरिक क्षमताओं का उद्‌बोधन करके अपने व्यक्तित्व का विकास करता है। व्यक्तिगत विकास के लिए स्वतन्त्रता प्रागपेक्षा है। स्वतन्त्रता की अवधारणा लोकतन्त्रीय और अभिजात्य आदर्शों के बीच की कड़ी है। जो व्यक्ति जितना ही अधिक स्वतन्त्र होगा, वह उतनी ही अपनी श्रेष्ठता या हीनता को अच्छी प्रकार प्रदर्शित कर सकेगा। सामान्य रूप में देखा जाता है कि जो व्यक्ति किसी क्षेत्र में अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा श्रेष्ठ होते हैं वे अपने से हीन व्यक्तियों पर प्रभुत्व जमा लेते हैं। यह प्रकृति का नियम है कि श्रेष्ठ पुरुष अपनी श्रेष्ठता के कारण हीन लोगों पर शासन करता है। अभिजात्य आदर्शों की उत्पत्ति इसी मान्यता के आधार पर हुई है कि श्रेष्ठता या उत्कृष्टता को प्रोत्साहन मिलना चाहिए। श्रेष्ठता और हीनता की भावनाएँ भ्रातृत्व-भावना की विरोधी नहीं हैं जैसा प्रायः समझा जाता है। ये दोनों परिपूरक हैं। एरिस्टॉटल का तो कथन है कि जब स्पष्ट रूप से असमानता होती है तो वास्तविक मैत्री-सम्बन्ध होना कठिन है। पर बात ऐसी नहीं है। समाज में असमानता प्रकृति की देन है। उसे हम पूर्णतया मिटा नहीं सकते। अतः, यदि हम समाज में सुख और शान्ति की स्थापना करना चाहते हैं तो श्रेष्ठता और हीनता के सह-अस्तित्व और परस्पर-पूरकता को स्वीकार करना होगा। हीन-मनुष्यों को श्रेष्ठ पुरुषों की श्रेष्ठता स्वीकार करनी होगी और श्रेष्ठ पुरुषों को हीन पुरुषों के प्रति कर्त्तव्य को समझना होगा। यदि हीन पुरुष श्रेष्ठ पुरुषों की श्रेष्ठता को मान्यता प्रदान नहीं करेंगे तो समाज में अनुशासन-हीनता बढ़ेगी और यदि श्रेष्ठ-पुरुष अपनी श्रेष्ठता का उपयोग जन-कल्याण के लिए नहीं करेंगे तो समाज में विलासिता फैलेगी। दोनों से समाज का अकल्याण होगा। इस प्रकार की मान्यता से समाज में अभिजात्य तन्त्र की स्थापना नहीं होती। अभिजात्य तन्त्र की स्थापना तब होती है जब कुछ विशिष्टताओं को अन्य विशिष्टताओं की अपेक्षा अधिक मान्यता दी जाने लगती है जैसे सैन्य-कला में प्रवीणता, सार्वजनिक प्रशासन में दक्षता इत्यादि। समाज के प्रत्येक व्यक्ति में कोई-न-कोई दक्षता अवश्य पायी जाती है और एक दक्षता को दूसरी दक्षता से श्रेष्ठतर मानना सामाजिक न्याय के विरुद्ध है। शायद इसी बात को ध्यान में रखकर स्पिनोजा (Spinoza) ने एक बार कहा था—"सर्वोच्च शुभ सबके लिए सामान्य होता है और सब लोग इसका समान रूप से उपभोग कर सकते हैं।" प्लेटो की यह बात भी ठीक है कि सुन्दरतम वस्तुओं का सही

मूल्यांकन कुछ विशिष्ट व्यक्ति ही और वह भी पर्याप्त शिक्षण और प्रशिक्षण के बाद ही कर सकते हैं। इन दोनों उक्तियों में कोई परस्पर-विरोध नहीं है। अश्रेष्ठ व्यक्ति 'सर्वोच्च शुभ' के विषय में ज्ञान रखें या न रखें, वह सबके लिए सामान्य ही होता है और सभी लोग समान रूप से उसका उपभोग कर सकते हैं। प्लेटो द्वारा प्रतिपादित अभिजात्य तन्त्र इसी मान्यता पर आधारित है कि सर्वोत्तम हित उचित रूप से कुछ लोगों द्वारा ही समझा तथा मूल्यांकित किया जा सकता है। साथ ही वे ऐसा तभी कर सकते हैं जब उन्हें लम्बे काल तक ज्ञान तथा प्रशिक्षण दिया जाय। जो लोग इस प्रकार प्रशिक्षित और अनुशासित नहीं हो सकते, उन्हें किसी बाह्य नियंत्रण में रहना चाहिए।

अभिजात्य तन्त्र द्वारा प्रतिपादित उपर्युक्त सिद्धान्त के विरोध में निम्न तीन प्रमुख आपत्तियाँ उठायी जाती हैं—

(१) उच्चतम मूल्यों का मूल्यांकन करने वाले व्यक्तियों में योग्यता और अयोग्यता के आधार पर कोई स्पष्ट भेद नहीं किया जा सकता।

(२) मूल्यों के मूल्यांकन में जीवन की अनुभूतियों का वही स्थान है जो उनके मूल्यांकन में शिक्षण और प्रशिक्षण की विशेष विधियों का होता है।

(३) मानव-भ्रातृत्व की भावना स्वयं एक उच्चतम मूल्य है तथा वर्गों के बीच इस प्रकार की तीव्र भेद उस मान्यता के मार्ग में एक कठिन अवरोध उत्पन्न कर देता है। पर इन आपत्तियों के होते हुए भी इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि कुछ लोग समाज के अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा श्रेष्ठतर होते हैं और उनकी यह श्रेष्ठता समाज में नेतृत्व की भावना को जन्म देती है। जीवन का प्रत्येक क्षेत्र सभी प्रकार के बुद्धिजीवियों के लिए खुला होना चाहिए जिससे कि जीवन के सभी महत्त्वपूर्ण लक्ष्य योग्यतम उपायों से पूर्ण किये जा सकें। इस प्रकार हम निपुणता के आदर्श की ओर अग्रसर होते हैं जो स्वाभाविक रूप से स्वतन्त्र विकास से सम्बन्धित है।

२. निपुणता—एक सुव्यवस्थित समाज में निपुणता, समता और स्वतन्त्रता तीनों गुण आवश्यक होते हैं। उसमें अभिजात्य तन्त्र और लोकतन्त्र दोनों प्रणालियों की विशेपताएँ समान रूप से होनी चाहिए। समाज के सामान्य हित की उपलब्धि प्रत्येक व्यक्ति को उसकी योग्यतानुसार कार्य देकर ही की जा सकती है। यह बात प्रभावशाली और महान् उत्तरदायित्वपूर्ण पदों के लिए विशेष महत्त्व रखती है। यहाँ पर ध्यान देने की बात यह है कि निपुणता से तात्पर्य सामान्य हित के लिए किये गये कार्यों की दक्षता से है। एक शासक (राजा) अपने कार्यों में बड़ा निपुण हो सकता है पर उसकी निपुणता मूलतः उसके निजी स्वार्थों तक ही सीमित रह सकती है। इस निपुणता का कोई सामाजिक महत्त्व नहीं है। समाज-दर्शन में निपुणता को अभिजात्य आदर्श तभी माना जायगा, जव कि इससे सम्पूर्ण समाज का हित-साधन होता हो। महान् और महत्त्वपूर्ण साहसिक कार्यों में जहाँ तुरन्त निर्णय लेने की आवश्यकता पड़ती है, योग्यतम नेतृत्व चाहिए और उसे कार्य की पूर्ण स्वतन्त्रता भी मिलनी चाहिए। इस सम्बन्ध में होमर ने एक बार कहा था, "वहुत-से लोगों का शासन अच्छा नहीं, केवल एक को ही प्रधान बनने

दो" पर होमर ने भी इस बात को स्वीकार किया है कि विचार-विनिमय के समय नेता को भी अपनी सभा से मार्ग-दर्शन प्राप्त करना चाहिए। मुख्य रूप से संचालन-कार्यों के लिए प्रत्युत्पन्नमति वाला एक योग्य व्यक्ति ही अच्छा होता है। कॉम्टे ने विचार-विमर्श और संचालन सम्बन्धी कार्यों में स्पष्ट रूप से अन्तर प्रकट किया है। हैरिसन[1] ने इसी बात को अपने शब्दों में इस प्रकार प्रकट किया है, "एक ओर हमें वास्तविक नेतृत्व की आवश्यकता होती है, वहीं दूसरी ओर यथार्थ सहमति भी अनिवार्य होती है।" इस प्रकार अभिजात्य तन्त्र और लोकतन्त्र दोनों के उचित संयोग और समन्वय से ही आदर्श समाज का निर्माण किया जा सकता है।

लोकतन्त्रीय आदर्श

(Democratic Ideals)

स्वतन्त्रता, समता और भ्रातृत्व ये तीन लोकतन्त्रीय आदर्श कहे जाते हैं। भारतीय संविधान जो लोकतन्त्रीय आधार पर बना है, इन तीनों को अपना आदर्श मानता है। इन आदर्शों के साथ वह मानव की गरिमा (Dignity) में भी विश्वास करता है। इन तीनों का यहाँ संक्षेप में वर्णन करना अनुपयुक्त न होगा।

१. स्वतन्त्रता—स्वतन्त्रता (Liberty) सबसे प्रमुख लोकतन्त्रीय आदर्श है। इसी मौलिक आदर्श पर अन्य सभी आदर्श आधारित हैं। एक आदर्श समाज में स्वतन्त्रता का जो अर्थ लिया जाता है वह व्यक्तियों की पूर्ण स्वतन्त्रता से है जब तक कि वह दूसरों की स्वतन्त्रता में बाधक न हो। यदि हम चाहते हैं कि समाज में हमें पूर्ण स्वतन्त्रता का अधिकार प्राप्त हो तो हमारा कर्त्तव्य है कि दूसरों की स्वतन्त्रता में हम किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करें। दूसरों के अधिकारों की सुरक्षा करने में ही हमारे अधिकार सुरक्षित रह सकते हैं। काण्ट और वर्तमान समय में स्पेन्सर के यही विचार हैं। स्वतन्त्रता का अर्थ अतन्त्रता या उच्छृङ्खलता नहीं, वरन् आत्म-नियन्त्रण है। जो आत्म-संयमित है, वही वास्तव में स्वतन्त्र रह सकता है। इसके विपरीत, कुछ लोगों का विचार है कि स्वतन्त्रता के लिए आत्म-संयम की कोई आवश्यकता नहीं है। यदि समाज के अन्य व्यक्तियों को कार्य-स्वातन्त्र्य या स्वैरिता (Licence) की छूट दी जाय तो हमें भी स्वेच्छाचारी होने में कोई हानि नहीं है। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाली कहावत को सभी चरितार्थ कर सकते हैं और करते भी हैं। उद्योग के क्षेत्र में 'यद्भाव्यम' या निर्हस्तक्षेप सिद्धान्त (Laissez Faire) इसी सामान्य सिद्धान्त का एक सीमित प्रयोग ही तो है। अतः इनके अनुसार स्वेच्छाचारिता या स्वैरिता ही वास्तविक स्वतन्त्रता है। स्वतन्त्रता के ऊपर किसी प्रकार का आन्तरिक या बाह्य नियन्त्रण नहीं होना चाहिए। स्वतन्त्रता का वास्तविक परिसीमन सामान्य हित के सन्दर्भ में होना चाहिए। उदाहरण के लिए, परिवार में भाइयों के बीच कार्य-स्वातन्त्र्य का परिसीमन होता है, पर यह परिसीमन इसलिए नहीं होता कि दूसरों की

---

१. एफ० हैरिसन, ऑर्डर एण्ड प्रॉग्रेस, पृ० ३८२ "On the one hand, we must have real leadership, on the other, we must have genuine consent."

स्वतन्त्रता में वाधा न पहुँचे, वरन् इसलिए कि कार्य-स्वातन्त्र्य द्वारा परिवार के सामान्य शुभ का व्याघात न हो। यदि विश्व-बंधुत्व की भावना सत्य है तो सामान्य शुभ के लिए ऐसा ही परिसीमन संसार के प्रत्येक व्यक्ति पर लागू होना चाहिए। समाज का अधिकतम हित ही व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का मूलधार है। दूसरे शब्दों में—स्वतन्त्रता वह अधिकार है जिसके साथ संवादी कर्त्तव्य संयुक्त रहते हैं। पर यहाँ ध्यान रखने की बात यह है कि स्वेच्छाचारिता या स्वैरिता से न तो किसी की स्वतन्त्रता अक्षुण्ण रह सकती है और न तो इससे समाज का अधिकतम हित-साधन ही हो सकता है। स्वेच्छाचारिता, परतन्त्रता का मार्ग प्रशस्त करती है। बिना तत्सम्वन्धी कर्त्तव्यों का निर्वाह किये व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के अधिकार की माँग का कोई औचित्य नहीं है। उदाहरण के लिए कश्मीर में जनमत-मोर्चा (Plebiscite Front) के नेता भारतीय संविधान में वर्णित भाषण और विचार-स्वातन्त्र्य के अधिकार को तो उपभोग करना चाहते थे, पर भारतीय संविधान के प्रति जो उनके कर्त्तव्य हैं, उनका वे पालन नहीं करना चाहते थे। यदि कोई व्यक्ति अपना कर्त्तव्य करने को उद्यत नहीं है तो उसे तत्सम्बन्धी अधिकार कभी भी नहीं दिये जा सकते। किसी भी सभ्य समाज के लिए भाषण और विचार-स्वातन्त्र्य का अधिकार उचित है, क्योंकि इनके अभाव में व्यक्ति का समुचित और पूर्ण विकास असम्भव है। पर यह तभी हो सकता है जब व्यक्ति अपने अधिकार का दुरुपयोग न करे। भाषण-स्वातन्त्र्य का यह अर्थ नहीं है कि किसी को दूसरे को गाली देने का अधिकार प्राप्त हो गया है। आत्म-संयम के बिना अधिकारों की रक्षा नहीं की जा सकती। असाधारण परिस्थितियों में—जैसे युद्ध-काल में—व्यक्ति का भाषण-स्वातन्त्र्य समाप्त भी किया जा सकता है। डॉ० जॉनसन ने एक वार कहा था कि प्रत्येक व्यक्ति को विचार-अभिव्यक्ति का पूर्ण अधिकार मिलना चाहिए, पर साथ-साथ दूसरों को भी उसके विचारों को ध्वस्त करने का पूर्ण अधिकार मिलना चाहिए। किन्तु इससे आदर्श सामाजिक व्यवस्था और भ्रातृत्व की भावना कदापि उत्पन्न नहीं की जा सकती। आत्म-संयम और दूसरों के विचारों को सहन करने की शक्ति आदर्श सामाजिक व्यवस्था की प्रागपेक्षाएँ हैं। सामान्य परिस्थितियों में आत्म-प्रकाशन के ऊपर बाह्य नियन्त्रण लगाना ठीक नहीं होता क्योंकि इससे व्यक्ति की प्रतिभा कुंठित हो जाती है। असामान्य परिस्थितियों की समस्याओं के समाधान के लिए ही बाह्य नियन्त्रण के कानूनों का निर्माण होना चाहिए। कानूनी नियन्त्रण की अपेक्षा नैतिक नियन्त्रण अधिक लाभ-प्रद और स्थायी होता है। पर जहाँ नैतिक नियन्त्रण असफल हो जाय, कानूनी नियन्त्रण की सहायता अवश्य ली जा सकती है। कानूनी नियन्त्रण नियम रूप में नहीं, वरन् अपवाद रूप में ही स्वीकार किया जाना चाहिए।

स्वतन्त्रता और भ्रातृत्व में घनिष्ठ सम्बन्ध है। भ्रातृत्व-भावना में स्वतन्त्रता की भावना सन्निहित है। जो मानव-रूप में एक-दूसरे का समादर करते हैं, वे एक-दूसरे के कार्यों में व्यर्थ बाधक नहीं होना चाहेंगे। पर कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में जव व्यक्ति की स्वतन्त्रता सामान्य शुभ में बाधक सिद्ध होने लगती है, तो उसकी स्वतन्त्रता को प्रतिबन्धित करना आवश्यक हो जाता है। ऐसी अवस्था में व्यक्तियों की स्वतन्त्रता को

प्रतिबन्धित करने का कार्य उन लोगों पर छोड़ देना चाहिए जो इसके लिए वास्तविक रूप में उत्तरदायी हैं।

२. समानता (Equality)—समानता का अर्थ यह है कि सब मनुष्य समान हैं और सभी के साथ समान व्यवहार होना चाहिए। सभी मनुष्य समान ही पैदा होते हैं और प्रकृति ने उन्हें समान रहने के लिए ही पैदा किया है। फ्रांस की नेशनल एसेम्बली ने अपने १७८९ के मनुष्य के अधिकारों के घोषणा-पत्र (Declaration of Rights of Man) में मनुष्य की इस प्राकृतिक समानता को क्रियात्मक रूप में स्वीकार कर लिया था। इसमें लिखा था, "मनुष्य स्वतन्त्र और समान पैदा हुए हैं और वे अपने अधिकारों के विषय में भी समान और स्वतन्त्र रहते हैं।"[१] अमेरिका के स्वाधीनता सम्बन्धी घोषणा-पत्र में भी ठीक इसी प्रकार की बात लिखी है कि "हम इस सत्य को स्वतः सिद्ध स्वीकार करते हैं कि सब मनुष्य समान बनाये गये हैं।" किन्तु यदि इस पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाय तो पता चलेगा कि प्रकृति ने सभी मनुष्यों को समान नहीं पैदा किया है। विषमता ही प्रकृति का धर्म है। प्रकृति ने मनुष्यों को भिन्न-भिन्न क्षमताएँ प्रदान की हैं और जब तक वे अपनी इन क्षमताओं और आवश्यकताओं में भिन्न हैं, समानता की कल्पना भी नहीं की जा सकती। अतः, "यह वक्तव्य कि सब मनुष्य समान हैं, वैसे ही गलत हैं जैसे कि यह कहना कि पृथ्वी समतल है।"

समानता का एक अर्थ यह है कि जन्म, सम्पत्ति, जाति, धर्म और रंग के आधार पर दिये जाने वाले सभी विशेषाधिकारों को समाप्त कर दिया जाय। राज्य में सभी व्यक्ति समान हैं। इसमें न तो किसी के साथ पक्षपात (Favour) होना चाहिए और न किसी के साथ कोई भेद-भाव (Discrimination)। समानता का एक दूसरा पक्ष यह है कि समाज के प्रत्येक व्यक्ति को विकास का समान अवसर मिलना चाहिए। यह ठीक है कि प्रकृति में विषमता है और प्रत्येक व्यक्ति की पृथक्-पृथक् अभिरुचियाँ और योग्यताएँ हैं और समाज के कोई भी दो व्यक्ति परस्पर समान नहीं हैं। पर यदि तात्त्विक दृष्टि से विचार किया जाय तो पता चलेगा कि ईश्वर ने प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर कोई-न-कोई विशिष्टता या दक्षता अवश्य प्रदान की है। कोई गणित में दक्ष है तो कोई साहित्य में। प्रत्येक व्यक्ति के भीतर कोई-न-कोई निपुणता अवश्य पायी जाती है। अतः, समानता का यही अर्थ हो सकता है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी योग्यता के अनुसार विकास करने का समान अवसर मिलना चाहिए। समानता का अर्थ समान योग्यता नहीं है, वरन् अपनी विशिष्ट योग्यताओं को विकसित करने का समान अवसर है। वर्तमान सन्दर्भ में हम केवल तीन प्रकार की समानताओं का यहाँ उल्लेख करेंगे जो क्रमशः निम्न हैं—(अ) स्वामित्व की समानता, (ब) वैधानिक समानता और (स) भ्रात्रीय समानता। इन पर पृथक्-पृथक् विचार किया जायगा।

(अ) स्वामित्व की समानता (Equality of Possession)—स्वामित्व की

---

1. "Men are born, and always continue, free and equal in respect of their rights."

समानता का उद्घोष तथाकथित साम्यवादी और समाजवादी लोग अधिक करते हैं। भ्रातृत्व की भावना से स्वामित्व की समानता का विशेष सम्बन्ध है। एक प्राचीन लोकोक्ति है, ''मित्रों में सभी वस्तुएँ समान होती हैं।'' पर सभी लोग मित्र नहीं हो सकते। मित्रता भले ही हमारा अन्तिम लक्ष्य हो, पर व्यावहारिक रूप में सभी हमारे मित्र हों, ऐसा मान्य नहीं हो सकता। इस सम्बन्ध में सबसे बड़ी आपत्ति प्लेटो ने की है। उसके अनुसार मनुष्य के गुण और कार्य तथा उनकी आवश्यकताएँ बिलकुल पृथक् होती हैं। एक कवि, एक विचारशील दार्शनिक तथा एक धार्मिक शिक्षक की आवश्यकताएँ बहुत ही सीमित होती हैं। उन्हें पहनने के लिए कपड़ा, रहने के लिए घर और पढ़ने के लिए पुस्तकें चाहिए। इनके अतिरिक्त उनकी अन्य कोई आवश्यकताएँ नहीं हैं। इसके विपरीत, एक आविष्कारक अथवा प्रकृति-विज्ञान के एक विद्यार्थी को अनुसंधान के लिए सूक्ष्मयन्त्रों तथा अन्य उपकरणों की आवश्यकता हो सकती है और वे उनका प्रयोग अपनी इच्छानुसार करना चाह सकते हैं। यदि थोड़े समय के लिए मान भी लिया जाय कि ये सारी सामग्रियाँ समाज भी व्यक्ति को प्रदान कर सकता है, फिर भी सार्वजनिक सम्पत्ति होने के कारण, व्यक्ति को उसके प्रयोग की स्वतन्त्रता नहीं दी जा सकती। इसके अतिरिक्त, व्यक्ति जब तक अपने कार्यों द्वारा समाज का विश्वास प्राप्त नहीं कर लेता, सार्वजनिक सम्पत्ति उसे पूरी तरह सौंपी भी नहीं जा सकती। इन सारी कठिनाइयों के कारण स्वामित्व की समानता न्याय्य नहीं ठहरायी जा सकती।

स्वामित्व की समानता के साथ जो दूसरी कठिनाई संलग्न है वह यह है कि यदि सभी व्यक्तियों को सम्पत्ति या वस्तुओं के ऊपर समान अधिकार है तो उनके उत्पादन के लिए किये गये प्रयत्नों में भी उनका समान प्रतिनिधित्व होना चाहिए जो असम्भव है। सेवाएँ, सामग्रियों की तरह सरलता से नहीं मापी जा सकतीं। ऐसा प्रतीत होता है कि स्वामित्व की समानता का विज्ञापन करने वालों ने यह पहले ही मान लिया है कि वर्तमान समय में जो सामग्रियाँ उपलब्ध हैं वे वितरण के लिए उन्हें सदा प्राप्त होती रहेंगी। उनका ध्यान केवल वितरण पर ही होता है, उत्पादन पर नहीं। ये वितरण की सामग्रियाँ जिस श्रम से उत्पन्न हुई हैं, उन्हें पुनः प्राप्त करने के लिए, उतने ही श्रम का विनियोग करना होगा। पर स्वामित्व की समानता का उद्घोष करने वाले इस तथ्य की अवहेलना करते हैं। वे सोचते हैं कि वितरण की समस्या का समाधान कर देने मात्र से ही समाज की आर्थिक समस्याओं का समाधान हो जायगा। पर बात ऐसी नहीं है। यदि प्रत्येक व्यक्ति समान सेवा की शर्त का पालन किये बिना समान भाग का अधिकारी होना चाहता है, तो किसी सामाजिक व्यवस्था का निर्माण करना कठिन हो जायगा जिसमें सबको उनकी आवश्यकतानुसार वस्तुएँ प्राप्त होती रहें। सच्ची बात तो यह है कि ऐसी सामाजिक व्यवस्था प्राकृतिक विधान के बिलकुल प्रतिकूल है। स्वाभाविक बात तो यह है कि जिन वस्तुओं की हमें आवश्यकता होती है, हम उन्हें प्रयत्नपूर्वक उपलब्ध करते हैं। या तो हम उनका स्वयं उत्पादन करते हैं अथवा अप्रत्यक्ष रूप से अन्य वस्तुओं का उत्पादन करके उनके साथ विनिमय कर लेते हैं। मनुष्य में अपनी दृष्टि अथवा मूल्यांकन की शक्ति से

बाहर लक्ष्य का अनुसरण करने की स्वाभाविक प्रेरणा ही नहीं होती। किन्तु यदि मान लिया जाय कि उनमें लक्ष्य प्राप्त करने की क्षमता विद्यमान नहीं है, तो स्वामित्व की समानता से समाज का अहित ही होगा। एक ओर योग्यता को पूर्ण पारिश्रमिक नहीं मिलेगा और दूसरी ओर कुछ व्यक्तियों को ऐसी वस्तुएँ प्राप्त हो जायँगी जिनकी उन्हें आवश्यकता नहीं है। योग्यता के अनादर एवं अयोग्यता को पुरस्कृत करने से समाज का कभी भी कल्याण नहीं हो सकता। पर इसका यह अर्थ नहीं है कि किसी व्यक्ति का निरादर किया जाय। प्रत्येक व्यक्ति की अपनी गरिमा है; उसके व्यक्तित्व का निरादर करना अक्षम्य अपराध है। प्रश्न केवल इतना ही है कि समाज के प्रत्येक व्यक्ति को गुणों के साथ-साथ अपनी सीमाओं का भी ज्ञान होना चाहिए। समाज में न कोई बड़ा है और न छोटा। सभी एक-दूसरे के परिपूरक हैं। वर्तमान परिस्थितियों में आदर्श समाज की केवल यही कल्पना हो सकती है कि सम्पत्ति का आवश्यकता और योग्यता के अनुसार समायोजन किया जाय।

(ब) वैधानिक समानता (Equality before the Law)—वैधानिक समानता का न्याय के प्रत्यय के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। जैसा हम पहले ही देख चुके हैं कि न्याय का केवल यही अर्थ हो सकता है कि यदि सम्बद्ध परिस्थितियाँ समान हों, तो उपचार भी समान होना चाहिए। यह तभी सम्भव है जब न्याय में वैधानिक समानता निहित हो। यदि वैधानिक समानता मान्य नहीं है तो न्याय का क्रियान्वयन ही नहीं किया जा सकता। कानून व्यक्तियों में कोई भेद नहीं करता। न्याय के प्रतिपादन में साम्य (Equity) के अनुसार थोड़ा-बहुत परिवर्तन भले ही कर दिया जाय पर इससे न्याय के उपर्युक्त सिद्धान्त में कोई अन्तर नहीं आता। साम्य-न्याय की अवधारणा स्वयं लोगों में कुछ भ्रान्ति उत्पन्न करती है। इससे ऐसा कहा जा सकता है कि साम्य-न्याय के भीतर समानता के भाव निहित हैं, पर ऐसा कठिनाई से ही स्वीकार किया जा सकता है। हर्बर्ट स्पेन्सर (Herbert Spencer) ने साम्य-न्याय और समानता के घनिष्ठ सम्बन्ध के ऊपर विशेष बल दिया था जो भ्रांति के ऊपर आधारित है। कुछ लोगों के अनुसार साम्य-न्याय की अवधारणा समानता की अवधारणा से व्युत्पन्न है। इसके विपरीत, अन्य लोगों के अनुसार, समानता का विचार साम्य-न्याय पर आधारित है। बिना सम्बद्ध परिस्थितियों पर विचार किये हम समानता के प्रत्यय को स्थिर नहीं कर सकते। अतः, यही कहना ठीक है कि समानता का प्रत्यय साम्य-न्याय के प्रत्यय के ऊपर आधारित है।

(स) भ्रात्रीय समानता—समानता का तृतीय अर्थ यहाँ वर्तमान संदर्भ में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसका भ्रातृभाव के प्रत्यय से सीधा सम्बन्ध है। समानता के तृतीय अर्थ का भाव यह है कि एक मानव को दूसरे मानवों से पृथक् करनेवाली वस्तुएँ उनको संगठित करने वाली वस्तुओं की तुलना में कहीं महत्त्वहीन होती है। सभी मनुष्यों में मानवता समान तत्त्व है। हम सभी लोग एक ही अग्नि के स्फुलिंग हैं। हमारी सामान्य मानवता ही हमें विश्व में अद्वितीय स्थान प्रदान करती है। मनुष्यों में समानताएँ इतनी अधिक हैं कि उनके समक्ष विभिन्नताएँ बिलकुल नगण्य प्रतीत होती हैं। श्रेणी और भाग्य के

अन्तर का कोई विशेष महत्त्व नहीं है। कभी-कभी ज्ञान और योग्यता भिन्नता के तर्क-संगत आधार माने जाते हैं। पर जब हम मानव की तात्त्विक एकता के सम्बन्ध में विचार करते हैं तो जातीय भेदों को स्थान नहीं देना चाहिए। इस स्थिति में प्लेटो का यह कथन कि "कुछ लोग सोने, कुछ चाँदी और कुछ भिन्न धातु के बने होते हैं" एक 'उदात्त असत्य' ही प्रतीत होगा। एरिस्टॉटल ने मानवों के बीच अपेक्षाकृत कम भेदों को स्वीकार किया है, फिर भी उसने 'स्वाभाविक रूप से स्वतन्त्र' और 'स्वाभाविक रूप से परतन्त्र' के आधार पर मानवों में तीव्र भेद प्रस्तुत किया है। स्टोइकवाद और ईसाई धर्म ने ऐसे भेदों को दूर करने का प्रयास किया फिर भी वे नीत्शे (Nietzsche) के स्वामी (Master) और सेवक (Slave) की नैतिकता की प्रतिस्थापना के रूप में पुनः प्रकट हो गये। कार्लाइल (Carlyle) का 'अच्छे और बुरे आदमी का अनन्त भेद' का आग्रह भी ईसाई धर्म के विपरीत है और शायद इसका समर्थन भी नहीं किया जा सकता। अच्छे और बुरे में कोई प्रकार-भेद नहीं है; उनमें केवल मात्रा का ही भेद है। गाँधी और श्री गुरुनानकदेव प्राकृतिक शक्तियों से युक्त अतिमानव (Supermen) भी देवता न होकर देव-तुल्य मानव ही अधिक थे। इस तरह के विचारों से ही मानवीय भ्रातृत्व के विचारों की स्थापना होती है। भ्रात्रीय समानता, भ्रातृ-भावना का एक अनिवार्य परिणाम है अथवा उसकी प्रागपेक्षा है।

पर यहाँ ध्यान रखने की बात यह है कि भ्रात्रीय समानता, मानवों में व्याप्त भेदों का निषेध नहीं करती और न उनके विभिन्न दृष्टिकोणों की अवहेलना ही करती है। भेदों को दूर करने के दो ही उपाय हैं—या तो विभिन्न दृष्टिकोणों पर बाह्य प्रतिबन्ध लगा दिया जाय जो असम्भव है या उनका इस प्रकार विस्तार किया जाय कि विभिन्न दृष्टिकोणों में एक प्रकार का सामञ्जस्य स्थापित हो जाय। यही हमारा उद्देश्य भी होना चाहिए। उदाहरण के लिए, विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों के अन्तर को समाप्त करने की अपेक्षा उनके आधारभूत सिद्धान्तों की तात्त्विक एकता के विकास के लिए प्रयास करना चाहिए जिससे उनमें पाये जाने वाले भेद स्वतः ही समाप्त हो जायँ। अनेकता में एकता का अनुसंधान ही हमारा लक्ष्य होना चाहिए।

३. भ्रातृत्व (Fraternity)—समानता से भ्रातृत्व की ओर संक्रमण आसान है। हमें समाज के सभी व्यक्तियों के साथ भ्रातृत्व का भाव क्यों रखना चाहिए, यह केवल इसीलिए है कि मानव-मात्र के बीच एक प्रकार की तात्त्विक समानता है। भ्रातृत्व को किसी भी सामाजिक आदर्श का तात्त्विक आधार माना जा सकता है। किसी भी मौलिक सामाजिक एकता की अवधारणा के लिए समाज के व्यक्तियों में विचार-साम्य एवं लक्ष्य की एकतन्त्रता होनी आवश्यक है। प्लेटो ने अपने राज्य की जैविक एकता के सिद्धान्त (Organic Theory) में लक्ष्य की एकतन्त्रता पर विशेष बल दिया है और एरिस्टॉटल ने इसी बात को ध्यान में रखकर मित्रता को न्याय का आधार माना है। आधुनिक युग में सभी जगह भ्रातृत्व की भावना पर बल दिया जाता है। स्टोइक सम्प्रदाय की विश्व-नागरिकता (Cosmoplitanism) और ईसाइयों के मानव-बन्धुत्व-सिद्धान्त ने भ्रातृत्व की भावना को विशेष बल प्रदान किया है। समाज की एकता का प्रत्येक मौलिक सिद्धान्त

भ्रातृत्व-भावना से ही उद्भूत एवं पोषित होता है। एरिस्टॉटल ने ठीक ही कहा था, ''प्रत्येक मित्रता अथवा भ्रातृत्व की भावना में समानता का भाव निहित होता है।''

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि किसी भी लोकतन्त्रीय समाज में स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व की भावना होना अनिवार्य है। यदि इनमें से किसी भी तत्त्व का अभाव या कमी है तो उस समाज को लोकतन्त्रीय समाज कभी भी नहीं कहा जा सकता।

लोकतन्त्रीय एवं अभिजात्य आदर्शों का मूल्यांकन

१. लोकतन्त्रीय आदर्श—स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व मानव-जीवन के उच्चकोटि के आदर्श हैं। इन आदर्शों के बिना मनुष्य के विकास की हम कल्पना भी नहीं कर सकते। मानव-मात्र की तात्त्विक एकता को स्पष्ट करने में लोकतन्त्रीय आदर्शों का विशेष महत्त्व रहा है। अनेक विभिन्नताओं के होते हुए भी मानव-मात्र में तात्त्विक एकता स्थापित कर इन आदर्शों ने मनुष्य की गरिमा में अपार वृद्धि की है। पर इन गुणों के होते हुए भी इनमें कुछ दोष भी है जिनको स्पष्ट करना आवश्यक है। शुद्ध लोकतान्त्रिक आदर्श समानता की अवधारणा पर विशेष बल देता है। पर समाज में सभी व्यक्ति समान नहीं हैं। सभी व्यक्तियों के समान होने की बात तो दूर है, समाज के कोई भी दो व्यक्ति समान नहीं हैं। इस समानता का दुष्परिणाम यह होता है कि अयोग्य व्यक्तियों की संख्या अधिक होने के कारण वे योग्य स्थानों पर आसीन हो जाते हैं। इसके विपरीत बेचारे योग्य व्यक्तियों को उनकी योग्यता और निपुणता के अनुसार स्थान नहीं मिल पाता। इस कारण उनमें दक्षता और उच्चतम व्यक्तित्व का विकास नहीं हो पाता। लोकतन्त्रीय व्यवस्था सर्वतोमुखी व्यक्तित्व पर उतना ध्यान नहीं दे पाती जितना कि उसे देना चाहिए। वह सम्पूर्ण जाति का एक साथ उत्कर्ष करना चाहती है जो असम्भव है। जाति के समुचित विकास के लिए भी उच्चतम योग्यता और चरित्र वाले व्यक्तियों की आवश्यकता होती है। यदि ऐसे व्यक्तियों को उनकी योग्यता और चरित्र के अनुसार समाज में स्थान न मिला तो जाति का विकास असम्भव हो जायगा। अतः, लोकतन्त्रीय आदर्शों के साथ-साथ समाज को अभिजात्य आदर्शों की भी आवश्यकता होती है जिन पर अब विचार किया जायगा।

२. अभिजात्य आदर्शों का भी जीवन में अपना महत्त्व है। व्यक्तिगत विकास और दक्षता या निपुणता दो महत्त्वपूर्ण अभिजात्य आदर्श हैं। समाज में जो प्रतिभाशाली व उत्कृष्ट व्यक्ति हैं उन्हें समाज के हित में प्रोत्साहन मिलना चाहिए। समाज का उत्कर्ष मनुष्यों की संख्या पर नहीं, वरन् उनके गुणों पर आधारित होता है। इसी प्रकार, समाज की निपुणता में वृद्धि के लिए समाज को योग्यतम व्यक्तियों के नेतृत्व को स्वीकार करना चाहिए। यह अभिजात्यतन्त्र में ही सम्भव हो सकता है। पर इतना होते हुए भी अभिजात्य तन्त्र के आदर्शों की त्रुटियों की अवज्ञा नहीं की जा सकती। मुख्य त्रुटियाँ निम्नलिखित हैं—

(अ) जो अभिजात्य आदर्शों के समर्थक हैं, उन्होंने यह बताने का भी प्रयत्न नहीं किया कि किस प्रकार योग्यतम शासकों की खोज की जा सकती है और किस प्रकार उन्हें उपयुक्त स्थान पर आसीन किया जा सकता है। शासन के योग्य सर्वोत्तम व्यक्ति उपयुक्त

स्थान प्राप्त करने में सदैव समर्थ नहीं होते। योग्यतम व्यक्तियों में कुछ ऐसी विनयशीलता व विनम्रता होती है कि वे अपने को सदा पृष्ठभूमि में ही रखना पसन्द करते हैं। इसी बात को ध्यान में रखकर एक बार प्लेटो को कहना पड़ा था कि योग्य शासकों को शासन के लिए बाध्य करना पड़ेगा। संकट की घड़ी में कभी-कभी योग्यतम व्यक्ति को नेतृत्व प्रदान किया जाता है, पर ऐसी बात सदैव घटित होती हो ऐसा नहीं माना जा सकता।

(ब) एक योग्य और दक्ष शासक को भी मार्ग-दर्शन और नियन्त्रण की आवश्यकता होती है। अभिजात्यतन्त्र का विश्वास है कि शासक और शासित में केवल मात्रा का ही नहीं, वरन् उनमें प्रकार-भेद पाया जाता है। तात्पर्य यह है कि प्लेटो के विज्ञानों की भाँति अभिजात्य वर्ग स्वर्ग के प्राणी हैं तथा केवल साधारण वर्ग ही पृथ्वी पर निवास करता है। यदि बात ऐसी है तो अभिजात्य वर्ग साधारण लोगों की समस्याओं को ठीक प्रकार समझ ही न सकेगा। अतः, उनके द्वारा इन समस्याओं के समुचित समाधान का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

उपर्युक्त कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता है कि एक आदर्श समाज में अभिजात्यतन्त्र और लोकतन्त्र दोनों के तत्त्व वर्तमान होने चाहिए। उनमें से हम किसी भी तत्त्व की अवहेलना नहीं कर सकते। वर्तमान समय में प्रजातान्त्रिक देशों में जो कठिनाइयाँ दीख पड़ती हैं उनके अनेक कारणों में से एक कारण यह भी है कि प्रजातन्त्र में प्रतिभा और व्यक्तिगत विकास की अवमानना की जाती है। गुण की अपेक्षा परिमाण को अधिक महत्त्व दिया जाता है। पर इसका यह अर्थ नहीं है कि प्रजातन्त्र में अच्छाइयाँ नहीं हैं। सामाजिक आदर्श के रूप में स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व को कौन इनकार कर सकता है? अतः किसी आदर्श समाज में अभिजात्यतन्त्र और लोकतन्त्र दोनों तत्त्वों की आवश्यकता होती है। इन दोनों का समन्वय किस अंश तक और किस सीमा तक हो, यह देश, काल और पात्र के अनुसार निर्धारित किया जा सकता है। सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि जब तक जनता सुशिक्षित और सुसंगठित नहीं हो जाती, तब तक उसके लिए आवश्यक हो जाता है कि वह सर्वोत्तम और योग्यतम व्यक्ति के संरक्षण में रहे और उनका पथ-प्रदर्शन स्वीकार करे। यही अभिजात्यतन्त्र की उपयोगिता है। पर जब लोग पूरी तरह सुशिक्षित और सुसंगठित हो जायँ और उनके अन्दर स्वस्थ परम्पराओं का निर्माण हो जाय, तब उस समाज में लोकतन्त्रीय आदर्शों को चरितार्थ किया जा सकता है।

काल्पनिक आदर्श-राज्य

(Utopia)

कुछ समाज-दार्शनिकों जैसे केम्पानेला (Campanella), विलियम मॉरिस (William Morris), एच०जी० वेल्स (H.G. Wells) इत्यादि ने एक पूर्ण आदर्श-राज्य (Utopia) की कल्पना की है जिसमें सभी सामाजिक आदर्शों की चरम परिणति पायी जाती है। पर ऐसा आदर्श-राज्य हमारे लिए आदर्श ही रहेगा। वह कभी भी यथार्थ नहीं हो सकता। आदर्शों के विषय में विचित्र बात यह है कि यदि हम उन्हें यथार्थ रूप में

चरितार्थ कर लें तो वे आदर्श ही नहीं रह जायँगे। आदर्श, आदर्श ही है, वह यथार्थ कभी नहीं हो सकता। इसके विपरीत, जो व्यवहार में चरितार्थ नहीं हो सकता, वह कभी भी हमारा आदर्श नहीं बन सकता। अतः, हमारे लिए आदर्शोन्मुख यथार्थ ही सत्य हो सकता है। उपर्युक्त समाज-दार्शनिकों ने जिस प्रकार के पूर्ण आदर्श-राज्य की कल्पना की है, उससे मानव को न तो कोई सही दिशा मिलती है और न उसका भविष्य ही आशावान् होता है। पूर्ण आदर्श-राज्य की कल्पना में हमें कुछ निर्देशक सिद्धान्त (Regulative Principles) अवश्य मिलते हैं जिन्हें ग्रहण कर हम उच्च कोटि के समाज का निर्माण कर सकते हैं। पर इन सामान्य (Universal) और विज्ञान-रूप (Ideal) सिद्धान्तों को पृथ्वी के धरातल पर उतार कर व्यवहार में परिणत करना नितान्त असम्भव है। वे जीवन के केवल मानदण्ड हैं। वे किसी विशेष समय में विद्यमान किसी सामाजिक व्यवस्था के दोषों की ओर संकेत करते हैं तथा उन दोषों को दूर करने की विधियाँ बताते हैं। वे विधायक या उपादान-रूप (Constitutive) नियम न होकर नियामक (Regulative) नियम की तरह कार्य करते हैं।

किसी विशेष समाज को आादर्श रूप में संगठित करते समय सर्वाधिक कठिनाई उस समय उपस्थित होती है जब हम दूसरे समाजों के साथ उसके सम्बन्ध को प्रदर्षित करते हैं। एक समाज का दूसरे समाजों के साथ सम्बन्ध मित्रता का या शत्रुता का हो सकता है। इस अवस्था में सिद्धान्त और व्यवहार में समन्वय की महती आवश्यकता आ पड़ती है। इसके विषय में हम आगे विचार करेंगे।



११

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध
(International Relations)

आज संसार अनेक स्वतन्त्र राष्ट्रों में विभाजित है। वे आन्तरिक और बाह्य दोनों दृष्टियों से प्रभुतासम्पन्न हैं। उनके नागरिक अपने-अपने ढंग से अपना जीवन-यापन करते हैं। उन पर किसी प्रकार का बाह्य प्रतिबन्ध नहीं होता। उनका संसार के अन्य लोगों अथवा अन्य देशों से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं होता। वे अपने देश के दायरे तक ही अपने को सीमित रखना चाहते हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध के पहले संयुक्त-राज्य अमेरिका संसार के अन्य देशों से अपने को पृथक् ही रखता था। राजनीति में इस सिद्धान्त को मोनरो-सिद्धान्त (Monroe Doctrine) कहते हैं। कोई भी राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के क्रिया-कलापों में किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करता था। प्राचीनकाल के समाज-दार्शनिकों की भी यही प्रवृत्ति रही है। उदाहरण के लिए, प्लेटो (Plato) ने जिस आदर्श-समाज की कल्पना की थी, वह आत्मपूर्ण और आत्मनिर्भर समाज की कल्पना थी। प्लेटो के आदर्श-राज्य की कल्पना तत्कालीन यूनान के नगर-राज्यों (Greek-City-States) के विश्लेषण के ऊपर आधारित थी। उनका विचार था कि राज्य का आकार और उसकी जनसंख्या छोटी होनी चाहिए जिससे कि व्यक्ति की स्वतन्त्रता और राज्य के कार्यों में उसकी सहभागिता को अक्षुण्ण रखा जा सके। सारांश यह है कि उस समय समाज और राज्य में कोई विशेष भेद न था।

पर कालान्तर में समाज की जटिलता की वृद्धि के साथ राज्य की कल्पना में भी परिवर्तन हुआ। मनुष्य की सामाजिकता परिवार, समुदाय और राज्य की सीमा का अतिक्रमण कर सम्पूर्ण मानवता तक पहुँचने का प्रयास करती है। आधुनिक युग में कोई राज्य आत्मनिर्भर नहीं है और न हो सकता है। आज विशिष्टता का युग है। जिस प्रकार राज्य में व्यक्ति अपनी प्रतिभा के अनुसार कार्य करके पूर्णता को प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार विश्व में प्रत्येक राज्य अपनी नैसर्गिक प्रतिभा का उपयोग कर न केवल अपना प्रत्युत् सम्पूर्ण विश्व का कल्याण कर सकता है। जैविक, सामाजिक और आर्थिक आवश्यकताएँ केवल मनुष्य को ही नहीं, वरन् राज्यों को भी एक-दूसरे के निकट लाती हैं। सम्पूर्ण संसार ही परस्पर-पूरकता के सिद्धान्त पर आधारित है। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए राज्य परस्पर संयुक्त होकर एक विशाल समुदाय का निर्माण करते हैं। आधुनिक विशाल राज्य साधारणतः पृथक्-पृथक् देशों के समन्वय से ही निर्मित हुए हैं। अतः स्वयं सहमति द्वारा परस्पर आदान-प्रदान के लिए दो राष्ट्रों के बीच जो सम्बन्ध स्थापित होता है उसे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध कहते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध का इतिहास

प्राचीन काल में जब विज्ञान की इतनी प्रगति नहीं थी और यातायात के साधनों का अभाव था, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध नाम की कोई वस्तु ही नहीं थी। पर विज्ञान की प्रगति ने राज्यों के बीच की भौतिक दूरी को बहुत ही कम कर दिया है। बिजली, तार, रेडियो, वायुयान, रेल, जहाज, टेलीफोन, टेलीविजन इत्यादि वैज्ञानिक आविष्कारों ने भौतिक दूरी को तो प्राय: समाप्त ही कर दिया है। मैडेरियाना के शब्दों में, "समाचारों और विचारों के दृष्टिकोण से तो विश्व ने बाजार जैसी एकता स्थापित कर ली है।"[1] अत: वैज्ञानिक आविष्कारों ने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की वृद्धि में पर्याप्त योगदान किया है।

विश्व-बन्धुत्व और मानवाधिकार की भावना ने भी अन्तर्राष्ट्रीय सम्वन्धों को दृढ़ किया है। लगभग सभी धर्मों के आधारभूत सिद्धान्त मानवता और विश्व-बन्धुत्व (Universal Brotherhood) के ही आदर्श हैं। हम सब एक ही ईश्वर की सन्तान हैं, अत: सभी को मानव-मात्र की सेवा के लिए सदा तत्पर रहना चाहिए। इन्हीं सब आदर्शों के आधार पर संयुक्त राष्ट्रसंघ ने विश्व-व्यापी मानवाधिकारों (Universal Human Rights) की घोषणा की है जिसे सभी सभ्य और प्रगतिशील राज्यों ने स्वीकार भी किया है। अत:, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के विकास में इस विश्व-बन्धुत्व की भावना का बड़ा हाथ रहा है।

बिना आचार-संहिता के कोई भी संस्था नहीं चल सकती। विभिन्न राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों और व्यवहारों को सुचारु रूप से चलाने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का निर्माण किया गया है। संधियाँ, प्रथाएँ, अन्तर्राष्ट्रीय समझौते इत्यादि इनके प्रमुख स्रोत हैं। शान्तिकाल के सम्बन्ध, तटस्थता, दूसरे राज्यों पर हवाई जहाजों का उड़ना, युद्धबन्दियों और युद्ध में जहरीली गैसों आदि के प्रयोग के लिए अनेक अन्तर्राष्ट्रीय कानून बन गये हैं। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय कानून के निर्माण ने भी अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का पर्याप्त विकास किया है।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के विकास में पारस्परिक आर्थिक निर्भरता भी महत्त्वपूर्ण योग देती है। किसी भी दृष्टि से कोई राष्ट्र पूर्ण आत्मनिर्भर नहीं हो सकता। आधुनिक व्यापार अन्तर्राष्ट्रीय रूप ले चुका है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा तथा विनिमय इसके उदाहरण हैं। पारस्परिक आर्थिक आदान-प्रदान सभी राष्ट्रों को निकट ले आता है और इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीयता को प्रोत्साहन मिलता है।

इसके अतिरिक्त कुछ राजनीतिक कारण भी हैं जो राज्यों को एक-दूसरे के निकट लाने में मदद करते हैं। वर्तमान युग में प्रत्येक राज्य दूसरे राज्यों के साथ राजनीतिक या कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित कर रहा है। आज कोई भी राष्ट्र अकेला नहीं रहना चाहता। वह अपने निश्चित उद्देश्यों की सिद्धि के लिए राज्यों का संगठन बनाता है। सीटो (SEATO) और नाटो (NATO) इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं।

---

1. From the point of views of news and views, the world has attained the unity of market place. *–Madariana*

आज विश्व-जीवन के सभी क्षेत्रों में अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का निर्माण हो रहा है और इनकी संख्या दिनोंदिन बढ़ती ही जा रही है। राजनीतिक क्षेत्र में ही नहीं, बल्कि आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और वैज्ञानिक क्षेत्रों में भी अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की कमी नहीं है जो अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के विकास में पर्याप्त योग दे रहे हैं। अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति-सम्मेलन, अन्तर्राष्ट्रीय कृषक-सम्मेलन, अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-सम्मेलन तथा अन्तर्राष्ट्रीय धार्मिक सम्मेलनों की भी चर्चा होती रहती है। ये सभी सम्मेलन अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को उत्पन्न और सुदृढ़ करने में सहायता प्रदान करते हैं।

ऊपर यह स्पष्ट किया गया कि संसार का कोई भी राष्ट्र पूर्ण, सजातीय, स्वतन्त्र एवं आत्मनिर्भर नहीं है। सभी राष्ट्र परस्पर-पूरकता-सिद्धान्त द्वारा अपने को पूर्ण बनाने में प्रयत्नशील हैं। विज्ञानवादियों का तो यहाँ तक कथन है कि संसार की सभी वस्तुओं में एक प्रकार का आन्तरिक सम्बन्ध (Internal Relation) है। यह बात राज्यों के विषय में भी उतनी ही सत्य है जितनी कि संसार की अन्य वस्तुओं के विषय में। अतः राज्यों के बीच सम्वन्ध तो स्वाभाविक है, पर इस सम्वन्ध को आदर्श रूप देने की जो बात हमारे समक्ष है, वही समाज-दर्शन का विषय है। यहाँ हम अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के उन अंगों का वर्णन करेंगे जिन्हें आदर्श रूप देकर अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को भी आदर्श रूप बनाया जा सकता है।

१. अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता
(International Morality)

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को संयमित एवं नियमित करने के लिए कुछ आदर्शों की आवश्यकता होती है जो अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता के अंग समझे जाते हैं। जिस प्रकार एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य के प्रति कुछ नैतिक कर्त्तव्य होता है, उसी प्रकार एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्रों के प्रति भी कुछ नैतिक कर्त्तव्य होता है। इन्हीं कर्त्तव्यों या परस्पर-सम्बन्धों को नियंत्रित करने वाले आदर्शों को अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता कहते हैं।

यदि मानवीय भ्रातृत्व की अवधारणा में कुछ भी सत्य है तो यह स्पष्ट है कि सभी राष्ट्रीयताओं के लिए नैतिकता का आधार सामान्य होना चाहिए। मानवीय भ्रातृत्व का अर्थ यही है कि सम्पूर्ण मानवता में एक सर्वनिष्ठ तत्त्व विद्यमान है। इस मान्यता के अनुसार जो वस्तु एक के लिए सही होगी वह अन्य वस्तुओं के लिए भी सही होगी। यही वात नैतिकता के ऊपर भी लागू होती है। नैतिकता मानवता की तात्त्विक एकता में निवास करती है। मानवता में तात्त्विक एकता होते हुए भी उसके प्रकाशन अथवा व्यक्तीकरण में भिन्नता हो सकती है। सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक नैतिकता में पूर्ण संगति खोजना नितान्त असम्भव कार्य है। सैद्धान्तिक नैतिकता में एकत्व होते हुए भी उसके व्यावहारिक प्रकाशन में देश, काल और पात्र की भिन्नता के कारण कुछ परिवर्तन अवश्य हो जाते हैं। सभी लोग एक ही प्रकार के कर्त्तव्यों और गुणों का अनुशीलन नहीं करते। कुछ लोग उत्साह (Courage) को, कुछ मिताचार (Temperance) तथा आत्म-संयम (Self-control) को, कुछ लोग सत्य (Truthfulness), कुछ लोग निष्ठा

(Loyalty) तो कुछ **परोपकार** (Benevolence) को, कुछ **अध्यवसाय** (Industry), **कुछ ज्ञान** (Knowledge) अथवा बुद्धि (Wisdom) के अनुशीलन को तथा कुछ लोग **इच्छाओं के दमन** (Suppression of Desire) को अत्यधिक महत्त्व देते हैं। किन्तु वे लोग जो किसी विशेष गुण की प्रशंसा या अनुशीलन करते हैं, दूसरों द्वारा स्वीकृत गुणों की श्रेष्ठता से भी इनकार नहीं करते। कभी यह कहा जाता है कि प्रत्येक जाति या राष्ट्र की अपनी एक **विशेष सभ्यता** होती है जिसे लोग **कल्टर** (Kultur) कहते हैं और जिसके अन्दर कई प्रकार के नैतिक गुणों का समावेश होता है। पूरे राष्ट्र का यह पुनीत कर्त्तव्य है कि वह अपनी सामूहिक शक्ति द्वारा अपनी विशिष्ट सभ्यता व संस्कृति की रक्षा तथा विकास करे। उदाहरण के लिए, स्वामी विवेकानन्द का विचार था कि आध्यात्मिकता भारत का नैसर्गिक स्वभाव है और भौतिकता पश्चिमी देशों का। भारत अपनी आध्यात्मिक शक्ति का विकास करके ही जगत् का शिरोमणि हो सकता है, भौतिकता के आधार पर नहीं। यह बात गीता के स्वभाव व स्व-धर्म की व्याख्या के बिलकुल अनुकूल है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक राष्ट्र की एक चिति होती है जिसके अनुसार प्रत्येक नागरिक को अपना जीवन ढालकर अपने गुणों का विकास करना चाहिए। कर्तव्य केवल व्यक्तियों का होता है, राज्य तो उन कर्त्तव्यों की पूर्ति का केवल माध्यम या यन्त्र है। राज्य का कार्य केवल इतना ही है कि वह व्यक्तियों को अपने कर्त्तव्यों के पालन का समुचित अवसर प्रदान करे तथा उनके अन्दर निहित विशेष जीवन-पद्धतियों का पोषण, रक्षण एवं विकास करे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए राज्य जो भी कदम उठाता है वह न्यायोचित है। आवश्यकताओं के आगे कानून का कोई महत्त्व नहीं है। कानून राज्य के लिए है, राज्य कानून के लिए नहीं है। आवश्यकताओं से उच्चतर ऐसा कोई सिद्धान्त नहीं है जिसके द्वारा इस सिद्धान्त को सीमित किया जा सके। इस सिद्धान्त का राज्य के **शक्ति-सिद्धान्त** से घनिष्ठ सम्बन्ध है। एच० वॉन ट्रेटस्की, फ्रेडरिक महान् और बिस्मार्क ने राज्य को इसी रूप में लिया है।

पर राज्य को केवल शक्ति-रूप मानना ठीक नहीं है। शक्ति, राज्य का केवल एक पक्ष है। राज्य का एक दूसरा पक्ष भी है जो शक्ति-पक्ष के पहले आता है और वह है उसका कानूनी पक्ष। कानून, नियम और विधान, राज्य के प्राथमिक और स्थैतिक (Static) आधार हैं, शक्ति उसका गत्यात्मक (Dynamic) आधार है। नियम और कानून का तब तक कोई महत्त्व नहीं है जब तक कि उन्हें क्रियान्वित न किया जाय और इस क्रियान्वयन के लिए शक्ति की आवश्यकता होती है। पर यदि साधारण स्थिति में लोग राज्य के नियमों का पालन करते हैं तो शक्ति-प्रयोग की कोई आवश्यकता नहीं है। इतना होते हुए भी राज्य में पर्याप्त मात्रा में शक्ति का संचय रहना चाहिए जिससे कि आवश्यकता पड़ने पर उसका उपयोग किया जा सके।

क्या अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता सम्भव है ?

मैकियावेली (Machiavelli) के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता की बात करना

निरर्थक है। राष्ट्र किसी लक्ष्य का साधन न होकर स्वयं परम साध्य है। शक्ति उसका सार-तत्त्व है। शक्ति द्वारा अपने स्वार्थ की सिद्धि करना ही राज्य का लक्ष्य होना चाहिए। लक्ष्य-प्राप्ति के सन्दर्भ में नैतिकता-अनैतिकता की बात वाहियात है। राष्ट्र के कर्त्तव्यों का आधार नैतिकता नहीं, वरन् उपयोगिता है। दूसरी बात यह है कि राष्ट्र और व्यक्ति की उत्पत्ति और विकास के सिद्धान्त नितान्त पृथक् हैं। व्यक्ति का विकास सहयोग और विश्वास पर आधारित होता है और राष्ट्रों का विकास शत्रुता और परस्पर अविश्वास पर। अतः राष्ट्रों के परस्पर-व्यवहार में नैतिकता का कोई स्थान नहीं होना चाहिए। दूसरी बात यह है कि यदि किसी देश की सभ्यता और संस्कृति इतनी अद्वितीय और उच्चकोटि की है कि विश्व-हित को दृष्टि में रखकर उसे दूसरों पर स्थापित करना आवश्यक है तो चाहे उसके लिए बल का प्रयोग ही क्यों न करना पड़े, दूसरे राष्ट्रों पर अपनी सभ्यता और संस्कृति को स्थापित करने का पूर्ण अधिकार होना चाहिए। अतीत और कुछ सीमा तक वर्तमान में भी यहूदियों और मुसलमानों का यही विचार रहा है। रोमन लोग कहते थे कि उनकी सरकार और कानून-पद्धति संसार में सर्वश्रेष्ठ है, अतः रोमन-साम्राज्य की सीमाओं का विस्तार करना उनका वैध उद्देश्य है। सिकन्दर महान् का भी यही विश्वास था कि वह दिग्विजय द्वारा यूनानी सभ्यता के सुन्दरतम रूप को असभ्य लोगों में फैला रहा है। इसी प्रकार नेपोलियन भी फ्रांस की राज्य-क्रान्ति के मानवीय सिद्धान्तों की स्थापना के लिए युद्ध कर रहा था। आधुनिक युग में भी कुछ राष्ट्र 'श्वेत लोगों के उत्तरदायित्व' के नाम पर संसार में अपने विशेष अधिकार सुरक्षित रखना चाहते हैं। राष्ट्रों के इन उद्देश्यों की पूर्ति शक्ति और हिंसा के द्वारा ही सम्भव है। यदि कोई व्यक्ति विश्व के सारे लोगों से इतना अधिक बुद्धिमान् और अच्छा हो कि उसके एक-छत्र शासक बनने से समस्त विश्व का लाभ होगा, तो उस पद को प्राप्त करने के लिए उसके द्वारा अपनाये गये किसी भी साधन को क्षम्य ठहराया जा सकता है।

पर उपर्युक्त तर्क को कभी भी न्यायोचित नहीं ठहराया जा सकता। उपर्युक्त तर्क को मानना मानव-जीवन की वास्तविक स्थिति की अवहेलना करना ही होगा। किसी भी युग में किसी एक राष्ट्र अथवा किसी एक व्यक्ति को इतना अधिक महत्त्व प्रदान करना कि उसका कोई भी कार्य न्यायोचित ठहराया जा सके, निरी मूर्खता होगी। सभ्यता के विकास के साथ ऐसी प्रवृत्तियाँ हास्यास्पद ही प्रतीत होती हैं। आज के संसार में किसी राष्ट्र की सभ्यता तथा किसी व्यक्ति की प्रतिभा, हिंसा के साधन को अपनाये बिना भी अनिवार्यतः दूसरों में व्यापक रूप से फैल जाती है। जब वे प्रत्यक्ष रूप से लाभदायक होती हैं, हमारे संचार-साधन उन्हें बड़ी तीव्रता से एक-दूसरे के पास ले जाते हैं और लोग उन्हें उसी तीव्रता से ग्रहण भी कर लेते हैं। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि कुछ निहित स्वार्थों के कारण लोग उनका सक्रिय विरोध करते हैं और इस विरोध के निवारण के लिए कुछ शक्ति का प्रयोग करना अनिवार्य हो जाता है, पर उस शक्ति का प्रयोग निहित उद्देश्य द्वारा नियन्त्रित होना चाहिए। वह शक्ति कानून का अतिक्रमण नहीं करेगी।

क्रूर विधियों द्वारा उदात्त गुणों का प्रसार नहीं किया जा सकता। आधुनिक विश्व में जहाँ सभी लोग स्वतंत्रतापूर्वक एक-दूसरे के साथ सम्पर्क कर सकते हैं और जहाँ आसानी से दूसरों के विचारों को जानने का अवसर प्राप्त होता है, वहाँ यदि एक राष्ट्र किसी दूसरे राष्ट्र पर असंयमित और अनियंत्रित रूप से अपनी सभ्यता को थोपना चाहे तो उसे मानव-जाति का उपकारी न मानकर, सम्पूर्ण मानवता का शत्रु समझना चाहिए। यदि किसी राष्ट्र की श्रेष्ठता को सत्य भी मान लिया जाय तो भी यह निश्चित करने का उसे अधिकार नहीं दिया जा सकता कि उसकी सभ्यता अन्य राष्ट्रों की सभ्यता की अपेक्षा उत्तम है। वास्तव में प्रत्येक राष्ट्र की नैसर्गिक प्रतिभा समान नहीं होती, बल्कि उसके पृथक् स्वभाव के कारण भिन्न-भिन्न होती है। प्रत्येक राष्ट्र को अपनी रुचि और स्वभाव के अनुसार अपनी सभ्यता के विकास और उसकी रक्षा करने का पूर्ण अधिकार होना चाहिए। यह ठीक है कि यदि किन्हीं विशिष्ट परिस्थितियों में कोई राष्ट्र अपने कर्त्तव्यों का पालन नहीं करता तो उसे उपर्युक्त अधिकार से वंचित किया जा सकता है। यदि किसी राज्य की सरकार इतनी निरंकुश और अत्याचारी हो कि उसे राज्य-सरकार की संज्ञा ही न दी जा सके तो ऐसी स्थिति में अन्य राज्य उसमें हस्तक्षेप कर सकते हैं और आवश्यकता पड़ने पर व्यवस्था-स्थापन के लिए वे शक्ति का भी प्रयोग कर सकते हैं। किन्तु वैधानिक रूप से ऐसा करने के लिए निर्दिष्ट परिस्थितियों का निर्णय करना कोई सरल कार्य नहीं है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून की यह एक प्रमुख समस्या है जिस पर आगे विचार किया जायगा।

यह सारा संसार जानता है कि भारत की आर्य सभ्यता और आर्य-संस्कृति सर्वश्रेष्ठ है, पर उसने अन्य देशों पर अपनी सभ्यता और संस्कृति को थोपने का कभी प्रयत्न नहीं किया। हमारी संस्कृति का मूल-मन्त्र है 'सहिष्णुता' जो वेद के इस सूत्र पर आधारित है, 'तत्त्व एक ही है, पर बुद्धिमान् उसे अनेक रूप में घोषित करते हैं।'[१] हिन्दू संस्कृति कभी भी एकान्तवादी नहीं रही है और न इसके अन्दर रूढ़वादिता (Dogmatism) ही पायी जाती है। इसने अपनी प्रकृति के अनुसार सभी सम्प्रदायों को अपने कर्त्तव्य स्थिर करने की स्वतंत्रता प्रदान की है। भगवान् श्रीकृष्ण द्वैपायन व्यास ने कहा है, "हमारे सम्प्रदाय की सीमा के बाहर भी पूर्णत्व को पहुँचे मनुष्य हैं।"[२] यही कारण है कि हिन्दू-धर्म में बलात् धर्म-परिवर्तन की कोई व्यवस्था नहीं है। भक्त अपनी प्रकृति के अनुसार भगवान् तक पहुँचने का कोई भी मार्ग निश्चित कर सकता है। भारत का इतिहास इस बात का ज्वलन्त प्रमाण है कि भारत ने धर्म की कट्टरता अथवा किसी देश की भूमि का अपहरण करने के लिए किसी अन्य देश पर आक्रमण नहीं किया है।

इस सन्दर्भ में एक विशेष बात जो ध्यान में रखने योग्य है, वह यह है कि राज्य के सामूहिक कार्यों को निर्दिष्ट करने वाले नैतिक सिद्धान्त तथा व्यक्ति के

१. एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति, ऋग्वेद १, १६४, ४६
२. अन्तरा चापि तु तद्दृष्टेः, वेदान्तसूत्र ३, ४, ३६

कार्यों को निर्दिष्ट करने वाले नैतिक सिद्धान्त समान नहीं होते। व्यक्ति एक स्वतंत्र इकाई है। यह ठीक है कि कभी-कभी वह दूसरों का हस्तक (Agent) बन कर कार्य करता है, पर साधारण स्थिति में वह एक स्वतंत्र इकाई के रूप में ही कार्य करता है। इसके विपरीत, राज्य या सरकार की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं होती; वह व्यक्तियों के राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति का केवल एक माध्यम ही है। अत: राज्य या सरकार के ऊपर वे नैतिक नियम लागू नहीं होते जो व्यक्तियों के ऊपर लागू होते हैं। पर इससे नैतिक सिद्धान्तों की वैधता में कोई अन्तर नहीं आता। सामान्य हित (Common Good) की अवधारणा ही परम-निर्देशक सिद्धान्त है जो नैतिक नियमों के मूल में कार्य करता है।

उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखते हुए अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता के निम्न नियमों का प्रतिपादन किया जा सकता है—

१. व्यक्ति की भाँति प्रत्येक राष्ट्र को भी अपने अस्तित्व को कायम रखने का पूर्ण अधिकार है। यह अधिकार दो प्रकार से खतरे में आ सकता है; (अ) यदि किसी राष्ट्र की भूमि पर बलात् अधिकार कर लिया जाय और (ब) उसका आर्थिक शोषण किया जाय। किसी भी शक्तिशाली या बड़े राष्ट्र को दूसरे राष्ट्रों के आर्थिक शोषण या उसकी संप्रभुता को भंग करने का अधिकार नहीं है।

२. यदि किसी कारण दो राष्ट्रों में झगड़ा हो जाय तो उसे युद्ध द्वारा नहीं, वरन् समझौता-वार्ता द्वारा सुलझाना चाहिए। यदि युद्ध आवश्यक ही हो जाय तो उसे उचित कारण और प्रतिरक्षा के लिए ही लड़ना चाहिए। दूसरी बात यह है कि विजित राष्ट्र को आवश्यकता से अधिक हानि नहीं पहुँचाना चाहिए। अत: शक्ति द्वारा नहीं, वरन् न्याय के आधार पर राष्ट्रों के बीच सम्बन्धों को नियंत्रित करना चाहिए।

३. व्यक्ति की भाँति सभी राष्ट्रों को स्वतन्त्रता का अधिकार है। अत: प्रत्येक राष्ट्र को दूसरे राष्ट्रों की स्वतन्त्रता का समादर करना चाहिए। सभी राष्ट्रों को अपनी आन्तरिक एवं वैदेशिक नीति के निर्धारण का पूर्ण अधिकार है। अत: संसार में साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद के लिए कोई स्थान नहीं होना चाहिए।

४. सभी राष्ट्रों को समानता की दृष्टि से देखना चाहिए। संसार में छोटे और बड़े दोनों प्रकार के राष्ट्र हैं। पर नैतिक दृष्टि से उनमें कोई अन्तर नहीं होना चाहिए। उनके अधिकार और नैतिक दायित्व बराबर हैं। संयुक्त राष्ट्रसंघ ने संसार के सभी राष्ट्रों को एक ही दर्जा दिया है। शक्तिशाली और शक्ति-हीन राज्यों के बीच किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं होना चाहिए।

५. प्रत्येक राष्ट्र को दूसरे राष्ट्र के अधिकारों का मान करना चाहिए, क्योंकि यदि ऐसा नहीं होगा तो उसके अधिकारों का मान भी अन्य राष्ट्र नहीं करेंगे। इससे जगत् में अव्यवस्था फैलने की सम्भावना बढ़ जाती है। भारत ने जो सन् १९५४ ई० में चीन के साथ पंच-शील समझौता किया था, अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता का उच्चतम आदर्श है।

२. अन्तर्राष्ट्रीय कानून
(International Law)

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की वास्तविक कठिनाई नैतिकता से सम्बन्धित न होकर कानून से सम्बन्धित है। जब तक नैतिक नियमों को वैधानिक रूप और उचित अनुमोदन न प्राप्त हो जाय, उन्हें व्यक्तियों और समूहों पर लागू करना कठिन होता है। यही कारण है कि अन्तर्राष्ट्रीय नियमों को अन्तर्राष्ट्रीय कानून के रूप में वैधानिक आकार देने का प्रयत्न किया गया है और इसमें पर्याप्त सफलता भी मिली है। प्रथम विश्व-युद्ध के बाद लीग ऑव नेशन्स (League of Nations) और द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद संयुक्त राष्ट्रसंघ (The United Nations Organisation) ने अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार सुलझाने का प्रशंसनीय कार्य किया है।

राज्यों द्वारा एक-दूसरे से व्यवहार करते हुए जिन नियमों का पालन किया जाता है, वे अन्तर्राष्ट्रीय कानून (International Law) कहलाते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून वह प्रणाली है जो राज्यों के सम्बन्ध को नियमपूर्वक चलाती है। राज्यों द्वारा स्वीकृत व सम्मानित कानूनों के अनुसार ही उनके व्यवहार संचालित किये जाते हैं। प्रभुता-सम्पन्न राज्य ही अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विषय हैं। शान्ति के समय में राज्यों के बीच राजनयिक संव्यवहार और युद्ध के समय में शान्तिमय उपायों द्वारा उसका निवारण इसके कार्य-क्षेत्र हैं। यदि शान्तिपूर्ण उपायों द्वारा झगड़े का निपटारा न हो सके और सचमुच युद्ध की घोषणा हो ही जाय तो युद्ध किस प्रकार लड़ा जाय, तटस्थ राष्ट्रों के अधिकार और कर्त्तव्य क्या हैं, शान्ति-वार्ता, सन्धि तथा अन्य सम्बद्ध विषय इसके क्षेत्र में आते हैं।

किन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि राज्य इन सिद्धान्तों को मानने के लिए कहाँ तक बाध्य है अथवा इन सिद्धान्तों का राज्य की सम्प्रभुता के साथ कहाँ तक संगति है। हेगल (Hegel), जैलिनेक (Jellinek) और ट्रेटस्की (Treitschke) जैसे जर्मन लेखकों का मत है कि "राज्य स्वेच्छा से इन अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिबन्धों को अपने ऊपर लागू कर लेते हैं, किन्तु उन्हें बलपूर्वक मनवाया नहीं जा सकता।" ट्रेटस्की प्रत्येक राज्य के युद्ध करने और सन्धियों को अस्वीकार करने के अधिकार की पुष्टि करता है। इस सन्दर्भ में हिटलर ने निश्चित रूप से यह घोषणा की थी कि सन्धियाँ कागज के कुछ रद्दी टुकड़ों को छोड़कर और कुछ नहीं है। उनका कथन है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून स्वयं स्थापित मर्यादा के अतिरिक्त कुछ नहीं है जो राज्य की इच्छानुसार हटा ली जा सकती है। जर्मन दार्शनिक राज्य की प्रभुसत्ता को किसी भी प्रकार सीमित करने के पक्ष में नहीं हैं।

क्या अन्तर्राष्ट्रीय कानून वास्तव में कानून है ?

कुछ न्यायज्ञों जैसे ऑस्टिन (Austin) ने अन्तर्राष्ट्रीय नियमों को कानून की संज्ञा देने से इनकार कर दिया है। विश्लेषणात्मक सम्प्रदाय (Analytical School) के अनुसार कानून निश्चयात्मक मानव-श्रेष्ठ (Determinate human superior) का आदेश है। किन्तु राष्ट्रों के समुदाय में कोई ऐसा निश्चयात्मक अधिकारी नहीं होता जो

राष्ट्रों को आदेश दे सके। अतः, अन्तर्राष्ट्रीय कानून नाम की कोई वस्तु नहीं हो सकती। सभी राष्ट्र प्रभुतासम्पन्न हैं। उन्हें किसी अन्य सत्ता की अधीनता मानने के लिए बाध्य करना उनकी प्रभु-सत्ता का नाश करना है। इसके अतिरिक्त, अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का कोई भी भाग आज तक किसी संसद या विधान-मण्डल द्वारा पारित नहीं किया गया और "न ही उसको किसी ऐसे न्यायालय ने अपने अधिकारों से लागू किया है, जिसका अधिकार-क्षेत्र भी कानून के समान ही विस्तृत हो।" यह ठीक है कि राज्यों के विवादास्पद मामलों को मध्यस्थता के लिए अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में अवश्य भेजा जाता है, पर अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के निर्णयों को वे राज्य मान ही लें, ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं है। इसके साथ-साथ संसार में ऐसी कोई सत्ता नहीं है जो अन्तर्राष्ट्रीय कानून की अवज्ञा करने वाले राज्य को बाध्य कर सके और उसे दण्ड दे सके। अन्तर्राष्ट्रीय कानून की स्वीकृति राज्य की इच्छा पर निर्भर है। इसको बाध्य करने वाली कोई दमनकारी शक्ति नहीं है। जो किसी स्पष्ट प्रभुत्वसम्पन्न सत्ता द्वारा लागू नहीं किया जा सकता, वह वास्तव में कानून नहीं हो सकता। जिस कानून का आधार प्रथाएँ, सहमति और समझौते हों, वह कानून कहलाने का अधिकारी नहीं हो सकता। ऑस्टिन तथा अन्य न्यायज्ञों ने अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों को केवल अन्तर्राष्ट्रीय नियामक सिद्धान्त (Regulative Principle) के रूप में ही माना है जिसके पीछे कोई नैतिक बाध्यता नहीं है।

इसके विपरीत, अन्तर्राष्ट्रीय कानून के आधुनिक विचारकों ने उसे वास्तविक कानून के रूप में मान्यता प्रदान की है। उन्होंने ऑस्टिन द्वारा प्रतिपादित सम्प्रभुता के सिद्धान्त को एक भयावह व हानिकारक मत बताया है जिसे अन्तर्राष्ट्रीय कानून के साहित्य से अवश्य निकाल देना चाहिए। उनका मत यह है कि राज्य की सम्प्रभुता का यह अर्थ नहीं है कि सर्वहित या लोककल्याण के लिए राज्य में कुछ विशेष नियमपालन का समझौता हो ही नहीं सकता। राष्ट्रहित और अन्तर्राष्ट्रीय हित में कोई विरोध नहीं है। यह ठीक है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून स्वयं किसी निश्चयात्मक मानव-श्रेष्ठ का आदेश नहीं है, लेकिन कानून के अन्य कई स्रोत भी हो सकते हैं। इसके विकास में रीति-रिवाज और सामान्य कानून की उपेक्षा नहीं की जा सकती। अन्तर्राष्ट्रीय कानून सदियों में बना है जिसके नियमों को राज्यों के आचरण के लिए युद्ध व शान्ति दोनों समय में बनाया व स्वीकार किया गया है।

जो लोग यह कहते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून, कानून नहीं है क्योंकि इसके कार्यान्वित करने की कोई अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति नहीं है, उनका विचार सही नहीं है। लोग शक्ति या दण्ड-भय से ही कानून की आज्ञा नहीं मानते। राज्यों के हाथों में अपार दमन-शक्ति होते हुए भी प्रतिदिन लोग वास्तविक कानूनों को भंग करते पाये जाते हैं। कानूनों की अवज्ञा का यह अर्थ नहीं है कि उनका कोई महत्त्व ही नहीं है। सभी कानूनों का आधार अन्त में मनुष्यों की नैतिक चेतना या जनमत होता है। साधारण कानून की तरह अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का अधिकार भी वही है। नियमों का निर्माण और उनका परिपालन विचार-शक्ति द्वारा ही सम्भव है और वह भौतिक शक्ति के अभाव में भी सम्भव है। जहाँ

तक अन्तर्राष्ट्रीय कानून के पीछे मान्यता व स्वीकृति का सम्बन्ध है, अब सभी सहमत हैं कि संसार का जनमत बड़ी तीव्र गति से बढ़ रहा है और समुचित स्वीकृतियों की व्यवस्था हो रही है। संयुक्त राष्ट्र-संघ (United Nations Organisation) ऐसा विश्व-संगठन है जिसके द्वारा विश्व-जनमत की अभिव्यक्ति होती है और जिसके पास अवज्ञा करने वाले राज्य को सही मार्ग पर लाने के लिए आर्थिक तथा राजनीतिक प्रतिबन्धों की व्यवस्था है। कोरिया पर चीन के आक्रमण को रोकने के लिए इस संस्था ने निजी सैनिक-संगठन द्वारा ऐसे उपाय किये थे जिससे कि विश्व-शान्ति भंग न हो। सन् १९५६ ई० में जब ब्रिटिश, फ्रांसिसी और इज़राइली सैनिकों ने मिश्र पर आक्रमण किया था संयुक्त राष्ट्र-संघ की आपात्कालीन सेना ने ही वहाँ शान्ति-स्थापन का कार्य किया था। अतः ऐसी बात नहीं है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि के सफल क्रियान्वयन के लिए कोई शक्ति ही नहीं है। प्रबल जनमत की शक्ति सैनिक शक्ति से कहीं अधिक कारगर होती है।

और न यह कहना ही सत्य है कि अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को सुलझाने और अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों को लागू करने वाले न्यायालय नहीं हैं। संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा स्थापित अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (International Court of Justice) द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को कानूनी ढंग से निपटाने की व्यवस्था की गयी है। प्रत्येक देश में भी ऐसे न्यायालय मौजूद हैं जहाँ अन्तर्राष्ट्रीय कानून की आवश्यकतानुसार महत्त्वपूर्ण विवादों पर निर्णय किया जाता है।

३. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार
(International Trade)

अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता और अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अतिरिक्त भी अन्य कई तत्त्व हैं जो राज्यों के बीच सम्बन्ध को दृढ़ करते हैं—जैसे धर्म, जाति, भाषा, सामान्य संस्कृति, उद्योग एवं वाणिज्य। धार्मिक एकता के कारण ही पाकिस्तान और अन्य मुस्लिम देशों में सौहार्द है। भाषा की एकता ने ब्रिटेन और अमेरिका को इतना निकट ला दिया है। धर्म, जाति और संस्कृति की एकता के कारण ही भारत और नेपाल के बीच एक प्रकार का विशेष सम्बन्ध है। इनके विषय में आगे विचार किया जायगा। यहाँ हम अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का ही वर्णन करेंगे।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार ने राष्ट्रों के बीच सौहार्द-भावना को विकसित करने में पर्याप्त योगदान किया है। कोबन (Cobden) ने मुक्त व्यापार (Free Trade) सिद्धान्त द्वारा व्यापार-प्रतियोगिता से उत्पन्न ईर्ष्या और संघर्ष को हटाने का प्रयास किया। हर्बर्ट स्पेन्सर[1] (Herbert Spencer) ने सभ्यता के सैनिक (Military) और औद्योगिक (Industrial) क्रमों की अवस्थाओं का वर्णन करते हुए लिखा है कि सैनिक अवस्था में राष्ट्रों में कटु विरोध का बोलवाला था, पर औद्योगिक अवस्था के उत्पन्न होने पर परस्पर हित के विचारों ने राष्ट्रों के बीच भ्रातृ-भाव को विकसित किया। एक-दूसरे का विरोध कर कोई

---

१. डाटा ऑव एथिक्स, सेक्शन ५०

भी राष्ट्र अपने व्यापार को क्षतिग्रस्त करना नहीं चाहेगा। इसी प्रकार एक अन्य आर्थिक विचारक नारमन ऐंजिल (Norman Angell) का मत है कि राष्ट्रों को यदि आर्थिक अन्योन्याश्रित या परस्परावलम्बन की पूर्ण जानकारी प्राप्त हो जाय तो अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष स्वतः ही समाप्त हो सकते हैं। यहाँ यह संकेत कर देना अप्रासंगिक न होगा कि भारत-पाकिस्तान के बहुत-से झगड़े स्वतः समाप्त हो जायँगे यदि दोनों को (विशेषकर पाकिस्तान को) यह जानकारी हो जाय कि दोनों की आर्थिक परिस्थितियाँ एक-दूसरे की परिपूरक हैं। भारत के पास पर्याप्त कोयला है, पाकिस्तान के पास कोयला नहीं है। पाकिस्तान के पास जूट है, भारत के पास जूट की मिलें हैं। दोनों की अर्थ-व्यवस्था परिपूरक हैं। कुछ ऐसे समाज-दार्शनिक हुए हैं जिन्होंने इतिहास की आर्थिक व्याख्या प्रस्तुत की है। कॉर्ल मार्क्स (Karl Marx) और उसके अनुयायियों के अनुसार मानव-जीवन में जितनी क्रान्तियाँ हुई हैं, उनकी जड़ें तत्कालीन औद्योगिक और व्यापारिक दशाओं में पायी जा सकती हैं। प्रोफेसर मार्शल (Prof. Marshall) का कथन है कि मानव-जीवन में जितनी क्रान्तियाँ हुई हैं उनके कारण के रूप में धर्म के बाद आर्थिक स्थिति का ही स्थान आता है। इसके साथ जाति, भाषा, सामान्य शिष्टाचार और प्रथाएँ भी कुछ ऐसी वस्तुएँ हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को दृढ़ करती हैं और साथ-साथ भिन्नता होने पर एक राज्य को अन्य राज्यों से पृथक् भी करती हैं। जब तक विभिन्न राज्य अपने-आपको अन्य बातों में विजातीय समझते रहेंगे, तब तक केवल आर्थिक लाभ के कारण उनमें परस्पर सौहार्द की भावना उत्पन्न नहीं हो सकती। यदि अन्य बातों में विभिन्नता है, तो आर्थिक लाभ परस्पर सौहार्द का कारण न होकर प्रतियोगिता और विरोध का कारण बन जाता है। उदाहरण के लिए, यदि पाकिस्तान भारत से कोयला खरीदे, तो उससे भारत और पाकिस्तान दोनों को लाभ पहुँचे, पर भारत का अहित करने के लिए पाकिस्तान कई गुने अधिक दाम पर अन्य देशों से कोयला खरीदता है। भारत चाहता है कि पाकिस्तान, अफगानिस्तान के फलों को अपने क्षेत्र से भारत में आने दे और इसके बदले में वह पाकिस्तानी माल को अपने क्षेत्र से नेपाल जाने की अनुमति प्रदान करेगा। इसमें दोनों का आर्थिक लाभ है। पर अन्य बातों की विभिन्नता के कारण केवल आर्थिक आधार पर उनके बीच अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध में प्रगति नहीं हो पा रही है। अतः इससे निष्कर्ष निकलता है कि केवल आर्थिक व्यापार के द्वारा राष्ट्रों में एकता स्थापित नहीं की जा सकती। जर्मनी ने इस बात पर विशेष बल दिया है। स्पेन्सर का यह कथन है कि किसी राष्ट्र के औद्योगीकरण के कारण सैनिकवाद (Militarism) में कमी आती है, ठीक नहीं है। जर्मनी का औद्योगीकरण और सैनिकवाद इसका ज्वलन्त उदाहरण है।

उपर्युक्त अपवादों के बावजूद इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि उद्योग और वाणिज्य अन्तर्राष्ट्रीय संगठन में पर्याप्त सहायक होते हैं। कुछ आर्थिक वस्तुओं के विषय में तो यह बात बिलकुल ही सत्य है। स्पिनोजा ने ठीक ही कहा है कि कुछ वस्तुएँ ऐसी हैं कि वे "सबके लिए सामान्य होती हैं और सब लोग उनका समान उपभोग कर सकते हैं।" यह बात सभी आर्थिक वस्तुओं के लिए सही नहीं है। कुछ आर्थिक

वस्तुएँ प्रतिष्ठा की होती हैं जिन्हें प्रत्येक राष्ट्र अपने अधिकार में रखना चाहता है। यही प्रतिष्ठा की वस्तुएँ (Prestige Goods) संसार में औद्योगिक अशान्ति का कारण होती हैं। कुछ आर्थिक वस्तुओं की अनिश्चत सीमा तक वृद्धि करके उनका सारे विश्व में वितरण किया जा सकता है। अमेरिका गेहूँ, पुस्तकें इत्यादि वस्तुओं को सस्ते दाम में बेचकर अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में पर्याप्त वृद्धि कर रहा है। जिन वस्तुओं का आसानी से विनिमय-वितरण किया जा सकता है, वे दूसरों की भाषा, विचार और संचार के साधनों को जानने के लिए प्रेरणा देती है जिससे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में पर्याप्त वृद्धि होती है। यातायात के साधनों जैसे हवाई जहाज, समुद्री जहाज, रेलवे इत्यादि का स्वरूप बहुत कुछ अन्तर्राष्ट्रीय होता है जिनके कारण विभिन्न राष्ट्रों के बीच की सीमाएँ कृत्रिम दिखाई देने लगती हैं। उद्योग और व्यापार में काम आने वाला श्रम का स्वरूप भी बहुत कुछ अन्तर्राष्ट्रीय होता है। अब तो एक देश का श्रमिक दूसरे देशों के कामों में भी हाथ बँटाने लगा है जिसके कारण अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के दृढ़ होने में पर्याप्त सहायता मिली है।

४. युद्ध और शान्ति
(War and Peace)

ऊपर हमने अन्तर्राष्ट्रीय कानून की स्थापना में अनेक कठिनाइयों की ओर संकेत किया था। इसके साथ-साथ यह भी कहा गया कि प्रत्येक अवस्था में उद्योगवाद (Industrialism) अन्तर्राष्ट्रीय एकता में वृद्धि नहीं करता। इसकी कई प्रागपेक्षाएँ होती हैं जो आसानी से उपलब्ध नहीं होतीं। अतः, अन्तर्राष्ट्रीय कानून और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार-सम्बन्ध के होते हुए भी राज्यों के बीच संघर्ष की सम्भावना बनी ही रहती है। राज्य के भीतर संघर्षों को सामान्यतया कानून की शक्ति द्वारा हल किया जा सकता है। इसमें कोई विशेष कठिनाई नहीं होती। यदि किसी राज्य में विभिन्न राष्ट्र (राष्ट्रीयता) सम्मिलित हैं और वे कुछ अंशों में अपनी स्वतन्त्रता अक्षुण्ण रखना चाहते हों तो उनमें गृह-युद्ध हो सकता है। पर यदि अन्य राष्ट्र इन संघर्षरत राष्ट्रों का साथ न दें तो राष्ट्रीय कानून द्वारा इनका भी निपटारा आसानी से किया जा सकता है। पर जब हम स्वतन्त्र और प्रभुतासम्पन्न राज्यों के बीच संघर्ष की स्थिति में आ जाते हैं तो इससे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को विशेष खतरा उत्पन्न हो जाता है और उसका निपटारा भी आसानी से नहीं हो पाता। कभी-कभी तो यह कहा जाता है और कि कुछ परिस्थितियों में युद्ध अनिवार्य होता है क्योंकि प्रभुत्व-सम्पन्न राज्यों के ऊपर ऐसी कोई उच्च शक्ति नहीं होती जिसके प्रति वे उत्तरदायी हो सकें। दो स्वतन्त्र राज्यों में अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के नाम पर युद्ध अनिवार्य और अवश्यम्भावी हो जाता है। यहाँ सर्वप्रथम हम कुछ ऐसे तर्कों का विवेचन करेंगे जो युद्ध की अनिवार्यता प्रगट करते हैं और घोषित करते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के समुचित समाधान के लिए युद्ध के सिवा अन्य कोई विधि वांछनीय नहीं हो सकती—

१. युद्ध की अनिवार्यता का प्रथम कारण है राज्यों की सम्प्रभुता। जब दो राज्यों के बीच कोई विवाद खड़ा होता है तो किसी उच्चतर सत्ताधिकार को अपील करने का

अर्थ होगा—अपने समुदाय के कल्याण और रक्षा के अधिकार की सम्प्रभुता का त्याग जो कोई भी स्वाभिमानी राष्ट्र स्वीकार नहीं करेगा। अपने समुदाय के हित-साधन तथा राष्ट्र के स्वाभिमान के प्रश्न कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण होते हैं कि कोई भी सम्प्रभु-राज्य किसी अन्य बाह्य-शक्ति को उन पर निर्णय करने का अधिकार समर्पित नहीं कर सकता। यदि दो राज्यों के बीच झगड़े की स्थिति आ जाय तो सम्प्रभुता के समर्थकों का कथन है कि राज्य को पूर्ण अधिकार है कि वह किसी भी कीमत पर अपने हितों की सुरक्षा करे। कभी-कभी तो यहाँ तक कहा जाता है कि ऐसे मामलों में उसकी शक्ति ही उसकी वैधानिक और नैतिक सीमाओं का निर्णय करती है। इस प्रकार के विचार का उस सिद्धान्त से घनिष्ठ सम्वन्ध है जिसके अनुसार राज्य का सार उसकी शक्ति है और उसके कार्य नैतिक विचारों द्वारा प्रतिबन्धित नहीं किये जा सकते। पर यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि सैन्य-शक्ति का प्रयोग राज्य के कार्यों का केवल एक ही पहलू है और वह भी एकांगी है। शक्ति का प्रयोग राज्य का स्वभाव नहीं होना चाहिए। उसका प्रयोग नैतिक दृष्टिकोण से ही किया जाना चाहिए। किन्तु यह भी कहा जा सकता है कि कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में नैतिक मान्यताओं की अपेक्षा समुदाय के कल्याण को ध्यान में रखकर राज्य को शक्ति का प्रयोग करना अनिवार्य हो जाता है। ऐसी स्थिति में जनता का कल्याण ही सर्वश्रेष्ठ कानून है। यदि राज्य अपने इस परम उद्देश्य को चरितार्थ करने की शक्ति रखता है, तो वही उसके लिए न्याय है। यह ठीक है कि यदि किसी राज्य के लिए, शक्ति के अभाव में, किसी लक्ष्य को प्राप्त करना असम्भव है, तो उसके लिए किये गये प्रयत्न को उचित नहीं ठहराया जा सकता; किन्तु यदि कोई वस्तु वांछनीय है और उसे प्राप्त करने की शक्ति भी विद्यमान है, तो उसे शक्ति का प्रयोग करके अवश्य प्राप्त कर लेना चाहिए। राज्य का यह परम कर्त्तव्य है कि वह अपने पास शक्ति का इतना भण्डार रखे जिससे कि उसके उच्चतम लक्ष्यों की प्राप्ति आसानी से हो सके। शायद इसी लक्ष्य को ध्यान में रखकर कार्लाइल (Carlyle) और ट्रेटस्की (Treitschke) ने शक्ति (Might) और न्याय (Right) के बीच तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित किया था। किन्तु यहाँ ध्यान में रखने की बात यह है कि राज्य को लोक-कल्याण का स्पष्ट ज्ञान होना चाहिए और यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि इस लोक-कल्याण की प्राप्ति का युद्ध के सिवा क्या कोई अन्य विकल्प नहीं हो सकता? सभी उपायों के असफल होने पर ही युद्ध का सहारा लेना चाहिए।

२. युद्ध के पक्ष का समर्थन करने वालों का एक तर्क यह भी है कि युद्ध मनुष्य के भीतर कुछ उदात्त गुणों को उत्पन्न करता है जो शान्ति के समय में क्षीण और कभी-कभी प्रभावहीन भी हो जाते हैं। युद्ध साहस, आत्म-बलिदान, मैत्री-भावना, सामान्य हित के प्रति समर्पण के भाव को प्रोत्साहित करता है तथा दया, शौर्य और महानता के लिए एक नया क्षेत्र प्रदान करता है। किन्तु युद्ध का एक दूसरा पक्ष भी है और वह यह है कि कभी-कभी युद्ध की भयानकता इन उदात्त गुणों को सदा के लिए समाप्त भी कर देती है। इतना होते हुए भी यह देखा जाता है कि युद्ध

के संकट के समय महान् साहित्य और उच्चतम कला की सृष्टि होती है। रस्किन ने इस बात को स्वीकार किया था। इसी बात को ध्यान में रखकर नीत्शे (Nietzsche) ने कहा था, "धर्म-युद्ध किसी भी वस्तु को पवित्र बना देता है।"[१] लंका और कुरुक्षेत्र के युद्ध ने ही रामचरितमानस और महाभारत जैसे महाकाव्यों को सम्भव बनाया। युद्ध-काल में बड़े-बड़े अनुसंधान और वैज्ञानिक आविष्कार किये जाते हैं। संसार की सभी बुराइयों में कुछ-न-कुछ अच्छाई अवश्य पायी जाती है। इसी सन्दर्भ में जो शान्तिवादी हैं वे भी कभी-कभी युद्ध की नैतिक सम्भावना को स्वीकार करते हैं। सच बात तो यह है कि मानव-जीवन का विकास ही निम्न स्तर से उच्च स्तर की ओर हुआ है। मानव अस्तित्व ही संघर्ष का परिणाम है। यही कारण है कि सहसा हम संघर्ष-विहीन जीवन के प्रति अपने को समर्पित नहीं कर पाते। विरोध, संघर्ष हमारे अस्तित्व में ही निहित है। "विरोधों के बावजूद मैं प्रयत्न करता हूँ", मानव-जीवन में निहित अन्तर्द्वन्द्व को व्यक्त करता है। संघर्ष करना हमारा स्वभाव है। संघर्ष का रूप भले ही परिवर्तित कर दिया जाय, पर संघर्ष अवश्यम्भावी है। अतः, युद्ध अनिवार्य है।

(३) युद्ध की अनिवार्यता के पक्ष में तीसरी बात जो कही जाती है वह यह है कि विकासवाद के आधुनिक सिद्धान्त के अनुसार जीवन की उच्चतर श्रेणियों का विकास संघर्ष पर आधारित है जिसमें निम्न स्तर श्रेणियाँ तो नष्ट हो जाती हैं और उच्चतर श्रेणियाँ सुरक्षित रह जाती हैं। पर इसके विपरीत यह कहा जा सकता है कि यह कोई निश्चित नहीं है कि जो नष्ट हो जाता है वह निम्न कोटि का है और जो सुरक्षित बचता है वह उच्चतर कोटि का है। देखा यह जाता है कि जो श्रेणियाँ अपने को परिस्थिति-विशेष के अनुकूल बना लेती हैं वे तो सुरक्षित रहती हैं और जो केवल आदर्श को ही लक्ष्य बनाये रहती हैं, वे नष्ट हो जाती हैं। यदि किसी देश में सेना प्रजातन्त्र का गला घोंट कर शासन-सूत्र अपने हाथ में ले लेती हैं तो इसका यह अर्थ नहीं है कि सैनिकतन्त्र प्रजातन्त्र से उच्चतर शासन-प्रणाली है। व्यक्तियों के विषय में तो यह बात और भी सत्य सिद्ध होती है। युद्ध में सर्वाधिक बलवान और गुणवान् ही नष्ट होते हैं। इसके साथ यह बात भी सर्वविदित है कि जैसे-जैसे हम जीवन का विकास करते हैं, वैसे-वैसे युद्ध या संघर्ष द्वारा नहीं, बल्कि चेतन चयन और चेतन प्रयास द्वारा ही हम उच्चतर श्रेणी की ओर अग्रसर होते हैं। संघर्ष के स्थान पर सहयोग, स्वास्थ्य, शिक्षा, जीवन की सुन्दरतम परिस्थितियों इत्यादि द्वारा मानव-जाति का अधिक विकास किया जा सकता है।

इस विषय में मॉन्स० जे० नोविको (Mons. J. Novicow) ने पर्याप्त प्रकाश डाला है। उनका कथन है कि मानव-प्रकृति अपने अस्तित्व के लिए जिस संघर्ष पर आधारित है, वह अपने साथियों के विरुद्ध नहीं, बल्कि प्रकृति की शक्तियों के विरुद्ध होता है। प्रकृति के विरुद्ध संघर्ष को ही विलियम जेम्स (William James) ने युद्ध का नैतिक समतुल्य (Moral Equivalent) माना है। कार्लाइल ने उद्योगों के अधिपति

1. A good war sanctifies any cause.

(Captains of Industry) और श्रमिकों के व्यूह (Regiments of Labour) के ऊपर जो इतना अधिक बल दिया था, वह युद्ध के नैतिक समतुल्य के विचार को ही लेकर किया गया था। आधुनिक युग में कुछ लोगों ने औद्योगिक संघर्ष को अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष के नैतिक समतुल्य के रूप में ग्रहण करने का प्रस्ताव रखा है, पर यह मान्य नहीं हो सकता, क्योंकि औद्योगिक संघर्षों के अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष का रूप लेने का खतरा बना रहता है।

अतः किसी भी दृष्टि से विचार किया जाय, युद्ध अच्छी चीज नहीं है। इससे हित की अपेक्षा अहित होने की सम्भावना अधिक होती है। फिर भी किसी राज्य के लिए युद्ध के उन्मूलन की बात सोचना बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं होगा। शक्ति द्वारा भी बहुत-सी समस्याएँ आसानी से हल हो जाती हैं। पर इसका यह अर्थ नहीं है कि हमें युद्ध के लिए आक्रामक रूख अपनाना चाहिए; इसका अर्थ केवल इतना ही है कि यदि कोई राज्य हमारे ऊपर युद्ध थोप ही देता है तो उसके प्रतिकार के लिए हमारे पास पर्याप्त शक्ति संचित होनी चाहिए। पंचशील का अफीम खाकर भारत ने अपनी सुरक्षा के लिए शक्ति की अवहेलना की, जिसका परिणाम हुआ भारत की १९६२ के युद्ध में चीन द्वारा पराजय। कूटनीति भी तभी सफल होती है जब उसके पीछे पर्याप्त शक्ति होती है। कूटनीति शक्ति का स्थानापन्न नहीं हो सकती। शान्ति का अर्थ संघर्ष का आत्यन्तिक अभाव नहीं, वरन् मानवता के उच्चतर लक्ष्यों की सिद्धि के प्रयास की विजय है। ऐसा होने पर ही हम सैनिक आदर्शों के स्थान पर दूसरे आदर्शों को रख सकेंगे। नीत्शे का आदर्श था—"खतरे में रहना सीखो और कठोर बनो।" मानवता के उच्चतर लक्ष्यों के लिए प्रयास करते समय हमारा आदर्श होगा—"कर्मठ जीवन व्यतीत करो और आशावादी बनो।" एरिस्टॉटल ने इसी बात को अपने शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया है—"गुलामों के लिए आराम नहीं है।" इसी प्रकार 'अविश्रान्त स्वतन्त्रता' की अपेक्षा 'सुखपूर्ण वन्धन' को श्रेयस्कर नहीं माना जा सकता। शान्ति और स्वतन्त्रता वहीं सुलभ होती है जहाँ उनके योग और क्षेम के लिए प्रयास किया जाता है।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध का भविष्य

ऊपर हमने देखा कि अन्तर्राष्ट्रीयं सम्बन्ध की स्थापना में अनेक कठिनाइयाँ हैं। राष्ट्रवाद की भावना इसकी सबसे प्रबल विरोधी है। राष्ट्रवाद और अन्तर्राष्ट्रवाद के बीच किस प्रकार समन्वय स्थापित किया जा सकता है, यह आज की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण समस्या है। कुछ लोगों का विचार है कि विश्व-शान्ति और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का विकास अन्तर्राष्ट्रवाद द्वारा नहीं, बल्कि विश्व-सरकार (World-Government) द्वारा ही किया जा सकता है। पर यदि राष्ट्रीयतावाद भूतकाल की वस्तु है तो विश्व-सरकार का विचार भविष्य की वस्तु है। विश्व-सरकार से तात्पर्य उस संप्रभुतासम्पन्न परम-राज्य (Super-State) से है जिसके अधीन विश्व के अन्य राज्य होंगे। वर्तमान परिस्थिति में इस प्रकार के विश्व-सरकार की स्थापना संदेहास्पद ही है और शायद भविष्य में भी

यह कभी चरितार्थ न हो पायेगी। वर्तमान सन्दर्भ में विश्व का कल्याण स्वस्थ अन्तर्राष्ट्रीयतावाद (Internationalism) के द्वारा ही हो सकता है। अन्तर्राष्ट्रीयतावाद से हमारा तात्पर्य उस भावना से है जिसके अनुसार विश्व को एक इकाई नहीं समझा जाता, वरन् जिसके अनुसार राष्ट्रीय अस्तित्व व व्यक्तित्व को उचित महत्त्व देते हुए भी सम्पूर्ण विश्व के हित के साथ राष्ट्रीय हित का सामञ्जस्य स्थापित करने पर बल दिया जाता है। आर्थिक दृष्टि से ही नहीं, राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक इत्यादि अन्य दृष्टियों से भी संसार इतना एक हो गया है कि कहीं भी किसी प्रकार की उथल-पुथल दूसरे देशों पर प्रभाव डाले बिना नहीं रह सकती है। संसार के सभी देशों में अन्तर्निर्भरता है। अतः अन्तर्राष्ट्रीयतावाद की भावना का सहारा लिये बिना संसार का निर्वाह नहीं हो सकता।

कभी-कभी कहा जाता है कि अन्तर्राष्ट्रीयतावाद, राज्य को संकुचित कर देता है। इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों (Treaties) के विषय में कहा जाता है कि वे हस्ताक्षर करने वाले राष्ट्रों की पूर्ण स्वतन्त्रता में कुछ बन्धन अवश्य लगाती है। पर फिर इस प्रकार की सन्धियों के बिना कोई राष्ट्र सुरक्षित नहीं रह सकता। यह तभी सम्भव है जबकि सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर करने वाले राष्ट्र सन्धि के नियमों का ठीक प्रकार से परिपालन करें। केवल शान्ति के लिए ही नहीं, वरन् संघर्ष के लिए भी अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की आवश्यकता होती है। सीटो (SEATO), सेण्टो (CENTO), नैटो (NATO) और वार्सा (WARSAW) सन्धियों के मूल में यही बात है। सामान्य हित की बात ही एक राष्ट्र को दूसरे राष्ट्र के समीप ले आती है। यदि संसार के सभी राष्ट्र परस्पर-निर्भरता और सामान्य हित के भाव को मान्यता प्रदान करें, तो अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध की स्थापना बड़ी आसानी से हो सकती है। प्रत्येक राष्ट्र जो अपनी सम्प्रभुता को मूल्यवान समझता है, यह भी समझता है कि एक ऐसा सामान्य हित अवश्य है जो सर्वनिष्ठ है और वह है—अपनी सभ्यता व संस्कृति की सुरक्षा की स्वतन्त्रता। यह तभी सम्भव है जब कि सभी राज्यों में शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व की भावना विद्यमान हो। अतः, शान्ति और स्वतन्त्रता दो ऐसे परस्पर-सम्बद्ध हित हैं जो सभी राष्ट्रों के लिए सामान्य होते हैं और इसीलिए सभी राष्ट्र आपस में मिलकर इनकी रक्षा के लिए कटिबद्ध हो सकते हैं। ऐसा करने से किसी राष्ट्र की सम्प्रभुता में किसी प्रकार का व्याघात नहीं पहुँचता, वरन् उसकी सम्प्रभुता और अधिक सुरक्षित हो जाती है। शान्ति और स्वतन्त्रता राष्ट्र की सम्प्रभुता की प्रागपेक्षाएँ हैं। भय की बात केवल इतनी है कि यदि इस प्रकार निर्मित राष्ट्र-संघ स्वतन्त्रता को प्रोत्साहन देने की अपेक्षा, उसमें बाधक बनता है, तो उसकी प्रतिष्ठा कभी भी स्थिर नहीं रह सकती। कभी-कभी राष्ट्रसंघ को कुछ राज्यों की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए दूसरे राज्यों को नियन्त्रित भी करना पड़ सकता है जो बड़ा दु:खदायी और हानिकारक होता है और कभी भी कोई स्वाभिमानी राष्ट्र इसे स्वीकार नहीं कर सकता। राष्ट्रसंघ का मूल उद्देश्य शान्ति और सुरक्षा है। ये दोनों इसके

अस्तित्व के दृढ़ आधार हैं। यदि राष्ट्रसंघ के संविधान का निर्माण और परिपालन ईमानदारी से किया जाय तो यह सम्पूर्ण विश्व का अन्तःकरण बन सकता है और सभी राष्ट्रों का इसे सहयोग प्राप्त होगा। यदि कुछ बड़े राष्ट्र अपने निहित स्वार्थों की सिद्धि के लिए इसका दुरुपयोग करते हैं तो छोटे राष्ट्रों का विश्वास इस पर से उठ जायगा जो विश्व शन्ति के लिए खतरनाक होगा। अतः सभी राष्ट्रों को संयुक्त राष्ट्रसंघ को शक्तिशाली बनाने का प्रयत्न करना चाहिए।

●

१२

सभ्यता और संस्कृति

मानव-जाति की आधुनिक समृद्धि और विकास को देखकर हम कल्पना भी नहीं कर सकते कि आज से बहुत दिनों पहले एक ऐसा भी युग था जब मानव असहाय होकर प्राकृतिक शक्तियों से त्रस्त रहता था। बहुत दिनों के संघर्ष और सतत प्रयत्न के बाद ही वह अपनी बौद्धिक शक्तियों का विकास करके सभ्यता के युग में पदार्पण कर सका है। प्राकृतिक संघर्ष से ही मानव का विकास हुआ है। छः सात हजार वर्ष पहले जो संसार का स्वरूप था, अब उसमें पर्याप्त परिवर्तन हो चुका है। इस महान् परिवर्तन का कारण मानव का संगठित प्रयत्न ही है।

मानव का संगठित प्रयत्न दो दिशाओं में अग्रसर है—प्रथम, वह अपने प्रयत्न द्वारा जीवन-स्तर ऊँचा करना चाहता है। शीत, उष्णता, ताप, वर्षा इत्यादि प्राकृतिक शक्तियों को अपने अनुकूल बनाकर मानव ने अपनी भौतिक समृद्धि में पर्याप्त वृद्धि की है। रेल, तार, यन्त्र, जहाज, वायुयान, राकेट, स्पुटनिक इत्यादि ने मानव और प्रकृति को एक-दूसरे के अति निकट लाकर खड़ा कर दिया है। यह सब सभ्यता की देन है। जिस प्रक्रिया से मानव और प्रकृति के विविध तत्त्वों में समायोजन होता है उसे सभ्यता कहते हैं। जिस प्रकार बाह्य प्रकृति के साथ संघर्ष कर मनुष्य ने विशाल और विस्मयकारी सभ्यता की रचना की है, उसी प्रकार उसने अपने अन्तर्जगत् और आनुभूतिक प्रदेश के विविध तत्त्वों में भी समायोजन कर सुसंस्कृत होने का प्रयत्न किया है। जिन समस्त उपादानों, उपकरणों और सामाजिक वस्तुओं का उपयोग मनुष्य, प्राकृतिक शक्तियों के साथ संग्राम और सामञ्जस्य में करता है, उन सबका समावेश 'संस्कृति' के अन्दर हो जाता है। मालिनोवस्की[१] के अनुसार समस्त सामाजिक देनों का नाम संस्कृति है। इसमें यान्त्रिक उपादानों के साथ-साथ वह विचारों, अभ्यासों, श्रेयों आदि का भी समावेश करता है। आर्थिक संगठन, विधि और शिक्षा, संस्कृति की उपादानात्मक आवश्यकताएँ (Instrumental Imperatives) हैं। जादू-टोना, धर्म, ज्ञान और कला संस्कृति की समन्वयात्मक आवश्यकताएँ (Integrative or Synthetic Imperatives) हैं। इस प्रकार मालिनोवस्की के अनुसार, उपादानात्मक आवश्यकता और समन्वयात्मक आवश्यकता का सम्मिलित रूप ही संस्कृति है। कभी-कभी प्राचीन मानव-शास्त्रियों ने भौतिक संस्कृति और मनोवैज्ञानिक तथा सामूहिक संस्कृति शब्दों का प्रयोग किया है।

---

१. मालिनोवस्की, बी, 'कल्चर', इन्साइक्लोपीडिया ऑव द सोशल साइन्सेज, खण्ड ४, पृ० ६२१-४५

संस्कृति का इतना व्यापक अर्थ ग्रहण करने के कारण सरलतापूर्वक जीवन-यापन करने वाले मानवों के प्रायः समस्त क्रिया-कलापों, विश्वासों आदि का बोध इस एक शब्द संस्कृति से हो जाता है।

सभ्यता

सभ्यता का अर्थ

सभ्यता शब्द का सम्बन्ध 'सभा' से है। जो नागरिक और राजनीतिक सभा का सदस्य है वही सभ्य है। 'सभ्यता' इसी सभ्य शब्द की भाववाचक संज्ञा है। सभ्यता को अंग्रेजी में सिविलाइजेशन (Civilisation) कहते हैं। यह शब्द नागरिक या नगरव्यवस्था पर विशेष बल देता है। फ्रांस के तर्कवादी विचारकों ने सर्वप्रथम 'सिविलाइजेशन' शब्द का प्रयोग किया। सामन्तशाही युग और अन्धकारयुग की अवस्था से अपने युग को अधिक उत्कृष्ट प्रमाणित करना ही फ्रांसीसी दार्शनिकों द्वारा इस शब्द के व्यवहार का कारण था। फ्रांस के दार्शनिक और विचारक अपने तर्कणात्मक और प्रबुद्ध युग के बड़े अभिमानी थे। अपने प्रबुद्ध युग को वे पिछले अप्रबुद्ध युग से अधिक महत्त्वपूर्ण और श्रेयस्कर समझते थे। इसी तथ्य को व्यक्त करने के लिए उन लोगों ने 'सभ्यता' शब्द का प्रयोग किया।

सामञ्जस्य की आवश्यकता

शहरी जीवन में मानव-जीवन के विभिन्न पहलुओं का एकीकरण पाया जाता है तथा समायोजन और सामञ्जस्य की आवश्यकताएँ भी देहात के जीवन से कहीं अधिक होती हैं। शहर की आवश्यकताएँ अधिक होती हैं पर उन आवश्यकताओं को तुष्ट करने की क्षमता सीमित होती है। यही कारण है कि आवश्यकताओं और उनको तुष्ट करने वाली क्षमता के बीच सामञ्जस्य स्थापित करने के लिए नगर के लोगों को अधिक 'सभ्य' होना पड़ता है। अतः मानवीय आवश्यकताओं और उनको तुष्ट करने वाली मानवीय क्षमता के मध्य दूरी को समाप्त करने के कृत्रिम प्रयत्नों को ही सभ्यता कहते हैं।

प्रकृति-विजय के उपादान

सभ्यता का सम्बन्ध उन समस्त उपादानों और साधनों से है जिनका प्रयोग कर मानव बर्बरता की अवस्था का अतिक्रमण कर प्रकृति-विजय करने का प्रयास करता है। जब पत्थर के साधनों का प्रयोग कर मानव बहुत दरिद्रता का जीवन व्यतीत करता था; तो वह उसकी बर्बर अवस्था थी। जब लोहे का प्रयोग होने लगा, उस समय से सभ्यता प्रारम्भ होती है। मनुष्य किस प्रकार प्रकृति-निष्ठता की अवस्था को पारकर विशाल समृद्ध नगरों का निर्माण करता है, यह सभ्यता का प्रश्न है। सामाजिक, आर्थिक, यान्त्रिक और राजनीतिक जीवन को अधिक समृद्ध करना ही सभ्यता का महान् उद्देश्य है। प्राचीन काल की अविकसित समिति और सभा से आगे बढ़कर किस प्रकार बड़े-बड़े साम्राज्यों और आधुनिक काल में राज्य का विकास हुआ है, इसको समझना सभ्यता के प्रश्न को समझना है। स्वस्थ नागरिकता ही सभ्यता का मूल है। राज्य का सम्बन्ध सभ्यता से है

क्योंकि सभ्यता के विकास के साथ ही उन समस्त साधनों का विकास होता है जिनके आधार पर विस्तृत क्षेत्र के बड़े जनसमुदाय का राजकीय नियंत्रण सम्भव है। भारत में प्राचीन काल और मध्यकाल मे सारे देश को एक मजबूत केन्द्रीय सूत्र में बाँधने के प्रयत्न इसीलिए असफल हुए कि उस समय सभ्यता के साधनों की अपूर्णता के कारण सारे देश में एक केन्द्रीय नियन्त्रण को स्थापित करना अत्यन्त कठिन था। रूस और अमेरिका जैसे विशाल देशों में सभ्यता के विकास ने ही राज्य का संगठन सम्भव बनाया है। प्राकृतिक संघर्ष के सहारे सामूहिक जीवन को किस प्रकार दृढ़ और संगठित किया जायगा, यही सभ्यता का साध्य है। इससे स्पष्ट है कि समस्त सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था तथा संगठन का सम्बन्ध सभ्यता से है। दूसरी ओर यान्त्रिकता और विज्ञान की उन्नति भी सभ्यता से सम्बन्ध रखती है।

जीवन के संगठन

सभ्यता का सम्बन्ध जीवन के संगठन से है। जीवन के संगठन का अर्थ है—शक्ति की प्राप्ति। शक्ति के सहारे ही हम प्राकृतिक बाधाओं से संघर्ष करते हैं और शक्ति के द्वारा ही हमारा सामाजिक जीवन व्यवस्थित होता है। उच्छृङ्खलता, अव्यवस्था तथा मात्स्य-न्याय से मानव-सभ्यता का परिरक्षण करने में वैज्ञानिक शक्ति का बहुत बड़ा हाथ है। शक्ति की प्राप्ति और उसका वैधानिक विनियोग ही मानव-जीवन को सामाजिक जीवन की उपलब्धियों को प्राप्त करा सकता है। बर्बरता और असभ्यता के युग में शक्ति की अव्यवस्था के कारण मानव-जीवन अत्यन्त साधारण स्तर का और प्राकृतिक शक्तियों के पूर्णतः आश्रित था। आज के विद्युत् युग में जब हम उस अवस्था का काल्पनिक स्मरण करते हैं, जब मानव अग्नि का प्रयोग नहीं जानता था या जब लिखना नहीं जानता था, तब सभ्यता के विस्मयकारी उत्कर्ष का हमें पता लगता है।

सभ्यता की अपूर्णता

'सभ्यता' की उत्पत्ति मानवीय आवश्यकताओं और बाह्य वस्तुओं की आपूर्ति के बीच अन्तर से होती है। यह अन्तर जितना ही अधिक होगा, सभ्यता की उतनी ही अधिक आवश्यकता पड़ती है। पर सभ्यता हमारी आवश्यकताओं में वृद्धि भी करती है जिनकी पूर्ति के लिए हमें अधिक सभ्य होना पड़ता है। इस प्रकार आवश्यकता—सभ्यता—आवश्यकता—सभ्यता का चक्र अनवरत रूप से चलता रहता है जिसका अन्त हमारी दृष्टि में कहीं भी दिखाई नहीं पड़ता। अतः स्पष्ट है कि सभ्यता की इन आकर्षक और जीवनोपयोगी वस्तुओं से ही कार्य नहीं चल सकता। हमें उन वस्तुओं की भी आवश्यकता है जिनका स्वतः ही महत्त्व है। प्लेटो[1] ने वस्तुओं को तीन भागों में विभाजित किया है—

(क) वे वस्तुएँ जिनका उनके परिणाम के लिए नहीं, अपितु अपने लिए ही महत्त्व है। जैसे क्रीडा, कला, काव्य, आनन्द के साधन इत्यादि।

(ख) वे वस्तुएँ जो स्वतः नहीं, किन्तु अपने परिणाम के लिए वांछित हैं जैसे

१. प्लेटो, रिपब्लिक, वुक III।

शारीरिक श्रम, डॉक्टर का पेशा और अन्य अर्थोपार्जन कर्म। ये स्वतः अभिप्रेत नहीं हैं, अपितु अन्य परिणामों के लिए इनका महत्त्व है।

(ग) वे वस्तुएँ जिन्हें हम स्वतः भी और उनके परिणाम के लिए भी अच्छा समझते हैं। जैसे—शुद्ध विचार, स्वास्थ्य आदि।

अतः संसार में कुछ वस्तुएँ ऐसी हैं जिनका हम साधारण रूप में ही उपयोग करते हैं। चिकित्सालय हम किसी निमित्त से ही जाते हैं। यदि रोग न हो तो कोई भी चिकित्सालय न जाय। किन्तु कला, काव्य, संगीत का आनन्द सतत आह्लादकारी होता है और इन्हें हम साधन रूप में नहीं, वरन् साध्य रूप में ही ग्रहण करते हैं। सभ्यता का सम्वन्ध उन समस्त आवश्यक और उपयोगी वस्तुओं से है जो मानव-जीवन को सुखी बनाती है। किन्तु संस्कृति, इन्द्रिय ग्राह्य सुखों से भी ऊपर की अवस्था 'आनन्द' का अनुसंधान करती है जिस पर अव हम विचार करेंगे।

संस्कृति

संस्कृति का अर्थ

संस्कृति शब्द प्राचीन भारतीय साहित्य में मिलता है। यजुर्वेद में लिखा है, "विश्ववारा संस्कृति का संदेश वेद में प्राप्त होता है।"[१] संस्कृति शब्द संस्कार से व्युत्पन्न है। जो हम कर्म करते हैं और उनका जो परिणाम होता है उसे ही हम संस्कार कहते हैं। दूसरे कर्म का हमारे मन पर जो परिणाम होता है उसे भी संस्कार कहते हैं। साधारणतया 'संस्कार' शब्द में हम बुरे संस्कारों को नहीं गिनते। उन्हें अलग से कुसंस्कार कहकर पुकारते हैं। चरित्रवान और रूपवान के समान ही जब हम किसी व्यक्ति को संस्कारी कहते हैं तो उसका अर्थ यही है कि वह अच्छे संस्कारों वाला व्यक्ति है। अतः **अच्छे संस्कारों के परिणाम और भाव को ही हम संस्कृति कहते हैं।** व्यक्ति में अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के संस्कार एवं गुण हैं। वह अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के कर्म करता है। वह देवता और दानव दोनों है। इस कारण उसके चरित्र के अच्छे और बुरे दोनों पहलू होते हैं। इस सम्पूर्ण चरित्र, कर्म और संस्कारों का समुच्चय ही मनुष्य का 'व्यक्तित्व' (Personality) होता है। व्यक्तित्व में अच्छे और बुरे दोनों गुण होते हैं। इस सम्पूर्ण व्यक्तित्व में जो बुरे अवयव हैं उन्हें पृथक् कर जो अच्छे अवयव शेष रहते हैं, उन्हें मनीषियों ने 'शील' नाम दिया है। इस शीलयुक्त संस्कारों के परिणाम को ही संस्कृति कहा जाता है।

नैतिक मानदण्ड

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि अच्छे और बुरे कर्म का नैतिक मानदण्ड क्या है? देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक राष्ट्र का अच्छे और बुरे का अलग-अलग मानदण्ड है। इसी भिन्नता के कारण ही एक देश और दूसरे देश की संस्कृति में अन्तर आ

१. अच्छिन्नस्य ते देव सोम सुवीर्य्यस्य रायस्पोषस्य ददितारः स्याम।
सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा स प्रथमो वरुणो मित्रोऽअग्निः॥ (यजुर्वेद ७/१४)

जाता है। इसी भिन्नता के परिणामस्वरूप ही राष्ट्रों के व्यवहारों में भी पर्याप्त अन्तर आ जाता है। उदाहरण के लिए भारत में महिलाओं को हाथ-जोड़कर नमस्कार किया जाता है किन्तु यदि कोई अंग्रेज किसी संस्कारी भारतीय महिला को नमस्कार करने के लिए हाथ मिलाना चाहे, तो यह भारतीय संस्कृति के विपरीत होगा। भारत और इंगलैण्ड के अच्छे-बुरे के मानदण्ड पृथक्-पृथक् हैं। उनकी दृष्टियों में अन्तर है। इसी दृष्टि-भेद की ओर संकेत करते हुए स्वामी विवेकानन्द ने एक बार कहा था कि "इंगलैण्ड प्रत्येक चीज को पाउण्ड, शिलिंग और पेन्स में बताता है तो भारत प्रत्येक बात को धर्म की भाषा में बोलता है।" एक देश में भी कालानुसार अच्छे-बुरे कल्पनाओं में अन्तर होता रहता है। अतः, किसी काल-विशेष में अच्छे-बुरे की कसौटी यही हो सकती है कि जो अपने जीवन-ध्येय की ओर बढ़ाने में साधक हो वह अच्छा और जो अपने जीवन-ध्येय की ओर बढ़ाने में साधक न हो वह बुरा है। छोटी-सी-छोटी बातों के बारे में निर्णय लेते समय भी मनुष्य को अपने ध्येय का ध्यान रखना पड़ता है। नियम और धर्म का स्वयं कोई महत्त्व नहीं होता; लक्ष्य या ध्येय ही नियम और धर्म को महत्त्व प्रदान करता है।

जीवन-ध्येय क्या होना चाहिए?

अब प्रश्न यह है कि अपना ध्येय क्या हो जिसके परिप्रेक्ष्य में हम अच्छे और बुरे का निर्णय कर सकें। भिन्न-भिन्न देशों की जीवन-पद्धतियों में जो भिन्नता दिखाई देती है उसका क्या कारण है? क्या यह आकस्मिक है अथवा उसके पीछे जीवन का कोई मूलभूत ध्येय कार्य कर रहा है? हमारा ध्येय हमारी जातिगत विशिष्टताओं और भावनाओं द्वारा निर्धारित होना चाहिए जिसे चिति कहते हैं। यह चिति प्रत्येक जाति को भगवान् से प्राप्त होती है। जगत् ईश्वर की चेतन सृष्टि है जिसमें एक योजना है, उद्देश्य है, प्रयोजन है तथा विधान है। उसने जो कुछ भी बनाया है वे एक-दूसरे के परिपूरक हैं। अतः, सृष्टि में भिन्नता होते हुए भी लक्ष्य की एकरूपता है। इस प्रकार प्रत्येक राष्ट्र की प्रकृति, विशिष्टता, जीवन-दृष्टि तथा ध्येय भगवान् की योजनानुसार ही निश्चित हुआ होगा। यह बात व्यक्ति, जाति, समाज और राष्ट्र सभी के ऊपर एक समान लागू होती है।

उपर्युक्त सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक जाति की अपनी एक विशिष्टता होती है जो ईश्वरीय विधान के अनुसार निर्धारित होती है। इसी को चिति कहते हैं। स्वामी विवेकानन्दजी ने इसी बात को ध्यान में रखकर एक बार कहा था कि भौतिकता पश्चिम का व्यावर्तक गुण है, पर जहाँ तक भारत का प्रश्न है, उसका व्यावर्तक गुण आध्यात्मिकता ही हो सकता है। भगवान् ने भारत का निर्माण आध्यात्मिकता के विकास और प्रसार के लिए ही किया है। यही हमारी चिति है। चिति राष्ट्र की मूल-भावना होती है जो राष्ट्र के प्रत्येक घटक में सामान्य तत्त्व के रूप में विद्यमान होती है। इसी तत्त्व के आधार पर ही जीवन के सुख की कल्पना की गयी है। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने मनुष्य के 'स्वभाव' का वर्णन करते हुए इसी बात का प्रतिपादन किया है। जिस प्रकार वह तत्त्व व्यक्ति का 'स्वभाव', उसके 'स्व-धर्म' और 'जीवन-ध्येय' को निर्धारित करता है, उसी

प्रकार किसी राष्ट्र की चिति उसके धर्म और ध्येय को निश्चित करती है। चिति का धर्म और ध्येय से घनिष्ठ सम्बन्ध है। चिति ही राष्ट्र का केन्द्रबिन्दु होती है। शेष तत्त्व उसके परिपूरक होते हैं। इसके आधार पर जिन-जिन संस्कारों की सृष्टि होती है उन सबसे एवं उन संस्कारों से बनने वाले भाव को मिलाकर हम संस्कृति कहते हैं। संस्कृति एक गतिमान (Dynamic) कल्पना है, वह वर्द्धमान है, व्यापक है। पर 'चिति' जिसके आधार पर संस्कार बनते हैं, वह स्थायी है। वह भगवान् से दया-धर्म के अनुसार हमें केन्द्र-बिन्दु के रूप में प्राप्त होती है। 'चिति' के मूल ध्येय की प्राप्ति के लिए जो हम संस्कार डालते हैं, उन संस्कारों का भावात्मक रूप ही संस्कृति कहलाता है। यह गतिशील और वर्द्धमान है।

व्यष्टि और समष्टि का समन्वय

संस्कृति व्यष्टि और समष्टि अथवा व्यक्ति और समाज के हितों में समन्वय स्थापित करती है। व्यक्ति को जो कुछ प्राकृतिक विधान के अनुसार ईश्वर से प्राप्त हुआ है, उसे 'प्रकृति' कहते हैं। संसार में प्रत्येक व्यक्ति अथवा वस्तु की प्रकृति भिन्न-भिन्न है। वह अपने स्वभाव के अनुसार कार्य करती हैं। चाहे स्व-प्रेरणा से या ईश्वर की प्रेरणा से, संसार की सभी वस्तुएँ अपनी प्रकृति के अनुसार कार्य कर रही हैं। साधारणतया मनुष्य प्रकृति के अनुसार कार्य करता है, किन्तु यदि कभी वह अपनी बुद्धि के अभिमान में साधारण प्रकृति के पालन में अविचार, अतिरेक अथवा उपेक्षा कर जाता है तो वह अस्वस्थ हो जाता है। उदाहरण के लिए, बढ़िया चीज को भी अधिक खा लेने से पाचन-शक्ति खराब हो जाती है। इसे प्रकृति का अतिरेक कहते हैं जिससे प्रत्येक व्यक्ति को बचना चाहिए। प्रकृति में जब किसी प्रकार का अतिरेक किया जाता है तो उसमें विकृति उत्पन्न हो जाती है। यह उसके दुरुपयोग का परिणाम है। इस विकृति को रोकना तथा प्रकृति को ठीक-ठीक चलाये रखने का काम धर्म करता है। धर्म से ही व्यष्टि की रक्षा होती है। यदि मनुष्य अपनी प्रकृति के समस्त नियमों का पालन करता रहे, एक-दूसरे के साथ ठीक प्रकार की व्यवस्था रखे, तो कहा जायगा कि वह धर्म का ठीक प्रकार पालन कर रहा है। धर्म, संस्कृति की प्रथम सीढ़ी है।

धर्म का एक दूसरा पक्ष भी है। यदि व्यष्टि अकेले अपनी रक्षा करना चाहे तो असम्भव हो जायगा। किसी मनुष्य से सभी प्रकार के कार्य करने की आशा नहीं की जा सकती। एक व्यक्ति अन्न पैदा करता है, दूसरा कपड़ा, तीसरा मकान बनाता है तो चौथा शासन-प्रबन्ध करता है। सभी परस्पर आदान-प्रदान द्वारा ही अपनी आवश्यकताएँ पूर्ण कर सकते हैं। इस आदान-प्रदान एवं पारस्परिक सहयोग की व्यवस्था को ही समाज की व्यवस्था कहते हैं। इस व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने के लिए नियम और संविधान का निर्माण किया जाता है। ये सारे नियम और व्यवस्थाएँ केवल समाज के लिए ही नहीं, वरन् व्यक्ति की अपनी प्रकृति की रक्षा के लिए भी आवश्यक है। व्यक्ति को अपने प्राकृतिक हितों के सम्पादन के लिए व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों प्रकार के प्रयत्नों की

आवश्यकता पड़ती है। ये सभी प्रयत्न 'धर्म' के अन्दर आते हैं। इस पर आगे 'धर्म' के खण्ड में विस्तृत विचार किया जायगा।

संस्कृति और धर्म

किन्तु जब हम अपनी व्यक्तिगत प्रकृति का विचार न करके समष्टि का ही विचार करते हैं अथवा व्यक्ति की प्रकृति को समष्टि-प्रकृति अर्थात् समाज का विरोधी न बनाते हुए चलाना चाहते हैं, तब वास्तव में संस्कृति आती है। जहाँ व्यक्ति निज प्रकृति की कोई चिन्ता न करके केवल समष्टिगत एवं परार्थ भाव से कार्य करने को प्रवृत्त होता है, वहीं संस्कृति प्रारम्भ होती है। इसका अर्थ यह नहीं है कि हम स्वार्थ को पूर्णतया बुरा मानें। प्रकृति की रक्षा के लिए कुछ अंशों तक स्वार्थ बहुत ही आवश्यक है। वास्तव में स्वार्थी शब्द वहीं खराब होता है जहाँ अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए अन्यों के स्वार्थ को हानि पहुँचायी जाती है। यदि किसी के स्वार्थ को हानि पहुँचाये बिना अपना स्वार्थ पूर्ण किया जाता है, तो वह बुरा नहीं कहा जा सकता। शुद्ध परार्थभाव से किये गये कार्य ही संस्कृति के भीतर आते हैं।

संस्कृति विषयक पाश्चात्य विचारधारा

पश्चिम में संस्कृति (Culture) शब्द का प्रथम प्रयोग फ्रान्सिस बेकन (Fancis Bacon) ने किया। जर्मनी में सर्वप्रथम 'कल्चर' शब्द का प्रयोग हर्डर (Herder) ने किया। इसी प्रकार गेटे ने आध्यात्मिक संस्कृति का संदेश व्यक्त किया। उसका महाकाव्य फाउस्ट ज्ञान की खोज में निरन्तर परिश्रमशीलता का आदर्श उपस्थित करता है। काण्ट (Kant)[१] और फिक्टे (Fichte) के अनुसार स्वातन्त्र्य संस्कृति का मूल-तत्त्व है। इसी समय से जर्मनी में सभ्यता और संस्कृति में अन्तर किया जाने लगा। सभ्यता का सम्बन्ध नागरिकता और समीक्षात्मक तार्किकता से था; संस्कृति अध्यात्मवाद, विज्ञानवाद और रोमान्टिक दार्शनिकों की आत्मनिष्ठता का पोषण करती थी। नैतिकता संस्कृति का एक बृहद् अंश है। काण्ट के अनुसार कुछ महान् लक्ष्यों की प्राप्ति में मानव की शक्तियों का प्रयोग ही संस्कृति का रहस्य है। संस्कृति का सम्बन्ध मानव की अनुभूतियों से है। काव्य, कला, दर्शन, धर्म, नीति-शास्त्र, सौन्दर्यानुभूति, आनन्दोल्लास आदि का सम्बन्ध संस्कृति से है। जिन वृत्तियों, इच्छाओं और अनुभूतियों का सम्बन्ध मानव को विशालता, सामान्यहित या आत्मिक दर्शन कराने से है, उन्हें हम संस्कृति के अन्तर्गत मानते हैं। संस्कृति का सम्बन्ध मानव के स्वरूप-बोध से है। बहुत बड़ी सभ्यता का निर्माण करने के बाद भी आत्मिक वृत्तियों के उन्नयन और नैतिक तथा कलात्मक चैतन्य के उदय की दृष्टि से मानव बर्बर रह जाता है। बाह्य जगत् का नियन्त्रण ही मानव पुरुषार्थ की इतिश्री नहीं है। नेपोलियन यूरोप के बहुत बड़े भाग का विजय करने में समर्थ हुआ; किन्तु आत्मविजय के अभाव में अहंकार और भोगवादिता के वशीभूत होकर वह अपना पतन कर बैठा। हिटलर के विषय में भी यही बात सत्य है। अतः, व्यापक उन्नति के लिए

१. काण्ट, क्रिटीक् ऑव प्योर रीजन (मैक्समूलर का अंग्रेजी अनुवाद), पृष्ठ ७३०

सामूहिकीकरण और सामाजिकीकरण के साथ-ही-साथ आत्मिक, नैतिक और कलात्मक चैतन्य का सम्यक् ज्ञान होना चाहिए। ऐकान्तिक उन्नति से कार्य की सिद्धि असम्भव है।

शिक्षा और संस्कृति

शिक्षा शब्द का प्रयोग 'सीमित' और 'व्यापक' दोनों अर्थों में किया जाता है। सीमित अर्थ में शिक्षा से तात्पर्य है कि व्यक्ति को सामुदायिक जीवन में दीक्षित करने की प्रक्रिया जिससे कि वह अपने धर्म के अनुसार समाज के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन कर सके। **व्यापक अर्थ में शिक्षा का अर्थ है मानव की आध्यात्मिक प्रकृति का विकास जिसका सामुदायिक जीवन केवल एक साधन मात्र है।** शिक्षा के दोनों अर्थों में कोई विरोध नहीं है—दोनों ही एक ही प्रक्रिया के पूर्ववर्ती और परवर्ती चरण हैं। किसी विशिष्ट समाज का नागरिक बने बिना विश्व-नागरिकता की बात करना केवल पाखण्ड ही होगा। पहली बात धर्म के अन्दर आती है तो दूसरी बात संस्कृति के भीतर। गेटे (Goethe) विश्व-संस्कृति के पुजारी थे। उन्होंने अपनी शिक्षा कभी भी पूरी नहीं की, वरन् वे सदैव एक बहुत व्यापक संस्कृति के अनुशीलन में अपने जीवन के उच्चतम शिखरों को यथासम्भव उच्च बनाने में लगे रहे। इसके लिऐ गेटे को अपने देशवासियों का कोपभाजन भी बनना पड़ा। उनके ऊपर दोषारोपण किया गया कि उनमें अपने देश के राजनीतिक विकास में रुचि का नितान्त अभाव था। पर गेटे विश्व-संस्कृति के प्रतिनिधि थे। पर उन पर इस प्रकार दोषारोपण करना उनकी आत्म-संस्कृति को सीमित करना है जो ठीक नहीं है। प्लेटो और शेक्सपियर की समृद्ध मानवता पूर्ण-संस्कृति का सर्वोत्तम उदाहरण हैं। यह ठीक है कि इस प्रकार की विश्व-संस्कृति का अनुशीलन सब लोग नहीं कर सकते, पर इसका अर्थ यह नहीं है कि विश्व-संस्कृति की बात करना अव्यावहारिक है। सच बात तो यह है कि आधुनिक युग की बुराइयाँ विश्व-संस्कृति और विश्व-बन्धुत्व के प्रसार द्वारा ही दूर की जा सकती हैं। कुछ लोगों के अनुसार, संस्कृति एक विशेषाधिकार की वस्तु है जिसे सभी लोग प्राप्त नहीं कर सकते। पर टी०एच० ग्रीन (T.H. Green) ऐसे दार्शनिकों का विचार है कि संस्कृति सबका आदर्श है और उसने पूर्ण विश्वास प्रकट किया कि एक समय आयेगा जब प्रत्येक अंग्रेज एक 'भद्र-पुरुष' बनेगा। कुछ भी हो, संस्कृति प्रत्येक व्यक्ति का आदर्श है और होना चाहिए। इस पर केवल कुछ व्यक्तियों के एकाधिकार की बात सोचना ठीक नहीं है। ब्रिटेन में 'कल्चर' का सम्बन्ध हॉर्टीकल्चर (Horti-culture) से है तो जर्मनी में कल्चर का सम्बन्ध एग्रीकल्चर (Agriculture) से है। एक में व्यक्ति के विकास की उपमा स्वतन्त्र वातावरण में विकसित 'फल' से दी गयी है। मैथ्यू ऑर्नाल्ड (Mathew Arnold) के अनुसार 'माधुर्य और प्रकाश' (Sweetness and Light) संस्कृति के प्रमुख अवयव हैं। 'माधुर्य' और 'प्रकाश' शब्दों से संस्कृति के वैयक्तिक और सामाजिक दोनों पहलुओं का सन्निवेश हो जाता है।

पांडित्य, विज्ञान और संस्कृति

किसी विशिष्ट विषय के विशिष्ट ज्ञान को पांडित्य कहते हैं। पांडित्व की

विशेषता यह है कि इसमें किसी विशिष्ट विषय पर पर्याप्त ज्ञात तो अवश्य होता है, पर इस विशिष्ट ज्ञान का सामान्य ज्ञान में क्या स्थान है, इसके मूल्यांकन का अभाव पाया जाता है। विशिष्टीकरण पांडित्य की ओर अवश्य ले जाता है। पांडित्य, विशिष्टीकरण का अनिवार्य परिणाम है। इसकी तुलना एक 'दुकान' से की जा सकती है जो विशिष्ट वस्तुओं को विक्री के लिए प्रदर्शित करती है। इसके विपरीत, **सुसंस्कृत मनुष्य** (Cultivated Man) वह है जिसे कुछ उपयोगी ज्ञान है और जिसका वह सही मूल्यांकन भी करना जानता है तथा जिसे वह उचित स्थान पर सँजोकर रखता है।

यहाँ पर ध्यान रखने की बात यह है कि संस्कृति भी यदि अपनी सहजता और स्वाभाविकता छोड़कर केवल आडम्बर मात्र रह जाय, तो उसे पांडित्य की संज्ञा दी जा सकती है। यहाँ तक कि धर्म भी यदि उसे किसी कठोर साम्प्रदायिक चहारदीवारी में बन्द कर दिया जाय तो पांडित्य का स्थान ले लेता है। वास्तविक रूप में **सुसंस्कृत व्यक्ति वह है जो विशेषज्ञ होने की अपेक्षा प्रेयानुशीली (Amateur) और अनुरागी (Lover) अधिक है।** इतिहास की विशिष्ट वस्तुओं का निर्माण महान् प्रेमियों, सन्तों और वैज्ञानिकों तथा कलाकारों ने ही अधिक किया है।

इसी प्रकार विज्ञान को कभी-कभी संस्कृति का विरोधी समझा जाता है। 'विज्ञान' शब्द का प्रयोग आजकल तथ्यों के संकलन तथा प्राविधिक उपयोग के साधन के रूप में किया जाता है। पर इसके अतिरिक्त विज्ञान का सांस्कृतिक महत्त्व भी है। विज्ञान के सांस्कृतिक महत्त्व को न समझे जाने का मुख्य कारण इस शब्द का संकुचित प्रयोग है। किसी विशिष्ट क्षेत्र के सही और व्यवस्थित ज्ञान को ही विज्ञान कहते हैं। व्यवहार में इस परिभाषा का भी ठीक प्रकार पालन नहीं किया जाता। व्यवहार में यह शब्द मुख्यतः प्राकृतिक और भौतिक विज्ञानों के लिए प्रयुक्त होता है। मानव-प्रकृति, मानव-समाज, मानव-संस्थाएँ, मानव इतिहास और मानवीय भाषाएँ ठीक उसी प्रकार वैज्ञानिक अध्ययन के विषय हैं जिस प्रकार निर्जीव प्रकृति की शक्तियाँ अथवा निम्नतर प्राणियों का जीवन। पर विज्ञान का सबसे बड़ा दोष यह है कि इसके भीतर विशेषज्ञ-दोष पाया जाता है जिसके कारण वैज्ञानिक विज्ञान द्वारा प्राप्त सांस्कृतिक निष्कर्षों को समझने में असफल रहता है। वैज्ञानिक अध्ययन द्वारा प्राप्त पूर्ण सांस्कृतिक परिणामों को ग्रहण करने के लिए आवश्यक है कि विभिन्न विज्ञानों के पारस्परिक सम्बन्ध को हृदयंगम किया जाय। यह तभी सम्भव है जब प्रारम्भिक अवस्था में विज्ञानों के विशिष्ट अध्ययन के स्थान पर उनका केवल सामान्य अध्ययन ही किया जाय तथा चारों ओर की वस्तुओं के आन्तरिक सम्बन्धों को समझने की चेष्टा की जाय। पुनः, विशिष्ट विज्ञानों के विशिष्ट अध्ययन के उपरान्त उनके सामान्य सम्बन्धों पर पुनर्विचार किया जाय। इसके लिए तर्क-विज्ञान (Logic) और तत्त्व-विज्ञान (Metaphysics) का अध्ययन विशेष उपयोगी हो सकता है। जब तक हम समष्टि-मन तथा विश्वात्मा का ज्ञान प्राप्त नहीं कर लेते, तब तक हमें न तो संस्कृति का ज्ञान हो सकता है और न हम सुसंस्कृत ही कहे जा सकते हैं।

कला, साहित्य और संस्कृति

कला, विज्ञान की अपेक्षा अधिक वैयक्तिक और अधिक सृजनात्मक होती है। विज्ञान यदि विश्लेषणात्मक है तो कला संश्लेषणात्मक और समन्वयात्मक। कला किसी मूल्यात्मक वस्तु का वैयक्तिक साक्षात्कार तथा उस वस्तु की सृजनात्मक व्याख्या है जो दूसरों को प्रभावित तथा शाश्वत आनन्द देने वाली होती है। संगीत के विषय में भी यही बात सत्य है। ब्राउनिंग (Browning) ने एक बार कहा था कि "जब दो स्वर-लहरियाँ मिलती हैं तो वे एक तीसरी स्वर-लहरी का निर्माण नहीं करतीं, वरन् एक सितारे (Star) का निर्माण करती हैं।" किसी भी प्रकार की कला क्यों न हो, उसमें कम-से-कम तीन बातों का होना नितान्त आवश्यक है—

(१) किसी मूल्यात्मक वस्तु का वैयक्तिक साक्षात्कार।

(२) उस वस्तु की सृजनात्मक व्याख्या।

(३) उक्त सृजनात्मक व्याख्या की प्रभविष्णुता।

सभी स्थानों पर किसी के मस्तिष्क की एक सृजनात्मक व्याख्या ही दूसरों के हृदय में प्रभाव उत्पन्न करती है। कलात्मक सृष्टि की प्रभविष्णुता का रहस्य यह है कि स्वभाव की भिन्नता के कारण हमारी कल्पनाएँ भले ही भिन्न हों पर उनके अर्थरूप में हमारी भावनाएँ, संवेग और स्थायी-भाव समान ही हैं। बिना सामान्य आधार के न तो 'साधारणीकरण' हो सकता है और न 'तादात्म्य' ही, जो कला के मूल्यांकन के लिए आवश्यक है।

विज्ञान का लक्ष्य है 'सत्य' की प्राप्ति, पर कला का लक्ष्य है सौन्दर्यानुभूति। कला के विषय कुरूप हो सकते हैं और यथार्थवादी कला में वे उसी रूप में प्रस्तुत भी किये जाते हैं पर विज्ञानवादी कला में उन्हीं यथार्थ रूपों को संकल्पनात्मक सृजन द्वारा सौन्दर्यपूर्ण बना दिया जाता है। यथार्थ, आदर्श और सौन्दर्य के साथ-साथ कला में नवीनता भी होनी चाहिए। कला के विषय सामान्य होते हुए भी उनके व्यक्तीकरण की नवीनता ही कला का सृजन करती है। महान् कला जीवन की सामान्यरूपता के बीच नवीनता के विधान का कठिन कार्य करती है।[१] कुछ कलात्मक वस्तुएँ इतनी सरल और आकर्षक होती हैं कि साधारण असंस्कृत व्यक्ति भी उनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। अन्य सुन्दर और कलात्मक वस्तुएँ कठिन होती हैं जिनके मूल्यांकन के लिए एक गहन अनुभूति और कलात्मक रसास्वादन के अनुशीलन की आवश्यकता होती है। प्रकृति में जिस प्रकार के सौन्दर्य का मूल्यांकन करना हम सीख गये हैं वैसा आदिम लोगों के लिए सम्भव नहीं था। कुछ अंशों में उन विकसित मस्तिष्क वालों के लिए भी यह असम्भव है जिन्होंने जीवन में कलात्मक रसास्वादन का अभ्यास नहीं किया है। कला के मूल्यांकन के लिए कला को एक कलाकार की दृष्टि से देखने की आवश्यकता होती है। यह दृष्टि या तो नैसर्गिक प्रतिभा के रूप में ईश्वरीय वरदान होती है या कलात्मक अभिव्यक्ति का परिणाम होती है। कलात्मक अनुशीलन जन्मजात और अर्जित दोनों हो

१. डॉ० देवराज, न०कि० : संस्कृति का दार्शनिक विवेचन, पृ० २३२

सकता है। अतः यदि मान लिया जाय कि सौन्दर्यानुशीलन सम्पूर्ण मानव-जीवन के मुख्य कार्यों में से एक है तो संस्कृति का यह रूप अनिवार्य ही समझना चाहिए। संस्कृति मानव-मात्र को एक सामान्य मंच पर लाकर खड़ी कर देती है। इसका सम्बन्ध वैयक्तिक आत्मा से न होकर जातीय या विश्वात्मा से होता है।

जो बात कला के लिए सही है, वही बात साहित्य के लिए भी सही है। उच्चकोटि के पद्य-काव्य साहित्य में कम, पर कला के क्षेत्र में अधिक आते हैं। गद्य-काव्य भी यदि वह साहित्य की श्रेणी में आ सकता है तो उसे 'कलात्मक' की संज्ञा दी जा सकती है। कॉलरिज (Coleridge) ने प्रतिपादन किया था कि कविता का विरोधी गद्य नहीं, वरन् विज्ञान है। गेटे (Goethe) का भी प्रायः यही विचार है। किन्तु देखा यही जाता है कि साहित्य में कला और विज्ञान दोनों की विशेषताएँ समन्वित होती हैं। साहित्य हमें बताता है कि सौन्दर्य क्या है, पर वह उसे शुद्ध कला के रूप में अभिव्यक्त नहीं करता अपितु कुछ अंशों में उसकी व्याख्या और विश्लेषण भी करता है। यह बात पद्य और गद्य दोनों प्रकार के साहित्य पर लागू होती है। पोप और ब्राउनिंग द्वारा लिखित साहित्य काव्यात्मक होने के साथ-साथ विचारात्मक और तार्किक दोनों है। भारत में तुलसी, पन्त, निराला और महादेवी के साहित्य में कला-पक्ष के साथ-साथ ज्ञान-पक्ष भी है। ऐसे काव्य शुद्ध कला के भीतर नहीं आ सकते। सच पूछा जाय तो साहित्य का सम्बन्ध शुभ से है जबकि विज्ञान का सम्बन्ध सत्य से तथा कला का सम्बन्ध सौन्दर्य से है। पर साहित्य की विशेषता यह है कि यद्यपि इसका मुख्य सम्बन्ध शुभ से है, यह सत्य और सौन्दर्य की भी अभिव्यक्ति करता है। अतः संस्कृति के सभी उपादानों में साहित्य सर्वाधिक पूर्ण मानवीय है और इसी रूप में इसका वर्णन भी होना चाहिए। यह उस मूल्य की व्याख्या करता है जिसे कला अभिव्यक्त करती है तथा यह उस सत्य को अभिव्यक्ति प्रदान करता है जिसे विज्ञान खोजता है।

साहित्य किसी देश की संस्कृति का दर्पण होता है। साहित्य के सभी महत्त्वपूर्ण पात्र प्रतिनिधि (Type) होते हैं जो उस देश के विभिन्न जीवन-रूपों तथा जीवन-प्रवृत्तियों को अभिव्यक्त करते हैं। साहित्य किसी देश के 'समष्टि मन' (Group mind) का प्रतीक होता है, अतः वह हमारी संस्कृति को अभिव्यक्त करता है। कुछ साहित्य तो ऐसे होते हैं जैसे गीता, रामचरितमानस इत्यादि जो विश्वात्मा (World-Soul) को व्यक्त करते हैं। अतः उनका सर्वाधिक सांस्कृतिक महत्त्व होता है।

दर्शन, वैयक्तिक अनुभूति और संस्कृति

दार्शनिक साहित्य किसी देश की संस्कृति के वास्तविक प्रतीक होते हैं। भारतीय दर्शन, भारतीय संस्कृति का प्राण है। यही बात अन्य देशों की संस्कृतियों के लिए भी लागू होती है। दर्शन विज्ञान को सर्वोच्च महत्त्व देता है तथा काव्य और धर्म से उसे विभूषित करता है। दर्शन का कुछ भाग विशुद्ध वैज्ञानिक ही होता है। तर्क-शास्त्र, मनोविज्ञान, नीतिशास्त्र और तत्त्व-विज्ञान का विज्ञान से विशेष सम्बन्ध होता है। किन्तु दर्शन के विमर्शात्मक (Speculative) पक्ष का लक्ष्य विश्व को एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण से

देखना है। दर्शन की यह समन्वयात्मक दृष्टि उसे एक ओर काव्य और दूसरी ओर धर्म की गहन शिक्षाओं के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध को जोड़ती है। एरिस्टॉटल के अनुसार कविता, इतिहास की अपेक्षा अधिक दार्शनिक है। काव्य उन वस्तुओं के महत्त्व पर प्रकाश डालता है जिसका इतिहास केवल लेखा ही प्रस्तुत करता है और इस प्रकार वह इतिहास को तथ्यों के दार्शनिक विश्लेषण के लिए प्रस्तुत करता है। इसी प्रकार, कविता प्रकृति के अन्य विज्ञानों तथा प्राकृतिक इतिहास (Natural History) से अधिक दार्शनिक है। ठीक इसी प्रकार धार्मिक समारोहों, संवेगों तथा धार्मिक प्रेरणाओं का लक्ष्य विश्व और मानव-जीवन के गहनतम रहस्यों को समझने की अन्तर्दृष्टि प्रदान करना है जिसके पश्चात् दर्शन-शास्त्र उन्हें एक वैज्ञानिक रूप देने का प्रयास करता है। अतः दर्शन संस्कृति का सार-तत्त्व है।

ऊपर संस्कृति के जितने उपादानों और साधनों का वर्णन किया गया उनका तब तक कोई महत्त्व नहीं है जब तक कि वे मनुष्य के जीवन में चरितार्थ न कर लिये जायँ। पहले ही कहा जा चुका है कि जातीय अथवा राष्ट्रीय चिति के आधार पर जो संस्कार बनते हैं उन्हें ही संस्कृति कहते हैं। संस्कृति हमारे चारों ओर, भीतर, प्राकृतिक वस्तुओं में, साथियों के जीवन में तथा स्वयं अपनी आत्मा और मन की क्रियाओं में बिखरी पड़ी है, किन्तु संस्कृति के अधिकांश तथ्य हमारे लिए तब तक अन्धकारपूर्ण रहेंगे जब तक कि विज्ञान, कला, साहित्य और दर्शन उनकी व्याख्या हमारे समक्ष प्रस्तुत नहीं करते। वे भी तब तक निर्जीव और अन्धकारमय रहेंगे जब तक कि उन्हें वैयक्तिक बुद्धि द्वारा आत्मसात् कर, प्रत्यक्ष अनुभूति का रूप नहीं दे दिया जाता। संस्कृति के बिना जीवन बर्बर है और जीवन के बिना संस्कृति एक पांडित्यमात्र है। जब तक देश की संस्कृति के साथ हमारे जीवन का स्पर्श नहीं हो जाता, तब तक किसी भी प्रकार की शिक्षा व्यर्थ है।

संस्कृति का सामाजिक महत्त्व

संस्कृति का स्वरूप तो जातीय या राष्ट्रीय होता है, पर यह कुछ थोड़े लोगों की ही निधि हो सकती है। यदि किसी जाति या देश के सभी व्यक्ति सुसंस्कृत हो जायँ तो उस जाति या देश का कभी भी नाश नहीं हो सकता। जिस प्रकार धर्म के पालन से व्यक्ति शाश्वत हो जाता है उसी प्रकार संस्कृति के पालन से जाति या देश शाश्वत हो सकता है। यदि किसी देश की संस्कृति नष्ट हो गयी तो वह देश कभी भी जिन्दा नहीं रह सकता। अतः संस्कृति किसी देश का प्राण है, उसकी जातीय विशेषता है जिसकी रक्षा हमें हर कीमत पर करनी चाहिए। संस्कृति, यद्यपि कुछ लोगों की ही निधि होती है पर जिस शुभ की ओर उसका लक्ष्य है वह सामाजिक होता है। यह उन अनमोल रत्नों की तरह नहीं है जिनके लिए लोगों में प्रतियोगिता होती है तथा अन्त में जिन्हें कुछ भाग्यशाली व्यक्ति ही धारण कर सकते हैं। संस्कृति वह अनमोल रत्न है जो विशुद्ध मानवीय (Human) है और जिसमें सभी लोग एक ही प्रकार और मात्रा में भाग ले सकते हैं। यह धर्म और नैतिकता की तरह किसी संघर्ष और कलह का स्रोत नहीं है क्योंकि सामाजिक शुभ ही

इसका लक्ष्य है। कोई भी मनुष्य या राष्ट्र पुस्तकों, वाद्य-यन्त्रों, संग्रहालयों या प्रयोगशालाओं के लिए संघर्ष नहीं करता। देश के सभी लोग संस्कृति की इन निधियों के योग और क्षेम की कामना करते हैं क्योंकि इनसे सभी के हितों की साधना होती है। संस्कृति के विभिन्न भागों, जैसे विज्ञान, कला और दर्शन के क्षेत्र में कई प्रकार की परस्पर-विरोधी विचारधाराएँ होती हैं, परन्तु उनके संघर्ष सामान्यतः रक्तहीन और कटुतारहित ही होते हैं। संस्कृति का सामूहिक रूप हमें उसके प्रारम्भिक स्तरों में ही प्राप्त होता है। सरल कला, आदिम वीर-काव्य, प्राचीन गीत और नृत्य मूलतः सामाजिक होते हैं, वे पृथक-पृथक् व्यक्तियों की अपेक्षा समूहों द्वारा निर्मित होते हैं तथा उनका मूल्यांकन भी उनके समूह को ही गौरवान्वित करता है। प्रारम्भ में संस्कृति सामूहिक व सामाजिक भले ही हो, पर कालान्तर में जीवन की जटिलता में वृद्धि के साथ वह कुछ चुने हुए लोगों की ही सम्पत्ति हो जाती है। कला, विज्ञान, साहित्य और दर्शन जटिल बातों को आत्मसात् करने के लिए एक विशेष प्रकार के प्रशिक्षण और योग्यता की आवश्यकता होती है। बाद में जटिलता से पुनः हम सरलता की ओर लौट आते हैं। जटिलता और दुरूहता विज्ञान का गुण है; सरलता और स्पष्टता संस्कृति का गुण है। कला, विज्ञान, साहित्य और दर्शन जब तक लोकप्रिय नहीं होंगे, तब तक वे संस्कृति के अंग नहीं बन सकते। ऐसा कहा जाता है कि स्वर्ग का साम्राज्य केवल बच्चों के लिए सुलभ है और बच्चों को संस्कृति के रूप में मानव के सुन्दरतम प्रयासों से अवगत कराया जा सकता है। यदि कला, विज्ञान, साहित्य और दर्शन में समन्वय स्थापित कर उन्हें सरल और लोकप्रिय बना लिया जाय तो हम संस्कृति को बड़ी आसानी से आभिजात्य एकाधिकार से मुक्त कर सकते हैं। भविष्य के हमारे सभी प्रयास इसी आशा पर केन्द्रीभूत होने चाहिए।

उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखकर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि शिक्षा हमें केवल जीवन-संघर्ष के लिए तैयार ही नहीं करती, वरन् वह हमारे जीवन का लक्ष्य भी है। यदि हम विश्वास करते हैं कि मानव का हित उसके उच्चतर तत्त्वों की पूर्णता तथा उनके द्वारा उसके निरन्तर तत्त्वों के संयमन में है तो स्पष्ट है कि संस्कृति के विभिन्न रूपों में ही उसे आत्म-साक्षात्कार हो सकता है। वास्तव में सुसंस्कृत व्यक्ति वह है जिसने मानव-प्रकृति द्वारा प्राप्य परम हित को प्राप्त कर लिया है। सही अर्थों में सुसंस्कृत व्यक्ति वह नहीं है जिसके पास विशिष्ट प्रकार के ज्ञान हैं या जिसके पास सुन्दर वस्तुओं के नमूने हैं; सुसंस्कृत व्यक्ति वास्तव में वह है जिसने इन तमाम वस्तुओं के प्रति एक प्रकार का स्वस्थ दृष्टिकोण अपना लिया है। सुसंस्कृत व्यक्ति मूलतः प्रेमी और अनुरागी होता है; वह प्रकृति और मानव-जीवन के सुन्दरतम-रूपों की सराहना करता है और फिर स्वयं उन्हें स्वीकार कर लेता है। वह अपने पास कुछ भी नहीं रखता, पर उसके पास प्रत्येक वस्तु होती है। यदि वह कभी जीवन में असफल भी रहता है तो भी उसकी प्रशंसनीय विजय उसमें सन्निहित होती है।

●

१३

धर्म

(Religion)

'धर्म' शब्द का अर्थ

'रिलिजन' और 'धर्म' को प्राय: समानार्थक रूप में लिया जाता है, पर वास्तव में दोनों में महान् अन्तर है। भारत में 'धर्म' को लेकर जो तमाम वितण्डा खड़ा हुआ है वह इन दोनों शब्दों के ठीक अन्तर न समझने के कारण ही हुआ है। भारत में 'धारणात् धर्ममाहु:' अर्थात् धारण करने के कारण ही किसी वस्तु को 'धर्म' कहा जाता है। इस दृष्टि से धर्म और 'रिलिजन' कभी भी एक नहीं हो सकते। सच पूछा जाय तो पश्चिम का 'रिलिजन' भारत के 'सम्प्रदाय' या 'पन्थ' का पर्यायवाची शब्द है। 'धर्म' शब्द को किसी अन्य भाषा में अनुवाद करना नितान्त कठिन है क्योंकि 'धर्म' जैसा गूढ़ शब्द संसार की किसी अन्य भाषा में प्राप्त नहीं होता। धर्म किसी व्यक्ति का ही नहीं, वरन् सम्पूर्ण विश्व का अधिष्ठान है। इसी से 'धारणात् धर्ममाहु:' की चरितार्थता सिद्ध होती है।

'रिलिजन' (Religion) का शाब्दिक अर्थ है पवित्रता (Piety)। इसकी व्युत्पत्ति लैटिन के रिलिजिओ (Religio) शब्द से हुई है जिसका अर्थ पवित्रता, साधुता या धर्मनिष्ठता से है। जेम्स मार्टिन्यू[१] ने धर्म को इस प्रकार परिभाषित किया है—"धर्म से हमारा तात्पर्य उस सर्वोच्च मस्तिष्क और संकल्प के प्रति विश्वास और उपासना से है जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को निर्देशित तथा मानव-जीवन के साथ नैतिक सम्बन्ध को धारण करता है।" इसी प्रकार कार्डिनल न्यूमन (Cardinal Newman) ने धर्म के विषय में लिखा है कि "धर्म से हमारा तात्पर्य ईश्वर का, उसके संकल्पों का तथा ईश्वर के प्रति अपने कर्त्तव्यों का ज्ञान है।" बोसांके ने धर्म को किसी सर्वोच्च सत्ता के प्रति भक्ति के रूप में परिभाषित किया है। वह कहता है, "जहाँ हमें श्रद्धा-परायणता, अनुरक्ति और भक्ति मिलती है, वहीं धर्म का प्राथमिक रूप प्राप्त हो जाता है।"[२] सभी परिभाषाओं का सार-तत्त्व यह है कि धर्म, कम-से-कम अपने विकसित रूप में, उच्चतम और सर्वाधिक मूल्यवान् के प्रति पूर्णतया समर्पण है। कार्लाइल (Carlyle) ने उस उच्च सत्ता की उपासना नहीं की जो हमारे सारे रचनात्मक और सृजनात्मक कार्यों को प्रेरित करती है।

---

१. 'स्टडी ऑव रिलिजन', जेम्स मार्टिन्यू

2. Wherever, we have devoutness, devotedness, devotion, we have the primary features of religion—बोसांके, वैल्यू एण्ड डेस्टिनी ऑव द इण्डिविजुवल, पृ० २५

वह केवल कार्य की ही उपासना करने लगा। उसने कहा कि 'कार्य ही उपासना है' (Work is worship)। इसे धर्म की संज्ञा नहीं दी जा सकती। धर्म वहीं होता है जहाँ किसी सर्वोच्च सत्ता या शक्ति के प्रति समर्पण का भाव विद्यमान हो। ईसाई-धर्म में सामाजिक एकता के आदर्श के प्रति समर्पण-भाव का विशेष महत्त्व है, क्योंकि उसके अनुसार इसी आदर्श के द्वारा ही समाज की वृद्धि और रक्षा की जा सकती है। धर्म का यही पक्ष हमारे लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। जब तक सामाजिक एकता के आदर्श के प्रति समर्पण की भावना लोगों में विकसित नहीं हो जाती, तब तक राष्ट्रीय जीवन और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के विकास की इच्छा करना व्यर्थ ही होगा। धार्मिक भावना समाज, राष्ट्र और विश्व में एकता स्थापित करती है। बौद्ध-धर्म और ईसाई-धर्म ने मानव-धर्म को विकसित करने में पर्याप्त योगदान दिया है। इन धर्मों में अन्य पहलुओं की अपेक्षा सामाजिक पहलू पर विशेष ध्यान दिया गया है। स्वामी श्री रामकृष्ण परमहंस और विवेकानन्द ने 'दरिद्रनारायण' की सेवा द्वारा हिन्दू-धर्म के सामाजिक पहलू पर विशेष बल दिया था। सिख-धर्म में भी धर्म के सामाजिक पक्ष पर विशेष बल दिया गया है। पर व्यावहारिक पहलू धर्म का केवल एक पहलू है। धर्म के व्यावहारिक पहलू का तब तक कोई महत्त्व नहीं, जब तक कि उसके सैद्धान्तिक आधार का स्पष्टीकरण नहीं किया जाता। किसी धर्म का व्यावहारिक पक्ष उसके सैद्धान्तिक पक्ष का ही परिणाम होता है। उदाहरण के लिए विश्व-बन्धुत्व का व्यवहार शंकराचार्य के अद्वैतवाद पर आश्रित है। अतः, जब तक हम उस अद्वैत सत्ता के प्रति समर्पण की भावना नहीं रखेंगे तब तक विश्व के प्रति हमारे भीतर परोपकार की भावना नहीं जाग्रत हो सकती। अतः, वर्तमान सन्दर्भ में धर्म से हमारा तात्पर्य मानव-जीवन की पूर्णता के प्रति समर्पण की एक भावना से है। अब हम धर्म के विभिन्न पहलुओं पर विचार प्रस्तुत करेंगे।

धर्म के प्रमुख पक्ष

पहले विचार किया जा चुका है कि मानव-जीवन के तीन प्रमुख पहलू हैं—वानस्पतिक (Vegetative), पाशविक (Animal), और बौद्धिक (Rational)। हमारे जीवन का जो विशुद्ध मानवीय या बौद्धिक पक्ष है उसके भीतर विवेक या चयन-शक्ति है जो दो अन्य पहलुओं को संयमित कर उन पर नियंत्रण स्थापित करती है। सभी सामाजिक संस्थाएँ और संगठन-पद्धतियाँ हमारी निकृष्ट इच्छाओं और आवश्यकताओं पर बुद्धि के नियंत्रण के परिणामस्वरूप ही उत्पन्न हुई हैं। पाशविक वृत्तियों पर नियंत्रण रखने के अतिरिक्त हमारी बुद्धि का विशुद्ध आदर्श लक्ष्य भी है और वह है सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम् का अनुशीलन। धर्म इसी सत्यम, शिवम और सुन्दरम् के उच्चतम रूपों का दिग्दर्शन कराता है। समाज-दर्शन का प्रमुख उद्देश्य सामाजिक प्रक्रिया में निहित शुभ का अनुसंधान करना है पर अन्य पक्षों की अवज्ञा भी नहीं की जा सकती। जीवन की पूर्णता सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम् तीनों की उपलब्धि में है।

जब हम सामाजिक कार्यों पर धर्म के प्रभाव के सन्दर्भ में धर्म पर विचार करते हैं

तो धर्म और नैतिकता में कोई अन्तर नहीं रह जाता। मैथ्यू ऑर्नाल्ड (Mathew Arnold) ने धर्म और नैतिकता में भेद करते हुए कहा था कि धर्म संवेगों से युक्त नैतिकता है। किन्तु सभी नैतिक कार्य जो शुभ लक्ष्यों द्वारा प्रेरित हैं, भावनायुक्त होते हैं। अतः, नैतिकता अपने उच्चतम रूप में सत्यम्, शिवम् एवं सुन्दरतम् का अनुशीलन है, पर धर्म में इन मूल्यों को संसार की वस्तुओं में आन्तरिक रूप से चरितार्थ देखा जाता है। इसके अतिरिक्त जहाँ नैतिकता का अर्थ है किसी विशेष देश-काल में सत्यं और शिवं के प्रति समर्पण और अनुशीलन, वहाँ धर्म में निरपेक्ष आदर्श के प्रति महत्त्वाकांक्षा विद्यमान होती है। धर्म वह भावना है जो नैतिक उत्कर्ष के लिए प्रेरित करती है। धार्मिक भावना कला और दर्शन की प्रगति का भी स्रोत है जो अपने उच्चतम रूपों में नैतिकता की भाँति धर्म का स्वरूप ग्रहण कर लेती हैं। जिस प्रकार सत्यं, शिवं और सुन्दरं की रक्षा के लिए किये गये निष्काम प्रयत्न—जो नैतिकता के मूल हैं—धार्मिक होते हैं, ठीक उसी प्रकार सौन्दर्यानुभूति और सत्यावलोकन मूलतः धार्मिक प्रवृत्तियाँ हैं। संक्षेप में, बिना धार्मिक भावना के सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम् की प्राप्ति नहीं की जा सकती। धर्म में सत्यम्, शिवम् एवं सुन्दरम् का हमें अपूर्व समन्वय प्राप्त होता है। विभिन्न प्रकार की धार्मिक संस्थाएँ जैसे मन्दिर, मस्जिद और गिरजाघर इन धार्मिक आदर्शों के साक्षात्कार में मदद पहुँचाती हैं।

शिक्षा और धर्म

ऊपर निवेदन किया गया कि धर्म की मूल-प्रवृत्ति सामान्य हित की प्राप्ति है। अतः, यदि देश के नवयुवकों में हम सामान्य हित का भाव भरना चाहते हैं तो उनकी शिक्षा में धर्म का स्थान अवश्य होना चाहिए। नवयुवकों की शिक्षा के पाठ्यक्रम में किसी धर्म-विशेष को स्थान देने में सबसे बड़ी कठिनाई उस समय उपस्थित होती है ज़ब किसी देश में धार्मिक विश्वासों की विविधता पायी जाती है। यदि किसी शिक्षण-संस्था के ऊपर किसी विशिष्ट धर्म के अनुयायियों का नियन्त्रण है तो वे अवश्य चाहेंगे कि उनकी संस्था में केवल उन्हीं के धर्म की शिक्षा बच्चों को दी जाय और अन्य धर्मों का बहिष्कार हो। कट्टर और रूढ़िवादी धर्मों के विषय में यह बात विशेष रूप से चरितार्थ होती है। ईसाई और मुस्लिम संस्थाओं में केवल उन्हीं के धर्म की शिक्षा दी जाती है और अन्य धर्मों की कोई चर्चा तक नहीं करता। इसका मुख्य कारण यह है कि इन धर्मों के अनुसार ईश्वर तक पहुँचने का केवल एक ही रास्ता है जो इन धर्मों ने निर्धारित किया है। अन्य धर्मावलम्बियों को संसार में जीने का कोई अधिकार नहीं है। इसीलिए वे धर्म-परिवर्तन (Religious Conversion) में विश्वास करते हैं। पर यदि उस संस्था में अन्य धर्म वाले भी पढ़ते हैं तो एक विशिष्ट प्रकार की शिक्षा का विरोध होना अनिवार्य है। अतः, जहाँ अनेक धार्मिक विश्वास होते हैं वहाँ शिक्षा-संस्थाओं से धर्म को बिलकुल निकाल देने की अथवा उसे घटा कर साधारणरूप में रखने की प्रवृत्ति होती है। भारत की धर्म-निरपेक्षता के पक्ष में यही तर्क दिया जाता है। पर व्यवहार में इस धर्म-निरपेक्षता का

परिणाम यह होता है कि बहुसंख्यक धर्म अपने धर्म के प्रचार-कार्य से तो वंचित कर दिया जाता है पर अल्पसंख्यक धर्म वालों को अपने धर्म के प्रचार और प्रसार-कार्य के लिए खुली छूट दे दी जाती है। भारत की धर्म-निरपेक्षता का तो यही अर्थ देखने को मिलता है।

अब प्रश्न यह है कि बच्चों को धर्म की शिक्षा किस अवस्था में दी जानी चाहिए। इतना तो निश्चित है कि किसी अपरिपक्व मस्तिष्क वाले बच्चों को किसी धर्म-विशेष की शिक्षा देने से सामान्य हित की प्राप्ति नहीं की जा सकती। अपरिपक्व मस्तिष्क को धार्मिक शिक्षा देने से उसमें रूढ़िवादिता और धर्मान्धता उत्पन्न हो जाती है जो व्यक्तियों में एकता स्थापित करने की अपेक्षा पृथकता को ही बढ़ावा देती है। प्रत्येक धर्म का एक दर्शन होता है और उस दर्शन को आत्मसात् किये बिना धर्म की शिक्षा अपूर्ण है। यदि धर्म की मूल बातों को बुद्धि की अपेक्षा भावनाओं से ही ग्रहण करने का प्रयत्न किया गया तो इससे धर्मान्धता और अन्धविश्वास को ही प्रश्रय मिलता है। यह अन्य धर्मों के प्रति अरुचि और घृणा को भी जन्म देता है जो किसी धर्म के प्रतिकूल बात है। शिक्षा-शास्त्र का यह आधारभूत सिद्धान्त है कि किसी विचार या विश्वास को बाहर से किसी व्यक्ति के ऊपर आरोपित करने की अपेक्षा उसके आभ्यान्तरिक विकास के लिए अवसर देना चाहिए। नवयुवकों के मानस में धार्मिक विचार या विश्वास का स्वत: विकास होना चाहिए; इन्हें बाहर से उनके मन पर लादने की कोई आवश्यकता नहीं है। यह ठीक है कि बच्चों को उस धार्मिक वातावरण के प्रभाव से पूर्णत: बचाना असम्भव है जिससे कि वे घिरे हुए हैं। इस सम्बन्ध में वे अपने माता-पिता, संरक्षक तथा उन धार्मिक संस्थाओं से जिनसे कि उनका सम्बन्ध है, अच्छे-बुरे किसी-न-किसी रूप में अवश्य ही प्रभावित होते हैं। पर इन बाह्य प्रभावों के बावजूद बालकों को अपने धार्मिक विचारों और विश्वासों को निर्धारित करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए। बाह्य प्रभावों से हम बालकों को कभी भी मुक्त नहीं कर सकते। अब प्रश्न केवल इतना ही रह जाता है कि बच्चों को क्या इन अनिवार्य प्रभावों तक ही सीमित रखा जाय अथवा किसी विशेष प्रकार की धार्मिक शिक्षा या किसी विशेष प्रकार की धार्मिक प्रवृत्ति द्वारा उन्हें पुष्ट किया जाय? इसका कोई-न-कोई समाधान अवश्य निकलना चाहिए।

लगभग सभी शिक्षा-शास्त्रियों का मत है कि बालकों और नव-युवकों को धार्मिक संस्कारों का नहीं तो कम-से-कम धार्मिक विचारों का शिक्षण अवश्य दिया जाना चाहिए। यह शिक्षण केवल एक ही प्रकार के धार्मिक विचारों तक सीमित न होकर सभी प्रकार के धार्मिक विचारों का होना चाहिए। विभिन्न धर्म की धार्मिक अवधारणाओं के संघर्ष को समझे बिना इतिहास को समझना असम्भव है। इसी प्रकार, धार्मिक विचारों के मूल्यांकन के बिना साहित्य भी कुछ अंशों में निरर्थक ही होगा, क्योंकि संसार के महान् लेखकों के प्रेरणा-स्रोत धार्मिक विचार ही रहे हैं। विभिन्न प्रकार के धार्मिक विचारों को जानने और उनका मूल्यांकन करने का अर्थ उनको ग्रहण करना नहीं है। विभिन्न धार्मिक विचारों के मूल्यांकन के बाद जिस धर्म को हम अच्छा समझेंगे

उसे ग्रहण करेंगे। पर अन्य धर्मों को समझने और उनका मूल्यांकन करने का भी अपना अलग महत्त्व है। इससे अन्य धर्मों की अच्छी बातों को समझने का अवसर मिलता है जिससे हमारी धार्मिक कट्टरता क्षीण हो जाती है और मानव-बन्धुत्व की भावना को बल मिलता है। आज दिन विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों में जो संघर्ष होते हैं उनके उन्मूलन का केवल एक ही उपाय है और वह है—विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों की मूलभूत बातों को समझने का प्रयत्न करना। ऐसा शायद ही कोई धर्म हो जो मनुष्य से घृणा या मनुष्य की हत्या करने की आज्ञा देता हो। अन्य धर्मों, यहाँ तक कि स्वयं अपने ही धर्म की मूल-भूत बातों के प्रति अज्ञानता ही साम्प्रदायिक संघर्ष को जन्म देती है। इनका उन्मूलन धार्मिक प्रशिक्षण द्वारा ही सम्भव है।

विभिन्न धार्मिक विचारों के मूल्यांकन के उपरान्त बालकों को विभिन्न धर्मों के सार-तत्त्व को ग्रहण करना चाहिए। धार्मिक प्रवृत्तिका सार-तत्त्व है सत्यम्, शिवम् एवं सुन्दरम् के प्रति समर्पण की भावना। यह भी स्पष्ट है कि इन लक्ष्यों की प्राप्ति कई प्रकार से की जा सकती है। विज्ञान का अध्ययन सत्य के प्रति प्रेम को जागरित करता है; कला सौन्दर्य-प्रेम को उत्पन्न करती है तथा इतिहास और साहित्य 'शुभ' के प्रति हमारी आस्था को दृढ़ करते हैं। धर्म सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम् तीनों के प्रति हमारे स्थायीभाव को उत्पन्न करता है। उपर्युक्त तीनों मूल्यों में 'शुभ' की वैयक्तिक और सामाजिक दोनों जीवन में विशेष उपयोगिता है जिसके प्रति सहानुभूति और क्रियाशीलता उत्पन्न करना प्रत्येक प्रकार की शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिए। किन्तु यह सब इस ढंग से किया जाय कि जीवन के शाश्वत मूल्य किसी विशेष मत, सिद्धान्त या किसी विशेष कर्म-काण्ड पर आधारित न होकर स्वतन्त्र रूप से ग्रहण किये जायँ। किसी मत या सम्प्रदाय से स्वतन्त्र केवल शाश्वत मूल्यों के प्रति निष्ठा जागरित करना ही शिक्षा का मूल उद्देश्य होना चाहिए जिससे कि बालक असत्य से सत्य की ओर, असौन्दर्य से सौन्दर्य की ओर तथा अशुभ से शुभ की ओर उन्मुख हो सके। विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों के विचारों को छोड़कर 'मानव-धर्म' के विचारों को ग्रहण करना चाहिए जो देश, काल, सम्प्रदाय और मत-मतान्तरों से अतीत विशुद्ध मानवीय होते हैं। सच्चे धर्म की यही व्याख्या है।

धर्म और समाज-सेवा

ऊपर हमने देखा कि जीवन के किसी भी मूल्य के प्रति समर्पण भाव को धर्म कहते हैं। अतः, इसे किसी विशिष्ट मत, मन्दिर, मसजिद या गिरजाघर की चहारदीवारी में आबद्ध कर देना इसे अत्यधिक संकुचित बना देना होगा। धर्म के वास्तविक स्वरूप का दर्शन हमें शिक्षा, धर्मार्थ कार्यों, राजनीतिक आदर्शों, कला और विज्ञान की सेवाओं तथा अन्य प्रकार से भी होता है। पंडित जवाहरलाल नेहरू कहते थे कि इस विज्ञान के युग में बाँध, कारखाने और औद्योगिक प्रतिष्ठान ही हमारे मन्दिर, मसजिद और गिरजाघर हैं और हमें इन्हीं की आराधना करनी चाहिए। परन्तु, धर्म का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रूप हमें

सामाजिक सेवा (Social Service) के रूप में प्राप्त होता है जो वर्तमान सन्दर्भ में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि सामाजिक सेवा की आवश्यकता क्या है? यदि इसकी आवश्यकता भी है तो व्यक्ति इसका भार अपने ऊपर क्यों ले? बात यह है कि कोई समाज कितना ही सुगठित क्यों न हो, उसमें न्याय और साम्य के आदर्शों का पूर्ण रूप से चरितार्थ होना कठिन ही होता है। जो मूलतः साम्य-न्याय है भी उसमें तमाम कठिनाइयाँ जुटी हुई होती हैं जिन्हें दूर करना वांछनीय होता है। जो समाज पूर्ण रूप से सुसंगठित नहीं हैं उनके विषय में यह बात और भी अधिक लागू होती है। ऐसी परिस्थितियों में मानव-कल्याण के प्रति समर्पण की भावना सामाजिक सेवा के रूप में व्यक्त होती है। युद्ध के समय सामाजिक सेवा का महत्त्व बढ़ जाता है और शान्तिकाल में भी अनेक सेवा-केन्द्रों जैसे—चिकित्सालय, जेल तथा गन्दे स्थानों में सेवा के निरन्तर अवसर प्राप्त होते रहते हैं। पद, धन, सम्पत्ति, शिक्षा तथा अन्य परिस्थितियों में अन्तर के कारण समाज में व्यक्तियों और वर्गों के बीच जो भेद पाया जाता है, उन्हें दूर करने के लिए भी सामाजिक सेवा का उपयोग किया जा सकता है। ऐसे कार्य वास्तव में किसी धार्मिक दृष्टिकोण से सम्पादित नहीं किये जाते, किन्तु यदि 'धर्म' शब्द को व्यापक अर्थ में ग्रहण किया जाय तो निश्चित रूप में सभी सेवा-कार्य धार्मिक भावना से प्रेरित होते हैं क्योंकि धर्म का अर्थ जीवन के मूल्यों के प्रति समर्पण भाव ही तो है। बहुत-से मन्दिर, मसजिद, गुरुद्वारा और गिरजाघर इस प्रकार के सेवा-कार्य करना अपना परम-धर्म समझते हैं। सामाजिक सेवा-कार्य धार्मिक संस्थाओं द्वारा जितनी निपुणता से सम्पादित किये जा सकते हैं उतनी निपुणता से यह कार्य न तो राज्य द्वारा, न स्थानीय निकायों द्वारा और न व्यक्तिगत प्रयासों द्वारा ही सम्भव है। अतः, धार्मिक संस्थाओं के सेवा-कार्य को अधिक विकसित और सुसंगठित करने की आवश्यकता है। जीवन के शाश्वत मूल्यों के प्रति समर्पण-भाव और पुनः उन मूल्यों को पृथ्वी पर अवतरित करने का सुनियोजित प्रयास ही धर्म का सार-तत्त्व है।

धार्मिक सहिष्णुता

धार्मिक सहिष्णुता विचार-स्वातन्त्र्य और भाषण-स्वातन्त्र्य का ही एक भाग है। हर एक व्यक्ति को अपने स्वभाव के अनुसार अपने धर्म को निर्धारित करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। यही कारण है कि किसी व्यक्ति को अपने धर्म को किसी दूसरे पर थोपने का कोई अधिकार नहीं होना चाहिए। धर्म मनुष्य की आभ्यान्तरिक प्रकृति का विकास है। ऐसी अवस्था में विभिन्न धर्मों के बीच मत-भेद का कोई प्रश्न ही नहीं उत्पन्न होता। विभिन्न धर्मों में ऊपर से जो भेद दिखाई पड़ता है, उसका अर्थ केवल जीवन-सम्बन्धी दृष्टिकोण की भिन्नता से ही हो सकता है। यह स्वाभाविक भी है। विभिन्न धर्मों के भेद केवल वैचारिक ही नहीं, वरन् व्यावहारिक भी होते हैं जिनसे गम्भीर संघर्ष उत्पन्न हो जाते हैं। उदाहरण के लिए हिन्दू, मन्दिरों में ढोलक, झाँझ और मजीरे के साथ तीव्र स्वर में कीर्तन करते हैं; पर मुसलमान भाई मस्जिदों में इस प्रकार के समारोह को कभी भी

पसन्द नहीं करते। यहाँ तक कि मसजिद के आसपास भी किसी को गाने-बजाने के लिए निषेध कर दिया जाता है। भारत में मसजिद के आसपास गाने-बजाने को लेकर बहुत-से दंगे हुए हैं। यह सब दोनों सम्प्रदायों के जीवन के प्रति दृष्टिकोण की भिन्नता के कारण है। विभिन्न धर्मों की वैचारिक और व्यावहारिक भिन्नताएँ अन्तर्राष्ट्रीय और गृह-युद्ध को भी जन्म देती हैं। यदि इन मत-भेदों के कारण उनमें वास्तविक युद्ध की स्थिति नहीं भी आती तो कम-से-कम घृणा, द्वेष और विरोध के भाव तो अवश्य ही उत्पन्न हो जाते हैं। अतः, जिस समाज का उद्देश्य सामान्य जनता का हित हो, वह ऐसे मतभेदों के प्रति उदासीन कभी नहीं हो सकता। मतभेदों के प्रति उपेक्षा का भाव तभी ग्रहण किया जा सकता है जब उन मतभेदों का समाज के ऊपर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों के मतभेद को कम करने के लिए सर्वप्रथम हमें वास्तविक और अवास्तविक मतभेदों में अन्तर स्पष्ट करना होगा और फिर वास्तविक मतभेदों के कारणों की जाँच करनी होगी। विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों के धार्मिक कृत्यों और अनुष्ठानों में जो भेद पाये जाते हैं वे अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं होते। समाज की दृष्टि से सैद्धान्तिक मतभेद भी कोई विशेष कठिनाई उत्पन्न नहीं करते। ईश्वर, आत्मा और जगत् के विषय में कौन धर्म क्या कहता है, इससे धार्मिक एकता पर कोई व्याघात नहीं पहुँचता; किन्तु भाषा, जीव-हिंसा, खान-पान इत्यादि वस्तुएँ ऐसी हैं जो धार्मिक सहिष्णुता के मार्ग में काफी कठिनाइयाँ उत्पन्न करती हैं। हिन्दू गो-हत्या का विरोधी और राष्ट्रभाषा हिन्दी का प्रेमी है; किन्तु अन्य विधर्मियों के लिए गो-प्रेम का कोई महत्त्व नहीं है और भाषा समस्या के लिए कोई दिलचस्पी नहीं है। ये बातें ऐसी हैं जिनके लिए कोई भी धार्मिक सम्प्रदाय समझौता नहीं करना चाहेगा। इसी प्रकार धार्मिक स्थानों की पवित्रता का प्रश्न है। यदि कोई धार्मिक सम्प्रदाय दूसरे धार्मिक सम्प्रदाय के देवस्थानों की पवित्रता को नष्ट करना चाहता है, तो संघर्ष अनिवार्य हो जायगा। अतः, धार्मिक सद्भाव के लिए यह आवश्यक है कि हम दूसरे सम्प्रदाय के देवालयों की पवित्रता का समादर करें। धार्मिक सहिष्णुता के लिए सर्वाधिक विकट समस्या तब उत्पन्न होती है जब कोई धार्मिक सम्प्रदाय ऐसे अधिकारों की माँग तथा ऐसे कर्त्तव्यों को स्वीकार करता है जो दूसरों के अधिकार और कर्त्तव्य तथा राज्य की संप्रभुता में हस्तक्षेप करते हैं। उदाहरण के लिए, प्रायः भारत के कई नगरों में ऐसी घटनाएँ घटी हैं कि जब कोई ठाकुरजी का जुलूस या महावीर या सरस्वतीजी का जुलूस किसी मसजिद के पास से गुजरता है तो प्रायः मुसलमानभाई इसका विरोध करते हैं और कहते हैं कि मसजिद के सामने कोई भी गाना, बजाना और नृत्य नहीं कर सकता। यह ऐसे अधिकार की माँग है जो दूसरे सम्प्रदाय के धार्मिक अधिकारों में खुला हस्तक्षेप है। इसी प्रकार परिवार-नियोजन और समान नागरिक कानून (Uniform Civil Laws) के विषय में भी मुसलमान भाई विशेषाधिकार की माँग करते हैं। वे चाहते हैं कि उन्हें चार स्त्रियों के साथ विवाह करने का अधिकार मिलना चाहिए और साथ-साथ परिवार-नियोजन (Family Planning) भी वे नहीं करना चाहते। इसका स्पष्ट परिणाम यह होगा कि भारत में हिन्दुओं की संख्या दिन-प्रतिदिन

गिरती चली जायगी और मुसलमानों की संख्या दिन-प्रतिदिन बढ़ती चली जायगी। इस प्रकार की स्थिति राज्य की अखण्डता के लिए भयावह होगी और धार्मिक सहिष्णुता के लिए समुचित वातावरण भी नहीं बन पायगा। धार्मिक सहिष्णुता वास्तव में वहीं हो सकती है जहाँ धर्म के नाम पर किसी भी प्रकार का वर्ग-निर्धारण न हो। धर्म के नाम पर बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक (Majority and Minority) का भेद समाप्त होना चाहिए। धर्म हमारे चिन्तन का आयाम (Dimension) नहीं होना चाहिए। समाज में धर्म के नाम पर न तो पक्षपात (Favour) होना चाहिए और न भेद-भाव (Discrimination)। तभी वास्तविक राष्ट्रीय एकता और धार्मिक सहिष्णुता सम्भव है। भारत में जो आये दिन दंगे होते रहते हैं उनका एक कारण यह भी है कि धर्म के नाम पर कुछ सम्प्रदायविशेष के साथ विशिष्ट प्रकार के पक्षपात किये जाते हैं। समाज में उनकी विशिष्टता के कारण ही भारतीय जन-जीवन के साथ उनको समरस होने में कठिनाई होती है। समाज में किसी सम्प्रदायविशेष को विशिष्ट स्थान देने का परिणाम यह होता है कि बिना कर्त्तव्य-पालन किये ही वह विशिष्ट अधिकार की माँग प्रस्तुत करने लगता है। **समाज के प्रति कर्त्तव्यपालन किये बिना ही अधिकार की माँग करना देश-द्रोह है।** पारसियों को आज तक किसी ने साम्प्रदायिक नहीं कहा। उन्होंने धर्म के नाम पर कभी भी किसी विशेषाधिकार की माँग नहीं की। भारत में आते ही उन्होंने गो-मांस का परित्याग कर दिया, क्योंकि गो-मांस-भक्षण हिन्दू-धर्म के प्रतिकूल बात थी। सन् १९४३ ई० में भारतमंत्री एल०एस० एमरी (L.S. Amery) ने पारसी प्रतिनिधियों को बुलाकर कहा कि विधानसभाओं में तुम पृथक् प्रतिनिधित्व की माँग कर सकते हो। पर दो हजार पारसियों ने एक साथ हस्ताक्षर करके भेजा, "अन्य सम्प्रदायों के हाथ में हमारे हित सुरक्षित हैं।"[1] संविधान सभा में भी इस घटना का वर्णन करते हुए एक पारसी श्री आर०के० सिध्वा (R.K. Sidhwa) ने कहा था कि हमारे लिए किसी विशेष-अभिरक्षण की आवश्यकता नहीं है, "सभी भारतीयों के राजनीतिक जीवन का अन्तिम लक्ष्य एक-राष्ट्र होना चाहिए, पृथक् सम्प्रदाय नहीं।"[2] अतः **धार्मिक संहिष्णुता का वास्तविक अर्थ है अपने धर्म के अनुसार समाज के प्रति कर्त्तव्यों का पूर्ण रूप से पालन।** जो समाज के प्रति अपने कर्त्तव्यों पर कम किन्तु धर्म के नाम पर अपने अधिकारों के संरक्षण पर अधिक बल देता है वह समाज का हितैषी नहीं कहा जा सकता। **पूर्ण धार्मिक व्यक्ति वह है जो अपने अधिकारों की अपेक्षा कर्त्तव्य पर अधिक बल देता है।** धर्म का अर्थ ही कर्त्तव्य होता है। कर्त्तव्य-निष्ठ व्यक्ति ही धार्मिक है। अपने-अपने गुणों (धर्म) के अनुसार समाज की सेवा करने में किसी प्रकार के धार्मिक संघर्ष की सम्भावना ही नहीं उठती। धर्म का वास्तविक अर्थ यही है। धर्म के इस वास्तविक अर्थ को न समझने के कारण ही राज्य में दो बड़ी कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं—१. धार्मिक

---

1. Our interests are safe in the hands of sister communities.
2. The ultimate phase of political life of all Indians should be one nation, no community.

असहिष्णुता (Religious Intoleration), २. अनाधिपत्य या उद्दण्डता (Insubordination)। कम-से-कम भारतवर्ष में धर्म-सम्बन्धी जो तमाम गड़बड़ियाँ दिखायी देती हैं उनका मूल यही है। कोई भी संप्रभुता सम्पन्न राज्य न तो धार्मिक असहिष्णुता को ही सहन कर सकता है और न उद्दण्डता को ही। अभी कुछ दिनों पहले इन्दौर और अहमदाबाद में दंगे हुए हैं उनका मूल कारण धार्मिक असहिष्णुता ही है। मास्टर चंदगीराम ने भारतकेशरी दंगल में यदि मेहरदीन को पराजित कर दिया तो इसे साम्प्रदायिक रूप देने का किसी को अधिकार नहीं दिया जा सकता।

उदाहरण—हिन्दू-धर्म धार्मिक सहिष्णुता का एक बहुत ही उत्तम उदाहरण है। हिन्दू-धर्म में किसी प्रकार की कट्टरता या अन्ध-विश्वास नहीं पाया जाता। हिन्दू यह कभी नहीं कहेगा कि हिन्दू-धर्म के माध्यम से ही ईश्वर-प्राप्ति की जा सकती है। भगवान् श्री कृष्णद्वैपायन व्यास का वचन है,[1] "हमारी जाति और सम्प्रदाय की सीमा के बाहर भी पूर्णत्व को पहुँचे हुए मनुष्य हैं।" इसी प्रकार ऋग्वेद में भी कहा गया है—"तत्त्व एक ही है, पर बुद्धिमान् लोग इसका विविध रूप से वर्णन करते हैं।"[2] यहाँ कहीं भी स्वीकार नहीं किया गया है कि ईश्वर-प्राप्ति का केवल एक ही मार्ग है—हिन्दू धर्म। मुसलिम और ईसाई सम्प्रदायों का विश्वास है कि इस्लाम या ईसाई सम्प्रदाय के माध्यम से ही ईश्वर की प्राप्ति की जा सकती है। इसीलिए ये धर्म-परिवर्तन (Religious Conversion) में विश्वास करते हैं। पर हिन्दू-धर्म न तो धर्म-परिवर्तन में विश्वास करता है और न धर्म के एकाधिकार में ही विश्वास करता है। हमारा लक्ष्य एक, पर मार्ग अनेक हो सकते हैं। श्री स्वामी रामकृष्ण परमहंस धार्मिक एकता के ज्वलन्त उदाहरण थे। उन्होंने हिन्दू-धर्म में विहित साधन-प्रणालियों का अनुष्ठान तो किया ही था, साथ-साथ मुसलमान और ईसाई साधुओं के साथ भी सत्संग-लाभ किया था। अन्य धर्मों के गुरुओं से शिक्षा ग्रहण करके उन्होंने अनुभव किया कि सभी धर्मों का ध्येय एक ही है और वह है—ईश्वर की प्राप्ति। जब तक हमारे भीतर यह भावना नहीं घर करेगी, तब तक न तो धार्मिक सहिष्णुता ही आ सकती है और न राष्ट्रीय एकीकरण ही हो सकता है। हिन्दू धर्म में वेश्या, वधिक, डाकू इत्यादि सभी के लिए मोक्ष-प्राप्ति का द्वार खुला है।

राज्य और धर्म

शिक्षा को चाहे साध्य रूप में देखा जाय और चाहे साधन रूप में, दोनों क्षेत्रों में धर्म का महत्त्व है। सामाजिक संगठन और सामान्य हित के प्रति समर्पण की भावना को विकसित करने में भी धर्म का पर्याप्त योगदान होता है। अतः राज्य धर्म के विकास और उसके संरक्षण के प्रति उदासीन नहीं हो सकता। पर राज्य और धर्म के बीच किस प्रकार का सम्बन्ध होना चाहिए, इसका निर्णय करना बड़ा कठिन कार्य है। यदि किसी राज्य में अनेक धर्मावलम्बी रहते हों तो राज्य किस धर्म के द्वारा संचालित हो, किसको संरक्षण दे और

---

१. 'अन्तरा चापि तु तद्दृष्टेः', वेदान्त-सूत्र, ३/४/३६

२. 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति', ऋग्वेद, १/१६४/४६

किसको न दे अथवा क्या सबको एक ही प्रकार का संरक्षण दे, राज्य का कोई अपना धर्म हो या न हो इत्यादि बातें ऐसी हैं जो पर्याप्त विवादास्पद हैं। कुछ बातों का वर्णन राज्य के अध्याय में कर दिया गया है। यहाँ अन्य बातों के विषय में थोड़ा प्रकाश डाला जायगा।

धार्मिक संस्थाओं का प्रमुख कार्य समाज को शिक्षित करना ही होता है। धार्मिक संस्थाओं और शिक्षण-संस्थाओं में अन्तर केवल इतना ही है कि धार्मिक संस्थाएँ व्यक्ति के पूर्ण विकास का मार्ग प्रशस्त करती हैं तो शिक्षण-संस्थाएँ उसे व्यावसायिक जीवन में सफल होने का सूत्र प्रदान करती हैं। एक का उद्देश्य सामान्य है, तो दूसरे का विशिष्ट। अत: इस दृष्टि से राज्य का धर्म के साथ वही सम्बन्ध होना चाहिए जो उसका शिक्षा के साथ होता है। शिक्षण-संस्थाओं के अध्याय में निवेदन किया गया कि, राज्य का कार्य शिक्षा के विषयों और शिक्षण-पद्धतियों को निर्धारित करना कदापि नहीं है; राज्य का कार्य केवल इतना ही है कि शिक्षा-संस्थाओं को यथेष्ठ आर्थिक सहायता देकर उनके समक्ष ऐसा आदर्श वातावरण उपस्थित करे जिससे कि वे अपनी प्रतिभा के अनुसार स्वतन्त्र रूप में विकास कर सकें। इस तर्क के अनुसार राज्य का धर्म के साथ जो सम्बन्ध है वह यही हो सकता है कि राज्य को अपने अन्दर सभी धर्मों के समुचित विकास का सुअवसर देना चाहिए और राज्य का अपना कोई धर्म (State Religion) नहीं होना चाहिए। हाँ, व्यवहार में इतना अवश्य हो सकता है कि जो धार्मिक संस्थाएँ राष्ट्रीय आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं, उन्हें राज्य की ओर से कुछ विशेष अनुदान दिये जा सकते हैं। किन्तु शिक्षा के अन्य प्रकारों की अपेक्षा धर्म के सम्बन्ध में इस बात का निर्णय करना अत्यधिक कठिन कार्य है कि कौन सी धार्मिक संस्थाएँ राष्ट्रीय आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं और कौन नहीं करतीं। इसके विषय में किसी निश्चित सिद्धान्त का प्रतिपादन करना कठिन ही होता है। इसका निर्णय राज्य में बदलते हुए जनमत और बदलती हुई परिस्थितियों पर छोड़ देना चाहिए।

किन्तु यहाँ ध्यान में रखने की बात यह है कि धर्म एक विशुद्ध शैक्षणिक समस्या ही नहीं है। इसका राष्ट्रीय जीवन के उच्चतम आदर्शों से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है जिनका धार्मिक कार्यों के रूप में व्यक्तीकरण होना अनिवार्य होता है। राजकीय समारोहों में धार्मिक विधियों का प्रयोग अवश्य ही किया जाता है और ये धार्मिक विधियाँ किसी विशिष्ट धर्म से ही ली जाती हैं। यहाँ हम केवल यही निवेदन कर सकते हैं कि राजकीय समारोह जहाँ तक सम्भव हो, सभी धर्मों के अनुकूल होना चाहिए, पर यदि राजकीय समारोह केवल एक ही धर्म के अनुसार करना है, तो ऐसी धार्मिक विधि अपनायी जाय जो अन्य धर्मों के प्रतिकूल न हो। धार्मिक सहिष्णुता के लिए यह भी किया जा सकता कि राष्ट्रपति या प्रधानमंत्री जिस धर्म को मानने वाले हों, उसी धर्म के अनुसार उनका अभिषेक किया जाय। यदि कोई राज्य बहु-धर्मी है तो प्रत्येक धर्म के प्रमुख त्योहारों को राष्ट्रीय घोषित कर राष्ट्रीय स्तर पर उन्हें मनाने की व्यवस्था की जाय। इसके विपरीत कुछ लोगों का मत है कि किसी बहु-धर्मी राज्य को राजकीय समारोहों से धर्म को बिलकुल ही बहिष्कृत कर देना चाहिए। इसी को दूसरे शब्दों में धर्म-निरपेक्षता कहते

हैं। पर यह उपचार रोग से कहीं अधिक भयंकर है। धर्म-निरपेक्षता सिद्धान्त रूप में कितना ही ठीक हो, व्यवहार में यह धर्म-विहीनता का रूप धारण कर लेता है। वास्तव में धर्म-निरपेक्षता एक आत्मघाती सिद्धान्त है क्योंकि किसी भी व्यक्ति या वस्तु के लिए धर्म-निरपेक्ष होना सम्भव नहीं है। आज भारत में विद्यार्थियों से लेकर बड़े-बड़े नेताओं में जो अनुशासनहीनता और चारित्रिक पतन देखा जाता है उसका मूल-कारण उनकी धर्म-निरपेक्षता ही है।

राज्य और धर्म के विषय में जो सबसे बड़ी समस्या हमारे समक्ष उपस्थित होती है वह यह है कि राज्य का कोई राज-धर्म हो या न हो। प्रश्न बहुत जटिल है। मुसलिम राजनीति के अनुसार राज्य और मज़हब में घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसे धार्मिक राज्य (Theocracy) कहा जाता है। मुसलिम राज्य में एक ही धर्म के मानने वाले रह सकते हैं। क़ाफिरों के लिए इसमें कोई स्थान नहीं है। केवल नीच-टहल के लिए ख़िराज गुजार के रूप में मुसलमानों की सेवा के लिए रह सकते हैं। ऐसे क़ाफिरों को जिम्मी कहा जाता है। उन्हें समानता के अधिकार नहीं दिये जा सकते। पाकिस्तान धार्मिक राज्य का एक उत्तम उदाहरण है। पवित्र रोमन साम्राज्य (Holy Roman Empire), ख़िलाफत राज्य इसी पर आधारित था। यहाँ राज्य एवं मज़हब में एक गठबन्धन है जो राज्य को अपने कर्त्तव्य से बिलकुल ही च्युत कर देता है।

पर यहाँ ध्यान में रखने की बात यह है कि धर्म-राज्य और धार्मिक राज्य या मज़हबी राज्य में पर्याप्त भेद है। धर्म-राज्य में सबको अपने सम्प्रदाय या मज़हब के अनुसार कार्य करने की स्वतन्त्रता है पर यह स्वतन्त्रता वहीं तक है जहाँ तक कि दूसरे मज़हब की स्वतन्त्रता का व्याघात न होता हो। भारत में धर्म को सर्वोच्च कहा गया है, यहाँ तक कि धर्म ईश्वर से भी बड़ा है। 'धारणात् इति धर्मः' धारण करना ही धर्म का स्वभाव है। धर्म से रक्षा होती है और अधर्म हमारे विनाश का मार्ग प्रशस्त करता है। धर्म की संप्रभुता होने के कारण ही हमारे यहाँ राज्य का आदर्श 'धर्म-राज्य' था। पाश्चात्य देशों में राजा को धर्म से भी ऊपर माना जाता था और कहा जाता था कि 'राजा कोई गलती कर ही नहीं सकता।'[१], पर भारतीय परम्परा इसे मानने को तैयार नहीं है। प्राचीन समय में जब राजा का अभिषेक होता था तो वह खड़ा होकर कहता था—'अदण्ड्योऽस्मि, अदण्ड्योऽस्मि, अदण्डयोऽस्मि'। पर राजा के यह कहने पर पुरोहित हाथ में पलाश का दण्ड लेकर उसकी पीठ पर मारता था और कहता था, 'नहीं, धर्म-दण्ड्योऽस्ति' अर्थात् तू अदण्डनीय नहीं है, तुम्हारे ऊपर भी धर्म का अंकुश है। यह प्रक्रिया तीन बार दुहराई जाती थी। यह इसलिए किया जाता था कि राजा को यह ज्ञात हो जाय कि वही सब कुछ नहीं है। धर्म ही संप्रभु (Sovereign) है। यहाँ तक कि धर्म ईश्वर से भी बड़ा है क्योंकि ईश्वर यदि अधर्म करने लगे तो वह ईश्वर नहीं रह जायगा। अधर्म दुर्बलता का द्योतक है और धर्म सबलता का द्योतक है।

---

1. The King can do no wrong, Long live the king.

शक्ति मनमानी करने से नहीं, वरन् संयम पूर्ण व्यवहार करने से आती है। स्वैरता या स्वेच्छाचारिता में संकल्प-स्वातन्त्र्य निहित नहीं है, वरन् आत्म-संयम से ही संकल्प-स्वातन्त्र्य की रक्षा होती है। इसी प्रकार जो संयमी होगा वही सर्व-शक्ति-सम्पन्न हो सकता है। अतः धर्म सर्वोपरि है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि राज्य धर्म-निरपेक्ष कभी नहीं हो सकता। राज्य को मज़हब या सम्प्रदाय-निरपेक्ष होना चाहिए, धर्म-निरपेक्ष नहीं। धर्म-निरपेक्ष राज्य उतना ही गलत है जितना ताप-विहीन अग्नि। धर्म किसी वस्तु के अस्तित्व का प्राण है। धर्म-निरपेक्ष राज्य, राज्य या सुशासन नहीं हो सकता, दुःशासन भले ही हो।

इस सन्दर्भ में एक प्रश्न का उत्तर देना शेष रह जाता है जो बहुत ही व्यावहारिक प्रश्न है और वह यह है कि भारत को धर्म-निरपेक्ष राज्य रहने दिया जाय या हिन्दू-राष्ट्र घोषित कर दिया जाय। इस प्रश्न का उत्तर देने के पहले हमें कई प्रश्नों का उत्तर देना पड़ेगा। प्रथम प्रश्न यह है कि 'हिन्दू' शब्द का क्या अर्थ है? द्वितीय प्रश्न यह है कि धर्म का वास्तविक अर्थ क्या है? तृतीय प्रश्न यह है कि हिन्दू धर्म से क्या तात्पर्य है? यह वास्तव में धर्म है या सम्प्रदाय? चौथा प्रश्न यह है कि धर्म-निरपेक्षता का वास्तव में क्या अर्थ या भाव है? इन चारों प्रश्नों पर अलग-अलग विचार प्रस्तुत किया जायगा।

जहाँ तक 'हिन्दू' शब्द की व्युत्पत्ति का प्रश्न है, यह 'सिन्धु' शब्द से निकला है। जब आर्य भारत में आये तो सर्वप्रथम सिन्धु नदी की घाटी के आसपास वे बस गये और वहीं अपनी सभ्यता का विस्तार किया। इस सभ्यता को सिन्धु घाटी की सभ्यता कहते हैं। इस सिन्धु घाटी की सभ्यता को मानने वाले जितने व्यक्ति हुए उन्हें 'सिन्धू' कहा गया। यही 'सिन्धू' शब्द कालान्तर में 'हिन्दू' शब्द बन गया। इस व्युत्पत्ति के अनुसार, सिन्धु-घाटी की सभ्यता में विश्वास करने वाले लोगों को 'हिन्दू' कहते हैं। वे किसी भी मज़हब या सम्प्रदाय के हों—वैष्णव, मुस्लिम, शैव, जैन, बौद्ध या सिख—यदि वे सिन्धु घाटी की सभ्यता में विश्वास करते हैं तो हिन्दू कहे जायँगे। पुनः, जिस देश में हिन्दू रहते हैं, उसे हिन्दुस्थान कहते हैं और वे जिस धर्म को मानते हैं उसे हिन्दू-धर्म कहते हैं। अतः हिन्दू, हिन्दुस्थान और हिन्दू-धर्म तीनों का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस दृष्टिकोण के अनुसार 'हिन्दू' शब्द किसी सम्प्रदाय या मज़हब का परिचायक न होकर हमारी राष्ट्रीयता का परिचायक है। जिस प्रकार पाकिस्तान के रहने वाले पाकिस्तानी, बर्मा के रहने वाले बर्मी और चीन के निवासियों को चीनी कहा जाता है, उसी प्रकार हिन्दुस्थान के निवासियों को 'हिन्दी' या 'हिन्दू' कहते हैं। हिन्दी, हिन्दू धर्म और हिन्दुस्थान में साम्प्रदायिकता की गन्ध भी नहीं है।

दूसरा प्रश्न है—धर्म का वास्तविक स्वरूप क्या है? धर्म के वास्तविक स्वरूप के विषय में पहले विस्तारपूर्वक चर्चा की जा चुकी है। यहाँ कुछ सामान्य बातों की ओर ही संकेत किया जा सकता है। 'धारयतीति धर्मः' अर्थात् धर्म वह है जिसके द्वारा ब्रह्माण्ड धारण किया जाता है। कभी-कभी धर्म की परिभाषा इस प्रकार भी दी जाती है—'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः' अर्थात् "जिससे इस लोक में मनुष्य की

उन्नति हो और परलोक में भी मुक्ति की प्राप्ति हो, वही धर्म है।" जिस प्रकार शरीर और आत्मा का मेल होने के बाद, जब शरीर आत्मा की भावना के अनुसार कार्य करता है तो उसकी उन्नति होती है, ठीक उसी प्रकार धर्मवत् आचरण करने से समाज की भी उन्नति होती है। धर्म, समाज का आधार है। भारत में धर्म की जो व्याख्या की गयी है उसमें धर्म के दस लक्षणों का वर्णन किया गया है—क्षमा, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, सत्य, बुद्धि, विद्या इत्यादि। अतः, धर्म का अर्थ उस प्राकृतिक विधान से है जो विश्व को धारण किये हुए है।

अब हम तीसरे प्रश्न—हिन्दू धर्म से हमारा क्या तात्पर्य है? इसके उत्तर पर अब हम आते हैं। ऊपर हमने देखा कि 'हिन्दू' शब्द हमारी राष्ट्रीयता का बोधक है और 'धर्म' शब्द का अर्थ उन शाश्वत् नियमों से है जो किसी वस्तु को धारण किये हुए है। इस प्रकार हिन्दू धर्म का अर्थ हुआ राष्ट्रीय धर्म। प्रत्येक राष्ट्र की एक नैसर्गिक प्रकृति (चिति) होती है जिसके अनुसार कर्त्तव्य-पालन करने से उसकी प्रगति होती है। यह नैसर्गिक प्रकृति ईश्वरीय विधान के अनुकूल होती है। इसी तथ्य को योगी अरविन्द[१] ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

"प्रत्येक राष्ट्र विकासोन्मुख मानवता की एक शक्ति के रूप में अभिव्यक्ति है, तथा वह उन सिद्धान्तों के आधार पर ही जीता है जिनका वह मूर्तिमान रूप है।"

इस दृष्टि से हिन्दू-धर्म और राष्ट्रीय धर्म समानार्थी शब्द हुए। भारत में धर्म और राष्ट्रीयता इस प्रकार परस्पर-सम्बद्ध हैं कि दोनों को एक-दूसरे से पृथक् करना सम्भव नहीं है। यहाँ मातृभूमि की आराधना को परमेश्वर की उपासना का ही एक अंग माना गया है। मातृ-भूमि की सेवा और उसकी भक्ति आर्य-धर्म का एक अंग है। एक भारतीय आर्य की सदा कामना रहती है[२]—

"भूमि हमारी माता है और हम उसके पुत्र हैं।" हमारे यहाँ राष्ट्रीय धर्म को सब धर्मों का शिरोमणि माना गया है। "जिस प्रकार हाथी के पैर में सभी पैर समाहित हो जाते हैं, ठीक उसी प्रकार सभी धर्म राज-धर्म से उत्पन्न होते हैं और फिर उसी में लीन भी हो जाते हैं।"[३]

हिन्दू धर्म की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसके भीतर रूढ़िवादिता या अन्ध-विश्वास नहीं पाया जाता। इसके अनुसार विभिन्न धर्मों में भेद नहीं है; वे सभी ईश्वर तक पहुँचने के विभिन्न मार्ग हैं। "जिस प्रकार विभिन्न नदियाँ, पृथक्-पृथक् मार्गों का अनुसरण करती हुई अन्त में अपने नाम और रूप को त्याग कर एक ही समुद्र में विलीन हो जाती हैं, ठीक उसी प्रकार विद्वान् लोग विभिन्न धर्मों का अनुसरण करते हुए भी एक

---

1. Each nation is a shakti or power of the evolving spirit in humanity and lives by the principles which it embodies.
२. भूमिः माता पुत्रोऽहं पृथिव्याः ॥
३. यथा राजन् हस्तिपदे पदानि, संलीयन्ते सर्वसत्त्वोद्‌भवन्ति।
एवं धर्मान् राजधर्मेषु सर्वान्, सर्वावस्थ संप्रलीनान्ति बोधः ॥

ही परम-पुरुष ईश्वर में अन्त में विलीन होते हैं।''[१] इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दू-धर्म बिलकुल ही असाम्प्रदायिक है क्योंकि इसके भीतर सभी धर्मों को अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार कार्य करने की छूट दी गयी है। इसीलिए हिन्दू धर्म को सनातन या शाश्वत धर्म कहा जाता है। यह कोई मज़हब या सम्प्रदाय नहीं है। अतः, इसका किसी भी धर्म के साथ विरोध हो ही नहीं सकता। अतः, हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हिन्दू-धर्म एक राष्ट्रीय धर्म है और शाश्वत धर्म होने के कारण इसका किसी भी धर्म या मज़हब से कोई विरोध नहीं है।

उपर्युक्त तीन प्रश्नों का उत्तर देने के बाद हम चौथे और अन्तिम प्रश्न पर आते हैं कि भारत को धर्म-निरपेक्ष रहने दिया जाय या उसे हिन्दू-राष्ट्र घोषित कर दिया जाय। जो धर्म की परिभाषा दी गयी है उसके अनुसार धर्म-निरपेक्षता वदतोव्याघात (Self Contradiction) है। संसार की कोई वस्तु धर्म-निरपेक्ष नहीं हो सकती। भारत की धर्म-निरपेक्षता का व्यवहार में केवल एक ही अर्थ है—बहु-संख्यक वर्ग के धर्म को सीमित करना तथा अल्प-संख्यक वर्गों को अपने धर्म के विस्तार की खुली छूट प्रदान करना। इस निषेधात्मक प्रत्यय की ओट में भारत में क्या हो रहा है, इससे हम सभी परिचित हैं।

धर्म-निरपेक्षता का वास्तविक अर्थ है सभी धर्मों के प्रति सहिष्णुता और समान आदर। धर्म-निरपेक्षता का यह अर्थ कदापि नहीं है कि देश में कोई राज-धर्म ही न हो। ब्रिटेन के राजा एंगलिकन चर्च के सदस्य होते हैं और चर्च के पादरियों को राज्य-कोष से वेतन दिया जाता है, पर फिर भी ब्रिटेन धर्म-निरपेक्ष राज्य कहा जाता है। नेपाल हिन्दू राष्ट्र है पर वहाँ प्रत्येक व्यक्ति को अपने धर्म के अनुसार व्यवहार करने की स्वतन्त्रता प्राप्त है। उसी प्रकार भारत को हिन्दू-राष्ट्र घोषित करने से उसकी धर्म-निरपेक्षता में किसी भी प्रकार का व्याघात नहीं होगा। इससे हमारी धर्म-निरपेक्षता भी दृढ़ होगी और हमें कुछ अतिरिक्त लाभ भी प्राप्त हो जायेंगे। डॉ० राधाकृष्णन् ने एक बार कहा था कि ''पूर्ण धार्मिक व्यक्ति ही धर्म-निरपेक्ष हो सकता है।'' भारत को हिन्दू-राष्ट्र घोषित करने से अनेक लाभ हैं जिनकी ओर ध्यान आकृष्ट करना हम अपना परम कर्त्तव्य समझते हैं—

१. हमारे यहाँ कहा गया है कि राजनीति एक वारांगना (वेश्या) है। जब तक इस राजनीतिरूपी वारांगना के ऊपर धर्मरूपी सुहागन का अंकुश नहीं होगा, तब तक राजनीति के पथभ्रष्ट होने की सम्भावना बनी रहती है। भारत में जो इतनी पथभ्रष्टता और अनुशासन-हीनता पायी जाती है वह उसकी धर्म-निरपेक्षता का ही परिणाम है।

२. 'हिन्दू' शब्द का सम्बन्ध हमारी राष्ट्रभाषा 'हिन्दी', राष्ट्र 'हिन्दुस्तान' और राष्ट्रीय धर्म 'हिन्दू धर्म' से है, अतः, भारत को हिन्दू-राष्ट्र घोषित करने से भाषा, राष्ट्र और धर्म तीनों की समस्याएँ अपने-आप सुलझ जाती हैं। यहाँ हम पुनः निवेदन करना

---

१. यथा नदे सिन्धमाना समुद्रे,
अस्तमगच्छामि नाम रूप विहाय।
तथा विद्वान् नाना रूपा विमुक्ता,
परा पुरम पुरुषमुपेति विद्या॥

चाहेंगे कि 'हिन्दू' शब्द किसी सम्प्रदाय या मज़हब का द्योतक नहीं है; वह हमारी राष्ट्रीयता का प्रतीक है।

३. 'हिन्दू' शब्द ही एक ऐसा शब्द है जो सम्पूर्ण भारत को एक सूत्र में आबद्ध कर सकता है। हिन्दुस्तान में रहने वाले सभी लोग चाहे वे किसी भी सम्प्रदाय के क्यों न हों—हिन्दू हैं। विदेशों में भारतीय इसी नाम से पुकारे भी जाते हैं।

४. हिन्दू-राष्ट्र में हमारी सुप्त आकांक्षाओं को जगाने की जितनी शक्ति है उतनी धर्म-निरपेक्ष राज्य में कदापि नहीं। भारतीय राजनीति धर्म से कभी भी पृथक् नहीं रही है। शुक्राचार्य और चाणक्य धर्म-विहीन राजनीति के पोषक नहीं थे। जब हमारे सम्राट् अश्वमेध यज्ञ करते थे, उसमें राजनीति और धर्म दोनों भावनाएँ विद्यमान होती थीं। राणाप्रताप व अकबर का युद्ध, शिवाजी और औरंगजेब का युद्ध, गुरु गोविन्दसिंह और औरंगजेब का युद्ध क्या विशुद्ध राजनीतिक युद्ध थे? क्या वे धार्मिक युद्ध न थे? यदि वे धार्मिक युद्ध न होते तो शिवाजी, राणाप्रताप व गुरु गोविन्दसिंह को उतनी सफलता कभी न मिलती जितनी कि उन्हें धर्म-युद्ध के कारण मिली।

५. धर्म-निरपेक्षता जीवन में धार्मिक रिक्तता, आत्म-विस्मृति तथा दूसरे धर्मों के प्रसार के लिए समुचित वातावरण उत्पन्न करती है। भारत में धर्म-निरपेक्षता की आड़ में हजारों हिन्दुओं का धर्म-परिवर्तन किया जा रहा है। यदि इस धर्म-परिवर्तन के परिणामस्वरूप भारत में अभाग्यवश हिन्दुओं की संख्या, अन्य धर्मावलम्बियों से कम हो गयी तो भारत, भारत न रहेगा। उस समय गीता, रामायण, ब्रह्मसूत्र व उपनिषद् कोई न पढ़ेगा। भारत की धर्म-निरपेक्षता भी खतरे में पड़ जायेगी।

६. धर्म-निरपेक्षता एक ऐसा ब्लैङ्क चेक है जिसे कोई भी अपने पक्ष में भुना सकता है। यह एक अमूर्त-प्रत्यय है जिसका कोई अर्थ नहीं। स्कूली पाठ्य-पुस्तकों के पुनर्लेखन के लिए सैयदीन समिति ने धर्म-निरपेक्षता के नाम पर जो कुछ सुझाव दिये हैं वे कितने निरर्थक और हास्यास्पद हैं वे निम्न बातों से देखे जा सकते हैं—

"(i) शंकर का ताण्डव एवं डमरू बजाकर पाणिनि को चौदह सूत्रों का उपदेश देना तथा

(ii) औरंगजेब द्वारा गुरु तेगबहादुर की हत्या का विवरण जिसका रूप है—गुरु ने सिर दे दिया, पर सार (धर्म) नहीं दिया—इन बातों को इतिहास की पुस्तकों से निकाल देना चाहिए।"

क्या धर्म-निरपेक्षता का यही अर्थ है? इन सब कठिनाइयों का एकमात्र उत्तर यह है कि भारत को हिन्दू-राष्ट्र घोषित कर दिया जाय।

७. भारत को हिन्दू-राष्ट्र घोषित करने से अल्पसंख्यकों की समस्या का भी समाधान हो जाता है। भारत के हिन्दू-राष्ट्र घोषित होने से इतर सम्प्रदाय वालों के मौलिक अधिकारों पर किसी भी प्रकार का व्याघात न पहुँचेगा। हिन्दुओं की धार्मिक सहिष्णुता इस बात की गारण्टी है कि वे अन्य धर्मों का समादर करेंगे। प्रतीक के रूप में—केवल हिन्दू धर्म को मानने वाला ही राष्ट्रपति बनाया जाय पर अन्य सभी पद सभी

धर्मावलम्बियों के लिए खुले रहें। इससे व्यवहार में अल्पसंख्यकों की तो कोई विशेष हानि न होगी पर देश की एकता को पर्याप्त बल मिलेगा। भारत के हिन्दू-राष्ट्र घोषित होते ही अल्पसंख्यक, बहुसंख्यक सम्प्रदाय के संरक्षण में आ जायँगे और उनकी सुरक्षा स्थिर हो जायगी। बहुसंख्यकों द्वारा अल्पसंख्यकों का दमन बुरा है, पर अल्पसंख्यकों द्वारा बहुसंख्यकों का दमन कहीं अधिक बुरा है।

अत:, हम निष्कर्ष निकालते हैं कि भारत को धर्म-निरपेक्ष होने की अपेक्षा हिन्दू-राष्ट्र घोषित कर देने से कोई हानि नहीं है।

अन्तर्राष्ट्रीय धर्म

ऊपर हमने देखा कि धर्म का वास्तविक अर्थ है—जीवन के उच्चतम मूल्यों के प्रति समर्पण-भाव। यह समर्पण-भावना किसी राज्य-विशेष की सीमाओं तक ही सीमित नहीं रहती। सामान्य भावना होने के कारण संसार की कोई भी वस्तु इसका विषय हो सकती है। अत: धर्म का स्वभाव अन्तर्राष्ट्रीय होता है। सभी महान् धर्मों के विषय में यह बात सत्य है। एक समय था जब सम्पूर्ण दक्षिण-पूर्व एशिया में हिन्दू-धर्म व्याप्त था। उच्चतम मूल्यों के प्रति समर्पण-भावना के कारण ही बौद्ध-धर्म समूचे पूर्व-एशिया में फैल गया और अब भी बहुत से देशों में इसके अनुयायी पाये जाते हैं। ईसाई धर्म ने यहूदी और ग्रीक लोगों के बीच की खाईं को पाट दिया। स्टोइक धर्म की विश्व-बन्धुत्व की भावना ने ग्रीस और रोम को निकट ला दिया। इसके पहले सॉक्रेटीज़ और प्लेटो ने भी दैवी अवधारणा को नैतिक रूप देकर ग्रीक नगर-राज्यों जैसे एथेन्स और स्पार्टा को निकट लाने में पर्याप्त योगदान किया। कैथॉलिक धर्म का उद्देश्य विश्वव्यापी बनने का था, पर साम्राज्य-लिप्सा के कारण उसका चारित्रिक पतन हो गया। यदि वास्तव में कोई संगठन विश्व-व्यापी बनना चाहता है तो उसे सामान्य हित के लिए एकता की भावना से अनुप्राणित होना चाहिए और यह भावना मूल रूप से धार्मिक ही हो सकती है। केवल कृत्रिम उपायों से अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों को समाप्त नहीं किया जा सकता। यदि सम्पूर्ण संसार को एकता के सूत्र में आबद्ध करना है तो किसी ऐसे विश्वव्यापी धर्म का विकास अवश्य करना होगा जो सम्प्रदायों से पृथक् सार्वभौम धर्म होगा। ऐसा तभी सम्भव जब धर्मों के परम्परागत तत्त्वों का उन्मूलन कर विशुद्ध शाश्वत तत्त्वों पर ही किसी धर्म को प्रतिष्ठित किया जाय। ऐसे धर्म को मानव-धर्म के नाम से अभिहित किया जा सकता है।

धर्मों में दोष

संसार में जितने धर्म हैं उनको ईश्वरीय व्यक्तियों ने प्रवर्तित किया। सभी धर्म उत्तम हैं। सभी धर्मों की मूल-भूत बातें भी लगभग समान ही हैं। हर एक व्यक्ति को अपनी प्रकृति के अनुसार अपने धर्म के पालन करने का स्वतन्त्र अधिकार होना चाहिए। पर धर्मप्रवर्तकों के अनुयायियों ने अपनी अज्ञानता के कारण धर्म को दूषित कर दिया। यहाँ धर्म के प्रमुख दोषों की ओर संकेत किया जायगा—

१. अन्धविश्वास (Superstition)—प्राय: सभी धर्मों में कुछ-न-कुछ अन्ध-

विश्वास पाया जाता है जिसे तर्क के आधार पर न्याय्य नहीं ठहराया जा सकता। जैसे— हिन्दुओं का विश्वास है कि चन्द्रग्रहण और सूर्यग्रहण राहु केतु की कुदृष्टि के कारण होते हैं। इसी प्रकार ईसाई लोग विश्वास करते हैं कि पृथ्वी विश्व का केन्द्र है। ये सभी बातें विज्ञान द्वारा असत्य सिद्ध हो चुकी हैं पर फिर भी अन्ध-विश्वास के कारण उनमें विश्वास अब तक चला आ रहा है।

२. मतवाद (Dogmatism)—अधिकांश धर्मों में कुछ मत ऐसे होते हैं जो तर्कसम्मत नहीं होते, पर आप्त-प्रमाणों के आधार पर उन्हें मानने के लिए विवश किया जाता है।

३. सम्प्रदायवाद (Sectarianism)—धर्म शाश्वत या सनातन है, पर जब उसका प्रयोग संकुचित अर्थ में किया जाता है तो वही धर्म सम्प्रदाय में परिणत हो जाता है। मुसलिम धर्म में शिया और सुन्नी का विवाद सम्प्रदायवाद का ही उदाहरण है। सिख-सम्प्रदाय हिन्दू-धर्म का ही सम्प्रदाय है। वास्तव में हिन्दू-धर्म के शाश्वत मूल्यों की रक्षा के लिए ही सिख-सम्प्रदाय की स्थापना की गयी थी। पर एक-दूसरे की मूल-बातों का ठीक प्रकार मूल्यांकन न करने के कारण कभी-कभी हिन्दू-धर्म और सिख-धर्म के बीच विवाद खड़ा हो जाता है। ऐसा नहीं होना चाहिए। स्विफ्ट ने इसका बड़ा मार्मिक वर्णन किया है—"कुछ लोग केवल उतने ही धार्मिक होते हैं कि वे दूसरों से घृणा कर सकें, वे उतने अधिक धार्मिक नहीं होते कि एक-दूसरे के साथ प्रेम कर सकें।"[1]

४. धार्मिक कट्टरता (Fanaticism)—संसार में कोई धर्म-निरपेक्ष नहीं होता। प्रत्येक व्यक्ति की प्रकृति (धर्म) अलग-अलग होती है और उसे अपनी प्रकृति के अनुसार धर्म निश्चित करने का अधिकार होना चाहिए। ईश्वर एक है पर उस तक पहुँचने के रास्ते अलग-अलग हैं। संसार का प्रत्येक धर्म अपने दृष्टिकोण से प्रामाणिक है। पर जब हम केवल अपने धर्म को प्रामाणिक और अन्य धर्मों को अप्रमाणिक मानते हैं, यहीं से धार्मिक कट्टरता प्रारम्भ होती है।

५. मूर्ति-पूजा (Idolatry)—अधिकांश धर्म प्रत्यक्ष रूप में सत्यं, शिवं एवं सुन्दरं के प्रति पूर्ण निष्ठा न रखकर उनका सम्बन्ध कुछ प्रतीकों के साथ जोड़ देते हैं और फिर उन प्रतीकों की आराधना करने लगते हैं। ये प्रतीक जीवन-मूल्यों का अपूर्ण प्रतिनिधित्व ही करते हैं, पर फिर भी वे हमारे आराध्य देव बन जाते हैं और जिनके लिए हम हर प्रकार के संघर्ष करने को उद्यत हो जाते हैं। हमारा वास्तविक आराध्य देव तो वही हो सकता है जिसमें न केवल सत्यं या केवल शिवं या केवल सुन्दरं हो बल्कि जिसमें इन तीनों जीवन-मूल्यों की पराकाष्ठा हो। पर किसी भी प्रतीक में इन तीनों गुणों का चरम उत्कर्ष ढूँढ़ना असम्भव है। अतः ये प्रतीक जब पूर्ण समर्पण के योग्य होते ही नहीं तो उनकी पूजा करना और उनके लिए संघर्ष करना दोनों ही व्यर्थ हैं।

६. मिथ्याचार (Hypocrisy)—यदि कोई धर्म मूलतः सीमित और अपूर्ण है तो

---

1. Some people have just enough religion to make them hate one another, not enough to make them love one another.

उसके प्रति पूरी श्रद्धा होनी कठिन है। किसी धर्म में पूर्ण विश्वास न होने पर भी यदि केवल दूसरों को दिखाने के लिए उस धर्म के प्रति भक्ति प्रदर्शित की जाती है तो मिथ्याचार आना अनिवार्य है। मिथ्याचार, धार्मिक कट्टरता का अनिवार्य परिणाम है।

७. व्यक्तिवाद (Individualism)—जैसा पहले ही निवेदन किया जा चुका है कि प्राय: सभी धार्मिक सम्प्रदायों का दृष्टिकोण सीमित और दोषपूर्ण होता है, अत: कुछ लोग परम्परागत सम्प्रदायों की सीमाओं और दोषों से वचने के लिए अपने व्यक्तिगत धर्म का प्रतिपादन करते हैं। यदि ऐसे व्यक्ति मेधावी, प्रतिभाशाली और धार्मिक अन्तर्दृष्टि वाले हैं, उनका धर्म परम्परागत धर्म से श्रेयस्कर होता है। पर यदि उनके भीतर विपरीत गुण हैं तो उनका धर्म परम्परागत धर्म से कहीं सीमित, संकुचित और दोषपूर्ण होता है।

८. रहस्यवाद (Mysticism)—व्यक्तिवादी धर्म बहुधा रहस्यवाद का रूप ग्रहण कर लेता है। इसमें गूढ़ और अगम्य पक्षों पर अधिक बल दिया जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि मानवता के उत्कर्ष का मार्ग विलकुल ही अवरुद्ध हो जाता है।

९. रूढ़िवाद (Conventionalism)—ऐसा होता है कि जब लोग वर्तमान धर्मों में दोष देखते हैं पर उन दोषों को दूर करने में वे असफल रहते हैं, तो वे किसी न किसी धर्म को स्वीकार करने के लिए विवश हो जाते हैं। वे किसी धर्म को इसलिए नहीं स्वीकार करते कि वह निष्ठा या आत्म-समर्पण के योग्य है वरन् इसलिए कि वर्तमान परिस्थिति में उसका कोई विकल्प नहीं है। यह अवस्था वहुत कुछ अधर्म (Irreligion) से भिन्न नहीं होती।

१०. अधर्म (Irreligion)—यदि धर्म का अर्थ उच्चतम मूल्यों के प्रति समर्पण भाव है, तो अधर्म का अर्थ होगा कि संसार में ऐसा कोई उच्चतम मूल्य है ही नहीं जिसके प्रति पूर्ण समर्पण का भाव प्रदर्शित किया जा सके। यह वहुत कुछ इस प्रकार का विश्वास है कि ''संसार में न तो कुछ नवीन है और न सत्य; संसार में प्रशंसा योग्य कोई वस्तु है ही नहीं।''

निष्कर्ष

धर्म के विषय में ऊपर जो विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया उससे स्पष्ट हो गया होगा कि संसार में कोई भी धर्म पूर्ण नहीं हो सकता और किसी भी धर्म को विश्व-व्यापक नहीं बनाया जा सकता। हम अधिक से अधिक विभिन्न धार्मिक और अधार्मिक प्रवृत्तियों में क्रमिक रूप से सुधार कर सकते हैं। यदि धर्म के सार-तत्त्व के विषय में हमारे निष्कर्ष सही हैं तो कहा जा सकता है कि सभी धर्मों का वास्तविक लक्ष्य उस परम-तत्त्व का यथार्थ ज्ञान और साक्षात्कार करना है जिसके भीतर आभ्यन्तरिक और निरपेक्ष मूल्य होते हैं। आज संसार में जो धर्म हमें दीख पड़ते हैं उनमें से वहुत ऐसे हैं जिनमें धर्म के कुछ आवश्यक तत्त्वों का सर्वथा अभाव पाया जाता है। अत: ऐसे अपूर्ण धर्म यदि अपनी धार्मिक भावना को अक्षुण्ण रखना चाहते हैं तो उन्हें निरन्तर अपनी त्रुटियों के परिहार और दूसरे धर्मों की अच्छाइयों को ग्रहण करने के लिए तत्पर रहना चाहिए।

क्या धर्म-परिवर्तन उचित है ?

ऊपर धर्म शब्द का जो व्यापक अर्थ लिया गया उसके अनुसार संसार की प्रत्येक वस्तु का एक अपना धर्म होता है जिसमें परिवर्तन की बात करना एक अप्राकृतिक कार्य ही समझा जायगा। इस दृष्टि से धर्म-परिवर्तन को सहज या स्वाभाविक कार्य कभी भी नहीं माना जा सकता। भारत की धर्म-निरपेक्षता का अनुचित लाभ उठाकर विधर्मी हिन्दुओं को हिन्दुस्थान में ही अल्पसंख्यक बनाने पर तुले जान पड़ते हैं। अभी हाल ही में दक्षिण के मीनाक्षीपुरम् ग्राम के सभी हिन्दू हरिजनों को अरब देशों के धन के बल पर इसलाम धर्म में परिवर्तित कर दिया गया। मुसलमान मौलवी व ईसाई पादरी दोनों ही योजनाबद्ध रूप में हिन्दुओं के धर्म-परिवर्तन को लक्ष्य बनाकर कार्य कर रहे हैं। जिस दिन हिन्दुस्थान में हिन्दू अल्पसंख्यक हो जायँगे, बहुसंख्यक मुसलमान या ईसाई धर्मनिरपेक्षता का परित्याग कर हिन्दुओं को नष्ट कर देंगे क्योंकि संसार का कोई भी मुस्लिम या ईसाई राष्ट्र धर्मनिरपेक्ष नहीं है। अत: भारत के धर्म-निरपेक्ष स्वरूप को बनाए रखने के लिए भी हिन्दुओं को अपना बहुसंख्यक रूप बनाए रखना चाहिए। इन्हीं सब बातों का ध्यान में रखकर डॉ० एनी बेसेण्ट ने एक बार कहा था कि 'हिन्दुस्थान और हिन्दुत्व एक हैं।' यदि व्यावहारिक रूप में देखा जाय तो बात अधिक स्पष्ट हो जाती है। जहाँ कहीं हिन्दुस्थान में हिन्दू अल्पसंख्यक हैं राष्ट्रीय एकीकरण की समस्याएँ उत्पन्न हो गई हैं। यदि विधर्मियों ने हिन्दुओं के धर्म-परिवर्तन का कुचक्र न रचा होता तो नागालैंड, मिजोरम, मणिपुर या मेघालय की समस्याएँ कभी भी उत्पन्न न हुई होतीं। अत: सिद्धान्तत: व व्यवहारत: दोनों दृष्टियों से धर्म-परिवर्तन अनुचित है।



१४

धर्मनिरपेक्षतावाद
(Secularism)

भारतीय राजनीति में धर्म एवं राजनीति के पारस्परिक सम्बन्ध को लेकर पर्याप्त विवाद है। कुछ भारतीय राजनीतिज्ञ बिल्कुल अज्ञानी हैं, उन्हें ज्ञात ही नहीं है कि धर्म क्या है, राजनीति क्या है और उनके बीच किस प्रकार का सम्यक् सम्बन्ध होना चाहिए। कुछ अन्य राजनीतिज्ञ हैं जो धर्म और राजनीति का सम्यक् ज्ञान होते हुए भी अपने राजनीतिक स्वार्थ के कारण दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध को विकृत रूप में स्थापित करते हैं। इन्हीं सब बातों को ध्यान में रखते हुए धार्मिक राज्य, धर्म-निरपेक्ष राज्य, धर्म-राज्य एवं सर्वधर्म समन्वय के दार्शनिक प्रत्ययों को प्रस्तुत लेख में स्पष्ट करने की चेष्टा की गई है।

१. धार्मिक राज्य (Theocratic State)—धार्मिक राज्य में धर्म और राजनीति के बीच एक घनिष्ठ और अपवित्र सम्बन्ध होता है। मध्य-कालीन युग में ईसाई धर्म और राजनीति में इसी प्रकार का सम्बन्ध व्याप्त था। यूरोप में चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दी में ईसाई धर्म राज्य के लिए कानून का निर्माण करता था और राज्य का कार्य उन कानूनों को राज्य में कार्यान्वित करने तक ही सीमित था। अभी भी कुछ मुसलिम राज्यों में जैसे पाकिस्तान, अफगानिस्तान, सऊदी अरेबिया इत्यादि देशों में मज़हबी या धार्मिक राज्य का बोलबाला है। वास्तव में धर्म-राज्य और मज़हबी राज्य में पर्याप्त भेद है। धर्म राज्य के भीतर सबको अपने धर्म या मज़हब के अनुसार कार्य करने की स्वतन्त्रता होती है। पर यह स्वतन्त्रता तभी तक वैध रहती है जब तक कि वह दूसरे धर्म या मज़हब की स्वतन्त्रता को बाधित न करता हो। किन्तु धार्मिक राज्य की एक विशेषता यह भी होती है कि उसमें केवल एक ही धर्म के मानने वालों को पूर्ण अधिकार प्राप्त होते हैं। शेष धर्मावलम्बी केवल द्वितीय श्रेणी के ही नागरिक माने जाते हैं। सभी मुसलिम राष्ट्रों के ऊपर यही बात लागू होती है। औद्योगिक क्रान्ति एवं विज्ञान की प्रगति के कारण ईसाई राष्ट्रों में वह कट्टरता तो नहीं रह गई जैसी मुसलिम राष्ट्रों में पाई जाती है, पर फिर भी उसके अवशेष कहीं-कहीं अब भी विराजमान हैं। कारण यह है कि दोनों सम्प्रदायों की दार्शनिक मान्यताओं के बीच पर्याप्त समानताएँ पाई जाती हैं।

२. धर्म-निरपेक्ष राज्य (Secular-State)—धार्मिक राज्य के परिप्रेक्ष्य में ही धर्म-निरपेक्ष राज्य की परिकल्पना का उदय होता है। जैसा कि ऊपर कहा गया है कि धार्मिक राज्य में धर्म एवं राज्य के बीच एक प्रकार की दुरभि सन्धि थी। दोनों के बीच

एक अपवित्र सम्बन्ध व्याप्त था। पर औद्योगिक क्रान्ति और सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी में विज्ञान की प्रगति के कारण धर्म एवं राजनीति के अपवित्र सम्बन्ध में दरार पड़ी जिसके परिणामस्वरूप दोनों के बीच कार्य-विभाजन हुआ। राज्य और राजनीति का सम्बन्ध केवल लौकिक जगत तक ही निर्धारित किया गया किन्तु धर्म का सम्बन्ध पारलौकिक जगत तक सीमित रखा गया जिससे दोनों के बीच संघर्ष की सम्भावना ही शेष न रहे। इसी सन्दर्भ में संसार में धर्म-निरपेक्ष राज्य की स्थापना की गई। पर भारतवर्ष में धर्म-निरपेक्ष राज्य की कोई कल्पना विद्यमान नहीं थी। इसका कारण यह है कि भारत में कभी भी धार्मिक राज्य को मान्यता नहीं प्रदान की गई। यहाँ राज्य के ऊपर धर्म का शासन नहीं वरन् केवल अनुशासन ही था। भगवान राम अयोध्या में राज्य करते थे किन्तु उनके कुल गुरु वशिष्ठ मुनि जंगल में अपने आश्रम में बसते थे। उसी प्रकार चन्द्रगुप्त मौर्य पाटलिपुत्र में शासन करते थे किन्तु उनके गुरु चाणक्य जंगल में पर्णाकुटी बनाकर रहते थे। अतः भारतवर्ष में धर्म का राज्य के ऊपर शासन न होकर केवल अनुशासन ही था। अतः भारतीय परिप्रेक्ष्य में धर्म निरपेक्षता की कोई सार्थकता नहीं है।

सच पूछा जाय तो दार्शनिक दृष्टि से राज्य सम्प्रदाय-निरपेक्ष अथवा मजहब-निरपेक्ष तो हो सकता है, किन्तु वह धर्म-निरपेक्ष कभी भी नहीं हो सकता। भारतीय वाङ्मय में 'धर्म' शब्द एक बहुत गहन शब्द है। व्युत्पत्ति के अनुसार धर्म वह है जो सम्पूर्ण, ब्रह्माण्ड और उसके प्राणियों को धारण करता है। 'धारणात धर्मम् इत्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः' धर्म का यही मूल मन्त्र है। सामान्यतया धर्म के तीन अर्थ होते हैं—प्रथम गुण, द्वितीय आचार-संहिता और तृतीय कर्त्तव्य। उदाहरण के लिए, अग्नि का धर्म जलाना है। यदि अग्नि अपने धर्म का परित्याग करके धर्म-निरपेक्ष हो जाय तो उसका अस्तित्व ही समाप्त हो जायेगा। इसी प्रकार मंत्रिमण्डल के सभी सदस्यों को एक आचार-संहिता का पालन करना अनिवार्य होता है। जब वे उस आचार-संहिता का उल्लंघन करते हैं तो मंत्रिमण्डल में विघटन उत्पन्न हो जाता है। विधि-मंत्री श्रीराम जेठमलानी को वाजपेयीजी ने मंत्रिमण्डल से इसलिए बर्खास्त किया क्योंकि वे मंत्रियों के लिए निर्धारित आचार संहिता का बार-बार उल्लंघन करते थे। धर्म का तीसरा अर्थ कर्त्तव्य है। यदि अध्यापक अपने अध्यापन-कर्त्तव्य का पालन न करे तो उसकी सेवाएँ समाप्त कर दी जाती हैं। चाहे हम धर्म के किसी अर्थ को लें, धर्म निरपेक्षता आत्म-विनाशक होती है।

भारतवर्ष में धर्म-निरपेक्षता का प्रयोग अल्पसंख्यकों के मनुहार व बहुसंख्यकों के तिरस्कार के लिए किया जाता रहा है। अभी हाल के दिनों में जब भारत के ईसाइयों पर हमले हो रहे थे, तो तथाकथित धर्म-निंरपेक्षतावादियों ने राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ व भारतीय जनता पार्टी पर खूब कीचड़ उछाला, किन्तु जब भेद खुला कि हमला करने वाले एक मुसलिम सम्प्रदाय 'अञ्जुमन दीनदार' से सम्बन्धित हैं तो वे बिलकुल खामोश हो गए। उस विशिष्ट सम्प्रदाय के विरुद्ध उन्होंने एक शब्द भी नहीं कहा। भारत में धर्म-निरपेक्षता के नाम पर 'वन्देमातरम्' व 'सरस्वती-वन्दना' पर आक्षेप लगाए जाते हैं। धर्म

निरपेक्षतावादी चुपचाप सुनकर खामोश बैठ जाते हैं। पहले भारत में एक जयचन्द्र व एक मीरजाफर था पर आज उनकी संख्या अनन्त हैं। यही हमारा सबसे बड़ा दुर्भाग्य है। धर्म-निरपेक्षता का वास्तविक अर्थ-सर्व धर्म समभाव है जिसे कोई भी राजनीतिक दल उजागर नहीं करता। इसका कारण यह है कि सनातन (हिन्दू) धर्म को छोड़कर कोई भी अन्य धर्म सर्व धर्म समभाव को मान्यता नहीं प्रदान करता। मुसलिम व ईसाई धर्म धार्मिक श्रेष्ठतावाद (Fundamentalism) में विश्वास करते हैं। अभी हाल में संयुक्त राष्ट्रसंघ के तत्वावधान में न्यूयार्क में विश्व शान्ति-सम्मेलन का आयोजन किया था। उसमें भारतीय प्रतिनिधियों ने भी सक्रिय भाग लिया था। उस शान्ति सम्मेलन में भारतीय प्रतिनिधियों ने निम्न दो प्रस्तावों को पारित कराना चाहा—प्रथम प्रस्ताव के अनुसार सभी धर्मों के धर्म-ग्रन्थों में जो अंश हिंसा का प्रतिपादन करते हैं उन ग्रन्थों से निकाल दिया जाय क्योंकि धर्म का लक्ष्य सुख-शान्ति की स्थापना करना है न कि हिंसा को बढ़ावा देना। पर आश्चर्य की बात यह है कि इसलाम धर्म के प्रतिनिधियों ने इसका घोर विरोध किया और यह प्रस्ताव पारित नहीं हो पाया। इस घटना से आप निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि मुसलिम धर्म भाई-चारा का धर्म है अथवा हिंसा (जेहाद) का। भारतीय प्रतिनिधियों का दूसरा प्रस्ताव सर्वधर्म समभाव से सम्बन्धित था। वे चाहते थे कि जिस प्रकार हिन्दू धर्म सर्वधर्म समभाव में विश्वास करता है उसी प्रकार अन्य धर्म भी सर्वधर्म समभाव में अपनी आस्था संयुक्त राष्ट्रसंघ के माध्यम से व्यक्त करें। ईसाई धर्म के धर्म गुरुओं ने इस प्रस्ताव का केवल विरोध ही नहीं किया वरन् पोप जॉन पाल ने फतवा जारी किया कि सभी धर्मों को समान मान्यता नहीं प्रदान की जा सकती। वे धार्मिक श्रेष्ठतावाद में विश्वास करते हैं। उनके अनुसार ईसाई धर्म सर्वश्रेष्ठ धर्म है क्योंकि इसी धर्म के माध्यम से मनुष्य को मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। आप सोचिए कि जो धर्म अपने धर्म को ही सर्वश्रेष्ठ समझता है और अन्य धर्मों को मान्यता ही प्रदान नहीं करता वह विश्व में शान्ति कैसे स्थापित कर सकता है?

३. धर्म-राज्य—धर्म-राज्य न धार्मिक राज्य है और न धर्म-निरपेक्ष राज्य है। धर्म की संप्रभुता होने के कारण ही भारत में राज्य का आदर्श धर्म राज्य था। पाश्चात्य देशों में राजा को धर्म से भी ऊपर माना जाता था। कहा जाता था कि 'राजा कभी गलत कार्य कर ही नहीं सकता' (The king can do no wrong) पर भारतीय परम्परा इसे मानने को तैयार नहीं है। प्राचीन समय में जब राजा का अभिषेक होता था तो वह खड़ा होकर कहता था 'अदण्डयोऽस्मि' 'अदण्डयोऽस्मि' पर राजा के ऐसा कहने पर पुरोहित हाथ में पलाश का दण्ड लेकर उसकी पीठ पर मारता था और कहता था 'नहीं, धर्म दण्डोऽस्ति' अर्थात् तेरे ऊपर भी धर्म का दण्ड है। यह प्रक्रिया तीन बार दुहराई जाती थी। यह इसलिए किया जाता था कि राजा को ज्ञात हो जाय कि वही सब कुछ नहीं है। धर्म ही सर्वोपरि है। यहाँ तक कि ईश्वर से भी बड़ा धर्म है क्योंकि ईश्वर को भी धर्म की आज्ञा का अनुसरण करना पड़ता है। ईश्वर यदि अधर्म करने लगे तो वह ईश्वर नहीं रह जायेगा। अधर्म दुर्बलता का द्योतक है और धर्म सबलता का। शक्ति मनमानी करने से नहीं

वरन् संयमपूर्ण व्यवहार करने से आती है। स्वैरता या स्वेच्छाचारिता में संकल्प-स्वातन्त्र्य निहित नहीं है, वरन् आत्मसंयम में ही संकल्पस्वातन्त्र्य की अभिव्यक्ति होती है। जो संयमी होगा वही सर्वशक्ति सम्पन्न होगा।

ऊपर हमने देखा कि 'धर्म' शब्द के तीन अर्थ होते हैं—प्रथम गुण, द्वितीय आचार-संहिता और तृतीय कर्त्तव्य। इस विवेचन का निहितार्थ यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने भीतर निहित गुण या क्षमता के अनुसार कर्म करना चाहिए। वह जिस स्थान या पद पर नियुक्त हो उसकी आचार-संहिता का पालन करते हुए अपने कर्त्तव्य का निर्वाह करना चाहिए। पर आज धर्म के उपर्युक्त तीनों क्षेत्रों का उल्लंघन किया जा रहा है। आज आरक्षण के क़ारण मनुष्य को उसके स्वाभाविक गुण या क्षमता के अनुसार कार्य आवंटित नहीं किए जा रहे हैं। जो व्यक्ति अध्यापक बनने के योग्य हैं उसे क्लर्क का पद दिया जाता है; जो डॉक्टर के पद के लिए उपयुक्त हैं उसे मेडिकल रिप्रेजेण्टेटिव के पद से ही संतोष करना पड़ता है; जिसमें इंजीनियर बनने की सभी क्षमताएँ विद्यमान हैं वह केवल मेकेनिक बना दिया जाता है। ऐसी परिस्थिति में उन व्यक्तियों द्वारा निर्धारित आचार-संहिता और कर्त्तव्य पालन का प्रश्न ही कहाँ उत्पन्न होता है? धर्म-राज्य में ऐसी विकृतियों के लिए कोई अवकाश नहीं होता। भारत तभी सुखी और समृद्ध बन सकता है जब वहाँ आरक्षण-पोषित राज्य नहीं वरन् धर्म राज्य की स्थापना की जाय।

४. साम्राज्यवादी धर्म—सच पूछा जाय तो ईसाई और मुस्लिम धर्म 'धर्म' न होकर अपने साम्राज्य के विस्तार के उपकरण मात्र हैं। यही कारण है कि धर्म-प्रचार के नाम पर साम, दाम, दण्ड-भेद की नीति अपना कर धर्मान्तरण द्वारा अपने अनुयायियों की संख्या में वृद्धि कर साम्राज्य के विस्तार की कल्पना करते हैं। धर्म-निरपेक्षता उनका सिद्धान्त नहीं वरन् आपातिक समर नीति है। वे जानते हैं कि अल्पसंख्यक होने के कारण भारत न तो ईसाई राष्ट्र बन सकता है और न मुस्लिम राष्ट्र। अतः ईसाई और मुसलमान धर्म-परिवर्तन के लिए उपजाऊ भूमि का निर्माण करने के लिए धर्म-निरपेक्षता की रट लगाना प्रारम्भ कर देते हैं। पर ज्यों ही धर्म-परिवर्तन के परिणामस्वरूप ईसाई या मुसलमान अपने को बहुसंख्यक जाति में परिणत कर लेंगे, तुरन्त भारत के धार्मिक राज्य घोषित कर देंगे। लेबनान इसका स्पष्ट उदाहरण है। अतः, हर परिस्थिति में हिन्दुओं को भारत में अपने बहुसंख्यक स्वरूप को अक्षुण्ण रखना चाहिए। जिस दिन हिन्दुस्तान में हिन्दू-जाति अल्पसंख्यक हो जायेगी, हिन्दुस्तान, हिन्दुस्तान नहीं रहेगा। उसके सारे धर्म-ग्रन्थ वेद, पुराण, गीता, रामायण, महाभारत, उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र इत्यादि जलाकर राख कर दिए जाएंगे। साम्राज्यवादी धर्म इसी कूटनीति के अनुसार भारत में कार्य कर रहे हैं। ईसाइयों और मुसलमानों की मानसिकता के एक-एक दृष्टान्त प्रस्तुत करके मैं अपना पक्ष सबके सामने रखना चाहूँगा।

पोप जॉन पाल के भारत में आगमन के समय अमेरिका के इण्टरनेशनल मिशन बोर्ड ने जो प्रोटेस्टेण्ट सम्प्रदाय की एक संस्था है, अक्टूबर में एक पुस्तिका प्रकाशित की थी जिसमें लिखा है कि नब्बे करोड़ वाला एक देश (भारत) घोर अन्धकार में डूबा है।

उन्हें दीपावली के अवसर पर ईसाई बना लेना चाहिए जिससे कि वे अन्धकार से प्रकाश की ओर अग्रसर हो सकें। केवल दीपावली के बाह्य प्रकाश द्वारा उनकी चेतना जागृत नहीं की जा सकती। उनकी सम्पूर्ण चेतना तभी जागृत हो सकती है जब कि वे ईसाई धर्म को स्वीकार कर अपने अन्तःकरण को प्रकाशित कर लें। अब आप सोचिए कि उनकी मानसिकता किस दिशा में कार्य कर रही है। उनकी धार्मिक श्रेष्ठता का सिद्धान्त न केवल अवैज्ञानिक है वरन् अमनोवैज्ञानिक भी है। धर्म-वैयक्तिक वस्तु होती है, एक ही धर्म को संसार के सभी मनुष्यों पर लागू नहीं किया जा सकता।

दूसरा दृष्टान्त मुस्लिम धर्म से सम्बन्धित है। भारत के एक राजनीतिज्ञ हैं जिनका नाम सैय्यद शहाबुद्दीन है। पहले वे विदेश सेवा में कार्यरत थे। बाद में उन्हें महसूस हुआ कि वे भारतीय वैदेशिक सेवा में रहकर अपने मुस्लिम धर्म के प्रति वफ़ादार नहीं रह सकते। अतः उन्होंने विदेश-सेवा से त्याग-पत्र देकर विशुद्ध राजनीतिज्ञ का जीवन व्यतीत करना श्रेयस्कर समझा। कुतर्क और वितण्डा करने में सैय्यद शहाबुद्दीन को महारत हासिल है। उन्होंने भारतीय मुस्लिम और मुस्लिम भारतीय में भेद किया है। उनके अनुसार भारत में रहने वाले मुसलमान भारतीय मुसलमान नहीं हैं, वरन् वे मुस्लिम भारतीय हैं। इसी एक बात से उनकी मानसिकता प्रगट हो जाती है। उन्हें भारतीय मुसलमान कहलाना इस कारण नागवार लगता है क्योंकि इस पद-समूह में मुसलमानों की भारतीयता पर विशेष बल दिया गया है। इसके विपरीत उन्हें मुस्लिम भारतीय कहलाना इसलिए पसन्द है क्योंकि इस पद-समूह में मुस्लिम शब्द को भारतीयता की अपेक्षा अधिक वर्चस्व दिया गया है।

हम भारतीय कुम्भकरणी निद्रा में सो रहे हैं और विधर्मी हमारे विरुद्ध मोर्चा बनाने में सतत् प्रयत्नशील हैं। पता नहीं क्यों भारत सरकार ऐसे अराष्ट्रीय तत्त्वों के विरुद्ध कार्यवाही करने से क्यों कतराती है। अभी कुछ ही दिन पूर्व सिमी (SIMI) अर्थात् इस्लामिक मूवमेण्ट ऑफ इण्डिया (Student Islamic Movement of India) के उत्तर प्रदेश अध्यक्ष मुहम्मद आमिर ने कहा कि ओसामा बिन लादेन सभी मुसलमानों के आदर्श हैं। उसने लखीमपुर के भाषण में कहा कि भारत के मुसलमान जबरदस्ती बाबरी मस्जिद पर कब्जा करेंगे व कश्मीर में जनमत संग्रह कराने के लिए आन्दोलन करेंगे। मुसलमानों को सैनिक प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए। इस प्रकार का जहरीला भाषण केवल भारत में ही सम्भव है। अभी भी मुसलमानों के हृदय में कहीं न कहीं यह बात घर कर गई है कि हिन्दू कायर हैं और उन्हें डरा-धमका कर कुछ भी प्राप्त किया जा सकता है। गाँधीजी ने एक बार कहा था कि हिन्दू कायर हैं और मुसलमान गुण्डे। जितनी जल्दी हिन्दू अपनी कायरता का परित्याग कर देंगे और मुसलमान अपने गुंडेपन का, उतनी ही जल्दी भारत में शान्ति स्थापित हो सकेगी।

५. निष्कर्ष—यहाँ हिन्दू धर्म की सर्वश्रेष्ठता व अन्य धर्मों की निकृष्ठता का विलकुल प्रतिपादन नहीं किया जा रहा है। मेरी समझ में सभी धर्मों का समान आदर होना चाहिए और सभी धर्मावलम्बियों को अपने धर्म का पालन करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। पर यह स्वतन्त्रता तभी तक वैध रह सकती है जब तक कि वह दूसरे धर्मों की

स्वतन्त्रता में बाधक न बने। हिन्दू धर्म-परिवर्तन का इसलिए विरोध करते हैं क्योंकि धर्म बिक्री की वस्तु (Commodity) नहीं है जिसके लिए दुकान या विज्ञापन खोलने की आवश्यकता हो। यह अन्तःकरण अथवा अध्यात्म की वस्तु है जो भीतर से उत्पन्न होती है, वह बाहर से मनुष्य के ऊपर लादी नहीं जा सकती। अतः हम भारत सरकार से प्रार्थना करते हैं कि उसका यह प्रथम कर्त्तव्य है कि धर्म-परिवर्तन पर रोक लगावे व उसे अवैध घोषित करे। आजकल संख्या का भी पर्याप्त महत्त्व होता है। हमें, अनुभव से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। भारत के जिन-जिन प्रान्तों में हिन्दू अल्पसंख्यक हैं वे हमारे लिए सिरदर्द बने हुए हैं। कश्मीर, नागालैण्ड, मिजोरम, मणिपुर इत्यादि प्रान्त ऐसे हैं जहाँ अन्य धर्मावलम्बियों की अपेक्षा हिन्दुओं की आबादी कम है। अतः, हमें प्रत्येक स्थिति में अपने बहुसंख्यक चरित्र को अक्षुण्ण रखना चाहिए।

मुस्लिम और ईसाई दोनों धर्म साम्राज्यवादी धर्म हैं जो एक-दूसरे के धर्म को मान्यता प्रदान नहीं करते। अतः एक समय ऐसा अवश्य आएगा जब इन धर्मों में भयंकर संघर्ष होगा। ऐसी स्थिति में हिन्दू धर्म ही एकमात्र धर्म है जो विश्व शान्ति की स्थापना कर सकता है। उपयुक्त दोनों धर्म दर्शन-शास्त्र विरोधी भी हैं। मुस्लिम और ईसाई दोनों धर्म पुनर्जन्म में विश्वास नहीं करते। उनके अनुसार वर्तमान ही एकमात्र जीवन है। पर जीवन की बहुत-सी ऐसी जटिल घटनाएँ हैं जिनकी व्याख्या केवल वर्तमान की घटनाओं से नहीं की जा सकती। संसार में ऐसे अनेक व्यक्ति हैं जो बुरा काम करते हैं पर उन्हें जीवन की सभी सुख-सुविधाएँ उपलब्ध हैं। इसके विपरीत, ऐसे भी व्यक्ति हैं जो हमेशा धर्म-कर्म व उपकार करते हैं पर फिर भी जीवन में दुःख झेलते हैं। इन सब घटनाओं की व्याख्या केवल वर्तमान के आधार पर नहीं की जा सकती। मुस्लिम धर्म मानता है कि मुहम्मद साहब के बाद कोई दूसरा पैगम्बर हो ही नहीं सकता, दार्शनिक दृष्टि से स्वीकार्य नहीं हो सकता। कोई भी मनुष्य वैराग्य अभ्यास, त्याग और ज्ञान अर्जित कर ईश्वरत्व को प्राप्त हो सकता है। ईसाईयों का यह कथन कि एक अकेला व्यक्ति जीसस करोड़ों मनुष्यों के पापों के प्रायश्चित के लिए मर गया, बुद्धि द्वारा ग्राह्य नहीं हो सकती। गाँधीजी ने अपनी आत्मकथा में लिखा है—"मेरा विवेक इन बात को मानने के लिए भी तैयार नहीं था कि जीसस अपनी मृत्यु एवं रक्त के द्वारा संसार भर के पापों का बोझ अपने ऊपर लेकर सबका प्रायश्चित कर चुके हैं।" संसार का यह सर्वमान्य सार्वभौम सिद्धान्त है कि व्यक्ति के कर्मों का फल उसी व्यक्ति को भोगना पड़ता है जिसने वह कर्म किया है। ऐसा कभी हो नहीं सकता कि कर्म एक व्यक्ति करे और फल कोई दूसरा व्यक्ति भोगे। यदि ऐसा मान लिया जाय तो अद्वैत वेदान्त के अनुसार 'अकृत कर्म भोग' का दोष उत्पन्न हो जायेगा। इन सभी त्रुटियों के बावजूद यदि विधर्मी अपने धर्म को संसार के ऊपर लादना चाहते हैं, तो उनकी धृष्टता ही कही जायेगी।

●

१५

पूँजीवाद
(Capitalism)

शब्द का अर्थ

आजकल 'पूँजीवाद' बहुत ही प्रचलित शब्द हो गया है। जिसके पास चार पैसे होते हैं वही 'पूँजीपति' कहलाने लगता है। आधुनिक समाज में 'पूँजीवादी' और 'पूँजीपति' शब्द एक प्रकार से लांच्छनवादी शब्द हो गये हैं। राजनीतिक कार्यकर्ता जब आपस में वाक्युद्ध करते हैं तो वे एक दूसरे को 'पूँजीवादी' कहकर परितोष कर लेते हैं।

साधारणतः 'पूँजीवाद' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया जाता है—सिद्धान्ततः इसके अनुसार व्यक्तियों को निजी उद्योगों द्वारा पूँजी जमा करने तथा उस पूँजी से लाभ कमाने और पूँजी एकत्रित करने का पूर्ण अधिकार होना चाहिए। व्यवहार में पूँजीवाद शब्द का प्रयोग उस सामाजिक पद्धति के लिए होता है जिसमें वस्तुतः सारा व्यवसाय थोड़े से पूँजीपतियों के हाथ में होता है जो पूँजी के बल पर न केवल अर्थनीति वरन् राजनीति पर भी नियन्त्रण रखते हैं।

पूँजीवाद का इतिहास

पूँजीवाद और समाजवाद का संघर्ष वर्तमान का एक कटु सत्य है। यदि पूँजीवाद का विकास न हुआ होता तो समाजवाद का भी उदय न हुआ होता। औद्योगिक क्रान्ति (Industrial Revolution) से पहले वस्तुओं और सेवाओं की उत्पत्ति प्रायः छोटी मात्रा में होती थी। यही कारण था कि उस समय उत्पत्ति के साधनों का प्रयोग कम मात्रा में होता था जो साधारण मनुष्यों की शक्ति के बाहर नहीं था। इसी कारण उस समय प्रायः सभी देशों में वस्तुओं की उत्पत्ति उसी एक देश तक सीमित रहती थी। परन्तु औद्योगिक क्रान्ति के बाद जब उत्पत्ति के कार्यों में विद्युत-शक्ति और मशीनों का प्रयोग होने लगा तथा उत्पत्ति बड़ी मात्रा में होने लगी उस समय उत्पत्ति के कार्य को सुचारु रूप से चलाने के लिए अधिक श्रम, पूँजी और उत्पत्ति के अन्य साधनों की आवश्यकता होने लगी। साधारण साधन वाले मनुष्यों या उत्पादकों के लिए इन्हें जुटा पाना आसान नहीं था। इस प्रकार, धीरे-धीरे सम्पत्ति और पूँजी केवल कुछ ही हाथों में एकत्रित होती गई और देश के धन का वितरण असमान होता गया। ऐसी प्रथा जिसमें उत्पादन-कार्य में एक या कुछ ही व्यक्तियों की पूँजी प्रयुक्त होती है और जिसका उद्देश्य व्यक्तिगत लाभ होता है, पूँजीवादी व्यवस्था कहते हैं। इस प्रथा के विकास में स्वतन्त्र व्यापार (Free Trade) और निर्हस्तक्षेप-नीति (Laissez faire Policy) का पर्याप्त महत्त्व रहा है।

पूँजीवाद की परिभाषाएँ

पूँजीवाद के विषय में विभिन्न समय पर विद्वानों ने भिन्न-भिन्न मत व्यक्त किए हैं। पूँजीवाद कभी भी समाज-दर्शन का सिद्धान्त नहीं रहा है। यह केवल एक प्रकार का आर्थिक सिद्धान्त ही रहा है। इसी कारण समाज-दार्शनिकों ने इसकी कोई निश्चित परिभाषा नहीं दी है। 'पूँजीवाद' एक लांछित शब्द होने के कारण कोई भी समाज इसे अपना दार्शनिक आधार नहीं बना सकता। यहाँ तक कि अमेरिका भी, जिसका समस्त आर्थिक और सामाजिक ढाँचा पूँजीवादी व्यवस्था पर आधारित है, अपने को पूँजीवादी कहने में संकोच का अनुभव करता है। पूँजीवादी व्यवस्था में उत्पत्ति के भौतिक साधनों का अधिकार अथवा उपयोग का अधिकार कुछ ही व्यक्तियों के पास होता है। उनका उद्देश्य यह होता है कि इनकी सहायता से जो वस्तुएँ अथवा सेवाएँ उत्पन्न हों उनके द्वारा लाभ अर्जित किया जाय। पूँजीवादी समाज-व्यवस्था वह है जिसमें व्यक्ति के साधनों का प्रमुख भाग पूँजीवादी उद्योगों में लगा हुआ हो। प्रो० बेन्हम के अनुसार "पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था आर्थिक तानाशाही की प्रतिरोधी है। उत्पादन के क्षेत्र में कोई केन्द्रीय आयोजन नहीं होता है। राज्य के द्वारा लगाए गए प्रतिरोधों को छोड़कर प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छा के अनुसार कार्य करने के लिए स्वतन्त्र होता है। .....प्रत्येक, उत्पत्ति के साधन का स्वामी होता है।.....उस साधन को अपनी इच्छा के अनुसार उपयोग कर सकता है.......।"[१] पूँजीवाद में अधिकांश श्रमिक स्वामित्व खोकर केवल मजदूरों में परिवर्तित हो जाते हैं। इन समस्त श्रमिकों की मजदूरी, सुरक्षा एवं वैयक्तिक स्वतन्त्रता केवल उन मुट्ठी भर पूँजीपतियों की इच्छा पर निर्भर होती है जो भूमि, पूँजी, मशीन और कारखानों आदि पर नियन्त्रण रखते हैं और यह सब उन्हीं के स्वामित्व में होता है। पूँजीपति-वर्ग इन सब कार्यों को अपने लाभ की प्राप्ति के उद्देश्य से करता है।

पूँजीवाद के तार्किक आधार

पूँजीवादियों ने तर्क के आधार पर पूँजीवाद को न्याय्य सिद्ध करने की कोशिश की है। पूँजीवाद दार्शनिक व्यक्तिवाद (Individualism) का आर्थिक परिणाम है। इसकी मूल-धारणा यह है कि समाज-सम्बन्धी प्रत्येक सिद्धान्त अथवा विचार का केन्द्र व्यक्ति होना चाहिए क्योंकि वही वस्तुत: जीवन तथा तत्सम्बन्धी अनुभवों का केन्द्र होता है। कुटुम्ब, जाति, समाज, राष्ट्र, राज्य इत्यादि सामाजिक संस्थाएँ व्यक्ति के लिए ही होती हैं। व्यक्ति इनके लिए नहीं होता। व्यक्ति ही सम्पूर्ण समाज का केन्द्र-बिन्दु है। यही व्यक्तिवाद है। नीचे हम कुछ तार्किक आधारों का वर्णन करेंगे जिन पर पूँजीवाद की स्थापना की गई है—

१. दार्शनिक तर्क—दार्शनिक तर्क का मूलमन्त्र यह है कि प्रत्येक व्यक्ति का अपना पृथक् व्यक्तित्व होता है। उसके अपने व्यक्तित्व की अपनी-अपनी विशेषताएँ होती हैं। अत: न्याय की माँग है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने विशिष्ट व्यक्तित्व के विकास का

१. बेन्हम, एकॉनामिक्स, पृ० १५५

अबाध अवसर मिले तथा राज्य की ओर से उसके विकास पर कोई प्रतिबन्ध न लगाया जाय। उदाहरण के लिए, यदि किसी व्यक्ति की इच्छा है कि वह व्यवसायी या व्यापारी बने तथा ऐसा करके अपने धन का संचय करे, तो उसे इस बात की पूरी छूट होनी चाहिए। सभी व्यक्तियों को अपनी-अपनी रुचि और योग्यता के अनुसार अपने व्यक्तित्व के विकास का पूर्ण अवसर मिलना चाहिए। ऐसा होने से व्यक्तियों के वैयक्तिक हित के साथ-साथ सामूहिक हित की साधना भी ठीक प्रकार हो सकेगी। पूँजीवाद आर्थिक स्वतन्त्रता (Economic Freedom) में विश्वास करता है। इसके विपरीत, यदि राज्य व्यक्ति के आर्थिक जीवन में हस्तक्षेप करता है तो इससे न केवल व्यक्ति की स्वतन्त्रता क्षीण होती है वरन् राज्य को उत्पादन की कमी के कारण आर्थिक हानि भी उठानी पड़ती है। अत: पूँजीवाद उत्तम है।

२. आर्थिक तर्क—कुछ विचारकों ने आर्थिक नियमों के आधार पर पूँजीवाद का समर्थन किया है। आर्थिक जगत् का एक सर्वमान्य नियम यह है कि उस क्षेत्र में व्यक्ति की क्रिया-शीलता इस बात पर निर्भर करती है कि उसे अपने कार्यों पर लाभ प्राप्त करने की कितनी स्वतन्त्रता है। अपने आर्थिक और व्यावसायिक कार्यों का अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करने की जितनी अधिक व्यक्ति को स्वतन्त्रता प्राप्त होगी, उतनी ही अधिक लगन और परिश्रम से वह व्यवसाय चलाएगा। ऐसा होने पर समाज का आर्थिक और व्यावसायिक जीवन उन्नत और समृद्ध बनेगा तथा व्यक्ति के वैयक्तिक हित का सम्पादन भी अधिकतम होगा। अत:, यदि राज्य आर्थिक क्षेत्र में व्यक्ति को स्वतन्त्र छोड़ दे तो प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने लाभ के लिए अधिक से अधिक प्रयत्नशील होगा जिससे व्यक्ति, समाज एवं राज्य तीनों के अधिकतम आर्थिक हित का सम्पादन हो सकेगा। राज्य के व्यक्तियों द्वारा राज्य का अधिकतम आर्थिक लाभ हो सके, इसके लिए राज्य को निर्हस्तक्षेप-नीति (Laissez-faire Policy) पर चलना चाहिए।

इसी प्रकार दूसरा आर्थिक नियम यह है कि वस्तुओं के मूल्य माँग और पूर्ति के नियम (Law of Demand & Supply) के अनुसार स्वाभाविक रूप से निर्धारित होने चाहिए। वेतन की दर और बचत का अनुपात भी इसी स्वाभाविक नियम द्वारा निर्धारित होना चाहिए। यदि इस स्वाभाविक निर्धारण में राज्य अपनी किसी व्यवस्था द्वारा हस्तक्षेप करता है तथा वस्तुओं के भाव, मजदूरी की दर अथवा बचत के अनुपात की वृद्धि-ह्रास को नियन्त्रित करता है तो इससे आर्थिक क्षेत्र में अव्यवस्था का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। इसीलिए पूँजीवाद के अनुसार आर्थिक नियमों में किसी प्रकार का कृत्रिम हस्तक्षेप आर्थिक दृष्टि से मान्य नहीं हो सकता।

आर्थिक जगत् का एक तीसरा नियम है जिसे स्वतन्त्र प्रतियोगिता (Free Competition) का नियम कहते हैं जिसके आधार पर पूँजीवाद का प्रतिपादन किया जाता है। इस नियम के अनुसार आर्थिक क्षेत्र में स्वाभाविक रूप से प्रतियोगिता होती है जिसके परिणामस्वरूप प्रत्येक व्यक्ति अधिक से अधिक लाभ कमाने के लिए क्रियाशील होता है तथा समष्टि रूप से समाज की आर्थिक उन्नति होती है। यदि राज्य नियम द्वारा

उस प्रतियोगिता में बाधा डालता है तो व्यक्तियों की तो हानि होती ही है, समष्टि रूप से समाज की भी हानि होती है। अतः, राज्य को हस्तक्षेप के स्थान पर मुक्त-व्यापार-पद्धति को प्रोत्साहित करना चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार क्षेत्र में भी उन्मुक्त व्यापार-नीति का अनुसरण करना चाहिए। पूँजीवाद की यही मान्यता है।

३. प्राणिशास्त्रीय तर्क—विशुद्ध वैज्ञानिक आधार पर भी पूँजीवाद का समर्थन किया गया है। हर्बर्ट स्पेन्सर के अनुसार प्राणियों के विकास की प्रक्रिया जीवों के पारस्परिक जीवन-संग्राम (Struggle for Existence) द्वारा संचालित होती है। इस जीवन-संग्राम में अयोग्य और निर्बल जीव तो नष्ट हो जाते हैं तथा योग्य, समर्थ और बलवान ही जीवित रह सकते हैं। यह सिद्धान्त वनस्पति-जगत्, जन्तु-जगत् और मनुष्य-जगत् सभी में समान रूप से लागू होता है। कमजोर पेड़-पौधों को चूस कर बलवान पेड़-पौधे जीवित रहते हैं। बड़ी मछली छोटी मछलियों को खाकर जीवित रहती है। मानव-जगत् में भी बलवान निर्बलों को साधन बनाकर अपने स्वार्थ को सिद्ध करते हैं। सर्वत्र योग्यतम की विजय (Survival of the Fittest) का सिद्धान्त चरितार्थ होते दीख पड़ता है। जो बात प्राणि-जगत् में सत्य है, वही आर्थिक-जगत् में भी सत्य है। जीवन-संग्राम-सिद्धान्त के अनुसार पूँजीपतियों को श्रमिकों के शोषण का अधिकार मिलना चाहिए, क्योंकि केवल इसी विधि से राज्य आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न हो सकता है तथा योग्य व्यक्तियों की समाज में प्रतिष्ठा स्थापित की जा सकती है। यदि राज्य कृत्रिम उपायों द्वारा निर्बल एवं अयोग्य व्यक्तियों की रक्षा करता है तो योग्यता की अवमानना होती है तथा निर्बल एवं अयोग्य तत्त्वों के बने रहने से समाज का वातावरण कभी भी स्वस्थ नहीं रह सकता है। अतः पूँजीवाद उत्तम सिद्धान्त है।

इन तर्कों के अतिरिक्त ऐतिहासिक एवं व्यावहारिक आधारों पर भी पूँजीवाद का समर्थन किया गया है। इतिहास इस बात का प्रमाण है कि जब कभी राज्यों ने वस्तुओं के मूल्य, मजदूरी की दर तथा लाभ का अनुपात नियन्त्रित करने का प्रयत्न किया है तो उन्हें सफलता नहीं मिली है। नियन्त्रित अवस्था में या तो वस्तुओं का उत्पादन कम हो गया या उनकी चोर-बाजारी होने लगी। भारत इस बात का ज्वलन्त उदाहरण है। यहाँ जिन-जिन वस्तुओं का राष्ट्रीयकरण किया गया, उनके उत्पादन में कमी आयी; भ्रष्टाचार में वृद्धि हुई तथा नौकरशाही का आतंक बढ़ा। उसी प्रकार व्यावहारिक दृष्टि से भी पूँजीवाद को समाजवाद से श्रेष्ठतर बताया गया है। आर्थिक, सामाजिक या राजनीतिक किसी क्षेत्र में केन्द्रीयकरण का भयंकर परिणाम होता है। उत्पादन के साधनों के राष्ट्रीयकरण से केन्द्रीयकरण को ही बढ़ावा मिलता है। आधुनिक परिस्थितियों में राष्ट्रीयकरण का अर्थ केवल सरकारीकरण ही होता है जिससे व्यक्तियों की निपुणता में अपार क्षति होती है। समाज-दर्शन के दृष्टिकोण से राज्य को व्यक्तियों का स्थानापन्न (Substitute) नहीं होना चाहिए। मशीन, मनुष्य का स्थानापन्न नहीं हो सकती। उदाहरणार्थ, व्यवसायी स्वयं जिस परिश्रम के साथ व्यवसाय चलाता है, कच्चा माल खरीदता है तथा कम से कम लागत में अच्छा से अच्छा माल तैयार करने की कोशिश करता है, ऐसे परिश्रम की आशा किसी

सरकारी नौकर से नहीं की जा सकती। अत: इन विचारकों के अनुसार हम किसी भी दृष्टि से विचार करें पूँजीवाद, समाजवाद से उत्तम सिद्धान्त है।

पूँजीवाद की प्रमुख विशेषताएँ

१. निजी सम्पत्ति पर स्वामित्व का अधिकार—पूँजीवादी समाज-व्यवस्था की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसमें व्यक्ति को उसकी निजी सम्पत्ति पर स्वामित्व का अधिकार दिया जाता है। प्रत्येक व्यक्ति के भीतर धन-संचय की मूल-प्रवृत्ति (Instinct of Acquisition) पाई जाती है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यता, शक्ति और इच्छा के अनुसार व्यक्तिगत सम्पत्ति का निर्माण कर सकता है जो वंश-परम्परानुसार चल सकती है। व्यक्तिगत सम्पत्ति व्यक्ति के विकास के लिए अत्यावश्यक है। यदि किसी व्यक्ति के पास अधिक मात्रा में धन या पूँजी है तो वह उसका उपयोग स्वतन्त्र रूप से और अधिक धन कमाने के लिए या सम्पत्ति बढ़ाने के लिए कर सकता है। इस कार्य में समाज, सरकार या राज्य की ओर से किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं किया जाता।

२. मुक्त व्यापार, आर्थिक स्वतन्त्रता और अहस्तक्षेप-नीति—पूँजीवाद के भीतर प्रत्येक व्यक्ति को अपनी योग्यता और रुचि के अनुसार व्यवसाय करने की स्वतन्त्रता (Economic Freedom) तथा किसी के साथ व्यापार करने की छूट (Free Trade) होती है। इसमें राज्य की ओर से किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं (Laissez faire) किया जाता।

३. व्यवसाय एवं विनियोग की पूर्ण स्वतन्त्रता—पूँजीवादी समाज-व्यवस्था में विनियोग और व्यवसाय की पूर्ण स्वतन्त्रता (Freedom of Enterprize) होती है। प्रत्येक उत्पादक को इस बात की स्वतन्त्रता होती है कि वह किसी भी वस्तु या सेवा को किसी भी रूप में एवं किसी भी मात्रा में उत्पन्न कर सकता है। उत्पादक अपनी शक्ति और वस्तुओं की माँग के अनुसार उत्पादन की मात्रा का निर्णय करता है। इसमें उसके दो प्रमुख उद्देश्य निहित होते हैं—१. अधिकतम उत्पत्ति और २. अधिकतम लाभ। इसका प्राय: यह परिणाम होता है कि जिस वस्तु के उत्पादन से अधिकतम लाभ हो सकता है, सभी उत्पादक उस ओर झुक जाते हैं और राज्य द्वारा किसी प्रकार के हस्तक्षेप न होने के कारण अन्त में कुछ बड़े उद्योगपति ही उस क्षेत्र में शेष रह जाते हैं। इस प्रकार एक ओर एकाधिकार (Monopoly) की स्थापना होती है और दूसरी ओर उपभोक्ताओं की हानि होती है।

४.वर्ग-संघर्ष—पूँजीवादी समाज-व्यवस्था की एक विशेषता वर्ग-भेद की उत्पत्ति है। पूँजीवादी व्यवस्था में विनियोग, उत्पत्ति और उपभोग पर किसी प्रकार का बन्धन न होने के कारण जिनके पास धन होता है वे अपने निजी लाभ के लिए उस धन के अधिकतम भाग को 'अधिक उत्पत्ति' के लिए विनियोग करते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि देश के धन का एक बड़ा भाग केवल कुछ ही व्यक्तियों (पूँजीपतियों) के हाथ में केन्द्रीभूत हो जाता है। पूँजीपतियों के पास अधिक धन होने के कारण वे श्रमिकों

का सरलता से शोषण कर लेते हैं। इससे देश में दो स्पष्ट वर्ग—पूँजीपति वर्ग और श्रमिक वर्ग—स्थापित हो जाते हैं। संक्षेप में—पूँजीवादी व्यवस्था के कारण समाज में सम्पन्न (Have) और विपन्न (Have-not) नाम के दो वर्ग उत्पन्न हो जाते हैं जिनके हितों में विपरीतता होने के कारण उनमें निरन्तर संघर्ष की स्थिति बनी रहती है। इसी को वर्ग-संघर्ष (Class-Conflict) कहते हैं।

५. आर्थिक प्रतिस्पर्धा—पूँजीवाद में प्रत्येक व्यक्ति अपने निजी लाभ के उद्देश्य से वस्तु और सेवाओं की उत्पत्ति करता है। अत: उसे उस वस्तु के अन्य उत्पादकों के साथ प्रतिस्पर्धा करना आवश्यक हो जाता है। इस प्रतिस्पर्धा से लाभ यह होता है कि बाजार में वस्तुओं की कीमत कम हो जाती है पर हानि यह होती है कि एकाधिकार की स्थापना के कारण उपभोक्ताओं को हानि उठानी पड़ती है।

६. प्रतिस्पर्धा और संयोजन का सह-अस्तित्व—पूँजीवादी समाज-व्यवस्था की यह विचित्र विशेषता है कि इसमें प्रतिस्पर्धा और संयोजन (Combination) दोनों परस्पर विरोधी होते हुए भी एक साथ निवास करते हैं। बाजार में प्रभुत्व स्थापित करने के लिए प्रत्येक उत्पादक उत्पत्ति की आधुनिकतम प्रणालियों को अपना कर उत्पत्ति-व्यय को कम करना चाहता है ताकि वह दूसरों की अपेक्षा अपनी वस्तुओं को सस्ते दामों पर बेच सके और इस प्रकार दूसरे उत्पादकों को बाजार से हटाकर अपना एकमात्र प्रभुत्व स्थापित कर सके। इसके लिए प्रारम्भ में उसे दूसरे उत्पादकों के साथ तीव्र प्रतिस्पर्धा करनी पड़ती है। इस प्रतिस्पर्धा के कारण छोटे उत्पादक बाजार से हट जाते हैं और अन्त में दो-चार बड़े उत्पादक ही मैदान में रह जाते हैं। जब ये उत्पादक अनुभव करते हैं कि बिना पर्याप्त हानि उठाए प्रतिस्पर्धा में दूसरे उत्पादकों को हटा नहीं सकेंगे तो वे आपस में संयोजन और सहयोग करने लगते हैं। औद्योगिक सम्मिश्रण (Industrial Combination) पूँजीवाद का एक अनिवार्य परिणाम होता है।

७. व्यापार-चक्र—पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में व्यापार-चक्र बड़ी तीव्रता से क्रियाशील होता है। उत्पादक-वर्ग यदि अनुभव करता है कि बाजार में किसी वस्तु या सेवा की माँग अधिक है तो अपनी अधिकतम पूँजी का विनियोग उस वस्तु या सेवा की उत्पत्ति में लगा देता है। इस प्रकार विभिन्न उत्पादकों द्वारा जब उस वस्तु या सेवा की उत्पत्ति अधिकतम मात्रा में होने लगती है तो उसकी पूर्ति उसकी माँग से अधिक हो जाती है जिसे अति-उत्पादन (Over Production) की स्थिति कहते हैं। ऐसी स्थिति में उत्पादकों को मन्दी (Depression) का सामना करना पड़ता है तो उपभोक्ताओं को वस्तुएँ कठिनाई से प्राप्त होती हैं और उनके लिए उन्हें ज्यादा दाम देने पड़ते हैं। इस प्रकार पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में 'कम-उत्पादन' और 'अधिक-उत्पादन' 'तेजी' और मन्दी (Boom and Depression) का व्यापार-चक्र (Trade Cycle) चलता रहता है।

पूँजीवाद के गुण

पूँजीवादी समाज-व्यवस्था के अनेक गुण हैं जिनके कारण यह व्यवस्था संसार के

सबसे सम्पन्न और खुशहाल देशों में पाई जाती है। अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रान्स, कनाडा, पश्चिमी जर्मनी इत्यादि सम्पन्न देशों ने इसी व्यवस्था का अनुसरण कर आज इतनी उन्नति की है। तथा-कथित समाजवादी देश रूस और चीन किसी भी मानदण्ड के अनुसार इन देशों का मुकाबला नहीं कर सकते। ये देश इस बात के ज्वलन्त प्रमाण हैं कि किसी देश की प्रगति केवल केन्द्रीय नियन्त्रण-प्रणाली पर ही आधारित नहीं होती बल्कि पूँजीवादी व्यवस्था के अन्दर भी सामाजिक और आर्थिक विकास सम्भव है। पूँजीवाद के निम्न गुण दर्शनीय हैं—

१. अधिकतम उत्पादन—पूँजीवाद में उत्पादकों को पग-पग पर प्रतिस्पर्धा करनी पड़ती हं, अतः, वस्तुओं की मात्रा और गुण दोनों में प्रगति होती है। इससे उत्पादकों को प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों लाभ होते हैं। प्रत्यक्ष लाभ तो यह होता है कि अधिक उत्पादन के कारण वह उत्पत्ति-व्यय को कम करके पूरे बाजार को अपने अधिकार में कर लेता है जिससे उसे अधिकतम लाभ की प्राप्ति होती है। अप्रत्यक्ष लाभ यह है कि छोटे-छोटे और सीमान्त उत्पादक बाजार से हट जाते हैं और इस प्रकार उसे कम प्रतिद्वन्द्वियों से प्रतिस्पर्धा करनी पड़ती है।

नियन्त्रित अर्थ-व्यवस्था में उत्पादन सरकार द्वारा निर्धारित होता है जिससे स्पर्धा का बिलकुल ही अभाव पाया जाता है। इसमें उपभोक्ताओं का महत्त्व नगण्य ही होता है। इसके विपरीत पूँजीवादी व्यवस्था में उपभोक्ताओं का सर्वाधिक महत्त्व होता है। उत्पादक उन्हीं की इच्छा, रुचि और माँग के अनुसार वस्तुओं की उत्पत्ति और वितरण करते हैं।

२. जोखिम और साहस का भाव—पूँजीवादी समाज-व्यवस्था में पूँजीपति का उद्देश्य अधिक से अधिक लाभ का अर्जन करना होता है। जिस क्षेत्र में उत्पादकों की कमी है और वस्तुओं की माँग अधिक है, उस क्षेत्र में वह अधिक जोखिम (Risk) और साहस (Enterprize) उठाकर वस्तुओं की उत्पत्ति में अपनी पूँजी का विनियोग करता है। इस व्यवस्था में अधिक जोखिम उठाया जाता है, नई-नई खोज और अन्वेषण किए जाते हैं जिससे कि पूँजीपति अधिकतम लाभ की प्राप्ति कर सकें। समाजवादी अर्थ-व्यवस्था में सभी उद्योग राष्ट्रीयकृत और आयोजित होते हैं, अतः, उसमें जोखिम और साहस के लिए कोई स्थान नहीं होता। परिणामस्वरूप उत्पादन भी कम ही होता है। पूँजीपति इस बात को मान कर चलते हैं कि 'बिना जोखिम उठाए लाभ नहीं होता' (No risk, no gain)। जोखिम और साहस उठाने का लाभ यह होता है कि उपभोक्ताओं को सस्ते दर पर प्रभूत सामग्री उपलब्ध हो जाती है।

३. प्रौद्योगिकी की वृद्धि और यान्त्रिकीकरण—पूँजीवादी व्यवस्था में पूँजीपतियों का उद्देश्य कम लागत में अधिकतम लाभ कमाने का होता है। यह तभी सम्भव है जब कि वस्तुओं के उत्पादन में कम से कम श्रमिकों का उपयोग किया जाय और यन्त्रों तथा प्रौद्योगिकी (Machines and Technology) का अधिक से अधिक उपयोग किया जाय। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए पूँजीपति अपने कारखानों में गवेषणा और अन्वेषण का प्रावधान करता है जिससे कि वह उत्पत्ति के नए-नए तरीकों का प्रयोग

कर सके। यदि इस कार्य में वह असफल रहा तो उसे एक दिन बाजार से हटना भी पड़ सकता है।

४. लोकतन्त्रीय रूप (Democratic Character)—पूँजीवाद एक प्रकार का आर्थिक लोकतन्त्र है। समाजवादी अर्थ-व्यवस्था की भाँति यह पूर्ण रूप से सरकार द्वारा आयोजित और नियंत्रित नहीं होता। जिस प्रकार राजनीतिक लोकतन्त्र में सत्ता का विकेन्द्रीकरण होता है और प्रत्येक व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार मत देने का अधिकार होता है उसी प्रकार पूँजीवाद (आर्थिक लोकतन्त्र) में प्रत्येक व्यक्ति को अपनी योग्यता और रुचि के अनुसार व्यवसाय चुनने का अधिकार होता है। व्यक्तिगत और सामाजिक स्वतन्त्रता के कारण इस प्रथा के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति और उत्पादक अपनी इच्छानुसार उत्पत्ति और वितरण कर सकता है। पूँजीवादी समाज-व्यवस्था में उपभोक्ता का महत्त्व बहुत बढ़ जाता है और उसका स्थान वही होता है, जैसा कि लोकतन्त्र में मतदाता का।

उपर्युक्त गुणों के अतिरिक्त पूँजीवादी व्यवस्था में कई अन्य लाभ भी होते हैं जैसे—इसमें साधनों का पूर्ण उपयोग होता है, उत्पत्ति को प्रोत्साहन मिलता है, व्यक्तिगत निरीक्षण के कारण वस्तुओं की मात्रा और गुण में वृद्धि होती है इत्यादि। इतना होते हुए भी पूँजीवादी समाज-व्यवस्था में ऐसे अनेक दोष हैं जिनकी अवहेलना नहीं की जा सकती। अब हम पूँजीवाद के दोषों पर दृष्टिपात करेंगे—

पूँजीवादी व्यवस्था के दोष

१. श्रमिकों का शोषण—पहले ही निवेदन किया गया कि पूँजीपतियों और श्रमिकों के हितों में परस्पर-विरोध पाया जाता है। मजदूरी के निर्धारण में जब पूँजीपति और श्रमिकों में संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है तो पूँजीपति की शक्ति अधिक होने के कारण श्रमिकों को ही अन्ततः झुकना पड़ता है। मजदूरी की दर प्रायः मजदूर की सीमान्त उत्पादन-शक्ति (Marginal Productivity) से कम दर पर ही तय होती है। इस प्रकार सीमान्त पूँजीपतियों द्वारा श्रमिकों का शोषण (Exploitation) ही होता है। पूँजीवादी व्यवस्था में पूँजीपतियों को औद्योगिक विकास के सभी क्षेत्रों में प्रमुखता प्राप्त होती है और श्रमिकों का स्थान सदा गौण ही होता है। इस प्रकार श्रमिकों का शोषण अनिवार्य हो जाता है।

२. स्वार्थ-नीति—पूँजीवादी प्रथा में उत्पत्ति, उपभोग, विनिमय और वितरण पर किसी प्रकार का नियन्त्रण न होने के कारण पूँजीपति वस्तुओं और सेवाओं की उत्पत्ति स्वार्थ-सिद्धि और अधिकतम लाभ के उद्देश्य से करता है। इस कार्य में यदि उसे अन्य उत्पादकों के साथ 'गला-काट प्रतिस्पर्धा' (Cut-Throat-Competition) भी करनी पड़े तब भी वह इसमें संकोच न करेगा। उसके समक्ष केवल एक ही उद्देश्य होता है—व्यक्तिगत लाभ जिसे वह किसी भी मूल्य पर प्राप्त करना चाहता है।

३. अनियन्त्रित अर्थ-व्यवस्था—पूँजीवादी उत्पादन की मात्रा को बढ़ाकर

वस्तुओं के उत्पादन-व्यय को कम से कम करना चाहता है जिससे कि वह अपने माल को बाजार में सस्ते दामों में बेचकर अधिकतम लाभ कमा सके। पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में उपभोक्ताओं को इस बात की पूर्ण स्वतन्त्रता (Consumer's Sovereignity) होती है कि वह चाहे जिस वस्तु का उपभोग करे। उत्पादक की सदा यही चेष्टा रहती है कि वह वस्तुओं की उत्पत्ति निम्नतम उत्पादन-मूल्य पर करे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह अति-उत्पादन (Over-Production) का सहारा लेता है। अति-उत्पादन का प्रभाव कभी-कभी इतना होता है कि बाजार में वस्तुओं का मूल्य उत्पादन-व्यय से भी कम हो जाता है। ऐसी स्थिति में पूँजीपति अतिरिक्त वस्तुओं को नष्ट कर देते हैं जिससे कि बाजार में वस्तुओं की कीमत गिरने न पाये। अमेरिका में प्राय: यही किया जाता है।

४. आत्मघाती सिद्धान्त—पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था का विनाश स्वयं इसी के द्वारा होता है। पूँजीवादी प्रथा में लाभ का उद्देश्य मुख्य होने के कारण प्रत्येक व्यक्ति निजी लाभ कमाने के उद्देश्य से ही पूँजी का अधिकतम विनियोग (Investment) करता है। पूँजीपति सदा इस बात के लिए प्रयत्नशील रहता है कि वह निम्नतम उत्पादन-व्यय में अधिकतम उत्पादन कर सके। इसके लिए एक ओर तो अति-उत्पादन (Over-Production) होता है तो दूसरी ओर श्रमिकों को निम्नतम पारिश्रमिक (Marginal Wages) दिया जाता है। इन सब बातों का संकलित परिणाम यह होता है कि देश में मन्दी (Depression) आ जाती है जिससे प्राय: सभी पक्षों को हानि उठानी पड़ती है।

५. सामाजिक परजीविता की वृद्धि—पूँजीवादी समाज-व्यवस्था में सामाजिक परजीवियों (Social Parasites) का अस्तित्व होता है। इनमें बहुत से ऐसे धनवान होते हैं जो किसी भी प्रकार का कार्य किए बिना अपना जीवन सम्पन्नता और भोग-विलास में व्यतीत करते हैं। नैतिकता की यह माँग है कि बिना उत्पादक श्रम के किसी को उपभोग का अधिकार नहीं दिया जा सकता। पूँजीवादी व्यवस्था में इसी प्रकार के अनैतिक कार्य किए जाते हैं।

६. धन का अपव्यय—पूँजीवादी समाज-व्यवस्था में घोर प्रतिस्पर्धा होने के कारण पूँजीपतियों को प्रचार (Publicity), विज्ञापन (Advertisement), विशिष्टीकरण (Specialisation) और अभिनवीकरण (Rationalisation) में पर्याप्त धन व्यय करना होता है। कभी-कभी तो उत्पादन-व्यय से भी कम कीमत पर वस्तुओं को बाजार में बेचना पड़ता है। इससे पूँजीपतियों को पर्याप्त धन का अपव्यय करना होता है।

७. आर्थिक मनुष्य की कल्पना—पूँजीवाद का सबसे बड़ा दोष है उसके मनुष्य का विचार। वह आर्थिक मनुष्य (Economic Man) की कल्पना करता है। उसके अनुसार 'अर्थ' मनुष्य का चरम पुरुषार्थ है। पर बात ऐसी नहीं है। अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष ये सभी मनुष्य के पुरुषार्थ हैं। मनुष्य केवल स्वार्थी (Selfish) ही नहीं है, उसमें परार्थ-भावना (Altruism) भी प्रचुर मात्रा में पाई जाती है। पूँजीवाद मनुष्य की परार्थ-भावना की स्पष्ट अवज्ञा करता है।

पूँजीवाद का मूल्यांकन

पूँजीवाद आर्थिक लोकतन्त्र में विश्वास करता है। इसमें प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी रुचि, योग्यता और शक्ति के अनुसार व्यवसाय कर सकता है। व्यवसायों के अपनाने में राज्य की ओर से व्यक्ति के जीवन में किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं होता। अतः, पूँजीवादी व्यवस्था लोकतान्त्रिक होने के कारण व्यक्ति के विकास को समुचित अवसर प्रदान करती है।

पूँजीवाद में उत्पादन पर विशेष बल दिया जाता है और समाजवाद में वितरण पर विशेष बल दिया जाता है। पर जब तक उत्पादन नहीं होगा तब तक वितरण का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। समाजवादी व्यवस्था में प्रोत्साहन व उत्प्रेरणा की कमी के कारण उत्पादन में कमी अनिवार्य है। अतः, पूँजीवाद क़ी बुराइयाँ समाजवाद द्वारा दूर नहीं की जा सकती। आजकल समाजवाद शब्द एक नारे (Slogan) के रूप में प्रयोग किया जाता है। सच पूछा जाय तो समाजवाद स्वयं एक प्रकार का सघन पूँजीवाद है क्योंकि पूँजीवाद में कुछ न कुछ धन का विकेन्द्रीकरण अवश्य ही होता है पर समाजवाद में तो धन बिलकुल ही राज्य में केन्द्रीभूत हो जाता है। इसी कारण तथाकथित समाजवाद को राज्य-पूँजीवाद (State-Capitalism) कह सकते हैं। अतः, समाजवाद पूँजीवाद की औषधि कदापि नहीं हो सकता। हमें ऐसे निदान की आवश्यकता है जिसमें पूँजीवाद की बुराइयाँ तो दूर हो जाँय पर उसकी अच्छाइयाँ सुरक्षित रहें। इसके लिए नीचे कुछ उपायों की ओर संकेत किया जाता है—

१. पूँजीपतियों को उद्योगों में श्रमिकों को भी साझेदार बनाना चाहिए। पूँजीपति यदि बड़े-बड़े शेयर ख़रीदते हैं तो श्रमिक छोटे-छोटे शेयर ही खरीद सकते हैं। इसके बाद सभी शेयर-होल्डरों को उनके शेयर के अनुपात में लाभांशों का वितरण किया जा सकता है। इसका परिणाम यह होगा कि पूँजी और श्रम का जो भेद है वह समाप्त नहीं तो कम अवश्य ही हो जायगा।

२. पूँजीवाद को एक आवश्यक बुराई के रूप में लेना चाहिए। यदि इसका हम बिलकुल परित्याग करते हैं तो उद्योगों में निपुणता का ह्रास और उत्पादन में कमी अवश्य आ जायगी। निजी क्षेत्र और सार्वजनिक क्षेत्र में प्रतिस्पर्धा लाकर हम दोनों को अच्छाइयों से लाभ और उनकी बुराइयों से नसीहत उठा सकते हैं।

३. गाँधीजी ने कहा था कि पूँजीपतियों को अपनी पूँजी को एक सामाजिक प्रन्यास (Social Trust) के रूप में लेना चाहिए। मनुष्य बिलकुल स्वार्थी ही नहीं होता। उसके भीतर परार्थ-भावना भी पायी जाती है। पूँजीपतियों की परार्थ-भावना को जागरित कर हम जितना उनसे खर्च करा सकते हैं उतना वल-प्रयोग द्वारा नहीं। यदि पूँजीपति भगवान् श्रीरामचन्द्र, राजा हरिश्चन्द्र और भामाशाह की तरह अपने धन का सार्वजनिक कार्यों में उपयोग करते हैं तो पूँजीवाद रूस और चीन की समाजवाद से कहीं अच्छा है। केवल समाजवाद की भावना में प्रवाहित हो जाने से ही पूँजीवाद की बुराइयाँ दूर नहीं की जा सकतीं।

४. पश्चिम की समाज-व्यवस्था चाहे वह पूँजीवाद हो या समाजवाद या साम्यवाद, सभी भोगवादी सिद्धान्त पर आधारित हैं। पर भारतीय सिद्धान्त के अनुसार अधिकाधिक उपभोग ही मनुष्यों के दुःखों का मूल कारण है। उपभोग की लालसा जितनी ही पूरी की जाती है वह उतनी ही बढ़ती चली जाती है। वर्ग-संघर्ष जिसके ऊपर समूचा साम्यवाद खड़ा है, ऐसे उपभोग के कारण ही उत्पन्न होता है। भारतीय मतवाद जब वर्ग-संघर्ष का खण्डन करता है तो उसका मन्तव्य यही होता है कि जीवन में उपभोग का उतना महत्त्व नहीं है जितना वास्तव में लोग उसे देते हैं। त्याग, संयम और न्यूनतम उपभोग ही भारतीय जीवन के उच्चादर्श हैं।

५. आर्थिक क्षेत्र में तीन प्रमुख वस्तुएँ महत्त्वपूर्ण होती हैं जिनमें किसी की भी अवहेलना नहीं की जा सकती। वे हैं—मनुष्य, श्रम और मशीन। किसी भी अर्थ-व्यवस्था में इन तीनों का समन्वय होना चाहिए। पूँजीवाद मशीन को इतना अधिक महत्त्व देता है कि उसकी दृष्टि में मनुष्य और श्रम का कोई महत्त्व ही नहीं रह जाता। इसमें मनुष्य का अमानवीयकरण होता है जिसके परिणामस्वरूप समाज में विषमताएँ उत्पन्न हो जाती हैं।

●

१६

समाजवाद
(Socialism)

'समाजवाद' आधुनिक युग की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विचारधारा है। सभी देश अपने को 'समाजवादी' कहने में गर्व का अनुभव करते हैं। यहाँ तक कि जो समाजवाद के विरोधी हैं वे भी सार्वजनिक रूप से समाजवाद की आलोचना करने का साहस नहीं कर पाते। इसके अभ्युदय के साथ संसार में एक ऐसे नूतन दृष्टिकोण का जन्म हुआ है जो सामाजिक शोषण के अन्त तथा सभी क्षेत्रों में न्याय-व्यवस्था की स्थापना का समर्थन करता है। इस नवीन दृष्टिकोण का महत्त्व केवल सामाजिक क्षेत्र में ही नहीं है अपितु इसके कारण व्यावहारिक राजनीति, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, समाज की आर्थिक व्यवस्था तथा साहित्य और संस्कृति तक प्रभावित हुए बिना नहीं रहे हैं। यही कारण है कि अपने विकास के क्रम में समाजवाद ने अनेक रूप धारण किए हैं।

समाजवाद का अर्थ

'समाजवाद' (Socialism) शब्द (Socius) से लिया गया है जिसका अर्थ 'समाज' होता है। इस प्रकार समाजवाद का सम्बन्ध समाज के सुधार से है। आधुनिक समाज का संगठन और उसकी संरचना इतनी दोषयुक्त और अन्यायपूर्ण है कि समाजवाद के आविर्भाव को कोई शक्ति रोक नहीं सकती। समाजवाद वस्तुतः उस सामाजिक और आर्थिक अव्यवस्था के विरुद्ध प्रतिक्रिया है जिसको पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था ने उत्पन्न किया है। समाजवाद मनुष्य और बच्चों के मनुष्य द्वारा शोषण के विरुद्ध एक प्रकार का धर्म-युद्ध है। यह शोषण आज खेतों में, खानों में, कल-कारखानों में और फैक्टरियों में सर्वत्र दिखाई दे रहा है। समाजवाद उस सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह है जिसमें व्यक्तिगत लाभ को ही सब कुछ माना जाता है और जहाँ परार्थ-भावना को बिलकुल ही महत्त्व नहीं दिया जाता। समाजवाद आर्थिक प्रतियोगिता के विरुद्ध भी चुनौती है जिसमें श्रमिकों और उनके परिवार वालों को निरन्तर गरीबी की असहाय अवस्था में छोड़ दिया जाता है और जिसमें करोड़ों आदमियों को भूखा-नंगा रखकर कुछ इने-गिने लोगों को मालामाल कर दिया जाता है तथा जिसने समाज को दो विरोधी वर्गों में बाँटकर संघर्षों और युद्धों को जन्म दिया है।

वर्तमान सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था के विरुद्ध समाजवाद ने युद्ध का उद्घोष किया है। वह वस्तुतः नैतिक धर्म-युद्ध है यद्यपि उसका आधार आर्थिक है। प्राचीनकाल से आज तक उत्पादक वर्ग के साथ कभी भी न्याय नहीं किया गया। आदि

काल में यह वर्ग केवल दासों (Slaves) का वर्ग था, फिर कुछ समय बाद इस वर्ग में अर्द्धस्वतन्त्र कृषक वर्ग आ गए। आज इस औद्योगिक युग में इस वर्ग में श्रमिक लोग सम्मिलित हो गये हैं। समाजवादियों का कथन है कि इस उत्पादक वर्ग को सदैव भूमि-रहित, पूँजी-रहित और साधन-हीन रखा गया है। इस वर्ग को न तो श्रम का उचित पारिश्रमिक मिला है और न उसे समाज में उचित राजनीतिक और सामाजिक अधिकार ही मिले हैं। वस्तुतः राजनीतिक अधिकार आर्थिक अधिकारों के परिणाम हैं। बिना आर्थिक अधिकारों के राजनीतिक अधिकार प्रवञ्चनामात्र हैं। समाजवादियों का कथन है कि जब तक पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में आमूल परिवर्तन नहीं लाया जायगा, तब तक शोषित और दलित वर्ग का कुछ भी सुधार नहीं किया जा सकता। इसलिए, समाजवादी चाहते हैं कि भूमि (Land) और पूँजी (Capital) पर समस्त समाज का स्वामित्व हो जिससे कि समाज के सभी वर्गों के आनुपातिक भाग सुनिश्चित किए जा सकें। उनके अनुसार समाजवादी व्यवस्था द्वारा पृथ्वी पर सुख और समृद्धि लाई जा सकती है।

समाजवाद की परिभाषाएँ

सैद्धान्तिक दृष्टि से समाजवाद की परिभाषा करना अत्यन्त ही कठिन कार्य है। इसका एक कारण यह है कि समाजवाद का रूप परिस्थितियों के परिवर्तन के अनुसार सदा बदलता रहता है। इसे बहुरूपिया दर्शन कहें तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी क्योंकि इसके रूप, क्षेत्र और सीमाओं को एक परिधि में बाँधना अत्यन्त दुष्कर कार्य है। इसकी इसी विशेषता के कारण रैमज़े म्योर[1] ने समाजवाद के विषय में कहा है कि "यह एक गिरगिट के समान है जो परिस्थितियों के अनुसार अपना रंग बदलता रहता है।"

चूँकि परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ समाजवाद का रूप बदलता रहा है अतः उसकी परिभाषा भी भिन्न-भिन्न प्रकार से की गयी है। यहाँ हम कुछ महत्त्वपूर्ण परिभाषाओं का ही विवेचन प्रस्तुत करेंगे। एमाइल[2] के अनुसार "यह श्रमिकों का एक ऐसा संगठन है जिसका उद्देश्य पूँजीवादी सम्पत्ति को सामाजिक सम्पत्ति में परिवर्तित करने के लिए राजनीतिक सत्ता प्राप्त करना है।" ह्यूगन[3] के अनुसार "समाजवाद श्रमिक-वर्ग का एक आन्दोलन है जिसका लक्ष्य उत्पादन और वितरण के मौलिक साधनों के सामूहिक तथा लोकतन्त्रीय प्रबन्ध द्वारा शोषण को समाप्त करना है।"

---

1. It is a chanekin like creed, it changes its colour according to its environments. *– Ramsay Muir*
2. It means the organisation of workers for the conquest of political power for the purpose of transforming capitalist property into social property. *– Emile*
3. Socialism is the political movement of the working class which aims to abolish exploitation by means of the collective ownership and democratic management of the basic instruments of production and distribution. *– Hughan*

रॉबर्ट[1] ने भी सम्पत्ति के स्वामित्व पर विशेष बल दिया है और कहा है कि "समाजवादी कार्यक्रम का यह एक आवश्यक भाग है कि भूमि तथा उत्पादन के अन्य साधनों पर जनता का अधिकार हो तथा उनका प्रयोग और प्रबन्ध जनता द्वारा जनता के लिए ही किया जाय।" बाबू जयप्रकाश नारायण ने भी समाजवाद के विभिन्न पहलुओं का विश्लेपण करते हुए उसके स्वरूप का विवेचन किया है। समाजवाद की परिभाषा देते हुए उन्होंने[2] कहा है कि समाजवादी समाज "एक ऐसा वर्ग-रहित समाज होता है जिसमें सभी श्रमिक होते हैं। यह एक ऐसा समाज होता है जिसमें व्यक्तिगत सम्पत्ति के हित के लिए मानव-श्रम का शोषण नहीं होता, जिसमें सम्पूर्ण सम्पत्ति वास्तविक रूप में राष्ट्रीय होती है, जिसमें किसी को अनुपार्जित फल नहीं मिलता, जिसमें आय की अधिक असमानताएँ नहीं होतीं, जिसमें मानव-जीवन का संचालन एवं उन्नति योजनाबद्ध ढंग से होती है तथा जिसमें सब सबके लिए जीवित रहते हैं।"

यदि उपर्युक्त परिभाषाओं का विश्लेषण किया जाय तो पता चलेगा कि विभिन्न परिभाषाएँ समाज के विभिन्न पक्षों पर वल देती हैं। एमाइल ने समाजवाद को राजनीतिक सत्ता हस्तगत करने का एक संगठन माना है। ह्यूगन ने समाजवाद को श्रमिकों का एक आन्दोलन माना है। रॉबर्ट ने समाजवाद को सम्पत्ति के ऊपर सार्वजनिक स्वामित्व की माँग के रूप में लिया है। बाबू जयप्रकाश नारायण ने समाजवाद को एक आदर्श समाज-व्यवस्था के रूप में ग्रहण किया है। कुछ लोग इसे एक राजनीतिक व्यवस्था (Political Order) मानते हैं तो कुछ लोग इसे मात्र आर्थिक प्रणाली (Economic System) मानते हैं। विचारों की इस भिन्नता के कारण ही प्रोफेसर जोड[3] के शब्दों में "वह एक ऐसे टोप के समान हो गया है जिसने हर किसी द्वारा पहने जाने के कारण अपना रूप खो दिया है।"

उपर्युक्त विविधताओं के होते हुए भी समाजवाद की कुछ ऐसी मौलिक विशेषताएँ हैं जिनके आधार पर समाजवाद के विषय में कुछ निश्चित धारणाएँ स्थिर की जा सकती हैं। प्रमुख बात तो यह है कि समाजवाद पूँजीवाद का विरोधी सिद्धान्त है जो व्यक्तिगत सम्पत्ति (Private Property) की समाप्ति तथा उत्पादन के साधनों के सामाजिक

---

1. The programme of socialism consists essentially of one demand viz that land and other instruments of production shall be the common property of the people and shall be used and governed by the people for the people. — *Robert*
2. It is a society in which all are workers in a classless society. It is a society in which human labour is not subject to exploitation with interest of private property, in which all wealth is truly national or common wealth, in which there are no unearned incomes and no large income disparities, in which human life and progress are planned and where all live for all. — *Jai Prakash Narain*
3. Socialism is like a hat which has lost its shape because every one bears it. — *C.E.M. Joad*

स्वामित्व (Social Ownership) की स्थापना पर बल देता है। सामाजिक स्वामित्व का उद्देश्य यह है कि समाज से शोषक वर्ग का उन्मूलन हो जाय, राष्ट्रीय सम्पत्ति का सब व्यक्तियों के बीच न्यायसंगत वितरण सम्भव हो सके तथा आर्थिक असमानता, सामाजिक वैषम्य और वैमनस्य के भावों को बहिष्कृत किया जा सके। पर केवल सामाजिक स्वामित्व और न्यायसंगत वितरण से ही समाजवाद के उद्देश्यों की प्राप्ति नहीं की जा सकती। जिस प्रकार सत्ता का विकेन्द्रीकरण प्रजातन्त्र का व्यावर्तक गुण है, उसी प्रकार धन का विकेन्द्रीकरण समाजवाद का व्यावर्तक गुण है। तथाकथित समाजवादी देशोंमें जहाँ केन्द्र में सत्ता और धन दोनों का केन्द्रीकरण है वहाँ न तो वास्तविक प्रजातन्त्र ही पनप सकता है और न वास्तविक समाजवाद ही।

समाजवाद का संक्षिप्त इतिहास

समाजवाद का जन्म व्यक्तिवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप हुआ। सामाजिक चिन्तन के इतिहास में समाजवाद कोई आकस्मिक घटना नहीं है। यह एक सुनिश्चित विकास-क्रम का अनिवार्य परिणाम है जिसका प्रारम्भ औद्योगिक क्रान्ति की पृष्ठभूमि में हुआ। अपने आधुनिक स्वरूप में समाजवाद का जन्म उस समय हुआ जब यूरोप में निरंकुश राजतन्त्र तो समाप्त हो चुके थे पर व्यक्तिवादी विचारधारा पर जिस राज्य का निर्माण किया गया था उससे जनसाधारण को कोई लाभ नहीं हुआ था। अतः, समाजवाद, राजतन्त्र और व्यक्ति-तन्त्र दोनों के विरुद्ध प्रतिक्रिया का तार्किक परिणाम है।

सर्वप्रथम सन् १७४९ ई० में नोयल बाबेफ़ नामक राजनीतिज्ञ ने समाजवादी विचारधारा की ओर इस प्रकार संकेत किया था, ''जब मैं देखता हूँ कि न गरीबों के तन पर कपड़े हैं और पैरों में जूते; तथा यद्यपि गरीब लोग ही कपड़े और जूते बनाते हैं तथापि उनहें ही यह इस्तेमाल के लिए नहीं मिलते; और जब मैं उन लोगों का ख्याल करता हूँ जो स्वयं कुछ भी काम नहीं करते पर उनके पास किसी भी चीज की कमी नहीं है, तो मेरा यह विश्वास दृढ़ हो जाता है कि राज्य अब भी जनसाधारण के विरुद्ध कुछ लोगों का षड्यन्त्र मात्र है।'' नोयल बाबेफ सम्पूर्ण सम्पत्ति का राष्ट्रीयकरण करना चाहता था और इसके लिए उसने गुप्त संस्था भी स्थापित कर लिया था। पर इस अपराध के लिए उसे उसके साथियों सहित मृत्युदण्ड दिया गया। अतः, नोयल बाबेफ समाजवाद का जनक है। यद्यपि उसने समाजवाद शब्द का स्वयं प्रयोग नहीं किया पर उसकी विचारधारा समाजवादी ही थी।

नोयल बाबेफ के विचारों का अनुसरण इंग्लैण्ड और फ्रांस में किया जाने लगा। फोरियर (Fourier) नाम के एक फ्रेंच विचारक ने भी समाजवाद को व्यावहारिक रूप देने की योजना प्रस्तुत की थी। वह छोटे-छोटे समाजों के निर्माण का पक्षपाती था जिनमें प्रत्येक में १८०० से अधिक सदस्य न हों। वे समस्त सदस्य मिलकर आर्थिक उत्पादन करें और सभी स्वतन्त्र और शान्तिपूर्ण जीवन व्यतीत करें। सबको उनकी आवश्यकताओं के अनुसार निश्चित पारिश्रमिक मिले और उसके पश्चात् जो शेष रहे उसे निम्न अनुपात

में पूँजी, श्रम और विशेष योग्यता वाले व्यक्तियों के मध्य वितरित कर दिया जाय— जिनकी पूँजी है उन्हें बचत का १/३ भाग, श्रमिकों को उसका ५/१२ भाग तथा विशेष योग्यता वालों को शेष १/४ भाग दे दिया जाय।

इंग्लैण्ड में सर्वप्रथम रॉबर्ट ओवेन (Robert Owen) ने समाजवाद का प्रारम्भ किया। उसने अपने मिलों के मजदूरों के साथ न्याय करने के लिए अनेक प्रयत्न किये थे। उसने मजदूरों के लिए निश्चित मजदूरी, रहने के लिए मकान, बच्चों की शिक्षा के लिए पाठशालाओं की व्यवस्था की थी। उसका कहना था कि पूँजी की लागत पर ५ प्रतिशत से अधिक लाभ नहीं लेना चाहिए। इसके पश्चात् जो धन शेष बचे उसे श्रमिकों की दशा सुधारने में व्यय करना चाहिए।

नवीन समाजवादी विचारधारा को जन्म देनेवालों में फ्रांस के लुई ब्लाँ का नाम भी विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उनके अनुसार शासन-सत्ता जन-साधारण के हाथों में होनी चाहिए। सन् १८४८ की फ्रांस की क्रान्ति के परिणामस्वरूप जनसाधारण को मताधिकार सम्बन्धी सभी अधिकार प्रदान तो किये गये पर आर्थिक विषमता के कारण शासन-सत्ता मध्यम श्रेणी के हाथों में ही रही। अतः, मजदूरों ने क्रान्ति का आवाहन किया। इस क्रान्ति को निर्दयतापूर्वक कुचल दिया गया। लुई ब्लां भाग कर लन्दन चले गये और फ्रांस में समाजवादी विचारधारा को दबा दिया गया।

सन् १८५० तक इंग्लैण्ड और फ्रांस में तो समाजवाद को दबा दिया गया पर शीघ्र ही जर्मनी में इसका प्रबल अभ्युदय हुआ। कॉर्ल मार्क्स (Karl Marx) इसके नेता थे। कार्ल मार्क्स के पहले भी जर्मनी में न्यूख्तर ने १८३० ई० में समाजवाद का बीजारोपण किया था। उसने कहा था कि "झोपड़ियों में सुख-शान्ति हो और राज-प्रासादों का विनाश हो।" मार्क्स ने समाजवाद के लिए साम्यवाद (Communism) शब्द का प्रयोग किया। मार्क्स और एञ्जिल्स (Engels) ने अपने सिद्धान्तों को १८४८ ई० में साम्यवादी घोषणा-पत्र (Communist Manifesto) में प्रकाशित किया जिसमें उन्होंने समाजवाद की प्रचलित मान्यताओं का खण्डन-मण्डन किया। मार्क्स के समाजवाद को वैज्ञानिक समाजवाद (Scientific Socialism) और ओवेन के समाजवाद को काल्पनिक समाजवाद या कल्पनावाद (Utopian Socialism or Utopianism) नाम दिया गया। इस प्रकार समाजवाद का धीरे-धीरे विकास हुआ।

समाजवाद की प्रमुख विशेषताएँ

समाजवाद व्यक्ति की अपेक्षा समाज, समूह और समुदाय को अधिक महत्त्व देता है। रोशर (Rosicher) के अनुसार, "समाजवाद उन प्रवृत्तियों का समर्थक है जो सार्वजनिक कल्याण पर जोर देती हैं।" प्रत्येक समाजवादी सिद्धान्त का ध्येय यह है कि सामाजिक अवस्था में अधिक-से-अधिक समानता लायी जाय। समाजवाद सबको समान करने वाला और एक स्तर पर लाने वाला सिद्धान्त है। इसके अनुसार जिस प्रकार प्रकृति ने जल और वायु सभी को समान रूप से प्रदान किया है उसी प्रकार भूमि भी सबको

समान रूप से उपलब्ध होनी चाहिए। संक्षेप में समाजवाद की निम्न मुख्य विशेषताएँ हैं—

१. देश की समस्त भूमि पर तथा भारी और आधारभूत उद्योगों पर राज्य का स्वामित्व होता है।

२. वस्तुओं और सेवाओं की उत्पत्ति व्यक्तिगत लाभ के उद्देश्यों से न होकर समाज-कल्याण और राष्ट्रहित के उद्देश्य से होती है।

३. समाजवादी अर्थ-व्यवस्था में केवल उन्हीं वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन होता है और उतनी ही मात्रा में होता है जो देश के लिए आवश्यक है। स्वावलम्बन ही इसका लक्ष्य होता है।

४. समाजवाद की स्थापना से वर्ग-संघर्ष दूर किया जा सकता है तथा अनियन्त्रित आर्थिक विषमता को समाप्त किया जा सकता है।

५. इसके अन्दर राष्ट्रीय आय में तेजी से वृद्धि होती है, धन का वितरण समान होता है और नागरिकों का जीवन-स्तर ऊँचा उठता है।

६. इस अर्थ-व्यवस्था में अनावश्यक प्रतिस्पर्धा न होने के कारण आर्थिक बरबादी कम होती है।

७. समाजवाद का स्वाभाविक आधार आर्थिक नियोजन होता है।

८. समाजवादियों की धारणा के अनुसार यह भावना गलत है कि मनुष्य स्वार्थी होता है। उनका कहना है कि व्यक्ति समाज-कल्याण के लिए बड़ा-से-बड़ा बलिदान कर सकता है। यद्यपि अपने उग्र रूप में समाजवादी विचारधारा व्यक्तिगत सम्पत्ति को मान्य नहीं समझती, तथापि अनेक समाजवादी व्यक्तिगत सम्पत्ति को पूर्णतः समाप्त करने के पक्ष में नहीं हैं। व्यक्तिगत सम्पत्ति रखने का अधिकार दिया जा सकता है पर उसका उपयोग सार्वजनिक कार्यों के लिए होना चाहिए।

९. समाजवादी व्यवस्था में व्यक्ति को अपना पूर्ण विकास करने का अवसर प्राप्त होता है क्योंकि राज्य की ओर से उन सब सुविधाओं की व्यवस्था होगी जो व्यक्ति के पूर्ण विकास के लिए आवश्यक होंगी। शिक्षा का प्रबन्ध निःशुल्क होगा।

१०. समाजवादी अर्थ-व्यवस्था में व्यक्तिगत स्पर्धा के अभाव के कारण उत्पादन की खपत के लिए आवश्यक धन व्यय करने की आवश्यकता नहीं रहेगी। ऐसा होने से वस्तुओं के उत्पादन में कम व्यय होगा, फलतः उचित मूल्य पर अच्छा माल सर्वसाधारण को आसानी से प्राप्त हो सकेगा। इस प्रकार समाजवादी समाज में प्रतिस्पर्धा के स्थान पर सहयोग का साम्राज्य होगा।

समाजवाद और राज्य

समाजवाद केवल आर्थिक व्यवस्था ही नहीं है, वह राज्य के कार्य-क्षेत्र के सम्बन्ध में भी एक विस्तृत आयोजन प्रस्तुत करता है। समाजवादी व्यवस्था के भीतर राज्य का व्यक्ति के जीवन के प्रत्येक पहलू पर अधिकार होता है। राज्य का कार्य केवल शान्ति और व्यवस्था स्थापित करना तथा बाह्य और आन्तरिक सुरक्षा की व्यवस्था करना ही नहीं

है वरन् व्यक्ति और समाज की सामूहिक रूप से उन्नति करना भी उसका कर्त्तव्य है। व्यक्ति की उन्नति समाज के माध्यम से ही हो सकती है। अतः, जब समुदाय की उन्नति होगी, तभी व्यक्ति की उन्नति सम्भव हो सकती है। व्यक्ति कें सामूहिक जीवन के आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा राजनीतिक आदि विभिन्न पहलू होते हैं। समुदायों में राज्य सबसे बड़ा होता है। अतः, उसका कर्त्तव्य है कि वह मनुष्य के सामूहिक जीवन को नियन्त्रित तथा मर्यादित करे जिससे कि मनुष्य के व्यक्तिगत और सामूहिक हितों में सामञ्जस्य स्थापित किया जा सके।

राज्य के कार्यों के सम्बन्ध में सिद्धान्ततः प्रायः सभी समाजवादी एक मत हैं पर व्यवहार में उस सिद्धान्त को किस प्रकार कार्य रूप में परिणत किया जा सकता है, इस सम्बन्ध में विभिन्न विचारकों में पर्याप्त मतभेद है। एक ओर साम्यवादियों का कथन है कि समाज में व्यक्तिगत सम्पत्ति की बात बिलकुल अस्वीकार्य होनी चाहिए। समाज का सम्पूर्ण आर्थिक जीवन राज्य द्वारा संचालित होना चाहिए। यहाँ तक कि भोजनालयों का संचालन भी राज्य द्वारा होना चाहिए। दूसरी ओर ऐसे भी समाजवादी विचारक हैं जो व्यक्ति के सम्पूर्ण आर्थिक जीवन पर राज्य के नियन्त्रण के पक्षपाती नहीं हैं। उनका कथन यह है कि राज्य का पूर्ण संचालन केवल उन्हीं व्यवसायों पर होना चाहिए जो सार्वजनिक महत्त्व के हों। उदाहरण के लिए, रेल, तार, डाक, टेलीफोन, रेडियो, इस्पात, सुरक्षा-प्रतिष्ठान इत्यादि व्यवसायों पर राज्य का स्वामित्व होना चाहिए। लघु एवं मध्यम श्रेणी के उद्योगों पर व्यक्तिगत स्वामित्व हो सकता है। संक्षेप में—व्यक्तिगत महत्त्व के उद्योगों पर तो व्यक्तिगत स्वामित्व हो सकता है पर सार्वजनिक महत्त्व के उद्योगों पर राजकीय स्वामित्व होना चाहिए।

भारतीय समाजवाद

पश्चिम में समाजवाद १९वीं शताब्दी में प्रारम्भ हुआ, पर भारत में समाजवादी विचार अत्यन्त प्राचीन काल से ही प्रचलित है। भारतीय समाजवाद की कुछ अपनी विशेषताएँ हैं जिन्हें पश्चिमी समाजवाद में खोजना कठिन ही नहीं असम्भव भी है।

भारतीय समाजवाद की प्रमुख विशेषताएँ

१. पश्चिम का प्रजातन्त्र और समाजवाद दोनों डार्विन के संघर्ष-सिद्धान्त पर आधारित हैं जिसके अनुसार राजा और प्रजा का तथा पूँजीपति और श्रमिक का संघर्ष स्थायी है। प्रजातन्त्र और समाजवाद दोनों ने वर्ग-संघर्ष को समाप्त करने की दिशा में प्रयत्न किया है पर दोनों अपने-अपने कार्य में असफल रहे हैं। दोनों ने वर्गों को समाप्त करने का मार्ग अपनाया। उसमें वर्गों की समाप्ति न होकर केवल उनका रूपान्तरण ही हुआ। प्रजातन्त्र ने राजा और प्रजा के संघर्ष को स्थायी मानकर राजा को समाप्त कर दिया पर प्रजा के विभिन्न दलों का संघर्ष प्रजातन्त्र की स्थायी मान्यता बन चुकी है। इसी प्रकार समाजवाद ने पूँजीपतियों और श्रमिकों के बीच संघर्ष को स्थायी मानकर पूँजीपतियों को समाप्त करने की दिशा में प्रयत्न किया पर इससे वर्ग-संघर्ष का अन्त नहीं

हुआ बल्कि नौकरशाही (Bureaucracy) और साधारण जनता के दो नये वर्ग समाज में उत्पन्न हो गये।

इसके विपरीत, भारतीय समाजवाद परस्परपूरकता, परस्परावलम्बन, सहयोग व समन्वय पर आधारित है। वर्गों का अस्तित्व प्रकृतिप्रदत्त है; हम उनमें किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं ला सकते। अतः, हमारे लिए विभिन्न वर्गों के बीच समन्वय लाने के सिवा कोई अन्य विकल्प शेष नहीं रह जाता।

२. पश्चिमी समाज-व्यवस्था का साधन तलवार रहा है, पर भारतीय समाज-व्यवस्था का साधन है विभिन्न वर्ण-विभाग। 'वर्ण' शब्द वरण शब्द से निर्मित हुआ है जिसका अर्थ होता है 'चयन' (Selection)। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी अभिरुचि और अभिवृत्ति के अनुसार अपने व्यवसाय को चुनने का अधिकार होना चाहिए। वर्ण-व्यवस्था का जाति से कोई सम्बन्ध नहीं है। निम्न जाति के लोग भी उच्च कर्म द्वारा उच्च जाति को प्राप्त कर सकते हैं। उसी प्रकार उच्च जाति के लोग भी निकृष्ट कर्म करके निम्न जाति में शामिल हो सकते हैं। विश्वामित्र जाति के क्षत्रिय थे, पर तपस्या द्वारा ब्राह्मण-पद को प्राप्त हुए। परशुराम जाति के ब्राह्मण थे, पर क्षत्रिय-कर्म में प्रवृत्त होने के कारण वे क्षत्रिय कहलाये।

वर्ण-व्यवस्था की दूसरी विशेषता यह है कि यह समाज में वर्ग-संघर्ष के स्थान पर परस्पर-सहयोग की भावना को पुष्ट करती है। ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में समाज की उपमा एक शरीर से दी गयी है जिसमें ब्राह्मण सिर हैं, क्षत्रिय भुजाएँ हैं, वैश्य जाँघ हैं और शूद्र पैर हैं। जिस प्रकार सिर, भुजाओं, जाँघ और पैर के कार्य पृथक्-पृथक् होते हुए भी वे शरीर की सेवा करते हैं, उसी प्रकार समाज-रूपी शरीर में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के कार्यों में पृथकता होते हुए भी उनके लक्ष्य में एकतन्त्रता होती है।

वर्ण-व्यवस्था के विषय में तीसरी महत्त्वपूर्ण बात जिस पर हमें विशेष बल देना है वह यह है कि इसमें एक सम्पूर्ण जाति को इकाई माना गया है। अन्य देशों में एक व्यक्ति (पुरुष या स्त्री) को ही पर्याप्त इकाई मान लिया गया है। किसी एक व्यक्ति का धन, शक्ति, बुद्धि या सौन्दर्य उसे निम्नतर जाति से उच्चतर जाति की ओर उठाने के लिए पर्याप्त है, पर भारत में, परोपकारिता (Altruism) के सिद्धान्त पर बल देने के कारण, यदि कोई व्यक्ति उच्चतर जाति में उठना चाहता है तो उसे पहले अपनी समग्र जाति को उन्नत करना होगा। भारतीय जाति के लिए जन्म लेते हैं, जाति के लिए जीते हैं और जाति के लिए ही मरते हैं। पाश्चात्य मनुष्य वैयक्तिक रूप में जन्म लेता है और हिन्दू सामाजिक रूप में।

वर्ण-व्यवस्था के विषय में चौथी ध्यान देने योग्य बात यह है कि इसका प्रमुख उद्देश्य निम्न श्रेणी के मनुष्यों को उच्च श्रेणी तक उठाना है। सबको शूद्र बनाने की अपेक्षा सबको ब्राह्मणत्व प्रदान करना ही वर्ण-व्यवस्था का उद्देश्य है। अतः, भारत में हम जाति से चलकर ऐसी अवस्था पर पहुँचते हैं जहाँ कोई जाति है ही नहीं।

वर्ण व्यवस्था के विषय में अन्तिम बात यह है कि चारों वर्ण एक के बाद एक

संसार का शासन करते हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तो शासन कर चुके हैं, अब शूद्रों के शासन की बारी आयी है।

वर्ण-व्यवस्था के आधार पर स्थापित आदर्श समाज वह होगा "जहाँ पुरोहित का ज्ञान, योद्धा की संस्कृति, व्यापारी की वितरणशीलता और अन्तिम वर्ग की समता का आदर्श ज्यों-के-त्यों बने रहें, पर उनके दोष अलग हटा दिये जायँ।"[१]

उच्चतर जातियों का कल्याण इसी में है कि वे निम्नतर जातियों को उनके यथोचित अधिकार प्राप्त करने में सहायता दें। उच्चतर जातियों का गौरव निम्नतर जातियों के ऊपर ही आश्रित है। अतः उनका निरादर कभी भी नहीं होना चाहिए।

३. भारतीय समाज में धन की प्राप्ति भोग के लिए नहीं वरन् कर्त्तव्य-पालन हेतु की जाती है। भूमि, श्रम, पूँजी, साहस और संगठन ये पाँच मूल्य (Value) के साधन माने गये हैं। आधुनिक नारा यह है कि 'जो कमायेगा, वह खायेगा।' इसे पूँजीवादी व साम्यवादी दोनों मानते हैं। उनमें झगड़ा केवल इतना ही है कि उक्त पाँच साधनों में कौन कितना कमाता है? पूँजीवादी पूँजी व साहस को सर्वाधिक महत्त्व देते हैं; इसके विपरीत साम्यवादी 'श्रम' को विशेष महत्त्व देते हैं। ये दोनों मत एकांगी हैं और कुछ सीमा तक अनैतिक भी। हमारा नारा यह होना चाहिए कि 'कमानेवाला खिलायेगा तथा जो जन्मा सो खायेगा।' खाने का अधिकार तो सबको मिला है। बच्चे, बूढ़े, रोगी, अपाहिज जो कमा नहीं सकते, समाज को उनकी भी चिन्ता करनी होती है। काम हमें इसलिए नहीं करना चाहिए कि हम अपने खाने की व्यवस्था कर सकें, वरन् हमें काम इसलिए करना चाहिए कि हम अपने कर्त्तव्य का निर्वाह कर सकें। हमें समाज में पितृ-ऋण, देव-ऋण, गुरु-ऋण इत्यादि चुकाना है जिसके लिए धन की आवश्यकता होती है। इस कर्त्तव्य का पालन करने के लिए ही हम कार्य करते हैं।

४. पाश्चात्य समाजवाद भोगवादी है पर भारतीय समाजवाद संयमवादी है। अधिकाधिक उपभोग का सिद्धान्त मनुष्य के दुःखों को बढ़ाता है। उपभोग की लालसा की पूर्ण तृप्ति असम्भव है; उसकी जितनी ही तृप्ति की जाती है वह उतनी ही बलवती होती चली जाती है। भारतीय मतवाद जब वर्ग-संघर्ष का खण्डन करता है तब उसका तात्पर्य यही होता है कि उसने उपभोग को नियन्त्रित कर लिया है तथा अधिकाधिक उपभोग के स्थान पर न्यूनतम उपभोग को आदर्श बनाया है। मनुष्य को प्रकृत भावनाओं का संस्कार करके उसमें अधिकाधिक उत्पादन, समान वितरण तथा संयमित उपभोग की प्रवृत्ति पैदा करना ही आर्थिक क्षेत्र में संस्कृति का कार्य है। संयमित उपभोग से एक ओर अति-उत्पादन का दोष और दूसरी ओर वर्ग-संघर्ष का दोष समाप्त किये जा सकते हैं। मनुष्य केवल आर्थिक (Economic) ही नहीं होता; उसके भीतर अनेक उदात्त गुण भी पाए जाते हैं।

५. भारतीय समाजवाद में पाश्चात्य समाजवाद की भाँति 'कर्म' या 'श्रम' को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। वेदों से लेकर उपनिषदों तथा गीता में भी श्रम के महत्त्व का वर्णन किया गया है। इसके साथ-साथ शासन का भी यह कर्त्तव्य है कि प्रत्येक व्यक्ति को

---

१. स्वामी विवेकानन्द, जाति, संस्कृति और समाजवाद, पृ० ८१ (१९६०)

श्रम करने का अवसर प्रदान करे। यदि 'प्रत्येक व्यक्ति को काम का सिद्धान्त' स्वीकार कर लिया जाय तो सम-वितरण की समस्या स्वतः हल हो जाती है और हम विकेन्द्रीकरण की ओर आसानी से अग्रसर हो जाते हैं। उद्योगों का श्रमीकरण हमारा उद्देश्य होना चाहिए।

स्वामी विवेकानन्द ने श्रमिक को 'ब्रह्म' और पूँजीपति को 'माया' के रूप में ग्रहण किया है। जिस प्रकार बिना ब्रह्म के माया का अस्तित्व असम्भव है, उसी प्रकार बिना श्रमिकों के पूँजीपतियों का अस्तित्व असम्भव है। स्वामी विवेकानन्द ने पूँजीपतियों को सम्बोधित करते हुए कहा है, "हे भारत के उच्चवर्गवालों, तुम तो माया के इस संसार में मानो इन्द्रजाल हो, रहस्य हो, मरु-मरीचिका हो। एकत्र मिश्रित विभिन्न भूतकालिक क्रियाओं के तुम द्योतक मात्र हो।.........तुम तो भविष्य के शून्याकार, सारहीन अस्तित्व रहित पदार्थ हो! स्वप्न-राज्य के नागरिक! तुम लोग और अधिक समय तक क्यों भटक रहे हो? तुम भूतकालीन भारत के मृत शरीर के मांसहीन, रक्तहीन अस्थि-कंकाल जैसे हो—तुम शीघ्र ही अपने को मिट्टी में मिलाकर हवा में अदृश्य क्यों नहीं हो जाते?"[१] आगे पूँजीपतियों को धिक्कारते हुए स्वामीजी ने फिर उन्हें सावधान किया, "भूतकाल के कंकाल! देखो, तुम्हारे सामने उत्तराधिकारी खड़े हैं—भावी भारतवर्ष खड़ा है। अपने खजाने की उन पिटारियों को और इन रत्नजटित मुद्रिकाओं को उनके बीच जितनी जल्दी हो सके फेंक दो और तुम हवा में मिल जाओ, फिर कभी दिखाई न दो—केवल अपने कानों को खोल रखो।"[२]

६. पाश्चात्य समाजवाद केवल अर्थ को ही जीवन का पुरुषार्थ मानता है, पर भारतीय समाजवाद अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष इन चारों को जीवन के पुरुषार्थ मानता है। विश्व की समस्याओं का उत्तर न पूँजीवाद है और न समाजवाद। पूँजीवाद श्रमिकों का शोषण करता है और समाजवाद व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अपहरण करता है। दोनों ही केन्द्रीकरण के मार्ग हैं। हमें एकात्म मानववाद (Integral Humanism) का अनुसरण करना चाहिए जो जीवन को टुकड़ों में न बाँटकर सम्पूर्ण जीवन को एक इकाई मानकर विचार करता है। केवल अर्थ-लाभ से ही मानवीय उद्देश्यों की सिद्धि नहीं हो सकती। गाँधीजी का प्रन्यास सिद्धान्त (Trusteeship Theory) भारतीय जन-जीवन के सर्वाधिक निकट है। इसका प्रयोग समाजवादी और गैर-सरकारी दोनों ही समाजों के लिए समान रूप से किया जा सकता है। यन्त्रवाद को मनुष्य के रक्षक रूप में आना चाहिए, भक्षक रूप में नहीं। "हमें धर्म-राज्य, लोकतन्त्र, सामाजिक समानता और आर्थिक विकेन्द्रीकरण को अपना लक्ष्य बनाना होगा। इन सबका सम्मिलित निष्कर्ष ही हमें एक ऐसा जीवन-दर्शन उपलब्ध करा सकेगा जो आज के समस्त झंझावातों में हमें सुरक्षा प्रदान कर सके। आप इसे किसी भी नाम से पुकारिये, हिन्दुत्ववाद, मानवतावाद अथवा अन्य कोई नया

---

१. स्वामी विवेकानन्द, जाति, संस्कृति और समाजवाद, पृ० ८६

२. वही, पृ० ८७

वाद, किन्तु यही एकमेव मार्ग भारत की आत्मा के अनुरूप होगा और जनता में नवीन उत्साह संचारित कर सकेगा।"[१]

समाजवाद का मूल्यांकन

समाजवादी विचारधारा आधुनिक युग की एक बड़ी ही लोकप्रिय विचारधारा है। जो इसके विरोधी भी हैं वे खुलकर इसका विरोध नहीं करना चाहते। इसकी लोकप्रियता का कारण यह है कि इसमें कुछ ऐसी अच्छाइयाँ अवश्य हैं जो पूँजीवादी समाज-व्यवस्था में नहीं पायी जातीं। समाजवादी-व्यवस्था की निम्न अच्छाइयाँ हैं—

पक्ष

१. समाजवाद स्वार्थ की अपेक्षा परार्थ-भावना पर विशेष बल देता है। समाज में जो कुछ भी कार्य किये जायँ वे व्यक्तिगत लाभ के लिए नहीं, वरन् समाज के हित के लिए किये जाएँ। इसीलिए वह व्यक्तिगत स्वामित्व का विरोधी है। जिस प्रकार वायु, जल और प्रकाश पर किसी का व्यक्तिगत अधिकार नहीं है उसी प्रकार भूमि और पूँजी पर भी किसी का व्यक्तिगत अधिकार नहीं होना चाहिए।

२. समाजवाद उत्पादन की आदर्श-व्यवस्था तो नहीं है पर न्यायपूर्ण वितरण (Equitable Distribution) के लिए आदर्श व्यवस्था अवश्य है। पूँजीवाद में धनी और अधिक धनी तथा निर्धन और अधिक निर्धन हो जाते हैं और इस प्रकार श्रमिकों का शोषण रोकने के लिए समाजवादी विचारधारा आवश्यक है।

३. समाजवाद का मन्तव्य यह नहीं है कि समाज के सभी व्यक्तियों की आमदनी समान कर दी जाय। यह न तो सम्भव है और न वांछनीय ही। समाजवाद का वास्तविक मन्तव्य यह है कि समाज में असमानता न्यूनतम हो जिससे कि आर्थिक समानता द्वारा सामाजिक तथा राजनीतिक समानता स्थापित की जा सके।

४. भारी उद्योग (Heavy Industries) जैसे इस्पात, सुरक्षा, रेल, डाक-तार जिनका सार्वजनिक महत्त्व है, उन पर समाज का नियन्त्रण आवश्यक है। ये उद्योग पूँजीपतियों को नहीं सौंपे जा सकते। इस प्रकार समाजवादी व्यवस्था व्यक्तिवादी व्यवस्था का पूरक (Supplement) हो सकती है। उसे व्यक्तिवादी व्यवस्था का स्थानापन्न होने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए।

५. लोक-कल्याणकारी राज्य (Welfare State) की स्थापना के लिए समाजवाद की महान् उपयोगिता है। समाजवाद व्यक्ति के हित की अपेक्षा सम्पूर्ण समाज के हित की ओर विशेष ध्यान देता है। इस दृष्टि से किसी भी व्यक्ति के लिए समाजवाद की खुलकर आलोचना करना सम्भव नहीं है।

विपक्ष

समाजवाद के भीतर उपर्युक्त अच्छाइयाँ होते हुए भी उसके अन्धाधुन्ध अनुसरण

१. पं० दीनदयाल उपाध्याय, राष्ट्र-चिन्तन, पृ० ७४

की इजाजत नहीं दी जा सकती। समाजवाद को उसके वास्तविक अर्थ में ग्रहण करना चाहिए। समाजवाद का वास्तविक अर्थ है—सत्ता और धन का विकेन्द्रीकरण। पर आज दिन समाजवाद का इससे ठीक विपरीत अर्थ लगाया जाता है और वह है—सत्ता और धन का केन्द्रीकरण। विभिन्न समाजवादी देशों में तो व्यवहार में यही दिखाई पड़ रहा है। इसलिए आज समाजवाद को कोई गम्भीर अर्थ में नहीं लेता। आज दिन समाजवादियों और समाजवादी देशों के सिद्धान्त और व्यवहार में इतना द्वैत है कि समाजवाद एक सिद्धान्त न होकर केवल नारा ही रह गया है। अतः यहाँ हम समाजवाद के विपक्ष में जो बातें कहेंगे वह वास्तविक समाजवाद के विपरीत नहीं वरन् प्रचलित पाश्चात्य समाजवाद के ही विपरीत होगा। समाजवाद की कुछ निम्न त्रुटियाँ हैं—

१. समाजवाद पूँजीपतियों और श्रमिकों के बीच संघर्ष को अनिवार्य और स्थायी मानता है जो डॉर्विन के संघर्ष-सिद्धान्त पर आधारित है। पर अन्य जीव-वैज्ञानिकों जैसे जूलियन हक्सले (Julian Huxley) ने इस संघर्षवाद का खण्डन किया है। उनके अनुसार संघर्ष जीवन का केवल एकांगी पक्ष है। संघर्ष की अपेक्षा सहयोग (Co-operation) की भावना का जीवन में अधिक महत्त्व है। पूँजीपतियों और श्रमिकों के संघर्ष में पूँजीपतियों को समाप्त करने की अपेक्षा यदि दोनों में सहयोग की भावना को विकसित किया जाय तो शायद समाज का अधिक भला हो सकता है।

२. समाजवाद को वितरण की प्रणाली भले ही मान लिया जाय क्योंकि इसमें सामाजिक न्याय (Social Justice) पर विशेष बल दिया जाता है, पर यह उत्पादन की प्रणाली कभी नहीं हो सकती। समाजवाद भूमि और अन्य उत्पादन के साधनों पर राज्य का स्वामित्व चाहता है। पर यह अव्यावहारिक ही नहीं, वरन् अनुपयोगी भी है। यदि उत्पादन के सभी साधनों पर राज्य का स्वामित्व हो जायगा तो नागरिकों की स्थिति श्रमिकों की तरह हो जाएगी। इससे व्यक्तियों की प्रतिभा, साहस और प्रेरणा का ह्रास होता है। समाजवाद में बुद्धिमानों, परिश्रमियों और योग्य व्यक्तियों तथा मूर्खों, आलसियों और अयोग्यों की स्थिति एक-सी ही होती है जो देश के लिए हानिकारक होती है।

३. समाजवादी व्यवस्था में राज्य को इतने अधिक कार्य सौंप दिये जाते हैं कि उनका पूरी तरह सम्पादन और नियन्त्रण करना उसके लिए असम्भव हो जाता है। राज्य कोई व्यक्ति (Person) नहीं है कि उसे सभी कार्य सौंप दिये जायँ। राज्य केवल एक साधन या कार्य-प्रणाली (Means or Mechanism) है जो नागरिकों (साध्य) के हित का साधन करती है। राज्य का कार्य केवल व्यक्ति को सहायता देना है न कि उसका स्थानापन्न होना अथवा उसका नियन्त्रण करना है। जीवन में हमें साधन को कभी भी साध्य रूप में नहीं मानना चाहिए।

४. समाजवाद वर्ग-संघर्ष का अन्त, वर्गों को समाप्त करके (Elimination-Method) करना चाहता है जो अव्यावहारिक है। समाज के वर्ग ईश्वरीय व्यवस्था अथवा प्राकृतिक विधान के अंग हैं जो व्यक्तियों की रुचियों और योग्यता की भिन्नताओं पर आधारित हैं। ईश्वरीय विधान को कोई बदल नहीं सकता। यदि हम एक प्रकार के

वर्ग समाप्त करते हैं तो दूसरे प्रकार के वर्ग उत्पन्न हो जाते हैं। उदाहरण के लिए समाजवाद ने पूँजीपतियों और श्रमिकों के भेद को समाप्त करने के लिए पूँजीपतियों के वर्ग को समाप्त करने का प्रयत्न किया पर उनका स्थान राज-कर्मचारियों ने ले लिया। यदि एक वर्ग को समाप्त करते हैं तो रावण के मुँह की तरह दूसरे वर्ग हमारे समक्ष उपस्थित हो जाते हैं। **अतः वर्गों को समाप्त करने में हमें व्यर्थ के लिए अपने समय और परिश्रम को न लगाकर उनमें सहयोग की भावना को उत्पन्न करने का प्रयत्न करना चाहिए।**

५. समाजवादी अर्थ-व्यवस्था में वस्तुओं का उत्पादन और वितरण आर्थिक नियमों के अनुसार न होकर राज्य द्वारा नियन्त्रित होता है। आर्थिक प्रतिस्पर्धा के अभाव और कृत्रिम आर्थिक नियन्त्रण के कारण उत्पादन-मूल्य बढ़ जाता है और वस्तुएँ जनता को ऊँचे मूल्य पर प्राप्त होने लगती हैं।

६. समाजवाद देश की सम्पत्ति को राज्य को सौंप देता है। इसका कारण यह है कि वह मनुष्य को स्वार्थी, अर्थ-परायण, भोगी, संघर्षशील, मात्स्य-न्याय-प्रवण व अकिंचन मानता है। उसे मानव पर विश्वास नहीं है। पर मानव पर अविश्वास करके हम मानव की सहायता नहीं कर सकते। समाजवादी व्यवस्था स्थापित हो जाने पर उसके सिद्धान्तों का क्रियान्वयन व्यक्ति ही तो करते हैं। एक ओर तो हम व्यक्ति पर अविश्वास करते हैं, और दूसरी ओर उसी के द्वारा सिद्धान्तों का क्रियान्वयन कराते हैं। दोनों बातें एक साथ नहीं हो सकतीं।

७. समाजवाद व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का विरोधी है। यह नियन्त्रणवाद (Determinism) में विश्वास करता है। उसके अनुसार मनुष्य परिस्थितियों का दास होता है। चूँकि समाजवादी यह मानते हैं कि समाज का राजनीतिक, बौद्धिक और सामाजिक जीवन उसके उत्पादन के स्रोतों द्वारा ही निर्धारित होता है, अतः समाजवादी व्यवस्था में राज्य का आर्थिक क्षेत्र के साथ-साथ राजनीतिक एवं अन्य क्षेत्रों पर भी पूर्ण नियन्त्रण होगा। व्यक्ति इसके प्रतिकूल कोई भी आवाज नहीं उठा सकेगा। **समाजवादी बन्दूक की गोली का पहला शिकार लोकतन्त्र ही होता है।** समाजवाद और लोकतन्त्र दोनों साथ-साथ नहीं पनप सकते। इस प्रसंग में स्व० पं० दीनदयाल उपाध्याय का कथन विचारणीय है, "मसीहावाद और अपरिवर्तनीय अन्ध-विश्वासों पर आधारित मज़हब के अनुयायी की तरह कट्टर समाजवादी नये स्वतन्त्र विचारों से दूर ही रहना पसन्द करता है। यही कारण है कि कम्युनिस्टों के शब्दकोश में ऐसे विचारकों के लिए अनेक प्रकार की गालियाँ भी रहती हैं। परन्तु विचारशील मानव विचाररहित नहीं हो सकता। यदि उसकी विचार तरंगों को योग्य दिशा देने की कोई योजनाबद्ध व्यवस्था न रही तो उसका अनिवार्य परिणाम चतुर्दिक् भ्रम के रूप में सामने आये बिना नहीं रह सकता।"[१]

समाजवाद में मशीनतन्त्र और राजकर्मचारीतन्त्र (नौकरशाही) का बोलबाला

---

१. पं० दीनदयाल उपाध्याय, राष्ट्रचिन्तन, पृ० ७०

होता है। आज व्यक्ति मशीन पर शासन नहीं करता, वरन् मशीन मनुष्य पर शासन कर रही है। इस मशीन-प्रेम के मूल में मनुष्य की भौतिक आवश्यकताओं को अधिकाधिक मात्रा में तृप्त करने की भावना निहित है। पर यदि हमें मनुष्य के मनुष्यत्व की रक्षा करनी है तो उसे मशीन की गुलामी से मुक्त करना होगा। इसी प्रकार समाजवाद में व्यक्तियों पर नौकरशाही राज्य करती है जो व्यक्तियों को कोई स्वतन्त्र निर्देश देने के सर्वथा अयोग्य होती है। समाजवाद व्यक्ति की स्वतन्त्रता को समाप्त कर उसे नौकरशाही की चक्की में पीस देता है।

९. समाजवाद राज्य को आवश्यकता से अधिक अधिकार सौंप देता है जिससे व्यक्ति की स्वतन्त्रता का हनन होता है। व्यक्तिवाद राज्य को एक आवश्यक बुराई के रूप में लेता है। हर्बर्ट स्पेन्सर के अनुसार, "राज्य की सत्ता इसलिए आवश्यक है कि समाज में अपराध है, अतः राज्य का कर्त्तव्य रक्षा करना व नियन्त्रण रखना है, न कि पोषण करना और उन्नत करना।" इस प्रकार व्यक्तिवाद के अनुसार राज्य का कर्त्तव्य नकारात्मक (Negative) है। पर समाजवादियों के अनुसार राज्य का कार्य नकारात्मक और सकारात्मक दोनों है। शान्ति और सुरक्षा के साथ-साथ व्यक्ति को सुखी, समृद्ध और संतुष्ट करने का कार्य भी राज्य को अपने ऊपर लेना चाहिए। पर यह विचारधारा व्यक्ति को निष्क्रिय और अकर्मण्य बना देती है। फ्रीमेन का यह कथन बिलकुल ही सही है कि "शासन का वह रूप सबसे अच्छा होता है जो कम-से-कम शासन करता है।"[१]

१०. राज-सत्ता में स्वयं बहुत बड़ा मद होता है और अगर राज-सत्ता के साथ अर्थ-सत्ता भी संयुक्त हो जाय तो वह इतनी मदान्ध हो जाती है कि कोई भी शक्ति उसे नियन्त्रित नहीं कर सकती। फिर वह तानाशाही का रूप धारण कर लेती है जैसा प्रायः सभी समाजवादी देशों में देखने को मिलता है।

११. समाजवाद में देश का प्रत्येक व्यक्ति सरकारी नौकर वन जाता है और फिर देश का मार्ग-दर्शन करने वाला कोई नहीं बचता। ऐसी अवस्था में गुंडे, लफंगे और अराष्ट्रीय तत्त्वों के हाथ में देश का भाग्य चला जाता है।

१२. कर्मचारी पूँजीपतियों के अन्याय से मुक्ति पाने के लिए सरकार के पास न्याय के लिए जाता है किन्तु जब सरकार स्वयं मालिक बन जाती है और सेना, पुलिस, कानून सभी उसके हाथ में होता है तो वह पूँजीपतियों से भी अधिक भयंकर अत्याचार करती है और मजदूर बेचारा तड़प-तड़प कर मर जाता है।

आज रूस और चीन में कोई मजदूर हड़ताल नहीं कर सकता और मजदूरी बढ़ाने एवं कार्य के घण्टे कम करने की माँग यदि वह करे तो बुर्जुवा कहकर उसे मौत के मुँह में डाल दिया जाता है। इसकी तुलना में स्वतन्त्र संसार का मजदूर अधिक सुखी है।

१३. समाजवादी व्यवस्था में अपव्यय क़े कारण उत्पादन क़म, घटिया किस्म का तथा मँहगा होता है। विदेशी स्पर्धा में हम पराजित होते हैं तथा घाटा होता है जिसके कारण देश में गरीबी, वेकारी एवं भुखमरी बढ़ती है।

---

1. That form of the government is the best which governs the least.
— *Freeman*

उपर्युक्त कारणों से हम निष्कर्ष निकालते हैं कि समाजवाद, पूँजीवाद की बुराइयों की ओषधि नहीं है। जिस अर्थ में पश्चिम 'समाजवाद' शब्द का प्रयोग करता है, उससे समाज का लाभ न होकर हानि ही अधिक होती है। भारतीय समाजवाद की कल्पना, पश्चिम के समाजवाद से कहीं श्रेष्ठतर है।

समाजवाद के विभिन्न रूप

समाजवाद के आज इतने रूप हो चुके हैं कि वास्तविक समाजवाद क्या है, इसका निर्णय करना असम्भव हो गया है। जैसा कि सी०एम० जोड ने कहा है कि "वह एक ऐसे टोप के समान हो गया है, जिसकी हर किसी द्वारा पहने जाने के कारण कोई शक्ल ही नहीं रह गयी है।" आज वास्तविकता यही है। समाजवादी व्यवस्था के अनेक रूपों में निम्नलिखित प्रमुख रूप हैं—

१. समष्टिवाद या राजकीय समाजवाद (Collectivism or State Socialism),
२. श्रमिक संघवाद (Syndicalism),
३. फेबियनवाद (Fabianism),
४. श्रेणी समाजवाद (Guild Socialism),
५. अराजकतावाद (Anarchism),
६. वैज्ञानिक समाजवाद अथवा मार्क्सवाद (Scientific Socialism or Marxism),
७. साम्यवाद (Communism),
८. रूसी साम्यवाद या बोल्शेविज्म (Russian Communism or Bolshevism),
९. फासीवाद (Fascism),
१०. नात्सीवाद (Nazism)।

इस अध्याय में हम केवल समष्टिवाद, श्रमिक संघवाद, फेबियनवाद और श्रेणी-समाजवाद के विषय में ही विचार करेंगे। शेष का वर्णन 'साम्यवाद' के अध्याय में किया जायगा।

१. समष्टिवाद (Collectivism)

समष्टिवाद राजकीय समाजवाद, समूहवाद तथा संग्रहवाद इत्यादि अनेक नामों से पुकारा जाता है। समष्टिवाद समाजवाद का ही एक सम्प्रदाय है जो अन्य सम्प्रदायों की अपेक्षा अधिक संयत और परिष्कृत है। यह उत्पत्ति के समस्त साधनों का राष्ट्रीयकरण चाहता है। राज्य द्वारा ही धन की उत्पत्ति और वितरण होता है। इसके अतिरिक्त यह प्रजातान्त्रिक अथवा संसदीय ढंग से समाजवाद की स्थापना में विश्वास करता है, क्रान्ति या विद्रोह द्वारा नहीं। समष्टिवाद की ये दो प्रमुख विशेषताएँ हैं।

समष्टिवाद का विकास

समष्टिवाद वास्तव में उग्र समाजवाद के विरोध में उत्पन्न हुआ है। इसके अनुसार क्रान्ति, हिंसा अथवा विरोध इत्यादि उग्र उपायों से वास्तविक समाजवाद की स्थापना नहीं हो सकती। इससे हानि अधिक और लाभ कम होता है। क्रान्ति, प्रति-क्रान्ति को उत्पन्न

करती है जिससे समाज में स्थायी शान्ति की स्थापना नहीं की जा सकती। समष्टिवाद शान्तिमय, उदार, प्रजातान्त्रिक तथा वैधानिक उपायों से समाजवाद की स्थापना करना चाहता है जिससे कि समाज को समाजवाद से अधिकतम लाभ की प्राप्ति हो सके।

समष्टिवाद की व्याख्या

समष्टिवाद में राज्य को सर्वोपरि स्थान दिया गया है। राज्य एक आवश्यक और लाभदायक संस्था है जिसे अधिक-से-अधिक प्रशासनिक व आर्थिक अधिकार मिलना चाहिए। इस प्रकार यह व्यक्तिवाद और साम्यवाद दोनों से विपरीत सिद्धान्त है। व्यक्तिवाद, व्यक्ति को सर्वाधिक महत्त्व देता है तथा राज्य के कार्य-क्षेत्र को संकुचित करना चाहता है, पर समष्टिवाद मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन पर राज्य के नियन्त्रण का प्रतिपादन करता है। साम्यवाद राज्य को अनावश्यक मानता है और कहता है कि समय आने पर इसका स्वतः लोप हो जायगा, पर समष्टिवाद राज्य को शासन तथा जन-हित के कार्यों के लिए एक उपयोगी साधन मानता है।

"समष्टिवाद वह नीति या सिद्धान्त है जो प्रजातन्त्रीय राज्य द्वारा सम्पत्ति के उत्पादन व वितरण को वर्तमान की अपेक्षा अधिक उत्तम बनाने में विश्वास करता है।"[१] समष्टिवाद, व्यक्ति की अपेक्षा 'राज्य' पर अधिक विश्वास करता है।

समष्टिवाद और राज्य

समष्टिवादियों के लिए राज्य सब कुछ है। उनके अनुसार राज्य न तो आवश्यक बुराई है और न अनावश्यक वस्तु। **यह एक उत्तम और आवश्यक अच्छाई है।** राज्य व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अपहरण नहीं वरन् उसकी रक्षा करने वाला साधन है। समाज के बहुमुखी कल्याण के लिए आवश्यक है कि सामाजिक जीवन पर राज्य का पूर्ण नियन्त्रण हो। **क्लटन ब्रुक** (Cluton Brook) के शब्दों में "राज्य का अस्तित्व केवल अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए नहीं होता, क्योंकि इसका अर्थ तो कुछ गिने-चुने राज्याधिकारियों का बना रहना हो जाता है, वरन् राज्य का अस्तित्व तो इसलिए होता है कि उसके सदस्य वे कार्य कर सकें जो करने योग्य हों।" मानव-जीवन के राजनीतिक, आर्थिक व सामाजिक सभी क्षेत्रों पर समष्टिवादी राज्य का नियन्त्रण चाहते हैं।

समष्टिवाद और पूँजीवाद

समष्टिवाद, पूँजीवाद का विरोधी सिद्धान्त है। उसके अनुसार उद्योगों के राष्ट्रीयकरण से ही पूँजीवादी व्यवस्था के दोषों को दूर किया जा सकता है। राष्ट्रीयकरण से व्यर्थ की प्रतियोगिता समाप्त हो जाती है। प्रतियोगिता ही समस्त सामाजिक और आर्थिक क्लेशों की जननी है। अतिरिक्त-मूल्य (Surplus Value) ही पूँजीवाद का आदि, मध्य और अन्त है। पूँजीपति सारे अतिरिक्त-मूल्य को हड़प लेता है जो सामाजिक अन्याय की जड़ है। इस प्रकार जब राज्य सभी अतिरिक्त-मूल्य को अपने अधिकार में ले

---

१. एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका

लेगा तो पूँजीवाद स्वतः ही नष्ट हो जायगा। सामाजिक न्याय की माँग है कि देश के उत्पादन और वितरण के साधनों पर व्यक्ति का अधिकार न होकर राज्य का अधिकार हो और सामाजिक कल्याण के लिए उनका दोहन किया जाय।

समष्टिवाद और प्रजातन्त्र

समष्टिवाद का विश्वास है कि समाज एक सजीव संस्था है। अतः उसमें क्रमशः ही परिवर्तन किया जा सकता है। यह वर्तमान राज्य-संस्था को समाप्त नहीं करना चाहता, वरन् वैधानिक और शान्तिपूर्ण उपायों द्वारा उसे 'समष्टिवादी' बनाना चाहता है। जनता में समाजवादी व्यवस्था के प्रति आस्था उत्पन्न कर बहुमत द्वारा समाजवादी राज्य की व्यवस्था उत्पन्न की जाय, ऐसा उसका मत है। अतः, समष्टिवाद लोक-शिक्षण में विश्वास करता है। यह क्रान्ति द्वारा समाज-परिवर्तन का विरोधी है। राज्य का समस्त राष्ट्रीय उद्योगों तथा सेवाओं पर नियन्त्रण होना चाहिए। यहाँ यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि यद्यपि समष्टिवादी उद्योगों का स्वामित्व राज्य को सौंप देना चाहते हैं पर वे इस पक्ष में नहीं हैं कि सम्पूर्ण उद्योगों का केन्द्रीकरण कर दिया जाय। वे समाज की व्यवस्था विकेन्द्रीकरण के आधार पर करना चाहते हैं। वे केन्द्रीय शासन के अन्तर्गत रेल, जहाज, कोयला, लोहा और राष्ट्रीय उद्योगों की व्यवस्था का प्रबन्ध रखना चाहते हैं तथा स्थानीय उद्योगों और स्थानीय सेवाओं पर स्थानीय निकायों का ही नियन्त्रण रखना चाहते हैं। इसके अतिरिक्त समष्टिवादियों का कथन है कि उद्योगों का राष्ट्रीयकरण करने के पूर्व राज्य का जनतन्त्रीकरण (Democratisation) होना आवश्यक है।

समष्टिवाद और सामाजिक व्यवस्था

जनतन्त्र द्वारा विधान मण्डल में जब समाजवादी दल को बहुमत प्राप्त हो जाय तो वह देश के प्रमुख और भारी उद्योगों का राष्ट्रीयकरण कर सकता है। राष्ट्रीयकरण से राज्य को जो लाभ होगा, उसका प्रयोग वह किसी वर्ग-विशेष के हितों की साधना के लिए नहीं करेगा वरन् उसका प्रयोग वह सार्वजनिक हितों की पूर्ति के लिए करेगा। इस प्रकार शोषण का अन्त हो जायगा। उत्पादन और वितरण के साधनों पर व्यक्तिगत अधिकार न होकर राज्य का अधिकार होगा। राज्य-सत्ता प्राप्त हो जाने पर भी समष्टिवादी समाजवाद की स्थापना मनमाने ढंग से नहीं वरन् जनता की इच्छानुसार करना चाहते हैं। किसी भी परिस्थिति में वे लोकमत की अवहेलना नहीं करना चाहते। किसी उद्योग का राष्ट्रीयकरण करने के पहले उसके मालिक को उचित व यथेष्ट मुआवजा (क्षतिपूर्ति) देना वे आवश्यक समझते हैं।

समष्टिवादी समाज-व्यवस्था में राष्ट्रीय महत्त्व के विषयों का प्रबन्ध केन्द्रीय सरकार करेगी पर स्थानीय महत्त्व के विषयों का प्रबन्ध स्थानीय संस्थाएँ ही करेंगी। श्रमिकों के न्यूनतम वेतन की सीमा सरकार निर्धारित करती है। व्यक्तिगत आर्थिक क्षेत्र एक-दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी न होकर परस्पर-पूरक रूप में कार्य करते हैं। कर-व्यवस्था द्वारा धनी और निर्धन के बीच की विषमता दूर की जाती है। राज्य-व्यवस्था का यह कर्त्तव्य है

कि वह देश के सभी नागरिकों के लिए रोजगार की व्यवस्था करे और यदि वह ऐसा करने में असफल रहती है तो बेरोजगार लोगों को उसे बेकारी-भत्ता देने का प्रबन्ध करना चाहिए। राज्य को वृद्धों, पंगुओं, अनाथों इत्यादि लोगों के जीवन-रक्षा का भार वहन करना चाहिए। ६ से १८ वर्ष तक के बालकों की शिक्षा निःशुल्क होगी तथा राज्य इस बात की व्यवस्था करेगा कि धनाभाव के कारण नवयुवकों की प्रगति अवरुद्ध न हो जाय। समष्टिवादी योजना के अनुसार सामाजिक कार्यों के सम्पादन के लिए धन की प्राप्ति राष्ट्रीय उद्योगों और व्यवसायों से होगी और शेष करों से प्राप्त किया जायगा। विवर्द्धमान कर-प्रणाली (Progressive Taxation) का प्रयोग किया जायगा जिससे कि समाज से आर्थिक विषमता दूर की ज़ा सके। वस्तुओं का मूल्य सामाजिक आवश्यकताओं के अनुसार राज्य द्वारा निश्चित किया जायगा। अत्यावश्यक वस्तुओं जैसे—अनाज, दाल, फल, तरकारी, दूध, वस्त्र इत्यादि का मूल्य निम्नतम रखा जायगा तथा इनसे सम्बन्धित उद्योगों का सञ्चालन बिना हानि-लाभ (No Profit, No Loss) के होगा।

समष्टिवाद का मूल्यांकन

समष्टिवाद प्रजातान्त्रिक उपायों द्वारा समाजवाद की स्थापना चाहता है। पर साम्यवादियों और व्यक्तिवादियों दोनों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से इसकी आलोचना की है—

१. साम्यवादियों का कथन है कि समष्टिवाद द्वारा समाज में कोई मौलिक व क्रान्तिकारी परिवर्तन असम्भव है। बिना वर्ग-संघर्ष व हिंसात्मक क्रान्ति के समाजवाद लाना असम्भव है। शान्तिपूर्ण उपायों से पूँजीवाद को समाप्त करना कठिन है।

२. व्यक्तिवादियों के अनुसार समष्टिवादी व्यवस्था में व्यक्तियों को कार्य और श्रम के प्रति स्वाभाविक प्रेरणा मिलनी सम्भव नहीं है। प्रेरणा के अभाव में उत्पादन में कदापि वृद्धि नहीं हो सकती और न राष्ट्रीय आय में वृद्धि सम्भव है। समष्टिवाद, समाजवाद का ही एक रूप होने के कारण उसमें वे सभी बुराइयाँ विद्यमान हैं जिनकी समाजवाद के अध्याय में चर्चा की जा चुकी है। उन्हें यहाँ दुहराना पिष्टपेषण मात्र ही होगा।

२. श्रमिक संघवाद (Syndicalism)

श्रमिक संघवाद, पूँजीवाद के प्रत्यक्ष विरोध के फलस्वरूप उत्पन्न हुआ है। श्रमिक और पूँजीपतियों में पारस्परिक सहयोग न होने के कारण एक वर्ग दूसरे वर्ग को सदा दबाने की चेष्टा करता है। अधिक संख्या में होने के कारण मजदूरों का महत्त्व बढ़ता चला जाता है और वे पूँजीपतियों के शोषण को समाप्त करके अधिकार और नियन्त्रण की शक्तियों को अपने हाथ में ले लेते हैं। यही श्रमिक संघवाद है।

श्रमिक संघवाद का विकास

फ्रांस का मजदूर आन्दोलन इसका जन्मदाता है। जार्ज सोरेल (George Sorel) (१८४७-१९२२ ई०) इस आन्दोलन के प्रमुख नेता थे। फ्रांस की कोन्फेदरासियों जेनेराल डु ट्रावेल (Confederation Generale du Travail) नामक संस्था ने जो अखिल फ्रांस

मजदूर संघ थी, इस विचारधारा को जन-प्रिय बनाया। यह मार्क्स के राजनीतिक कार्यक्रम को अस्वीकार करती है पर उनके हिंसा द्वारा क्रान्ति के सिद्धान्त को मानती है। इस प्रकार यह अराजकतावाद और मार्क्सवाद का मानस-पुत्र हैं। सिंडीकैलिज्म (Syndicalism) शब्द की व्युत्पत्ति फ्रांसीसी शब्द सिंडिकेट (Syndicat) से हुई है जिसका अर्थ है मजदूर-संघ (Trade Union)। एक दृष्टि से यह सिद्धान्त स्वतन्त्रता, समानता और बन्धुत्व के फ्रांसीसी क्रान्तिवादी आदर्श की प्रतिक्रिया है। फ्रांस के मजदूरों ने देखा कि महान् क्रान्ति ने उन्हें काम करने की कुछ भी स्वतन्त्रता नहीं दी। व्यावसायिक एवं निर्माता वर्गों ने उन्हें काम करने की कुछ भी स्वतन्त्रता नहीं दी। व्यावसायिक एवं निर्माता वर्गो ने शासनतन्त्र पर अपना अधिकार जमा लिया और मजदूरों को आम आर्थिक और राजनीतिक उपायों को अपनाने से भी वंचित रखा। मजदूर-संघ के रूप में जो वैध और उचित हथियार उनके हाथ में होना चाहिए था वह भी उन्हें नहीं दिया गया। फ्रांस की जो प्रजातान्त्रिक विधियाँ थीं वे मजदूर-संघ के कार्यों में बाधा डालती थीं। इसका परिणाम यह हुआ कि जब फ्रांस का मजदूर शक्तिशाली हुआ तब वह मजदूर-संघ और राजनीतिक समाजवाद दोनों को तिलांजलि देकर वर्ग-युद्ध, हड़ताल, विध्वंस-कार्य इत्यादि अतिवादी उपायों से अपनी मुक्ति का मार्ग खोजने लगा। इस प्रकार फ्रांस के मजदूरों का एकमात्र उद्देश्य हो गया— मजदूरों के दिलों से राष्ट्रीय देश-भक्ति की भावना को समाप्त करना और संसार भर के मजदूरों को एक सूत्र में बाँधना। श्रमिक संघवाद इसी उद्देश्य का परिणाम है।

श्रमिक संघवाद की परिभाषा

सी०ई०एम० जोड (C.E.M. Joad) ने श्रमिक संघवाद को इस प्रकार परिभाषित किया है, "श्रमिक संघवाद सामाजिक शास्त्र का वह दृष्टिकोण है जो श्रमिक संघ के संगठन को नये समाज का आधार-स्तम्भ और उस समाज की स्थापना का साधन दोनों मानता है।" इसी प्रकार कोकर (F.W. Coker) के शब्दों में, "साधारणतया श्रमिक संघवाद का अर्थ है कि मजदूर जिन परिस्थितियों में काम करते और रहते हैं, उन पर अकेले मजदूरों का ही नियन्त्रण होना चाहिए; जिन सामाजिक परिवर्तनों की मजदूरों को आवश्यक है, वे मजदूरों को अपने प्रयत्नों से ही, अपने संघों में सीधी कार्रवाई द्वारा और ऐसे साधनों द्वारा जो उनकी विशिष्ट आवश्यकताओं के अनुकूल हों प्राप्त हो सकते।"[१] इस प्रकार श्रमिक संघवाद उपभोक्ता की अपेक्षा उत्पादक को अधिक महत्त्व देता है तथा सामाजिक स्वरूप को बदलने के साधन के रूप में आम हड़ताल और सीधी कार्यवाई के अन्य तरीकों को महत्त्व देता है।

श्रमिक संघवाद की प्रमुख विशेषताएँ

१. श्रमिक संघवाद वर्ग-संघर्ष (Class-Struggle) में विश्वास करता है। उसके अनुसार एक ओर पूँजीपति और मध्यम-वर्ग के लोग होते हैं तथा इन दोनों के विरुद्ध

---

१. एफ० डब्ल्यू० कोकर, रीसेण्ट पोलिटिकल थॉट, पृ० २२९

श्रमिक वर्ग होता है। इन दोनों वर्गों के हितों में परस्पर-विरोध होने के कारण उनमें संघर्ष अपरिहार्य है। अतः, पूँजीपतियों के अत्याचार से मुक्त होने के लिए श्रमिकों को संगठित होना चाहिए जिससे कि वे शक्ति के आधार पर अपना कल्याण-साधन कर सकें।

२. श्रमिक संघवाद एक अन्तर्राष्ट्रीय विचारधारा है जो देश-भक्ति अथवा राष्ट्र-प्रेम जैसी भावनाओं की विरोधी है। उसका मत है कि देश-भक्ति के नाम पर लोग श्रमिकों को गुमराह करते हैं और पूँजीपतियों के हितों का संरक्षण करते हैं। श्रमिक संघवाद के अनुसार संसार के सब श्रमिकों के हित समान हैं और उन्हें चाहिए कि सब मिलकर पूँजीवाद का विरोध करें। जहाँ श्रमिकों को उचित पारिश्रमिक मिलेगा वहीं उनका घर होगा, वहीं उनकी मातृभूमि होगी और वही उनका देश होगा।

३. श्रमिक संघवाद के अनुसार राज्य का संगठन ही ऐसा होता है कि उसके द्वारा श्रमिकों का हित-साधन नहीं हो सकता। राज्य एक ऐसी संस्था है जो केवल उच्चवर्ग (Bourgeois) के लोगों का ही हित-साधन करती है क्योंकि इसका सारा कार्य नौकरशाही (Bureaucracy) के माध्यम से सम्पादित होता है। नौकरशाही की श्रमिकों के प्रति कोई सहानुभूति नहीं हो सकती। इसी कारण श्रमिक संघवाद राज्यसत्ता को समाप्त कर देने का पक्षपाती है। यदि श्रमिक संघवाद के अनुसार समाज का निर्माण किया जाय तो राज्य की आवश्यकता ही शेष नहीं रहेगी।

४. जब संसार के सभी देशों में श्रमिक संघवाद के अनुसार समाज-रचना होगी तो युद्ध अनावश्यक हो जायगा। पूँजीपतियों के हित-संरक्षण के लिए ही युद्ध लड़े जाते हैं। पर जब पूँजीपतियों का विनाश हो जायगा तो युद्ध की आवश्यकता भी समाप्त हो जायगी।

५. इस विचार-धारा के लोग राजनीतिक दलों में भी विश्वास नहीं करते क्योंकि एक ही राजनीतिक दल में पूँजीपति, मध्यम श्रेणी व श्रमिक वर्ग सभी प्रकार के लोग सम्मिलित होते हैं। फलस्वरूप राजनीतिक दलों से श्रमिकों का कुछ भी हित नहीं हो पाता। इसी प्रकार राजनीतिक दलबन्दी पर आधारित निर्वाचन द्वारा निर्मित संसदीय व्यवस्था में भी श्रमिक संघवाद की आस्था नहीं है क्योंकि श्रमिकों के लिए संसद और विधान-सभाओं में निर्वाचित होना असम्भव ही होता है।

६. श्रमिक संघवाद केवल संसदीय शासन-व्यवस्था में ही नहीं वरन् साम्यवादी शासन-व्यवस्था में भी विश्वास नहीं करता जो श्रमिकों के अधिनायक तन्त्र की स्थापना करता है। साम्यवादी शासन-तन्त्र में भी श्रमिकों का शासन में प्रत्यक्ष प्रतिनिधित्व नहीं होता। श्रमिक जिन प्रतिनिधियों को चुनकर संसद में भेजता है उनका रूप भी लोकतन्त्रीय शासन में चुने गये प्रतिनिधियों जैसा ही होता है। श्रमिकों और जन-साधारण का कल्याण तभी हो सकता है जब समाज के आर्थिक जीवन का नियन्त्रण व संचालन श्रमिकों के संगठित संघों द्वारा होता हो।

७. जहाँ तक श्रमिक संघवाद की कार्य-प्रणाली का प्रश्न है वह वैज्ञानिक तथा लोकतन्त्रात्मक कार्य-प्रणाली में विश्वास नहीं रखता। लोकतन्त्रीय शासन-प्रणाली में प्रत्येक परिवर्तन के लाने के लिए बहुमत की स्वीकृति की अपेक्षा होती है जिसमें पर्याप्त

समय व्यर्थ चला जाता है। ऐसा देखा जाता है कि सभी सुधारों का जन्म एक व्यक्ति द्वारा ही होता है जिसका उसमें दृढ़ विश्वास होता है। बहुमत या अल्पमत से इसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं होता। यही कारण है कि श्रमिक संघवादियों का कार्यक्रम शान्तिमय राजनीति का न होकर प्रत्यक्ष संघर्ष (Direct Action) का होता है जिसके द्वारा श्रमिक बिना किसी मध्यस्थ के पूँजीपति के विरुद्ध सीधा संघर्ष कर आर्थिक जीवन को अपने नियन्त्रण में लेने का प्रयत्न करते हैं। प्रत्यक्ष संघर्ष में ध्वंस (Sabotage), बहिष्कार (Boycott), छाप (Label) और आम हड़ताल (Strike) प्रमुख साधन हैं।

श्रमिक संघवाद और सामाजिक व्यवस्था

श्रमिक संघवाद का प्रमुख उद्देश्य पूँजीवाद व राज्य-संस्था का अन्त करना और सभी आर्थिक कार्यों को श्रमिक संघों के हाथ में सौंप देना है। पर राज्य-संस्था के अन्त होने के वाद समाज का संगठन किस प्रकार होगा इस विपय में श्रमिक संघवाद बहुत स्पष्ट नहीं है। यह प्रधानतः विरोध करने में विश्वास करता है। यह नकारात्मक सिद्धान्त है। जैसा कि एक लेखक ने लिखा है, "यह प्रधानतः क्रान्ति की रीति प्रस्तुत करता है; प्रशासन की नहीं।" श्रमिक संघवाद के अन्तर्गत श्रमिक संघ (Syndicate) ही औद्योगिक संगठन का आधार होगा। श्रमिक उत्पादन का नियन्त्रण करेंगे। व्यक्तिगत पूँजी का स्थान सामूहिक पूँजी लेगी। यातायात, रेलें और डाकखाने जैसी राष्ट्रीय सेवाएँ मजदूरों के राष्ट्रीय संघ के अधिकार में रखी जायँगी। जेलों और अदालतों का अन्त कर दिया जायगा और दण्ड सामाजिक बहिष्कार के रूप में दिया जायगा।

श्रमिक संघवाद उपभोक्ताओं की अपेक्षा उत्पादकों के कल्याण पर विशेष बल देता है। उसके अनुसार विविध व्यवसायों के श्रमिक संघ अपने-अपने व्यवसायों का संचालन व उनका नियन्त्रण वे करेंगे ही, साथ ही साथ वे स्थानीय प्रबन्ध भी करेंगे। स्थानीय संघों के जो राष्ट्रीय व केन्द्रीय संगठन बनेंगे वे नीति-निधारण का कार्य करेंगे। रेल, तार, डाक जैसे देश-व्यापी उद्योगों का प्रबन्ध उनमें कार्य करने वाले श्रमिकों के संघों द्वारा होगा। बच्चों, वृद्धों, रोगियों व अपाहिजों की व्यवस्था का कार्य राष्ट्रीय श्रमिक संगठनों की संयुक्त श्रमिक संस्था के हाथ में रहेगा, क्योंकि इसका सम्बन्ध किसी एक श्रमिक संघ से नहीं होता। श्रमिक संघवादी समाज-व्यवस्था में सेना और पुलिस की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी क्योंकि विविध श्रमिक संघों की अपनी स्वयं-सेवक सेनाएँ (Militia) होंगी जो स्थानीय शान्ति-व्यवस्था बनाये रखने के लिए प्रयुक्त की जायँगी।

श्रमिक संघवाद का मूल्यांकन

श्रमिक संघवाद जहाँ तक उद्योगों के श्रमीकरण में विश्वास करता है, उसका प्रयत्न श्लाघनीय है। आज दिन उद्योग के क्षेत्र में जो अनुशासनहीनता, विद्रोह, असन्तोष और अव्यवस्था फैली हुई है उसका एकमात्र कारण यह है कि श्रमिकों की अवहेलना की जाती है। उद्योगों का सारा प्रबन्ध पूँजीपतियों के हाथ में होता है और श्रमिकों का उसमें कुछ भी प्रतिनिधित्व नहीं होता। ऐसी स्थिति में यदि श्रमिक संघवादी उद्योगों में श्रमिकों

को उचित स्थान देना चाहते हैं तो किसी को कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। पर आगे चलकर श्रमिक संघवादी वही गलती करते हैं जो पूँजीवादी करते हैं। श्रमिक संघवाद और पूँजीवाद दोनों अतिवादी विचार हैं। समाज की वास्तविक उन्नति श्रम और पूँजी दोनों के समन्वय और सहयोग द्वारा हो सकती है।

श्रमिक संघवाद के विरुद्ध दो प्रकार के आक्षेप लगाये जाते हैं—१. उसकी कार्य-प्रणाली के विरुद्ध, और २. उसकी सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध। उन पर हम क्रमशः विचार करेंगे।

कार्य-प्रणाली के विरुद्ध

१. श्रमिक संघवाद हिंसात्मक और विध्वंसात्मक उपायों से पूँजीपतियों को नष्ट करना चाहता है। विध्वंस के अन्दर बाजारों को लूटना, मशीनों को तोड़ना-फोड़ना इत्यादि बातें भी शामिल हैं। पर यह अदूरदर्शितापूर्ण कार्य है। श्रमिक जब सब कुछ नष्ट ही कर देगा, तो उसे पूँजीपतियों से मिलेगा क्या? क्षत-विक्षत उद्योगों को पुनः चालित करना श्रमिकों के लिए सम्भव न हो सकेगा।

२. श्रमिक संघवाद "उत्पादकों के अधिकारों और उत्तरदायित्वों पर अधिक और उपभोक्ताओं के अधिकारों और उत्तरदायित्वों पर बहुत कम" ध्यान देकर उपभोक्ताओं को अपने विरुद्ध कर लेता है।[१] आम हड़ताल एक कल्पना मात्र है। यह संगठित अराजकता से कम नहीं है। हैलोवेल (J.H. Hallowell) ने ठीक कहा है—"श्रमिक संघवाद और फासिस्टवाद में बहुत निकट सम्बन्ध है। इसीलिए मुसोलिनी सोरेल की पुस्तकों को बहुत श्रद्धा से पढ़ते थे।"[२]

३. श्रमिक संघवाद एकांगी विचारधारा का प्रतिनिधित्व करता है। यह पूँजीपतियों से सहयोग नहीं वरन् उनका उन्मूलन करना चाहता है। पर यह प्रकृति के नियम के विरुद्ध है। जगत् संघर्ष पर नहीं वरन् सहयोग पर आधारित है। श्रमिक संघवाद केवल भौतिक श्रम को ही श्रम मानता है; उसके लिए मानसिक श्रम का कोई महत्त्व नहीं है। पर यह गलत धारणा है। भौतिक श्रम यदि मानसिक श्रम द्वारा संयमित नहीं है तो उसका समाज पर भयंकर परिणाम पहुँच सकता है। तोड़-फोड़ इसी का परिणाम होता है।

४. श्रमिक संघवाद में उत्पादन, वितरण और शासन सभी कार्य श्रमिकों द्वारा ही सम्पादित किये जाते हैं। पर श्रमिक न तो विद्वान् होते हैं और न उन्हें शासन-प्रबन्ध का ही कोई ज्ञान होता है। इसके परिणामस्वरूप उत्पादन में कमी, वितरण में अव्यवस्था और शासन में अराजकता फैलती है।

सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध

१. श्रमिक संघवाद में नीति-निर्धारण श्रमिक-संघों द्वारा होता है और उसका

---

१. लैडलर, हिस्ट्री ऑव सोशलिस्टिक थॉट्स, पृ० २९७

२. हैलोवेल, मेन करेण्ट्स इन मॉडर्न पोलिटिकल थॉट

क्रियान्वयन भी वे ही करते हैं। इसका अर्थ यह होगा कि उपभोक्ताओं को इस सम्बन्ध में बोलने के अधिकार से बिलकुल ही वंचित कर दिया जायगा, जो अन्याय है।

२. श्रमिक संघवाद में कर्ता, प्रबन्धक, नियन्ता और न्यायाधीश सभी श्रमिक ही होते हैं। पर इससे समाज में न्यायपूर्ण व्यवस्था की स्थापना नहीं हो सकती।

३. श्रमिक संघवाद राज्य-संस्था का विरोधी है। पर यदि विभिन्न श्रमिक संघों में भी मतभेद उत्पन्न हो जाय तो फिर उसका निर्णय कौन करेगा? राज्य-सत्ता के अभाव में देश में अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो सकती है जिसका श्रमिक संघवाद के पास कोई समाधान नहीं है।

४. श्रमिक संघवाद के अनुसार उद्योगों और व्यवसायों पर केवल श्रमिकों का ही नियन्त्रण होना चाहिए। पूँजीपतियों, विद्वानों और विशेषज्ञों का इनसे कोई सरोकार नहीं होना चाहिए। पर सच्ची सामाजिक व्यवस्था तो वह होगी जिसमें श्रमिक-पूँजीपति, मूर्ख-विद्वान्, निरक्षर और पढ़े-लिखे, मजदूर-कवि-कलाकार इत्यादि सबका सहयोग प्राप्त हो। श्रमिक संघवाद इस एकात्म-मानववाद (Integral Humanism) की अवज्ञा करता है।

३. फेबियनवाद (Fabianism)

फेबियनवाद समाजवाद की एक अंग्रेजी विचारधारा है और यह अंग्रेज विद्वानों के मस्तिष्क की उपज है।

फेबियनवाद का विकास

फेबियन समाज की स्थापना इंगलैण्ड के कतिपय बुद्धिजीवियों और सुधारकों के एक दल ने १८८४ ई० में की थी। इन सुधारकों में सिडनी वेब (Sydney Webb), जार्ज वर्नार्ड शा (George Bernard Shaw), श्रीमती एनी बेसेण्ट (Mrs. Annie Besant), ग्राहम वैलस (Graham Wallas), ई०आर० पीज़ (E.R. Pease), एच०जी० वेल्स (H.G. Wells) और जी०डी०एच० कोल (G.D.H. Cole) प्रमुख हैं। ये सभी फेबियनवादी लोकतन्त्रीय, क्रमिक, शान्तिपूर्ण और वैध उपायों के द्वारा समाजवादी समाज की स्थापना करना चाहते थे।

फेबियनवाद की परिभाषा

'फेबियनवाद' शब्द की उत्पत्ति रोम के एक जनरल फेबियस कंक्टेटर (Fabius Cunctator) के नाम से हुई है जो अपने विरोधी हैनीबल (Hannibal) के ऊपर घातक आक्रमण करने के उचित अवसर की प्रतीक्षा धैर्यपूर्वक तब तक करता रहा जब तक कि आक्रमण का सुन्दर अवसर न आ गया। एच०जी० वेल्स ने लिखा है कि फेबियस ने कभी भी सख्त प्रहार नहीं किये।

फेबियनवाद का सिद्धान्त १८८७ ई० में निश्चित किया गया। कुछ थोड़े-से संशोधनों के बाद सन् १९१९ ई० में इसकी दुबारा घोषणा की गयी। वह घोषणा इस

प्रकार है—"भूमि और औद्योगिक पूँजी को व्यक्तिगत स्वामित्व से मुक्त करके और उन्हें सार्वजनिक हित के लिए समाज के हाथों में सौंपकर समाज का पुनर्गठन करना इसका लक्ष्य है। देश की प्राकृतिक और अर्जित सम्पत्ति को पूरी जनता में न्यायपूर्वक बाँटना इसी प्रकार सम्भव है।" आगे यह "......उत्पादन, वितरण और सेवा के नियमन में व्यक्तिगत लाभ के स्थान पर सार्वजनिक हित को प्रधान लक्ष्य के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न करता है।"[१]

फेबियनवाद और सामाजिक व्यवस्था

१. फेबियनवाद चाहता है कि समाज का यथाशीघ्र पुनर्गठन हो। इसके लिए वह भूमि और औद्योगिक पूँजी पर से व्यक्तियों या वर्ग-विशेष का स्वामित्व समाप्त करना चाहता है।

२. किसी व्यक्ति-विशेष को भूमि का लगान या किराया लेने का अधिकार नहीं है क्योंकि यह अनुपार्जित आय है। लगान या किराया समाज को मिलना चाहिए।

३. समस्त साधनों पर समाज का अधिकार हो जाने पर श्रमिकों की आय में किराये और ब्याज की आय और बढ़ जायगी। इस प्रकार पूँजीपति-वर्ग स्वयं समाप्त हो जायगा।

४. फेबियन समाज केवल श्रमिकों के साथ ही न्याय नहीं करना चाहता, वह पूँजीपतियों के साथ भी सहानुभूति रखता है। समाज जब पूँजीपतियों को उनकी सम्पत्ति से वंचित करेगा तो वह उन्हें उसका उचित मुआवजा भी देगा।

५. लेडलर (Laidler)[२] के अनुसार फेबियनवाद पूँजीवाद के स्थान पर समाजवाद की स्थापना क्रमशः ही करना चाहता है। उसका विश्वास है कि शान्तिपूर्ण आर्थिक एवं राजनीतिक उपायों से उद्योगों का समाजीकरण किया जा सकता है। फेबियनवाद समाजवाद के पक्ष में समाज की चेतना को जागृत और सक्रिय बनाना चाहता है।

६. श्रमिक संघवाद समाजवाद की स्थापना हिंसात्मक क्रान्ति द्वारा करना चाहता है, पर फेबियनवाद इसकी स्थापना संसदीय सरकार के माध्यम से शान्तिपूर्ण उपायों द्वारा करना चाहता है। भूमि, उद्योगों और वित्तीय संस्थाओं पर निजी स्वामित्व के स्थान पर राज्य का स्वामित्व स्थापित किया जाय।

७. मार्क्सवाद श्रम-सिद्धान्त और वर्ग-युद्ध पर आधारित है। फेबियनवाद लगान-सिद्धान्त का विस्तार और राज्य की सामाजिक चेतना का विकास चाहता है। यह एक विकासवादी सिद्धान्त (Evolutionary Theory) है।

४. श्रेणी समाजवाद (Guild Socialism)

श्रेणी समाजवाद का विकास

श्रेणी समाजवाद का जन्म इंग्लैण्ड में हुआ। इसे "अंग्रेजी फेबियनवाद और

१. पीज़, ई०आर० द हिस्ट्री ऑव द फेबियन सोसाइटी, पृ० २५९
२. रॉको, कण्टेम्पोररी पोलिटिकल थॉट इन इंग्लैण्ड, पृ० १५०

फ्रांसीसी श्रमिक संघवाद का बुद्धिजीवी शिशु" कहा जाता है।[1] मूल रूप में यह एक अंग्रेजी सिद्धान्त है। कुछ लोग इसे श्रमिक संघवाद और समूहवाद के बीच का विश्राम स्थल मानते हैं। प्रत्यक्ष कार्रवाई द्वारा राज्य का उन्मूलन करने में यह श्रमिक संघवाद से सहमत नहीं है और न यह सभी उद्योगों का राज्य द्वारा नियन्त्रण ही चाहता है जैसा कि समष्टिवाद चाहता है। यह मध्यम मार्ग का अनुसरण करता है। यह राज्य के ढाँचे के भीतर ही उपभोक्ताओं और उत्पादकों के संघ वनाना चाहता है।

श्रेणी समाजवाद के निम्न प्रमुख समर्थक हैं—ए०जे० पेण्टी (A.J. Penty) ने वस्तुत: इसकी नींव डाली; ए०आर० ओरेज (A.R. Orage), एस०जी० हॉब्सन (S.G. Hobson) और जी०डी०एच० कोल (G.D.H. Cole) इस सम्प्रदाय के सर्वाधिक प्रभावपूर्ण, विशद प्रचारक और विचारक हैं।

श्रेणी समाजवाद की परिभाषा

श्रेणी समाजवाद में श्रेणी (Guild) की परिभाषा इस प्रकार की गयी है—"अन्योन्याश्रित या अपनी इच्छा से एक-दूसरे पर आश्रित लोगों की श्रेणी जो स्वयं अपना शासन करती हो और जिसका संगठन समाज के एक विशेष कर्त्तव्य की जिम्मेदारी के साथ पूरा करने के लिए हुआ हो।" श्रेणी समाजवाद के उद्देश्यों की ओर संकेत करते हुए जोड ने लिखा है, "श्रमिक संघ उसी प्रकार आधुनिक उद्योगों को अनुप्राणित करेंगे जिस प्रकार की मध्यकालीन गण कलाओं और दस्तकारियों की रक्षा करते थे। अत: श्रेणी समाजवाद का उद्देश्य, राज्य के नियन्त्रण में उपभोक्ताओं और उत्पादकों को लोकतन्त्रात्मक अधिकार-शक्ति को सौंपना है।"[2]

श्रेणी समाजवाद का कार्यक्रम

· श्रेणी समाजवाद के कार्यक्रम के दो मुख्य अंग हैं—१. मजदूरी-प्रथा का उन्मूलन, और २. राष्ट्रीय श्रेणियों की पद्धति से उद्योग के क्षेत्र में स्वशासन की स्थापना। यह राष्ट्रीय श्रेणी समाज के अन्य लोकतान्त्रिक संगठनों से मिलकर काम करेगी।

१. मजदूरी प्रथा का उन्मूलन—श्रेणी समाजवादी मार्क्सवाद की इस माँग का समर्थन करते हैं कि मजदूरी-प्रथा की समाप्ति करनी चाहिए क्योंकि यह प्रथा नैतिक, मनोवैज्ञानिक, आर्थिक और कलात्मक सभी दृष्टियों से बुरी है। मजदूरी प्रथा, मजदूरों में दास-मनोवृत्ति उत्पन्न करती है और उनकी सृजनात्मक शक्ति को कुण्ठित करती है। श्रेणी समाजवादियों का कथन है कि व्यक्तियों को वेतन मनुष्य समझ कर देना चाहिए न कि इस आधार पर कि उन्होंने कितना श्रम किया है। समाज को श्रमिकों को काम करते समय, बेकारी के समय, बीमारी के समय तथा उनके स्वस्थ रहते समय सभी अवस्थाओं में वेतन देना चाहिए। इसके अतिरिक्त उत्पादन की व्यवस्था का नियन्त्रण मजदूरों के साथ मिलकर करना चाहिए।

---

१. रॉको, कण्टेम्पोररी पोलिटिकल थॉट इन इंग्लैण्ड, पृ० १५०

२. जोड, मॉडर्न पोलिटिकल थियरी, पृ० ७४

२. व्यावसायिक प्रतिनिधित्व (Functional Representation)—सी०ई०एम० जोड श्रेणी समाजवाद को व्यावसायिक लोकतन्त्र कहते हैं। उद्योग पर बौद्धिक और शारीरिक दोनों ही प्रकार के काम करने वालों का नियन्त्रण होना चाहिए। व्यावसायिक प्रतिनिधित्व श्रेणी-समाजवाद का मूल-मन्त्र है। यह सिद्धान्त इस बात पर आधारित है कि कोई भी व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता। अतः समाज में जितनी व्यावसायिक श्रेणियाँ हों उन सबका आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्रों में उचित प्रतिनिधित्व होना चाहिए। कोल (Cole) के शब्दों में—"लोकतन्त्रीय समाज की यह माँग है कि प्रतिनिधियों के उतने ही पृथक् रूप में निर्वाचित समूह होने चाहिए जितने कि कि उसके स्पष्ट सामाजिक उद्देश्य और कार्य हैं।"

यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि यद्यपि श्रेणी-समाजवादी व्यावसायिक प्रतिनिधित्व में विश्वास करते हैं, पर वे भौगोलिक प्रतिनिधित्व की अवज्ञा नहीं करते। व्यावसायिक हितों से ऊपर कुछ ऐसे राष्ट्रीय हित हैं जो सबके लिए समान हैं जैसे—आन्तरिक सुरक्षा, प्रतिरक्षा, शिक्षा, मुद्रा, साख इत्यादि। ऐसे राष्ट्रीय हितों के प्रतिनिधित्व को भौगोलिक प्रतिनिधित्व पर ही छोड़ देना चाहिए।

श्रेणी समाजवाद और सामाजिक व्यवस्था

श्रेणी समाजवाद औद्योगिक प्रजातन्त्र में विश्वास करता है। वह केवल इस बात से सन्तुष्ट नहीं है कि उत्पादन के साधनों पर सामाजिक स्वामित्व हो, वरन् उसका उद्देश्य है कि उद्योगों व व्यवसायों का नियन्त्रण व संचालन श्रमिकों के हाथ में होना चाहिए जिससे कि वे अपने क्षेत्र में पूर्ण स्वतन्त्रता का अनुभव कर सकें तथा अपने भीतर लाभ का समुचित वितरण कर सकें। उत्पादन का लाभ व्यक्तिगत न होकर सामाजिक होना चाहिए।

श्रेणी-समाजवाद के अनुसार सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था को विविध श्रेणियों में प्रजातान्त्रिक ढंग से संगठित किया जाना चाहिए। विविध उद्योगों और व्यवसायों का नियन्त्रण पूँजीपतियों द्वारा न होकर श्रमिकों की श्रेणियों द्वारा होना चाहिए। प्रत्येक व्यवसाय व उद्योग के सब श्रमिक चाहे उद्योग अथवा व्यवसाय में उनका कोई भी स्थान हो, उस उद्योग विशेष से सम्बन्धित श्रेणी (Guild) के सदस्य होंगे। प्रत्येक श्रेणी अपने से सम्बन्धित उद्योग, व्यवसाय अथवा कारखानों आदि के संचालन के लिए कार्यकारिणी-समिति तथा अन्य आवश्यक पदाधिकारियों का चुनाव करेगी।

कोल (Cole) के अनुसार जितने कार्यों के विभिन्न आधारभूत समूह हैं उतने ही गिल्ड होने चाहिए। कार्य के स्वरूप के अनुसार गिल्डों को तीन श्रेणियों में रखा जा सकता था—औद्योगिक, नागरिक तथा वितरणात्मक। औद्योगिक गिल्ड के भीतर खान, लोहा, इस्पात, कपड़े, चीनी, भवन-निर्माण, कृषि इत्यादि व्यवसाय के गिल्ड आ सकते हैं। समस्त आर्थिक क्रियाओं का संचालन करने के लिए नौ या दस से अधिक औद्योगिक गिल्ड होने चाहिए। नागरिक गिल्ड ऐसे व्यवसायों का प्रबन्ध करेंगे जैसा कि अध्यापन, कानून, डॉक्टरी, नाटक तथा इन्जीनियरिङ्ग में पाया जाता है। वितरण गिल्ड के

हाथ में छोटा व्यापार होगा; इसमें उपभोक्ताओं, स्थानीय संस्थाओं तथा उत्पादक संस्थाओं के प्रतिनिधि सम्मिलित होंगे।

क्षेत्रीय दृष्टिकोण के अनुसार गिल्डों को स्थानीय, प्रादेशिक तथा राष्ट्रीय की श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। एक स्थान विशेष पर एक उद्योग विशेष का संचालन करने वाले गिल्ड स्थानीय होंगे। उन सबकी सामान्य समस्याओं पर विचार करने के लिए एक प्रदेश के अन्तर्गत समस्त स्थानीय गिल्डों के प्रतिनिधियों को मिलाकर एक प्रादेशिक गिल्ड बनाया जायगा। एक देश में एक उद्योग विशेष के समस्त प्रादेशिक गिल्डों के कार्यों में समन्वय करने के लिए उस उद्योग का एक राष्ट्रीय गिल्ड होगा। प्रत्येक उद्योग के लिए अलग-अलग राष्ट्रीय गिल्ड होंगे। सबके ऊपर विविध व्यवसायों की केन्द्रीय श्रेणियाँ परस्पर मिलकर एक प्रधान राष्ट्रीय गिल्ड का निर्माण करेंगी।

यहाँ ध्यान में रखने की बात यह है कि श्रेणी-समाजवाद केवल उत्पादकों के हित का ही विचार नहीं करता वरन् वह उपभोक्ताओं के हित का भी विचार करता है। उत्पादकों के संगठन की तरह उपभोक्ताओं का भी संगठन होना चाहिए जो प्रत्येक स्तर पर उपभोक्ताओं के हितों की रक्षा कर सके जिससे कि उत्पादक अपने उत्पादनों का मनमाना मूल्य वसूल न कर सकें। उत्पादकों और उपभोक्ताओं के जो सर्वोपरि केन्द्रीय गिल्ड होंगे उनकी एक सम्मिलित समिति होगी जो सार्वजनिक हितों को ध्यान में रखते हुए दोनों पक्षों में सामञ्जस्य स्थापित करेगी।

श्रेणी समाजवाद और राज्य

श्रेणी समाजवाद उद्योगों पर राज्य के नियन्त्रण का उतना ही विरोध करता है जितना कि पूँजीपतियों के नियन्त्रण का। यह राज्य-समाजवाद का इसलिए विरोध करता है कि कहीं यह भ्रष्ट होकर नौकरशाही का रूप न धारण कर ले और श्रमिकों की सृजनात्मक शक्ति सदा के लिए समाप्त न हो जाय। परन्तु यद्यपि यह राज्य के उद्योग पर नियन्त्रण का विरोधी है, श्रमिक संघवाद के विपरीत, राज्य का विरोधी नहीं है। यह राज्य को समाज की एक अपरिहार्य संस्था मानता है। समाज में कुछ ऐसे सार्वजनिक कार्य हैं जैसे कि वाहरी आक्रमण से रक्षा, विदेशी सम्बन्धों का संचालन, आन्तरिक शान्ति और व्यवस्था को स्थापित करना, करारोपण, सफाई व्यवस्था तथा शिक्षा का प्रबन्ध करना, जिन्हें औद्योगिक, नागरिक अथवा वितरणात्मक कोई भी गिल्ड सुचारु रूप में नहीं कर सकता। इन राजनीतिक कार्यों को संसद जैसी कोई राष्ट्रीय संस्था ही कर सकती है जो क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व के आधार पर बनी हो और जिसके निर्णय को सभी नागरिकों की इच्छा की अभिव्यक्ति माना जा सके। इन कार्यों का सम्पादन श्रमिकों द्वारा सम्भव नहीं है। अत:, श्रेणी समाजवाद राज्य के अस्तित्व को बनाये रखना चाहता है।

श्रेणी समाजवाद और साधन

श्रेणी-समाजवाद क्रान्ति या हिंसात्मक उपायों द्वारा समाजवाद की स्थापना नहीं करना चाहता। उसका मत है कि वैध और शान्तिपूर्ण उपायों से क्रमश: समाजवाद की

स्थापना की जा सकती है। नीचे कुछ ऐसे साधनों का वर्णन किया जाता है जिनके द्वारा श्रेणी-समाजवादी समाज में समाजवाद की स्थापना करना चाहते हैं।

१. क्रमशः अधिकार जमाने की नीति (The Policy of Encroaching Control)—इसका आशय यह है कि जिस आर्थिक शक्ति का अधिकृत वर्ग इस समय प्रयोग करते हैं उसे उनके हाथों से क्रमशः छीन लेना। इसके लिए उपाय करना होगा कि उनके मनोनीत व्यक्तियों के अधिकारों तथा कृत्यों को धीरे-धीरे श्रमिक वर्ग के प्रतिनिधियों को सौंप दिया जाय।

२. सामूहिक ठेका (Collective Contract)—इसके अन्दर श्रमिक मजदूरी पर काम करने के स्थान पर पूँजीपतियों से इस बात का ठेका ले सकते हैं कि किसी निश्चित धन राशि पर निश्चित समय में निश्चित मात्रा में माल तैयार कर दिया जायगा। ठीका दे देने के बाद पूँजीपतियों का उद्योग के निरीक्षण व प्रबन्ध से कोई मतलब न होगा। इस प्रकार श्रमिक अपने काम में स्वाधीन हो सकते हैं।

३. औद्योगिक प्रतियोगिता (Industrial Competition)—इसके अनुसार श्रमिकों को सामूहिक सहयोग के आधार पर पूँजीपतियों की प्रतियोगिता में स्वयं उद्योगों की स्थापना करनी चाहिए। श्रेणी संघ ऐसे उद्योगों का प्रबन्ध व संचालन स्वयं अपने हाथ में ले सकता है।

आलोचना

श्रेणी समाजवाद ने औद्योगिक लोकतन्त्र की आवश्यकता व महत्त्व पर ध्यान देकर तथा नौकरशाही के खतरों की ओर जनता का ध्यान आकृष्ट कर मानव-समाज की बड़ी सेवा की है। इसके अतिरिक्त उद्योगों के संचालन में बौद्धिक एवं शारीरिक दोनों प्रकार के श्रमिकों के योग तथा राजनीति और उद्योग दोनों में व्यावसायिक प्रतिनिधित्व के लाभों से लोगों को अवगत कराकर श्रेणी-समाजवाद ने यह सिद्ध कर दिया है कि इसके भीतर समाज की विभिन्न आर्थिक एवं राजनीतिक समस्याओं के समाधान की अपूर्व क्षमता विद्यमान है। पर इतना होते हुए भी इसकी त्रुटियों की ओर संकेत कर देना हम अपना परम कर्त्तव्य समझते हैं—

१. व्यावसायिक प्रतिनिधित्व की कल्पना राष्ट्रीय हित की दृष्टि से अनिष्टकर हो सकती है। विभिन्न हितों का पृथक्-पृथक् प्रतिनिधित्व व उनके पृथक्-पृथक् अधिकार की भावना ऐसे वर्ग-विद्वेष को जन्म दे सकती है जो किसी राष्ट्र की राष्ट्रीयता के लिए विघातक सिद्ध हो सकता है।

२. श्रेणी-समाजवाद अव्यावहारिक है क्योंकि उत्पादकों और उपभोक्ताओं के बीच विभेद की निश्चित रेखा खींच सकना सम्भव नहीं है और यदि यह विभेद स्पष्ट भी हो तो उपभोक्ताओं पर उत्पादकों के हावी होने की सम्भावना बनी रहती है।

३. श्रेणी-समाजवाद आर्थिक व राजनीतिक विषयों को पूर्णतः पृथक् कर देने का समर्थक है, पर व्यावहारिक दृष्टि से यह सम्भव नहीं है। बात यह है कि जीवन के

आर्थिक व राजनीतिक पहलू परस्पर इतने सम्बद्ध होते हैं कि उन्हें पृथक् करना सम्भव नहीं होता। राष्ट्रीय महत्त्व के उद्योगों पर किसी श्रेणी के नियन्त्रण की व्यवस्था नहीं की जा सकती।

४. श्रेणी समाजवाद के अनुसार प्रत्येक उद्योग का प्रबन्ध व उसका संचालन पृथक्-पृथक् श्रेणी के हाथ में होगा। पर व्यावसायिक जगत् में इस प्रकार का पृथक्करण न सम्भव है और न वांछनीय ही। जगत् में प्रायः सभी व्यवसायों में घनिष्ठ सम्बन्ध होता है।

५. श्रेणी-समाजवाद के साधन भी व्यावहारिक नहीं हैं। पूँजीपति श्रेणियों की माँग को मानकर उन्हें अपने प्रबन्ध में भागीदार बना लेंगे, यह सम्भव नहीं प्रतीत होता। श्रमिकों की श्रेणियाँ पूँजीपतियों के साथ उद्योगों में प्रतियोगिता करके सफल हो सकेंगी, संदेहास्पद बात है।

सच पूछा जाय तो श्रेणी-समाजवाद स्वतन्त्र सिद्धान्त के रूप में नष्ट हो चुका है। श्रेणी-समाजवाद मानव-स्वभाव की श्रेष्ठता पर अत्यधिक बल देता है। यदि मनुष्य के अन्दर से स्वार्थी मनोवृत्ति को नहीं निकाला जा सकता, तो श्रेणी-समाजवाद अपने प्रयत्न में असफल हो जाता है।

●

१७

साम्यवाद

आधुनिक युग में साम्यवाद एक प्रमुख सामाजिक एवं राजनीतिक विचारधारा है। इसे समाजवाद का वैज्ञानिक रूप माना जाता है और इसी कारण यह वैज्ञानिक समाजवाद (Scientific Socialism) भी कहा जाता है। साम्यवाद का वास्तविक स्वरूप क्या है, इस विषय में समाज-दार्शनिकों में पर्याप्त मतभेद है। साम्यवाद की प्रारम्भिक दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत करने का श्रेय कार्ल मार्क्स (Karl Marx) को है और आगे चलकर एञ्जिल्स (Engels), ट्रोटैस्की (Trotesky), लेनिन (Lenin), स्टालिन (Stalin) तथा माओत्सेतुंग (Mao-Tse Tung) ने इस शक्तिशाली विचारधारा को समाज में मूर्त रूप देने का प्रयत्न किया। केवल विचारों के दृष्टिकोण से ही नहीं, वरन् सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक किसी भी दृष्टि से साम्यवाद की अपनी विशेषता है। रूस, पूर्वी यूरोप के कई देश जैसे पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, हंगरी, रूमानियाँ इत्यादि तथा चीन में इसका सफल व्यावहारिक प्रयोग हुआ है। आज सम्पूर्ण विश्व रूस एवं अमेरिका के नेतृत्व में क्रमशः साम्यवादी एवं पूँजीवादी गुट में खड़ा हो गया है। दार्शनिक एवं व्यावहारिक दृष्टि से साम्यवाद में लाख बुराइयाँ हों पर आज यह संसार के कई देशों का आकर्षण-केन्द्र बना हुआ है। हमें इस बात पर विचार करना है कि साम्यवाद में आज जो आकर्षण दिखाई दे रहा है वह उसके आन्तरिक गुणों के कारण है अथवा किसी प्रचार के कारण? आज संसार के कई देश जैसे चेकोस्लोवाकिया, हंगरी, रूमानियाँ, पोलैण्ड इत्यादि अपने को साम्यवादी शिकंजे से मुक्त करने के लिए छटपटा रहे हैं। इन दिनों भारत में भी साम्यवाद व प्रजातन्त्र का वैचारिक युद्ध प्रारम्भ हो गया है। इस प्रकार की अन्तर्राष्ट्रीय एवं राष्ट्रीय पृष्ठभूमि में 'साम्यवाद' के वास्तविक स्वरूप को समझना आज का युग-धर्म हो गया है। समाज-दर्शन के विद्यार्थी के लिए तो यह एक चुनौती है क्योंकि साम्यवाद आज कई प्रकार के छद्मवेश धारण करके जन-मानस को आन्दोलित कर रहा है। इसके वास्तविक स्वरूप को समझना अत्यन्त आवश्यक है।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

साम्यवाद कोई नवीन विचारधारा नहीं है। इसका इतिहास बहुत प्राचीन है। प्लेटो ने अपनी पुस्तक रिपब्लिक में कुटुम्ब तथा सम्पत्ति के समाजीकरण की ओर संकेत किया था। स्टोइक (Stoic) दार्शनिकों ने भी लोगों को समता का पाठ पढ़ाया था। एरिस्टॉटल के अनुसार सामाजिक विषमता ही क्रान्तियों को जन्म देती है, अतः समानता ही समाज का ध्येय होना चाहिए। १८वीं शताब्दी में फ्रान्स के प्रसिद्ध विचारक मेसलियर

(Meslier) ने कहा था, "ऐ निर्धन व्यक्तियों, तुम्हें इस बात पर आश्चर्य होता है कि तुम्हारे जीवन में इतने कष्ट और दुःख है·······जैसा मैं चाहता हूँ, यदि सारी सम्पत्ति समग्र रूप से सारी जनता की हो तो फिर किसी प्रकार के कष्टों का भय नहीं रहेगा।" इस प्रकार हम देखते हैं कि औद्योगिक क्रान्ति के पूर्व कुछ विचारकों ने साम्यवादी दृष्टिकोण ग्रहण किया था। पर औद्योगिक क्रान्ति के पूर्व समाज में जो आर्थिक शोषण और विषमता विद्यमान थी उसके कारण विशुद्ध राजनीतिक थे जिसके लिये तत्कालीन शासक उत्तरदायी थे। उस समय किसी प्रकार की पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था के कारण समाज में आर्थिक विषमता और शोषण व्याप्त न थे जैसा कि औद्योगिक क्रान्ति के बाद यूरोप में दिखायी पड़ता है।

१९वीं शताब्दी में औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप उत्पादन और वितरण की प्रणाली में मूलभूत परिवर्तन हुए। औद्योगिक क्रान्ति के पहले पूँजी और श्रम में विभाजन नहीं हुआ था पर औद्योगिक क्रान्ति के बाद मशीनों पर पूँजीपतियों का अधिकार हो गया और श्रम श्रमिकों के हाथ में रह गया। पूँजी और श्रम के द्वैत के कारण पूँजीवाद का जन्म हुआ जिसमें पूँजीपतियों ने उत्पादन और वितरण के साधनों पर अपना नियन्त्रण जमा लिया। अब समाज में दो स्पष्ट वर्ग स्थापित हो गये—शोषक वर्ग जिसमें पूँजीपति आते थे और दूसरा शोषित वर्ग जिसमें मजदूर आदि थे। शोपक वर्ग शोषित वर्ग के हितों में परस्पर विरोध होने के कारण उनमें आये दिन संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो गयी। इस संघर्ष में विपन्नावस्था के कारण श्रमिक-वर्ग की विशेष हानि हुई। साम्यवादी विचारधारा का जन्म श्रमिकों के हितों के संरक्षण और संवर्द्धन के परिणामस्वरूप ही हुआ।

औद्योगिक क्रान्ति सर्वप्रथम इंग्लैण्ड में हुई। इसी कारण साम्यवादी विचार का जन्म सर्वप्रथम इंग्लैण्ड में हुआ। इस सम्बन्ध में ओवेन (Owen), टॉमस हॉड्स्किन (Thomas Hodgskin), जे०एफ० ब्रे (J.F. Bray) के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इन चिन्तकों ने साम्यवादी विचारधारा का प्रतिपादन तो अवश्य किया पर साम्यवादी समाज की स्थापना किन साधनों के आधार पर की जा सकती है, इसका उल्लेख उन्होंने कहीं नहीं किया। कालान्तर में साम्यवादी चिन्तन केवल इंग्लैण्ड तक ही सीमित न रहा। धीरे-धीरे यूरोपीय महाद्वीप में लोग इस विचारधारा की ओर आकर्षित होने लगे। फ्रांस में सेण्ट साइमन (Saint Simon), फ़्रोरियर (Fourier), प्रूँदा (Proudhan) तथा लूई ब्लैङ्क (Louic Blanc) ने साम्यवादी विचारधारा को उद्देश्य रूप में स्वीकार किया पर इस विचारधारा को कार्य रूप में किस प्रकार परिणत किया जा सकता है, इसका उन्होंने कहीं भी वर्णन नहीं किया। साम्यवादी विचार-का वैज्ञानिक रूप हमें कार्ल मार्क्स (Karl Marx) के दर्शन में मिलता है जिसमें उन्होंने साम्यवाद के साध्य एवं साधन दोनों का सविस्तार वर्णन किया है। मार्क्स साम्यवाद के जनक और अधिष्ठाता माने जाते हैं। अतः इतिहास एवं विकास दोनों दृष्टियों से उनके सामाजिक दर्शन का सविस्तार अध्ययन आवश्यक है।

मार्क्स और वैज्ञानिक समाजवाद
(Marx and Scientific Socialism)

मार्क्स वे प्रथम समाज-दार्शनिक हैं जिन्होंने समाजवाद और साम्यवाद को कल्पना-जगत् से उठाकर उसे मूर्त वैज्ञानिक आधार प्रदान किया। उन्होंने समाजवाद या साम्यवाद के साध्यों, उद्देश्यों एवं ध्येयों का ही वर्णन नहीं किया वरन् उन साधनों का भी उल्लेख किया जिनके द्वारा व्यवहार में साम्यवाद की स्थापना की जा सकती है। इसके साथ-साथ उन्होंने यह भी सिद्ध किया कि साम्यवाद एक स्वाभाविक विचारधारा है जो इतिहास के विकास-क्रम के साथ स्वतः उत्पन्न होती है और जगत् में क्रियान्वित होती है। कार्ल मार्क्स के दर्शन में हमें जो ऐतिहासिक दृष्टि उपलब्ध होती है, वह अन्यत्र सम्भव नहीं है। अर्थशास्त्र, राजनीति एवं समाज दर्शन के क्षेत्र में मार्क्स ने जो क्रान्तिकारी परिवर्तन किये हैं उसका इतिहास में दूसरा उदाहरण कठिनाई से मिलेगा। प्रो० लास्की के शब्दों में—"किसी भी दृष्टिकोण से हम उसे देखें, कार्ल मार्क्स का चिन्तन समाज-दर्शन के इतिहास में स्वयं एक युग है.........उनके विषय में एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उन्होंने साम्यवाद को अस्त-व्यस्त रूप में पाया तथा उन्होंने उसे एक आन्दोलन बना दिया। उनके द्वारा साम्यवाद को एक दर्शन तथा गति प्राप्त हुई।"

जीवन-वृत्त एवं रचनाएँ

कार्ल मार्क्स १८१८ से १८८३ ई० तक जीवित रहे। उनके पिता-माता यहूदी विधि-शास्त्रियों (Jewish Rabbis) के वंशज थे। यहूदी सामाजिक न्याय की प्रवल इच्छा के लिए सदा से प्रसिद्ध रहे हैं। मार्क्स के पिता प्रोटेस्टेण्ट ईसाई हो गये थे। अपने स्कूल की अन्तिम परीक्षा के लिए उन्होंने अपने निबन्ध का जो शीर्षक चुना था वह था—"पेशा चुनने के सम्बन्ध में एक तरुण के विचार।" अतः, १७ वर्ष की अवस्था से ही मार्क्स के मन में मानवता की निःस्वार्थ सेवा का भाव उत्पन्न हो चुका था। स्कूल की अन्तिम परीक्षा पास करने के बाद वे पहले बॉन और बाद में बर्लिन विश्वविद्यालय में कानून पढ़ने गये। कानून के साथ-साथ उन्होंने दर्शन-शास्त्र और इतिहास का भी अध्ययन किया।

कार्ल मार्क्स की इच्छा बॉन विश्वविद्यालय में प्रोफेसर बनने की थी, पर उनकी यह इच्छा पूर्ण न हो सकी। उन्हें जीवन में काफी बुरे दिन देखने पड़े थे। इसी का परिणाम था कि उनके विचारों और रचनाओं में क्रान्ति की झलक दिखाई पड़ती है। पेरिस में अगस्त सन् १८४४ में मार्क्स और एञ्जिल्स का ऐतिहासिक मिलन हुआ जिसमें दोनों के विचारों में पर्याप्त समरूपता पायी गयी। यह समरूपता संयुक्त लेखन-प्रक्रिया के रूप में प्रकट हुई। होली फैमिली (Holy Family), जर्मन विचारधारा (The German Ideology), और साम्यवादी घोषणापत्र (Communist Manifesto) उनकी संयुक्त रचनाएँ हैं जिनमें सर्वहारा वर्ग की सैद्धान्तिक विचारधारा, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (Dialectical Materialism), ऐतिहासिक भौतिकवाद (Historical Materialism)

एवं वैज्ञानिक समाजवाद के कार्यक्रम का विस्तृत विवरण मिलता है।

उपर्युक्त संयुक्त रचनाओं के बाद मार्क्स ने स्वतन्त्र रूप में एक-दो रचनाओं का प्रकाशन किया। १८४७ ई० में **दर्शनशास्त्र की दरिद्रता** (The Poverty of Philosophy) और १८६७ ई० में विश्वविख्यात ग्रन्थ **दास कैपिटल** (Das Kapital) का प्रणयन किया गया। दर्शन-शास्त्र की दरिद्रता में द्वन्द्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद के मूलभूत सूत्र पेश किये गये। दास कैपिटल का प्रथम भाग तो मार्क्स के जीवन-काल में ही प्रकाशित हो गया था पर उसका द्वितीय और तृतीय भाग उनके मरने के बाद ऐङ्गिल्स ने क्रमशः १८८५ और १८९४ ई० में प्रकाशित कराया। लेनिन के शब्दों में यह ग्रन्थ ही वह "मुख्य और बुनियादी रचना है जिसमें वैज्ञानिक समाजवाद की व्याख्या की गयी है।" इस ग्रन्थ में सर्वहारा वर्ग के समाजवाद, उसके कर्त्तव्य के सिद्धान्त, समाजवादी क्रान्ति और सर्वहारा के अधिनायकत्व का दार्शनिक एवं आर्थिक व्याख्या प्रस्तुत की गयी है।

कार्ल मार्क्स का दर्शन—विचारों का संगम

(अ) मार्क्स के समाज-दर्शन पर औद्योगिक क्रान्ति का विशेष प्रभाव पड़ा है। मशीनों और भारी यन्त्रों के आविष्कार के साथ बड़े-बड़े कारखाने स्थापित हुए। वस्तुएँ अधिक मात्रा में और सस्ती बनने लगीं। श्रमिकों में बेकारी फैली और वे देहात छोड़कर काम की खोज में नगरों की ओर आकृष्ट हुए। काम कम होने और श्रमिकों की संख्या अधिक होने के कारण मजदूरी की दर घटने लगी। मिल-मालिकों ने इस स्थिति का नाजायज लाभ उठाकर कम वेतन देकर मजदूरों से अधिक काम लेना आरम्भ कर दिया। पूँजीपति मजदूरों का आर्थिक शोषण करने लगे। मार्क्स ने इस स्थिति का गहन अध्ययन करके उसके कारण और निवारण के जिन सूत्रों का अनुसंधान किया, साम्यवाद उसी का परिणाम हैं।

(व) मार्क्सवाद, व्यक्तिवाद के विरुद्ध एक सबल प्रतिक्रिया है। व्यक्तिवाद अहस्तक्षेपनीति, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, स्वतन्त्र व्यापार इत्यादि विचारों में विश्वास करता है जिसके कारण समाज में पूँजीवादी व्यवस्था का जन्म हुआ। इस व्यवस्था में समाज धनी-निर्धन, सम्पन्न-विपन्न अथवा पूँजीपति-श्रमिक इन दो वर्गों में विभाजित हो गया जिससे श्रमिकों का शोषण बढ़ गया। इसकी प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप लोगों के मन में यह विचार दृढ़ हो गया कि वस्तुओं का मूल्य, व्यावसायिक लाभ, सम्पत्ति का मूल्य इत्यादि सामाजिक व्यवस्था के अंग हैं तथा इनके निर्धारण में व्यक्तिगत लाभ के साथ सामाजिक हित का भी ध्यान रखना चाहिए। समाजवाद इसी की देन है।

(स) कार्ल मार्क्स के समाजवाद का तीसरा स्रोत जर्मन दार्शनिक हेगल (Hegel) का विज्ञानवाद (Idealism) है। हेगल के अनुसार विज्ञान (Idea) ही वास्तविक जगत् का निर्माण करता है। विवेक के कारण ही मनुष्य और उसके जगत् का अस्तित्व सम्भव है। निरपेक्ष विज्ञान (Absolute Idea) : विवेक (Reason), स्वतन्त्रता

(Freedom), ईश्वर (God) और विश्वात्मा (World Spirit) की सिद्धता है तो जड़-जगत् तथा मनुष्य दोनों के जीवन में निरपेक्ष रूप से अनिवार्य नियमों के अनुसार अभिव्यक्त होकर अपनी पूर्ण अभिव्यक्ति को प्राप्त होता है। निरपेक्ष-विज्ञान विकास के तीन क्रमों—वाद (Thesis), प्रतिवाद (Anti-thesis) और संवाद (Synthesis) के माध्यम से अपने स्वरूप को प्राप्त होता है। यह विकास जो त्रिक्-रूप में गुजरता है, आन्तरिक विरोध (Contradiction) द्वारा संचालित होता है। 'वाद' का विरोध 'प्रतिवाद' करता है और 'संवाद', 'वाद' और 'प्रतिवाद' दोनों का समन्वित रूप है। भौतिक वस्तुएँ, प्रकृति इत्यादि वस्तुएँ विज्ञान या आत्मा के ही विकास के विभिन्न स्तर हैं।

कार्ल मार्क्स ने हेगल के उपर्युक्त दर्शन को उलट दिया। उसने विज्ञानवाद के स्थान पर भौतिकवाद (Materialism) को स्वीकार किया। उन्होंने स्वयं कहा है, "मैंने हेगल के दर्शन को सिर के बल खड़े पाया; मैंने उसे पैरों के बल खड़ा कर दिया है।"[१] मार्क्स ने अपने दर्शन को द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद पर आधारित किया।

(द) मार्क्स ने हेगल की द्वन्द्वात्मक प्रणाली को तो अपनाया, पर उसके विज्ञानवाद को अस्वीकार कर फ्योरबाख (Feurbach) के प्रकृतिवाद के आधार पर भौतिकवाद को स्वीकार कर लिया। इस प्रकार दोनों को संयुक्त कर उसने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (Dialectical Materialism) की स्थापना की। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अनुसार भौतिक तत्त्व या जड़ पदार्थ जगत् का अधिष्ठान है जो विकसित होकर भिन्न-भिन्न रूप-धारण करता है। मार्क्स लिखते हैं, "मनुष्य के मस्तिष्क द्वारा प्रतिबिम्बित और विचार रूप में परिवर्तित भौतिक संसार ही मेरा आदर्श है।" भौतिक विकास आन्तरिक विरोध के कारण तीन क्रमों—वाद, प्रतिवाद तथा संवाद—में से गुजरता है। प्रत्येक वाद अपने प्रतिलोम (Negation) को उत्पन्न करता है और पुनः दोनों मिलकर सम्वाद (Synthesis) को उत्पन्न करते हैं। "समस्त प्रकृति में इसी क्रम से परिवर्तन चल रहा है। बोया हुआ अनाज का दाना सड़ जाता है (प्रथम निषेध), उससे अंकुर निकलता है और बढ़ कर पौधा बन जाता है जिसमें बाली निकलती है (प्रथम निषेध का निषेध), फिर पौधा सूख जाता है (द्वितीय निषेध का निषेध) और फलस्वरूप पकी बाली से कई दाने मिलते हैं। एन्द्रिक सृष्टि में देखो। धूप, शीत और वायु से चट्टानें चूर्ण होती हैं (प्रथम निषेध या वाद), वर्षा के जल द्वारा बहकर वह चूर्ण समुद्र में चला जाता है (प्रतिवाद), बहुत काल के बाद समुद्र में पर्वत उत्पन्न हो जाते हैं (संवाद)। विकास आन्तरिक विरोध द्वारा इस कारण संचालित होता है क्योंकि गतिशीलता स्वयं विरोधात्मक है। यदि यह पूछा जाय कि तुम क्या आज वही बच्चे हो जो छः महीने की आयु में थे, तो तुम क्या उत्तर दोगे? हाँ कहो तो भी गलत और ना कहो तो भी गलत। कहना यही पड़ेगा कि हाँ मैं वही हूँ और वही नहीं भी हूँ। यह परस्पर-विरोधी उत्तर क्यों देना पड़ रहा है? कारण यह है कि तुम बढ़ते जा रहे हो, स्थिर स्थिति में नहीं हो। एरिस्टॉटल के अविरोध का नियम

1. I found the Hegelian dialectic standing on its head: I put it on its foot. – *K. Marx.*

(Law of Non-contradiction) स्थिर स्थिति में ही लागू होता है, गतिशील वस्तुओं पर नहीं। गति सर्वदा विरोधमय होती है।"

द्वन्द्वात्मक प्रणाली का प्रयोग यदि हम आर्थिक क्षेत्र में करें तो व्यक्तिगत सम्पत्ति (Private Property) वाद का रूप लेगा। पर व्यक्तिगत सम्पत्ति की असंगतियों के कारण समाज पूँजीपति तथा सर्वहारा इन दो वर्गों में विभाजित हो जाता है और उनमें संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। सर्वहारा वर्ग की संख्या अधिक होने के कारण संघर्ष में उसकी विजय होती है और प्रतिवाद रूप में सर्वहारा वर्ग का अधिनायकतन्त्र (Dictatorship of the Proletariat) स्थापित हो जाता है। इन दोनों अवस्थाओं के संवाद स्वरूप साम्यवादी व्यवस्था उत्पन्न होती है जिसमें व्यक्तिगत सम्पत्ति के स्थान पर सार्वजनिक स्वामित्व (Common Ownership) का प्रावधान होता है।

(य) ऐतिहासिक भौतिकवाद अथवा इतिहास की आर्थिक व्याख्या— मार्क्स ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के आधार पर इतिहास की आर्थिक व्याख्या की जिसे ऐतिहासिक भौतिकवाद (Historical Materialism) या इतिहास की आर्थिक व्याख्या (Economic Interpretation of History) कहते हैं। मार्क्स का विचार था कि मानव-इतिहास की गतिविधियाँ भौतिक अवस्थाओं (Material Conditions) और आर्थिक अवस्थाओं (Economic Conditions) द्वारा निर्धारित होती हैं तथा उन्हीं के आधार पर समाज की राजनीतिक, बौद्धिक एवं नैतिक संस्थाओं का निर्माण होता है। मानवीय प्रक्रियाएँ जितनी आर्थिक एवं भौतिक तत्त्वों द्वारा निर्धारित होती हैं उतनी न तो नैतिकता द्वारा और न धर्म या राष्ट्रीयता द्वारा ही। इतिहास की सभी घटनाएँ आर्थिक तत्त्वों द्वारा संचालित होती है। इसी को **आर्थिक नियन्त्रणवाद** (Economic Determinism) कहते हैं। "जिस प्रकार हर प्रकार के विज्ञान की खोज बाह्य प्रकृति को बदलने के काम आ सकती है, उसी प्रकार समाज के अध्ययन से प्राप्त हुई वैज्ञानिक खोज भी समाज को बदलने के काम में लायी जा सकती है। किन्तु साथ-ही-साथ इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि समाज की गति निर्धारित करने वाले सामान्य नियम भी उसी प्रकार के नियम होते हैं जिनसे बाह्य प्रकृति का संचालन होता है। दूसरे शब्दों में—"इन्हीं सामान्य नियमों को जिनकी सत्ता सार्वभौम है और जो इन्सान तथा वस्तुओं दोनों ही का निर्देशन करते हैं, मार्क्सवादी दर्शन अथवा संसार का मार्क्सवादी दृष्टिकोण कहा जा सकता है।"[१]

"मार्क्सवाद इतिहास का अध्ययन इस दृष्टिकोण से करता है ताकि उन प्राकृतिक नियमों का पता लग सके जो सारे मानव के इतिहास का संचालन करते हैं और इसके लिए वह व्यक्तियों पर नहीं, बल्कि समूची जनता पर ध्यान देता है। जब वह आदिम समाज के युग के बाद बनने वाले जनसमूहों पर नजर दौड़ाता है तो हर जन-समूह को कुछ ऐसे भागों में बँटा पाता है जो समाज को विभिन्न दिशाओं में खींच रहे हैं और यह कि वे ऐसा व्यक्तिगत रूप में नहीं, बल्कि वर्गों के रूप में कर रहे हैं।"[२]

---

१. समाजवाद क्या है?—एमिल वर्न्स, (अनु॰ ओमप्रकाश संगल), पृ॰ २
२. वही, पृ॰ ४५

प्रत्येक युग की सभ्यता उस युग के आर्थिक दृष्टि से शक्तिशाली वर्ग का इतिहास है। उदाहरण के लिए, मार्क्स के अनुसार, संसार के दास-प्रथा का अन्त इसलिए नहीं हो गया कि जनता के विचार इस प्रथा के प्रतिकूल हो गये, वरन् इसलिए कि यान्त्रिक आविष्कारों के कारण पूँजीपतियों को मशीनों के रूप में लोहे के बने हुए निर्जीव दास मिल गये तथा मनुष्यों को दास बनाने की नहीं, वरन् केवल श्रमिक बनाने की आवश्यकता रह गयी। मार्क्स ने कहा कि नैतिकता व धर्म पूँजीपतियों के हाथों के वे साधन हैं जिनसे वे श्रमिकों को अपने भाग्य पर सन्तोष बनाये रखना सिखाते हैं। इतिहास इस बात का उदाहरण है कि आर्थिक परिवर्तनों से समाज के संगठन में भी परिवर्तन आ जाता है। इस दृष्टि से मानव-इतिहास को पाँच भागों में बाँटा जा सकता है—इनमें से प्रथम तीन युग बीत चुके हैं, चौथा चल रहा है और पाँचवाँ अभी आने को है। ये पाँच युग हैं—(१) आदिम साम्यवादी युग, (२) दासत्व-युग, (३) सामन्तवादी युग, (४) पूँजीवादी युग और (५) समाजवादी या साम्यवादी युग।

१. आदिम साम्यवादी युग—इस युग में खेती या पशु-पालन नहीं होता था तथा लोग फल, फूल और शिकार पर जीवन-निर्वाह करते थे। संयुक्त श्रम-प्रणाली के कारण उत्पादन के साधनों पर तथा उनसे मिलने वाली वस्तुओं पर सबका अधिकार होता था। उस समय उत्पादन के साधनों पर व्यक्तिगत अधिकार (Private Ownership) की धारणा का अभाव था। इसलिए वर्ग-प्रथा न थी और न किसी प्रकार का शोषण ही था।

२. दासत्व-युग—आदिम साम्यवादी युग के बाद खेती और पशु-पालन का युग आया। इसमें व्यक्तिगत सम्पत्ति का आविर्भाव हुआ। सम्पत्ति कुछ लोगों के हाथों में अधिकाधिक एकत्र होने लगी तथा सम्पत्ति के अधिकारी इस अल्पसंख्यक (Minority) वर्ग ने बहुसंख्यक (Majority) वर्ग को दास बना लिया। दास और मालिक, शोषित और शोषक तथा विपन्न और सम्पन्न का भेद यहीं से प्रारम्भ हुआ।

३. सामन्तवादी युग—इस युग में उत्पादन के साधनों पर सामन्तों (Feudal Lords) का अधिकार होता था। ये सामन्त उत्पादन के साधनों, विशेषकर भूमि के स्वामी होते थे। गरीब अर्द्ध-दास-किसान (Serfs) इन सामन्तों के अधीन थे। उत्पादन का कार्य इन्हीं भूमिविहीन किसानों से करवाया जाता था जिसके बदले में उन्हें जीवन-निर्वाह के लिए भूमि मिलती थी। निजी सम्पत्ति की धारणा इस युग में और प्रबल हुई और सामन्तों द्वारा किसानों का शोषण भी प्राय: दासत्व-युग की भाँति ही होता था। इन दो वर्गों में संघर्ष और भी स्पष्ट था।

४. पूँजीवादी युग—चौथा युग पूँजीवाद का युग है जिसका आविर्भाव औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप हुआ। औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप मशीनों का आविष्कार हुआ, उत्पादन बढ़ा, श्रमिकों में बेकारी फैलने के कारण वेतन की दरें घटीं तथा पूँजीपतियों को श्रमिकों के शोषण का अवसर मिला। इस प्रकार समाज में दो स्पष्ट वर्ग बन गये जिन्हें हम पूँजीपति-वर्ग (Capitalists Class) व सर्वहारा-वर्ग (Proletariat Class) कहते हैं। इन दोनों वर्गों का परस्पर-संघर्ष मालिक और दास तथा सामन्त और

किसान के संघर्ष से कहीं विकट और कटु है।

५. साम्यवादी युग—पूँजीपति-वर्ग और सर्वहारा-वर्ग के बीच संघर्ष में अन्ततः सर्वहारा-वर्ग की ही विजय होगी जिसके कारण सर्वहारा-वर्ग का अधिनायकतन्त्र (Dictatorship of the Proletariat) स्थापित हो जायगा। उत्पादन के सभी साधनों पर श्रमिकों का अधिकार होगा। यह युग सभी प्रकार से वर्ग-विहीन, राज्य-विहीन और शोषणरहित होगा। वितरण लोगों के परिश्रम और योग्यता के अनुसार न होकर उनकी आवश्यकता के अनुसार होगा।

इस प्रकार मार्क्स के अनसुार ये सभी सामाजिक युग-परिवर्तन एक भौतिक प्रभाव—उत्पादन-प्रणाली-में परिवर्तन के ही कारण हुए हैं और होंगे। यही मार्क्सवादी इतिहास की भौतिक व्याख्या या ऐतिहासिक भौतिकवाद है।

मार्क्स का सामाजिक अर्थशास्त्र
(Social Economic of Marx)

मार्क्सवाद का एक मुख्य भाग मूल्य का सिद्धान्त (Theory of Value) और मूल्य का श्रम-सिद्धान्त (Labour Theory of Value) तथा अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त (Theory of Surplus Value) है जिन पर क्रमशः विचार किया जायगा—

(अ) मूल्य का श्रम सिद्धान्त (Labour Theory of Value)—मार्क्स ने उपयोगिता-मूल्य (Value in Use) और विनिमय-मूल्य (Value in Exchange) के बीच अन्तर स्पष्ट किया है। उपयोगिता-मूल्य मानव आवश्यकताओं की पूर्ति में है और विनिमय-मूल्य इस बात में है कि उस वस्तु के बदले में क्या प्राप्त होता है। किसी वस्तु का विनिमय-मूल्य उस वस्तु के लिए किये गये श्रम की मात्रा पर निर्भर होता है। मूल्य के श्रम-सिद्धान्त का अर्थ यह है कि "मूल्य का आदि कारण श्रम है। प्रत्येक वस्तु का मूल्य उसके उत्पादन में लगे हुए श्रम की मात्रा द्वारा निश्चित होता है। इस सिद्धान्त को समाज के लिए आवश्यक श्रम कहा जा सकता है। मूल्य समाज के लिए आवश्यक श्रम की समय-अवधि की इकाइयों में नापा जाता है।..........श्रम-अवधि वह है जो किसी वस्तु को उत्पत्ति की सामान्य दशाओं के अन्तर्गत उत्पन्न करने के लिए उस समय में प्रचलित निपुणता और परिश्रम के साधारण अंश के अनुसार आवश्यक होती है।" संक्षेप में "किसी वस्तु का विनिमय-मूल्य उसके उत्पादन में लगाये गये श्रम की मात्रा पर निर्भर है।" श्रम-सिद्धान्त का प्रथम प्रतिपादन एक अंग्रेज विचारक सर **विलियम पेटी** ने किया था। उनके बाद **एडम स्मिथ** (Adam Smith) और **डेविड रिकार्डो** (David Richardo) ने मूल्य के श्रम-सिद्धान्त पर जोर दिया। एडम स्मिथ ने किसी वस्तु के प्राकृतिक (Natural or Intrinsic) और कृत्रिम (Artificial) मूल्य के भेद पर अधिक बल दिया। कृत्रिम मूल्य से उसका तात्पर्य किसी वस्तु के विनिमय-मूल्य से था जो मुख्यतः उसके उत्पादन में खर्च हुए श्रम से निर्धारित होता है। इन लेखकों और विचारकों की भाँति मार्क्स ने भी कहा कि मूल्य की उत्पत्ति श्रम से होती है। मार्क्स ने "स्पष्टतः

यह व्याख्या की कि किसी वस्तु के उपयोग-मूल्य (Use Value) अर्थात् वस्तु की उपयोगिता एवं वांछनीयता का उस श्रम से कोई सम्बन्ध नहीं है जो उसके उत्पादन में लगाया जाता है। हवा और पानी उपयोगी हैं यद्यपि उन पर कोई श्रम व्यय नहीं हुआ। किसी वस्तु का विनिमय-मूल्य इसलिए होता है कि उसे उपयोगी बनाने के लिए उस पर श्रम किया जाता है। ऐसे मूल्यों की दर आवश्यक श्रम की मात्रा पर निर्भर होगी। जिस अनुपात में दो वस्तुओं, जैसे अन्न और लोहे का विनिमय होगा उसका माप उस वस्तु से किया जा सकता है जो दोनों में सामान्य (Common) है; और जो इन दोनों में सामान्य है, वह उनका निर्माण करने वाला रासायनिक द्रव्य या और कोई स्वाभाविक गुण या तत्त्व नहीं है, वरन् मानव-श्रम है जो उनके उत्पादन में व्यय हुआ है।" मूल्य के श्रम-सिद्धान्त की आगे व्याख्या करते हुए मार्क्स ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक कैपिटल (Capital) में लिखा है, "इस प्रकार यदि हम वस्तुओं के उपयोग-मूल्य का विचार न करें तो उनमें एक ही वस्तु सामान्य बचती है और वह है वस्तुओं की श्रम द्वारा उत्पत्ति।......इस कारण एक उपयोगी वस्तु का मूल्य इसलिए ही है कि मानव-श्रम का उसमें उपयोग हुआ है। तब इस मूल्य की मात्रा का माप कैसे किया जाय? स्पष्टतः मूल्य की सृष्टि करने वाले तत्त्व की मात्रा श्रम-से जो वस्तु में निहित है। श्रम की मात्रा का माप उसकी अवधि से होता है और श्रम-काल का माप-दण्ड सप्ताहों, दिवसों और घंटों में होता है।......इस प्रकार स्पष्ट रूप से हम यह देखते हैं कि जिसके द्वारा किसी वस्तु का मूल्य निर्धारित होता है वह है वह श्रम-काल या श्रम की मात्रा जो उस वस्तु के उत्पादन के लिए सामाजिक दृष्टि से आवश्यक है।.....दो वस्तुओं के मूल्य का अनुपात उन पर खर्च किये गये श्रम-काल के अनुपात के अनुसार होता है।" इस प्रकार श्रम का संकलित रूप ही मूल्य है।

(ब) पूँजी क्या है? इस प्रश्न का उत्तर विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने विभिन्न रूप में दिया है। यह ठीक है कि श्रम से मूल्य बनता है किन्तु श्रम अपने-आप मूल्य उत्पन्न करने की क्षमता नहीं रखता; ऐसा करने के लिए उसे कच्चा माल, औजार, मशीन आदि की आवश्यकता पड़ती है। इसी को पूँजी कहते हैं। इसके अतिरिक्त उत्पादन के लिए मजदूरी देने में जो रकम लगती है वह भी पूँजी का ही भाग है। मार्क्स ने पूँजी की परिभाषा इस प्रकार दी है—"अतिरिक्त मूल्य (Surplus Value) की प्राप्ति के लिए काम में लाये गये उत्पादन के सभी निजी स्वामित्व के साधनों का योग पूँजी है।"[१] पर इससे मूल्य के श्रम-सिद्धान्त की तनिक भी अवहेलना नहीं होती। क्योंकि प्रश्न उत्पन्न होता है कि आखिर पूँजी कहाँ से आयी? इस प्रश्न के उत्तर में मार्क्स का कथन है कि अन्तिम रूप में पूँजी भी श्रम से ही उत्पन्न होती है और वह इस रूप में कि श्रम से मूल्य या धन उत्पन्न होता है तथा धन से कच्चा माल, औजार, मशीन इत्यादि प्राप्त किया जाता है और उन्हें उत्पादन में लगा दिया जाता है; यही पूँजी है। कुछ लोगों के अनुसार पूँजी मितव्ययिता के

---

१. कार्ल मार्क्स, Capital is the sum total of all the privately owned means of production employed for the acquisition of surplus value.

परिणामस्वरूप उत्पन्न हुई है, पर मार्क्स ने इसे हास्यास्पद कहा है क्योंकि पूँजीपति वास्तव में मितव्ययी न होकर ऐश-आराम की जिन्दगी व्यतीत करते हैं। वह कहता है—"प्राचीन इतिहास पर यदि दृष्टि डाली जाय तो पता चलता है कि प्रारम्भ में पूँजी किस प्रकार एकत्रित हुई। वह प्राय: खुले लूटमार का तरीका था। कुछ दुस्साहसी व्यक्तियों ने अमेरिका, भारत और अफ्रीका से सोना आदि बहुमूल्य वस्तुएँ लूटकर बड़े पैमाने में पूँजी जमा की थी·····सार्वजनिक स्थानों को छीनकर उन्हें पूँजीवादी फर्मों के मालिकों को दिलाने के लिए 'हदबन्दी कानून' बनाये गये थे। ऐसा करके किसानों से उनकी जीविका का साधन छीन लिया गया। ··········सिवाय इसके कि वे किसान अपनी छीनी गयी जमीन पर नये मालिकों के लिए काम करें, उनके पास जीवित रहने का कोई उपाय नहीं रह गया था। पूँजी का 'प्रारम्भिक एकत्रीकरण' इसी प्रकार हुआ।"[१]

मार्क्स ने यह भी बताया कि "पूँजी प्रारम्भिक एकत्रीकरण के स्तर पर स्थिर नहीं रहती।" प्रारम्भिक एकत्रीकरण के बाद पूँजी का विकास और विस्तार 'अतिरिक्त मूल्य' (Surplus Value) को एकत्र कर हुआ है। अब हम इस पर विचार प्रस्तुत करेंगे।

(स) अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त (The Doctrine of Surplus Value)—औद्योगिक क्रान्ति के पूर्व जब कारीगर लोग गृह-व्यवसाय द्वारा वस्तुएँ तैयार करते थे, तो वे लोग अपने उपकरणों के स्वयं मालिक होते थे, क्योंकि वे उपकरण बहुत महँगे नहीं थे। उस समय चूँकि वे स्वतन्त्र रूप से स्वयं उत्पादन-कार्य करते थे, उन्हें अपने श्रम का पूर्ण मूल्य मिल जाता था। पर औद्योगिक क्रान्ति के बाद अब स्थिति पूर्णतया बदल गयी और आर्थिक उत्पादन की जो पूँजीवादी व्यवस्था विकसित हुई है उसमें श्रमिक को उसके श्रम का पूरा मूल्य नहीं मिल पाता। पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था में आर्थिक उत्पादन के उपकरण इतने महँगे होते हैं कि श्रमिक उन्हें खरीद नहीं सकते। इसके परिणामस्वरूप कुछ पूँजीपति जो उन्हें खरीद सकते हैं आर्थिक उत्पादन के स्वामी बन जाते हैं। वे उपकरणों को खरीद कर कारखाना स्थापित कर लेते हैं और श्रमिकों के श्रम को उन्हीं उपकरणों के समान खरीद कर उत्पादन करते हैं। **पूँजीपति श्रमिकों के साथ व्यक्ति की तरह नहीं, वरन् वस्तु की तरह व्यवहार करते हैं।** श्रमिक निर्धनता के कारण स्वयं उपकरणों को खरीद नहीं सकते और न उपकरणों के साथ प्रतियोगिता ही कर सकते हैं, अत: पूँजीपति उनकी असहाय अवस्था का अनैतिक लाभ उठाकर उनके श्रम का उन्हें कम-से-कम मूल्य प्रदान करते हैं तथा उनके द्वारा उत्पन्न वस्तुओं को अधिक-से-अधिक मूल्य पर बेचते हैं। इस प्रकार पूँजीपतियों को तैयार माल की कीमत उस खर्च से बहुत अधिक मिल जाती है जो उसे श्रमिकों को वेतन देने में, कारखानों की देखभाल में तथा आर्थिक उत्पादन के उपकरणों को एकत्रित करने में लगाना पड़ता है। **इस प्रकार लागत-व्यय व उत्पादित वस्तुओं के मूल्य में जो अन्तर होता है, उसे अतिरिक्त मूल्य कहते हैं।**

इसे एक मूर्त उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिये कि एक

---

१. एमिल बर्न्स, मार्क्सवाद क्या है?— (अनुवादक, ओमप्रकाश संगल), पृ० २५-२६

मजदूर को एक महीने में ६०/- मिलते हैं। वह महीने भर में जो वस्तुएँ बनाता है वे बाजार में ९०/- में बिकती हैं। ऐसी स्थिति में वह २० दिन तो अपने लिए कार्य करता है और १० दिन दूसरों (पूँजीपतियों) के लिए। इसी दस १० दिन की मजदूरी अर्थात् १० × ३ = ३० को अतिरिक्त मूल्य कहते हैं जिसे पूर्ण रूप से पूँजीपति हड़प लेता है।

साधारणतया पूँजीपति मजदूरों को केवल उतना ही वेतन देता है जिससे कि वे किसी प्रकार अपनी भूख दूर कर सकें और भविष्य के लिए श्रमिक-संतान पैदा कर सकें। मार्क्स ने इसे **'मजदूरी का कठोर नियम'** (The Iron Law of Wages) कहा है। इसका आशय यह है कि मजदूर को अपने काम के बदले में बस इतना दे दिया जाता है कि उसके प्राण-पखेरू उड़ न जायँ और गुजर के लिए उसे दूसरे दिन काम पर आना ही पड़े। इतना ही नहीं, पूँजीपति जो कुछ भी मजदूरी श्रमिकों को देता है उसे भी वस्तु की लागत मूल्य में सम्मिलित कर लेता है और इस लागत मूल्य से कम मूल्य में पूँजीपति किसी वस्तु को बाजार में नहीं बेचता। अतः, स्पष्ट है कि श्रमिकों द्वारा उत्पन्न वस्तुओं को बेचने से जो लाभ पूँजीपति को होता है उसका कोई भी अंश श्रमिकों को नहीं मिलता है। यही उसके प्रति अन्याय है और उसका शोषण है।

(द) वर्ग-संघर्ष (Class-Conflict)—मार्क्सवाद के अनुसार मनुष्य साधारणतया एक सामाजिक प्राणी है, परन्तु अधिक स्पष्ट रूप में वह एक वर्ग-प्राणी (Class-Animal) है। मार्क्स के अनुसार किसी भी युग में जीविका-उपार्जन की प्राप्ति के विभिन्न साधनों के कारण मनुष्य पृथक्-पृथक् वर्गों में विभाजित हो जाते हैं और प्रत्येक वर्ग में एक विशेष वर्ग-चेतना (Class-Consciousness) उत्पन्न हो जाती है। दूसरे शब्दों में—वर्ग का जन्म उत्पादन के नवीन तरीकों के आधार पर होता है। ज्यों ही भौतिक उत्पादन के तरीकों में परिवर्तन होता है वैसे ही नये वर्ग का उद्भव भी होता है। इस प्रकार एक समय में प्रचलित उत्पादन-प्रणालियाँ ही उस समय के सामाजिक वर्गों का निर्धारण करती हैं।

आदिम समाज में किसी भी प्रकार के वर्ग नहीं थे, क्योंकि मनुष्य प्रकृति-प्रदत्त वस्तुओं को अपनी आवश्यकतानुसार प्रयोग करते थे, पर आधुनिक समाज में आय के साधन के आधार पर तीन महान् वर्गों का उल्लेख किया जा सकता है। इनमें प्रथम वे हैं जो केवल श्रम-शक्ति के अधिकारी हैं, दूसरे वे हैं जो पूँजी को नियंत्रित करते हैं और तीसरे वे हैं जो जमींदार हैं। इन तीनों वर्गों की आय के साधन क्रमशः मजदूरी, लाभ और लगान हैं। मजदूर, पूँजीपति और जमींदार उत्पादन के पूँजीवादी तरीकों पर आधारित आधुनिक समाज के तीन महान् वर्ग हैं। व्यक्तिगत सम्पत्ति की प्रणाली पर आधारित आधुनिक सामाजिक व्यवस्था में यह असंगति है कि समाज पूँजीपति (Capitalists) और सर्वहारा (Proletariat) इन दो वर्गों में विभक्त हो गया है। इन दोनों वर्गों के हित परस्पर पूर्णतः विरोधी होने के कारण यह अवश्यम्भावी है कि इन वर्गों में संघर्ष हो। मार्क्स का कथन है—"अब तक के समाज का इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास है, स्वतन्त्र व्यक्ति व दास, कुलीन व जनसाधारण, जागीरदार व रैयत, व्यापारिक

प्रतिष्ठानों के मालिक व कारीगर, एक शब्द में शोषक और शोषित, सदा एक दूसरे के विरोध में खड़े होकर कभी प्रत्यक्ष व कभी परोक्ष रूप से अविराम युद्ध करते रहे हैं।'' अतः, यह स्वाभाविक है कि वर्तमान समाज में विद्यमान पूँजीपति-वर्ग व श्रमिक-वर्ग में संघर्ष हो।

कम्युनिस्ट घोषणापत्र में भी मार्क्स ने लिखा है, ''पूँजीपतियों के साथ संघर्ष के दौरान अपनी परिस्थितियों से विवश होकर सर्वहारा अपने को एक वर्ग के रूप में संगठित करने को बाध्य होगा......एक क्रान्ति के द्वारा वह अपने को शासक-वर्ग बनाता है और इस प्रकार उत्पादन की पुरानी अवस्थाओं को बलपूर्वक निकाल फेंकता है।''[१] श्रमिकों के संगठित प्रयास के कारण यह निश्चित है कि पूँजीपतियों के साथ संघर्ष में वे विजयी होंगे और एक समय आयेगा जब क्रान्ति के द्वारा वे उत्पादन के साधनों पर अपना सामूहिक स्वामित्व स्थापित करने में सफल हो जायँगे। कम्युनिस्ट घोषणापत्र के अन्तिम शब्द जिनमें वक्तृता का ओज है, बहुत ही महत्त्वपूर्ण है, ''साम्यवादी अपने विचारों और लक्ष्यों को छिपाने से घृणा करते हैं। वे खुलेआम घोषणा करते हैं कि वर्तमान सामाजिक ढाँचे को बलात् हटाकर ही उनके उद्देश्यों की सिद्धि हो सकती है। शासक-वर्ग साम्यवादी क्रान्ति से काँपता है तो काँपे, सर्वहारा-वर्ग को अपनी जंजीरों के अलावा और क्या खोना है? और पाना है सारा संसार। दुनियां भर के मजदूरों एक हो जाओ।'' मार्क्स का विचार था कि शान्तिपूर्ण उपायों से समाजवाद की स्थापना नहीं की जा सकती। इसके लिए बल का प्रयोग अपरिहार्य है। उन्हीं के शब्दों में—''बल एक नये समाज को जनने वाले प्रत्येक पुराने समाज की धात्री है।'' इस प्रकार हम देखते हैं कि मार्क्स सामाजिक परिवर्तन के लिए हिंसात्मक क्रान्ति को आवश्यक मानता है।

(य) सर्वहारा-वर्ग का अधिनायकत्व—मार्क्स के अनुसार उत्पादन के साधनों पर पूँजीपतियों का अधिकार समाप्त हो जाने के बाद सम्पूर्ण व्यवस्था पर श्रमिकों का एकमात्र अधिकार स्थापित हो जायगा और फिर राज्य का रूप सर्वहारा-वर्ग के अधिनायकतन्त्र (Dictatorship of the Proletariat) का हो जायगा। यह अधिनायकतन्त्र समाज के उन तत्त्वों का निर्मूलन करेगा जो साम्यवादी जीवन में विश्वास नहीं रखते तथा अपनी राजकीय सत्ता की मदद से समाजवादी व्यवस्था को ऐसा सुदृढ़ करेगा कि व्यक्ति के मन में जागृति उत्पन्न होगी और वह उस व्यवस्था के प्रति सहज रूप में आस्थावान् हो जायगा। यह वर्ग-रहित समाज की अवस्था होगी जिसमें पारस्परिक संघर्ष व विद्वेष का आत्यन्तिक अभाव पाया जायगा। ऐसी दशा असंगतिरहित व सामञ्जस्यपूर्ण होगी जिसमें न कोई गरीब होगा और न कोई धनी। पूर्ण साम्यावस्था होगी।

(फ) परिवार, धर्म आदि का लोप—जैसा पहले कहा जा चुका है कि व्यक्तिगत परिवार और व्यक्तिगत सम्पत्ति दोनों का एक साथ उदय हुआ। दोनों का एक साथ लोप होना अवश्यम्भावी है। भविष्य में विवाह का एकमात्र आधार पारस्परिक प्रेम

१. कार्ल मार्क्स, सेलेक्टेड वर्क्स, खण्ड १, पृ० १३१

होगा। विवाह का कोई नैतिक, धार्मिक अथवा आर्थिक महत्त्व न होगा। परिवार के लोप के साथ धर्म का भी लोप हो जायगा। समाजवादी राज्य में 'धर्म की स्वाभाविक मृत्यु हो जाती है'। जो कुछ भी नैतिकता होगी वह विशिष्ट आर्थिक परिस्थिति पर निर्भर एक सापेक्षिक नैतिकता होगी। परम-शुभ, परम-नैतिकता या स्वत:सिद्ध नैतिकता का कोई मूल्य न होगा। मध्यवर्गीय नैतिकता के स्थान पर सर्वहारा-वर्ग की नैतिकता प्रतिष्ठित होगी। ऐसा नियम जिसका आधार चिन्तन मात्र है, अर्थात् जो कठोर सत्यों पर आधारित न होकर विचारों पर आधारित है, समाप्त हो जायगा।

(ज) राज्य का क्रमिक लोप (The Withering away of the State)—राज्य सदा से ही "एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग पर दबाव डालने का साधन रहा है।" एञ्जिल्स के शब्दों में—"राज्य समाज के विकास की एक विशिष्ट स्थिति की उपज है। उस विशिष्ट स्थिति में राज्य की आवश्यकता थी, इसलिए उसका निर्माण हुआ।" एक पूर्ण वर्ग-विहीन समाज की स्थापना हो जाने के पश्चात् राज्य की आवश्यकता नहीं रहेगी और वह स्वत: समाप्त हो जायगा। इसका स्थान एक ऐसा प्रशासकीय उपकरण ले लेता है जो उत्पादन के साधनों का नियन्त्रण और उनकी व्यवस्था करता है।

मार्क्सवाद की समीक्षा

मार्क्सवाद समाज के अवांछनीय तत्त्वों के सुधार का पक्षपाती नहीं है, वह उन्हें समाप्त करके ही दम लेना चाहता है। इस प्रकार वह एक वर्ग के हित-संरक्षण के लिए दूसरे वर्ग का पूर्ण बलिदान कर देना चाहता है जो सही नहीं है। हमें तो ऐसे समाज-दर्शन की आवश्यकता है जो समाज के सभी वर्गों का युगपद हित-साधन करता हो। 'सर्वोदय' समाज के द्वारा ही सभी वर्गों का हित-साधन हो सकता है। मार्क्स के इस एकांगी विचार के लिए ही विभिन्न विचारकों ने उसकी कटु आलोचना की है। मार्क्सवाद भारतीय संस्कृति और विचारधारा के तो बिलकुल ही प्रतिकूल विचार है। इसकी हम निम्न दृष्टिकोणों से आलोचना कर सकते हैं—

१. मार्क्स भौतिकवादी है—वह जड़-तत्त्व को ही एकमात्र सत् मानता है। पर जड़-तत्त्व क्षणिक, विभाजनशील व क्षणभंगुर है। तात्त्विक दृष्टि से वह सत् कभी नहीं हो सकता। मार्क्स ने जड़-जत्त्व को प्रमुख व चेतन-तत्त्व को गौण माना है। पर वास्तविकता यह है कि आत्म-तत्त्व ही प्रमुख और जड़-तत्त्व ही गौण है। मनुष्य के सम्पूर्ण क्रिया-कलापों के मूल में भौतिक तत्त्व ही काम करता हो, ऐसी बात नहीं है। जड़ में वह प्रेरक शक्ति कहाँ कि वह समाज के कार्यों को संचालित करे। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो श्रमिक की जिस क्रान्ति का वह प्रतिपादन करता है उसका प्रेरक तत्त्व श्रमिकों की वह चेतना ही होती है जो पूँजीपतियों के विरुद्ध उनमें उत्पन्न होती है।

२. मार्क्स की इतिहास-सम्बन्धी कल्पना भी त्रुटिपूर्ण है। वह केवल भौतिक तत्त्व को ही इतिहास का निर्णायक तत्त्व मानता है, जो सही नहीं है। भौतिक तत्त्व समाज में द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया (Dialectical Process) को उत्पन्न नहीं कर सकता। यह चेतन-तत्त्व

द्वारा ही सम्भव है। इतिहास हमें बताता है कि धर्म, मनुष्य का व्यक्तित्व, उसकी विचारधारा, भौगोलिक परिस्थितियाँ इत्यादि अनेक ऐसे तत्त्व हैं जो मानव-इतिहास की धारा को निर्धारित करते हैं। केवल भौतिक तत्त्व पर ही विशेष बल देना समस्या का अतिसरलीकरण है।

३. मार्क्स की मनुष्य की व्याख्या अत्यन्त त्रुटिपूर्ण है। उसका मानव केवल एक आर्थिक मानव (Economic Man) है जिसमें मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक तत्त्वों का नितान्त अभाव है। पर ऐसा मानव एक अमूर्त कल्पना (Abstract Idea) है। मार्क्सवाद एक सामूहिक मनुष्य (Mass Man) की भी कल्पना करता है जो एक अमूर्त प्रत्यय है जिसका संसार में कहीं अस्तित्व नहीं है। यदि पूँजीवाद मानव को स्वार्थी, अर्थपरायण, संघर्षशील एवं मत्स्य-न्यायप्रवण मानता है तो मार्क्सवाद में मानव को परिस्थितियों का दास, अकिंचन एवं अनास्थामय माना गया है। दोनों में मनुष्य का अमानवीकरण (De-humanisation) किया गया है।

४. मार्क्स के अनुसार मनुष्य जो भी कार्य करता है उसके पीछे आर्थिक उद्देश्य निहित होते हैं। पर मनुष्य केवल सम्पत्ति-प्राप्ति की भावना से ही काम नहीं करता बल्कि अहंकार, प्रतिद्वन्द्विता, अधिकार के लोभ, सेवाजन्य आनन्द और सफलता की भावना से भी काम करता है। हैलोवेल (J.H. Hallowell) ने ठीक ही कहा है कि आर्थिक आवश्यकताएँ तो कभी पूरी हो ही नहीं सकतीं। जितना ही अधिक हम प्राप्त करते हैं, हमारी आवश्यकताएँ उतनी ही अधिक बढ़ती जाती हैं। इसका उपचार ईश्वर की कृपा ही है न कि प्रतिद्वन्द्वात्मक या ऐतिहासिक प्रक्रिया। महान वैज्ञानिक आविष्कार या दार्शनिक अनुसंधान शायद ही कभी आर्थिक कारकों से प्रेरित हुए हों। अत: मार्क्स का आर्थिक नियतिवाद (Economic Determinism) का सिद्धान्त ठीक नहीं है।

५. मार्क्स के सामाजिक सम्बन्धों का विश्लेषण वास्तविक रूप में वैज्ञानिक नहीं है। कोई भी सिद्धान्त वैज्ञानिक तब होता है जब वह तर्कपूर्ण एवं पूर्वाग्रहों से मुक्त हो तथा उसके भीतर प्रामाण्य पाया जाता हो। पर मार्क्स के विचार व्यवहार में सत्य सिद्ध नहीं हुए हैं। उदाहरण के लिए मार्क्स ने पूँजीपतियों व श्रमिकों के वर्ग-संघर्ष को सदा के लिए अनिवार्य व अवश्यम्भावी माना है, पर व्यवहार में ऐसा सब जगह नहीं दिखायी देता। अमेरिका, इंग्लैण्ड अथवा भारत जैसे लोकतन्त्रीय राज्यों में व्यक्तिगत सम्पत्ति पर आधारित अर्थव्यवस्था होते हुए भी उनका रूप लोकहितकारी राज्यों का है और वहाँ वर्ग-संघर्ष की अनिवार्यता कहीं भी नहीं दीख पड़ती। आज अमेरिका, जापान और जर्मनी का श्रमिक जितना सुखी है उतना रूस और चीन के श्रमिक सुखी नहीं है। इसी प्रकार मार्क्स का यह निष्कर्ष कि श्रमिकों की क्रान्ति से ही समाजवाद की स्थापना हो सकती है, ठीक नहीं है।

६. मार्क्स ने आर्थिक व्यवस्था के सम्बन्ध में श्रम को ही वस्तु के मूल्य का केवल व अन्तिम निर्धारक तत्त्व माना है और यह प्रतिपादित किया है कि पूँजीपति जिसे लाभ कहते हैं, वह श्रम का अतिरिक्त मूल्य है। पर उत्पादन की प्रक्रिया में केवल श्रम का ही

साधन के रूप में प्रयोग नहीं किया जाता वरन् भूमि (Land), पूँजी (Capital) व साहस (Enterprise) का भी उत्पादन में महत्त्व होता है। अत: लाभ को केवल श्रम का अतिरिक्त मूल्य न कह कर यदि इन सभी साधनों का परिणाम कहा जाय तो बात अधिक तर्कसंगत प्रतीत होगी। दूसरी चीज जो यहाँ महत्त्वपूर्ण है वह यह है कि पूँजी और श्रम में कोई आत्यन्तिक विरोध नहीं है। श्रम स्वयं एक पूँजी है। पूँजीपति भी मानसिक श्रम करता है और श्रमिक भी श्रमरूपी पूँजी का मालिक है। अत: दोनों में उतना विरोध नहीं है जितना समझा जाता है।

७. मार्क्स की राज्यसम्बन्धी कल्पना भी त्रुटिपूर्ण है। वह राज्य को पूँजीपतियों के हाथ का ऐसा यंत्र मानता है जो उन्हें श्रमिकों का शोषण करने में सहायता पहुँचाता है। पर राज्य तो केवल एक अभिकरण है, वह स्वयं न अच्छा है और न बुरा। उसका अच्छा या बुरा होना, शासकों द्वारा उसके सदुपयोग या दुरुपयोग पर निर्भर करता है। स्वयं मार्क्स ने राज्य का प्रयोग अस्थायी रूप से सर्वहारा-वर्ग के अधिनायकतन्त्र के रूप में करने की बात कही है। इस प्रकार वही राज्य जिसे मार्क्स ने एक ओर पूँजीपतियों के हाथ में शोषण का यन्त्र माना है, सर्वहारा-वर्ग के अधिनायकतन्त्र के रूप में शोषण को अन्त करने का साधन बन जाता है। उसी प्रकार मार्क्स का यह कथन कि वर्ग-विहीन समाज की स्थापना के बाद राज्य स्वयं समाप्त हो जायगा तथ्यों के विपरीत है। वर्ग विहीन समाज की स्थापना ही राज्य का एकमात्र उद्देश्य नहीं है। सामाजिक कल्याण के लिए कार्य करना, बाह्य आक्रमण से देश की रक्षा करना तथा आन्तरिक व्यवस्था स्थापित करना भी राज्य के कार्य हैं। सच पूछिये तो तथाकथित समाजवादी देशों में राज्य का जितना निरंकुश शासन है उतना पूँजीवादी देशों में नहीं है। अत: मार्क्स की इच्छा के विपरीत राज्य की आवश्यकता सदा बनी रहेगी।

८. नैतिक आचरण के शाश्वत (Eternal) और सार्वभौम (Universal) सिद्धान्तों के प्रति अनास्था प्रकट कर मार्क्सवाद ने समाज में अराजकता को बढ़ावा दिया है। उनके लिए नैतिकता, धर्म, पवित्रता इत्यादि सब बुर्जुवा प्रत्यय हैं। पर बात ऐसी नहीं है। धर्म और नैतिकता से विहीन समाज की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

९. मार्क्सवाद वर्ग-युद्ध को अनावश्यक रूप में महत्त्व देता है। वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त डार्विन के 'अस्तित्व के लिए संघर्ष' (Struggle for Existence) सिद्धान्त पर आधारित है जो अब बिलकुल ही अप्रामाणिक सिद्ध हो चुका है। प्राणियों को संसार में अपने अस्तित्व को कायम रखने के लिए केवल संघर्ष ही नहीं करना पड़ता, वरन् कभी-कभी सहयोग (Co-operation) करने की भी आवश्यकता होती है। मानव-जीवन के लिए संघर्ष की अपेक्षा सहयोग का विशेष महत्त्व है। यह प्रकृति का नियम है कि प्रेम से प्रेम और घृणा से घृणा उत्पन्न होती है। संघर्ष के द्वारा और विरोधी दलों का विनाश करके बनाया गया वर्ग-विहीन समाज इस योग्य नहीं है कि उसके लिए इतना कष्ट उठाया जाय। हिंसा, हिंसा के ऐसे दुष्चक्र को जन्म देती है कि उससे छुटकारा पाना कठिन हो जाता है। दूसरी बात यह है कि समाज से वर्गों के सर्वथा उन्मूलन की बात करना

अमनोवैज्ञानिक एवं अप्राकृतिक विचार है। ईश्वर ने समाज के सभी व्यक्तियों को एक-सा नहीं बनाया, समाज के व्यक्तियों में बुद्धि, योग्यता, अभिरुचि, अभिवृत्ति एवं मनोवृत्ति का भेद पाया जाता है जो विभिन्न प्रकार के वर्गों को जन्म देता है। एक विश्वविद्यालय का प्रोफेसर और भंगी एक ही श्रेणी में कैसे आ सकते हैं? अत: वर्गों के उन्मूलन की बात करना सर्वथा निरर्थक है। पर इसका यह अर्थ नहीं है कि हमें वर्ग-विरोध को बढ़ावा देना चाहिए। विभिन्न वर्गों में संघर्ष की अपेक्षा सहयोग की भावना को विकसित करना चाहिए। तभी समाज में 'सर्वोदय' सम्भव हो सकता है। इस दृष्टि से मार्क्स की अपेक्षा गाँधीजी के विचार समाज के लिए अधिक हितकारी हैं।

१०. मार्क्सवाद अत्यधिक अमूर्त (Abstract) और एक मतवादी (Doctrinaire) विचार है। इसमें बहुत थोड़े-से साक्ष्य के आधार पर जल्दबाजी में सामान्य सिद्धान्त बना दिये गये हैं। मार्क्स की अनेक भविष्यवाणियाँ सत्य नहीं सिद्ध हुई हैं। मार्क्स ने भविष्यवाणी की थी कि जर्मनी और ब्रिटेन जैसे अत्यधिक औद्योगिक देशों में सामाजिक क्रान्ति पहले होगी। पर यह क्रान्ति पहले पिछड़े हुए जारशाही रूस में हुई। मार्क्सवाद मनुष्य की सभी समस्याओं का समाधान राजनीतिक शब्दावली में करने की कोशिश करता है। मार्क्सवाद भविष्य के सुनहले स्वप्न दिखाते समय यह भूल जाता है कि मानव-स्वभाव में कुछ दुर्बलताएँ भी अवश्य हैं।

११. यद्यपि मार्क्सवाद धर्म का कट्टर शत्रु है परन्तु वह स्वयं मनुष्य का एक प्रतियोगी धर्म बन गया है। हैलोवेल (Hallowell) स्पष्ट लिखते हैं, ''मार्क्सवाद सिद्धान्तत: धर्म को अस्वीकार करता है, पर व्यवहारत: जो तीव्र भावना मार्क्सवाद के पीछे काम करती है उसकी प्रकृति भी धार्मिक ही है।'' पुन:, उन्होंने मार्क्सवाद की आलोचना करते हुए आगे लिखा है, ''मार्क्सवाद मानव-पाप की समस्या के गलत विश्लेषण का शिकार हो गया है। मार्क्स ने ईश्वर के स्थान पर ऐतिहासिक आवश्यकता की, ईश्वर के प्रिय लोगों के स्थान पर सर्वहारा वर्ग की और राम-राज्य के स्थान पर स्वाधीनता के राज्य की स्थापना की। मार्क्सवाद के अपने सिद्धान्त हैं, अपने पुरोहित-वर्ग और अपने कर्मकाण्ड हैं तथा अपने पापमोचक अनुष्ठान हैं। मार्क्सवाद भ्रष्ट आदर्शवाद है।''

१२. मार्क्सवाद राष्ट्रीयता एवं जातीयता की शक्तियों पर विचार नहीं करता। मार्क्सवाद का नारा है, 'संसार के मजदूरों! तुम एक हो जाओ।' पर पिछले दो विश्व-युद्धों ने यह सिद्ध कर दिया है कि संसार के सभी मजदूर युद्ध के विरुद्ध एक नहीं हो जाते। यही नहीं, मजदूर अपने-अपने देश की सरकार का साथ देते हैं और सभी देशों के मजदूरों पर अकथनीय मुसीबतें लाते हैं। द्वितीय विश्व-युद्ध ने यह भी सिद्ध कर दिया है कि समाजवाद के थोथे नारे से युद्ध नहीं जीता जा सकता। जब हिटलर ने रूस पर आक्रमण किया तो समाजवाद ने रूस की रक्षा नहीं की, यदि उसकी रक्षा हो सकी तो प्रचण्ड राष्ट्रवाद के कारण ही। अत:, राष्ट्रीयता के समक्ष मार्क्स की अन्तर्राष्ट्रीयता किसी काम की नहीं है।

१३. उपर्युक्त त्रुटियों को ध्यान में रखकर ही प्रो० लॉस्की ने कहा है कि

मार्क्सवाद एक ऐसा मत है जिसमें बौद्धिक भूल, नैतिक अन्धापन और सामाजिक विपथन (Perversity) पाया जाता है।

मार्क्सवाद से साम्यवाद की ओर संक्रमण

समाजवाद किस सीमा के बाद साम्यवाद में परिणत हो ज़ाता है, इसका उल्लेख करते हुए मार्क्स ने कहा था कि जब समाजवादी समाज में उत्पादन इस हद तक बढ़ जाता है कि सभी नागरिक अपनी आवश्यकता के अनुसार ले सकते हैं और किसी के लिए कोई वस्तु कम नहीं पड़ती, तब पृथक्-पृथक् व्यक्ति कितना लेते हैं, इसे नापने, तौलने और सीमित करने में जरा भी तथ्य नहीं रहता। जब यह अवस्था आ जाती है, तब उत्पादन और वितरण इस सिद्धान्त के आधार पर होता है कि "हर कोई अपनी योग्यता के अनुसार काम करे और अपनी आवश्यकता के अनुसार ले और जब यह सम्भव हो जाता है तभी समाजवाद साम्यवाद में बदल जाता है।"[१]

साम्यवाद
(Communism)

वैज्ञानिक समाजवाद का उन्नत रूप साम्यवाद है। समाजवाद और साम्यवाद एक ही वस्तु नहीं है। सारे साम्यवादी तो समाजवादी हैं किन्तु सभी समाजवादी साम्यवादी नहीं हैं। साम्यवाद एक ऐसे वर्ग-रहित व राज्य-रहित समाज की स्थापना करता है जिसकी व्यवस्था का आधार शक्ति व सार्वजनिक दृष्टि से निर्बलों का न होकर नवनिर्मित समाज के लोगों का पारस्परिक सहयोग व सबके हितों का संरक्षण होता है, जिसमें उत्पादन के साधनों का सार्वजनिक स्वामित्व व वितरण की व्यवस्था का सार्वजनिक नियन्त्रण होता है तथा जिसमें सब अपनी योग्यतानुसार काम करते हैं और सब आवश्यकतानुसार वस्तुओं को प्राप्त करते हैं। अपने इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए साम्यवाद उन शान्तिपूर्ण व वैधानिक उपायों पर निर्भर नहीं रहता जिनका प्रतिपादन राज्य-समाजवाद (State Socialism) तथा अन्य समाजवादी विचारधाराएँ करती हैं। यह अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उग्र व हिंसात्मक उपायों का सहारा लेने का समर्थन करता है। उसका यह दृढ़ विश्वास है कि हिंसक क्रान्ति के बिना न तो पूँजीवादी व्यवस्था का उन्मूलन किया जा सकता है और न नवीन साम्यवादी व्यवस्था की स्थापना ही की जा सकती है। इसके लिए यह विचारधारा श्रमिकों की क्रान्ति का प्रतिपादन करती है जिसके माध्यम से वे राज्य पर सर्वहारा-वर्ग का अधिनायकतन्त्र स्थापित करने में सफल हो जाते हैं। यह अधिनायकतन्त्र उग्र-से-उग्र उपायों द्वारा पूँजीपतियों व उनसे सहानुभूति रखने वाले तत्त्वों का उन्मूलन कर साम्यवाद द्वारा प्रतिपादित वर्ग-रहित समाज की स्थापना करता है। इस प्रकार अपने लक्ष्य को प्राप्त कर राज्य स्वयं अपने को समाप्त कर लेता है।

---

१. लेनिन द्वारा 'कार्ल मार्क्स और उनके सिद्धान्त' में उद्धृत जिसे एमिल बर्न्स ने 'मार्क्सवाद क्या है?' में पृ० ६२ पर उद्धृत किया है।

साम्यवाद का लक्ष्य

साम्यवाद का लक्ष्य एक ऐसे वर्ग-रहित तथा राज्य-रहित समाज का निर्माण करना है जिसकी व्यवस्था का आधार शक्ति तथा शोषण न होकर श्रमिकों की इच्छा, सहयोग तथा उनके हितों का संरक्षण हो। उत्पादन तथा वितरण के साधनों पर सम्पूर्ण समाज का स्वामित्व होना चाहिए जिससे कि समाज के प्रत्येक व्यक्ति को उसकी आवश्यकतानुसार पर्याप्त धन मिल सके।

साम्यवाद के साधन

उपर्युक्त लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए साम्यवाद एक लम्बी प्रक्रिया का प्रतिपादन करता है। इस प्रक्रिया के दो चरण हैं—१. क्रान्तिकारी चरण (The Revolutionary Stage) और २. उत्तर-क्रान्तिकारी चरण (The Post-Revolutionary Stage)। क्रान्तिकारी चरण में, "पूँजीपतियों के विरोध को नष्ट करने के लिए श्रमिक राज्य में क्रान्तिकारी भावना का संचार करेंगे।" संक्रान्ति-काल में प्रशासन का रूप लोकतन्त्रीय न होगा। एंजिल्स (Engels) के शब्दों में—"राज्य केवल एक अस्थायी संस्था है, जिसका क्रान्ति के विरोधियों का बलपूर्वक दमन करने के उद्देश्य से उपयोग किया जायगा। अत: स्वतन्त्र लोकप्रिय राज्य के विषय में चर्चा एकदम व्यर्थ है—सर्वहारा-वर्ग को जब तक राज्य की आवश्यकता है, उन्हें स्वतन्त्रता के लिए उसकी आवश्यकता नहीं है, प्रत्युत् अपने विरोधियों का दमन करने के लिए है और जब स्वतन्त्रता के विषय में चर्चा करना सम्भव हो जायगा, वैसी अवस्था आने पर राज्य का अस्तित्व ही नहीं रहेगा।" उत्तर-क्रान्तिकारी चरण में सम्पूर्ण समाज एक स्तर पर आ जायगा और प्रत्येक व्यक्ति समग्र सामाजिक कल्याण के लिए अपनी सर्वोच्च योग्यतानुसार अंश-दान कर सकेगा तथा स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी आवश्यकताओं की तुष्टि करेगा।

साम्यवादी घोषणापत्र (Communist Manifesto) में मार्क्स और एंजिल्स ने साम्यवाद की स्थापना की निम्न विधियाँ बतायी थीं[१]—

१. "भूमि पर से व्यक्तिगत सम्पत्ति का उन्मूलन तथा भूमि के सभी लगानों को सार्वजनिक उद्देश्यों के लिए उपयोग करना।

२. "एक बहुत ही प्रगतिशील (Progressive) अथवा वर्द्धमान आय-कर लगाना।

३. "राष्ट्र में उपलब्ध सभी प्रकार के 'उत्तराधिकारों' को समाप्त कर देना।

४. "देश को छोड़ कर बाहर रहने वाले सभी व्यक्तियों, देश के विरुद्ध कार्य करने वाले देशद्रोहियों और विद्रोहियों की सम्पत्ति को जब्त (Confiscate) कर लेना।"

५. "साख (Credit) का राज्य के हाथों में केन्द्रीयकरण (Centralisation)। इसके लिए एक राष्ट्रीय बैंक (National Bank) की स्थापना करना जो साख सम्बन्धी सभी व्यवस्थाओं और तथ्यों पर अधिकार रखे तथा उसका नियन्त्रण करे।"

---

१. 'मेनिफेस्टो ऑव द कम्युनिस्ट पार्टी', मार्क्स-एंजिल्स, सेलेक्टेड वर्क्स, खण्ड १, पृ० ५०-५१

६. "राज्य में स्थित समस्त उत्पत्ति के साधनों को अपने अधिकार में कर लेना और उनका तथा उन कारखानों और उद्योगों का जिनकी स्थापना राज्य द्वारा हो, विकास और नियन्त्रण केन्द्रीय सरकार द्वारा होना। बंजर-भूमि को खेती-योग्य बनाना और एक निश्चित सामूहिक योजना के अनुसार भूमि से सम्बन्धित सभी बातों में समान रूप से सुधार करना।"

८. "बच्चों, श्रमिकों एवं राज्य के अन्य व्यक्तियों को निःशुल्क विभिन्न प्रकार की और आवश्यंकीय शिक्षा का प्रबन्ध करना ताकि वे आगे चलकर कुशल नागरिक, कुशल श्रमिक और सुयोग्य प्रबन्धक बन सकें। आमदनी की असमानता उनकी शिक्षा में बाधक न हो।"

९. "सभी प्रकार के श्रम के लिए समान उत्तरदायित्व और 'श्रम-सेना' (Labour-Army) की स्थापना।"

मार्क्स ने इस विषय पर प्रकाश डालते हुए कि वर्ग-संघर्ष किस प्रकार सम्पूर्ण रूप से दूर हो सकता है और साम्यवाद की नींव किस प्रकार सबल हो सकती है, कहा, "जब विकास के अन्तर्गत भेद समाप्त हो जायँगे और सारा उत्पादन सारे राष्ट्र के एक विशाल संघ के हाथ में केन्द्रित हो जायगा, सार्वजनिक शक्ति की राजनीतिक प्रकृति का अन्त हो जायगा। राजनीतिक शक्ति वास्तव में एक वर्ग की दूसरे वर्ग को दमन करने की संगठित शक्ति होती है। यदि श्रमिक संगठित रूप में वर्ग-युद्ध में भाग लेते हैं और विजयी होकर उत्पत्ति की पुरानी दशाओं को समाप्त कर देते हैं तो वे साथ में वर्ग-विरोध की दशाओं को भी समाप्त कर देंगे और इस प्रकार एक वर्ग के रूप में स्वयं अपने भी प्रभुत्व को समाप्त कर देंगे।"[१]

हिंसात्मक क्रान्ति

साम्यवादियों का विचार है कि उपर्युक्त साधनों को लोकतान्त्रिक विधि से कभी भी कार्यान्वित नहीं किया जा सकता। पूँजीवादी व्यवस्था का शान्तिपूर्ण उपायों द्वारा अन्त असम्भव है। साम्यवादी क्रान्ति को अवश्यंम्भावी मानते हैं। क्रान्ति वर्ग-संघर्ष का स्वाभाविक परिणाम है। आर्थिक क्षेत्र में श्रम मूल्य का स्रोत है तथा श्रम द्वारा उत्पादन में जो अतिरिक्त मूल्य की प्राप्ति होती है वह पूर्ण रूप से श्रमिकों का ही भाग है। पर होता यह है कि श्रमिकों की दीन व असहाय अवस्था का अनुचित लाभ उठाकर पूँजीपति उन्हें कम-से-कम मजदूरी देकर अतिरिक्त मूल्य का अधिकांश स्वयं हड़प कर लेते हैं। परिणाम यह होता है कि सम्पन्न और विपन्न का अन्तर दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही चला जाता है और समाज में अशान्ति व संघर्ष की स्थिति विकट रूप में उत्पन्न हो जाती है। इसके अतिरिक्त पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में स्थानीयकरण और केन्द्रीयकरण होता है जिसके कारण श्रमिक एक स्थान पर एकत्रित होकर अपने भीतर सामूहिक चेतना का विकास कर लेते हैं। अति-उत्पादन के कारण पूँजीपति अपना सम्पूर्ण माल देश में ही नहीं खपा पाते और अन्य देशों में बाजार ढूँढ़ने लगते हैं। परिणाम यह होता है कि संसार के सभी

१. मार्क्स एवं एंजिल्स, 'मेनिफेस्टो ऑव द कम्युनिस्ट पार्टी', सेलेक्टेड वर्क्स, खण्ड १, पृ० ५१

पूँजीपतियों के बीच प्रतिस्पर्धा और संघर्ष होने लगता है जो अन्त में युद्ध का रूप ग्रहण कर लेता है। बाजार में तेजी आती है और मजदूरों की क्रय-शक्ति का दिनोंदिन ह्रास होता है। इन सबका संकलित परिणाम होता है—श्रमिकों में व्यापक असन्तोष, हिंसक क्रान्ति और पूँजीवाद की समाप्ति।

सर्वहारा-वर्ग का अधिनायकतन्त्र

साम्यवादी प्रथम श्रमिकों का संगठन बनाते हैं, फिर वर्ग-संघर्ष द्वारा पूँजीपतियों का विनाश करते हैं और तीसरे चरण में सर्वहारा-वर्ग का अधिनायकवाद (Dictatorship of the Proletariat) स्थापित करते हैं। क्रान्ति के बाद आर्थिक साधनों पर अधिकार होने के कारण राज्य की शक्ति भी आसानी से श्रमिकों के हाथ में आ जायगी। आर्थिक और राजकीय दोनों शक्तियाँ श्रमिकों के हाथ में केन्द्रीभूत होने के कारण उन्हें एक वर्गहीन और राज्यहीन समाज के निर्माण में पर्याप्त सहायता मिलती है। यदि साम्यवादी समाज-व्यवस्था की स्थापना के विरुद्ध कुछ निहित स्वार्थ वाले व्यक्ति षड्यन्त्र करते हैं तो राजसत्ता के अधिनायकतन्त्रीय प्रयोग द्वारा उन्हें निर्मूल कर दिया जायगा। साम्यवादी समाज-व्यवस्था का यह संक्रमणकालीन चरण है। इसमें सर्वहारा अधिनायक-तन्त्र पूँजीवादी तत्त्वों को समाप्त करेगा, उत्पादन के साधनों का राष्ट्रीयकरण करेगा, वितरण की उचित व्यवस्था करेगा तथा सार्वजनिक शान्ति व व्यवस्था स्थापित कर समाजवादी समाज की स्थापना करेगा। साम्यवादी राज्य का उपयोग केवल संक्रमणकालीन अवस्था में ही अस्थायी रूप से करते हैं क्योंकि उनके अनुसार राज्य-व्यवस्था अन्ततः स्वयं एक बुराई है जो उक्त निश्चित कार्यों को सम्पादित कर स्वयं समाप्त हो जाती है।

राज्य-सत्ता का अन्त

साम्यवादी कार्यक्रम के अनुसार राज्य-सत्ता की समाप्ति साम्यवादी समाज-व्यवस्था का अन्तिम चरण है। बात यह है कि जब समाज उस अवस्था में पहुँच जायगा कि प्रत्येक व्यक्ति सामर्थ्य के अनुसार कार्य करेगा और अपनी आवश्यकतानुसार वस्तुओं को प्राप्त करेगा, तो समाज की समस्याएँ स्वतः ही सुलझ जायँगी और किसी प्रकार के राज्य जैसे वाह्य नियन्त्रण की आवश्यकता ही न रहेगी। समाज की वह आदर्श, पूर्ण स्वतन्त्र और सम्पन्न अवस्था होगी जिसमें निर्धनता, विषमता और असन्तोष का आत्यन्तिक अभाव होगा। इस स्थिति में वाह्य नियन्त्रण के प्रतीक राज्य की आवश्यकता ही सदा के लिए समाप्त हो जायगी। एंजिल्स ने ठीक ही कहा है—''राज्य समाप्त नहीं किया जायगा, वरन् वह स्वयं समाप्त हो जायगा।''

साम्यवादी समाज-व्यवस्था का रूप

साम्यवादी समाज वर्ग-विहीन तथा राज्य-विहीन होगा। समाज के सब कार्य श्रमिकों के ऐच्छिक समुदायों द्वारा होंगे। समाज सहयोग और पारस्परिक प्रेम पर आधारित

होगा। श्रमिक अपने उत्तरदायित्व को भलीभाँति पहचानेंगे। मार्क्स ने साम्यवादी समाज की कल्पना निम्न प्रकार प्रस्तुत की है, "साम्यवादी समाज की उच्चतम अवस्था में जब श्रम-विभाजन के अत्याचारपूर्ण बन्धन से व्यक्ति मुक्त हो जायगा और इस प्रकार हाथ के काम व मानसिक काम का भेद भी समाप्त हो जायगा; जब श्रम करना केवल जीवन का साधन ही नहीं, वरन् उसका पहला ध्येय समझा जायेगा; जब उत्पादन की शक्ति बढ़ जायगी, सहकारी सम्पत्ति की उन्मुक्त धारा बहने लगेगी और व्यक्ति का सर्वांगीण विकास होगा, केवल तभी पूँजीवादी जगत् की चली आ रही अधिकार सम्बन्धी संकुचित कल्पना से समाज का पीछा छूटेगा और समाज अपने ध्वज पर यह अंकित करेगा—प्रत्येक अपनी योग्यतानुसार काम करे व प्रत्येक अपनी आवश्यकतानुसार प्राप्त करे।"[१] साम्यवादी समाज की निम्न विशेषताओं की ओर हम संकेत कर सकते हैं—

१. साम्यवादी समाज-व्यवस्था की सबसे बड़ी बात यह होती है कि "पूँजीवाद से उत्पन्न स्वार्थपरता और व्यक्तिवादी दृष्टिकोण के बदले लोगों में एक सच्चा सामाजिक दृष्टिकोण और समाज के प्रति उत्तरदायित्व की भावना उत्पन्न होती है......इस समाज में स्त्री-पुरुषों का सिवाय इसके और कोई दृष्टिकोण नहीं होता कि समाज के विकास में वे अधिक-से-अधिक योगदान करें।"[२]

२. "साम्यवाद में समाजीकृत उत्पादन की एक पूर्व निश्चित योजना के अनुसार होने की सम्भावना उत्पन्न हो जाती है। ऐसी उत्पत्ति का विकास समाज के विभिन्न वर्गों के भेद को स्वयं मिटा देगा।"

३. साम्यवादी समाज-व्यवस्था में शहर और देहात का भेद समाप्त हो जाता है।

४. इस प्रथा के अन्तर्गत जनतन्त्र का केवल यह अर्थ नहीं रहता कि संसद में कौन प्रतिनिधि बन कर जाय और उसके लिए और लोगों से वोट माँगे जायँ। जनतन्त्र का अर्थ अब यह हो जाता है कि प्रत्येक कारखाने में, प्रत्येक मुहल्ले में और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में नर-नारी स्वयं अपने देश के भविष्य का निर्माण करते हैं।

५. साम्यवाद में स्त्रियों को नीची दृष्टि से नहीं देखा जाता। न यह समझा जाता है कि वे समाज के प्रत्येक क्षेत्र में योग नहीं दे सकतीं। इस बात की विशेष व्यवस्था की जाती है कि वे बिना किसी कठिनाई के कार्य कर सकें।

६. साम्यवाद के अन्तर्गत जातियों के बीच खड़ी हुई दीवारें गिर जाती हैं। समाजवादी समाज में कोई 'पराधीन जाति' नहीं होती।

७. साम्यवाद का आधार अन्तर्राष्ट्रीय है तथा वह जाति, धर्म, रंग और राष्ट्रीयता के भेदों को स्वीकार नहीं करता।

८. साम्यवाद व्यक्ति की अपेक्षा समाज को अधिक महत्त्वपूर्ण मानता है; साधन की अपेक्षा साध्य या लक्ष्य अधिक महत्त्वपूर्ण है तथा वह यह भी मानता है कि विचारों

---

१. कार्ल मार्क्स, From each according to his capacity, to each according to his need.

२. एमिल बर्न्स, मार्क्सवाद क्या है?, पृ० ६४

की अपेक्षा वातावरण अधिक महत्त्वपूर्ण है। यही कारण है कि साम्यवाद व्यक्तियों के सुधार पर ध्यान न देकर वातावरण के सुधार पर विशेष बल देता है।

साम्यवाद की आलोचना

साम्यवाद और मार्क्सवाद में जो सामान्य बातें हैं जैसे—अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त, इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या, वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त इत्यादि, इनका मूल्यांकन मार्क्सवाद के प्रकरण में ही किया जा चुका है। उन्हें पुनः यहाँ दुहराने की कोई आवश्यकता नहीं है। यहाँ मार्क्सवाद से पृथक् केवल साम्यवादी विचारधारा का ही मूल्यांकन प्रस्तुत किया जायगा—

१. साम्यवाद के विरुद्ध प्रथम आक्षेप तो यह है कि उसका उद्देश्य बिलकुल अस्पष्ट है। इसका उद्देश्य एक ऐसे वर्ग-विहीन और राज्यविहीन समाज की स्थापना करना है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यतानुसार कार्य करेगा और प्रत्येक को उसकी आवश्यकतानुसार वस्तुएँ उपलब्ध होंगी। पर कठिनाई यह है कि किसी व्यक्ति की 'योग्यता' तथा उसकी 'आवश्यकता' का निर्णय कौन करेगा तथा उसका मानदण्ड क्या होगा? यदि यह मान लिया जाय कि यह कार्य सर्वहारा के अधिनायकतन्त्र द्वारा सम्पादित होगा तो फिर साम्यवाद व समष्टिवाद में कोई विशेष अन्तर नहीं रह जायगा और यदि यह कार्य व्यक्तियों पर छोड़ दिया जाय तो व्यक्तिगत स्वार्थ तथा विभिन्न व्यक्तिगत इच्छाओं, आवश्यकताओं तथा दृष्टिकोणों के कारण इस सिद्धान्त को व्यवहार में लाना असम्भव हो जायगा। इसी कारण साम्यवादी व्यवस्था में सामाजिक जीवन कलहपूर्ण व अस्त-व्यस्त हो जायगा और समाज में अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो जायगी।

२. साम्यवाद की राज्य-सम्बन्धी अवधारणा भी बिलकुल गलत है। उसके अनुसार राज्य केवल वर्ग-संघर्ष का ही एक यन्त्र है तथा पूँजीपतियों के आधिपत्य और उनके शोषण को सुरक्षित रखने का एक साधन है। साम्यवाद के अनुसार राज्य एक बुरी संस्था है। पर यह दृष्टिकोण न्यायसंगत नहीं है। साम्यवादी राज्य को प्रथम एक अति-मानव (Super-man) के रूप में लेते हैं जिसे तथाकथित समष्टि हित में व्यक्ति को किसी भी प्रकार दुरुपयोग या सदुपयोग करने का अधिकार होता है। पुनः वही राज्य उनके लिए एक अति-दानव (Super-devil) का रूप धारण कर लेता है जिससे मुक्त होने का वे हर सम्भव प्रयत्न करते हैं। पर दोनों बातें एक साथ सत्य नहीं हो सकतीं। राज्य कोई व्यक्ति नहीं है, वह तो एक यन्त्र (Mechanism) मात्र है। वह स्वयं न तो अच्छा है और न बुरा। राज्य की अच्छाई या बुराई उसके प्रयोग पर निर्भर करती है। उसका अपना कोई उद्देश्य नहीं होता। वह न तो किसी का शत्रु है और न किसी का मित्र। पूँजीपतियों के हाथ में यदि वह उनके हितों का संरक्षक बन जाता है तो सर्वहारा-वर्ग के अधिनायकतन्त्र में पूँजीपतियों का भक्षक तथा श्रमिकों के हितों का रक्षक बन जाता है। अतः, राज्य का अच्छा या बुरा होना उसके सदुपयोग और दुरुपयोग पर निर्भर करता है। इसके अतिरिक्त, देश की आन्तरिक सुरक्षा एवं वाह्य आक्रमण से उसकी रक्षा के लिए राज्य-शक्ति की आवश्यकता होती है।

भारी उद्योगों की स्थापना, रेल, तार, डाक तथा सुरक्षा-प्रतिष्ठानों की स्थापना एवं अन्य लोक कल्याणकारी कार्य राज्य द्वारा ही सम्भव होते हैं।

३. साम्यवाद सामाजिक परिवर्तन के लिए विकास (Evolution) में नहीं, वरन् क्रान्ति (Revolution) में विश्वास करता है जिसकी उपादेयता संदिग्ध है। तोड़-फोड़ एवं विध्वंसक कार्यों द्वारा सामाजिक सम्पत्ति को नष्ट कर श्मशान के ऊपर समाजवादी व्यवस्था को स्थापित करना अविवेकपूर्ण काम है। हिंसा प्रतिहिंसा को तथा क्रान्ति प्रतिक्रान्ति को जन्म देती है और फिर इस दुश्चक्र से छुटकारा पाना कठिन हो जाता है। क्रान्ति के कारण समाज में अव्यवस्था उत्पन्न होती है, उसके बाद यह निश्चित नहीं होता कि सारी बातें क्रान्ति के उद्देश्य के अनुरूप चलती रहेंगी। कभी ऐसा होता है कि क्रान्ति के बाद सत्ता ऐसे लोगों के हाथ में चली जाती है जो क्रान्ति के उद्देश्यों में तनिक भी विश्वास नहीं करते। फ्रान्स की राज्य-क्रान्ति इसका ज्वलन्त उदाहरण है। फ्रान्स की राज्य-क्रान्ति का उद्देश्य वूर्बो राज्य-वंश के निरंकुश राजाओं को समाप्त कर लोकतन्त्र की स्थापना करना था, पर इस उद्देश्य-पूर्ति के स्थान पर क्रान्ति के बाद नेपोलियन को अपना निरंकुश अधिनायकतन्त्र स्थापित करने का सुअवसर प्राप्त हो गया। अत: क्रान्ति का परिणाम सदा अच्छा ही नहीं होता।

४. साम्यवादी साध्य (End) की पवित्रता में विश्वास करते हैं, साधन की पवित्रता में नहीं। उनके अनुसार, पवित्र साध्य को सिद्ध करने के लिए अपवित्र से अपवित्र साधन को ग्रहण किया जा सकता है। पर यह धारणा बिलकुल गलत है। यदि साधन अपवित्र है तो साध्य कभी भी पवित्र नहीं हो सकता। साधन और साध्य में एक अनुरूपता होती है। साधन और साध्य एक ही वस्तु के दो पहलू हैं। उनमें इतनी विषमरूपता नहीं हो सकती जितना कि साम्यवादी सोचते हैं। क्रान्ति में विश्वास करने के कारण साम्यवाद ने एक 'युद्ध-पिपासु मानव' को जन्म दिया जो मानव का निकृष्टतम रूप है।

५. साम्यवाद व्यक्ति की अपेक्षा समाज को अधिक महत्त्व देता है। उसके लिए विचारों की अपेक्षा वातावरण अधिक महत्त्वपूर्ण है। पर सच बात तो यह है कि मनुष्य परिस्थितियों का दास नहीं, वरन् उनका निर्माता है। मनुष्य इतना अकिंचन प्राणी नहीं है कि परिस्थितियों से परे उसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। साम्यवादी आर्थिक स्वतन्त्रता की बात तो करते हैं, पर उनके लिए राजनीतिक, आध्यात्मिक एवं व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का कोई मूल्य नहीं है। आर्थिक स्वतन्त्रता जीवन का केवल एक पक्ष है। जीवन के चार पुरुषार्थों—अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष में साम्यवाद केवल अर्थ और काम को ही विशेष महत्त्व देता है, अन्य दो—धर्म और मोक्ष की अवहेलना करता है। भौतिक सुख की अपेक्षा मोक्ष प्राप्त करना ही जीवन का लक्ष्य है।

६. साम्यवाद के अन्तर्गत मनुष्य को अपनी इच्छानुसार आजीविका के साधन को चुनने की स्वतन्त्रता नहीं होती। राज्य जिस व्यक्ति को जिस प्रकार की शिक्षा या कार्य प्रदान करना चाहे उसमें व्यक्ति को इस बात की स्वतन्त्रता नहीं होती कि वह उसकी अवहेलना कर सके।

७. साम्यवाद के आलोचकों का यह भी कहना है कि साम्यवाद की स्थापना से तानाशाही (Dictatorship) को प्रोत्साहन मिलता है।

८. हिंसा और क्रान्ति में विश्वास करने के कारण साम्यवादी समाज-व्यवस्था में सैनिकीकरण अनिवार्य रूप से पाया जाता है।

९. साम्यवाद एक भौतिकवादी विचारधारा है जो जड़ को ही एकमात्र तत्त्व मानती है। इसमें आत्मा व ईश्वर के लिए कोई स्थान नहीं है। इसका परिणाम यह होता है कि समाज से नैतिकता का लोप, मात्स्य-न्याय का प्रवेश एवं सामाजिक व्यवस्था में अस्तव्यस्तता की उत्पत्ति सम्भावित हो जाती है। प्राचीन भारत में जो चार्वाक लोगों का दर्शन था, उसी प्रकार का दर्शन हमें साम्यवाद में दिखाई पड़ता है। गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरितमानस में जो अभेदवादियों का वर्णन किया है वह वर्णन साम्यवादियों के ऊपर बड़ा सटीक बैठता है। उन्होंने लिखा है कि कलियुग में परायी स्त्री के प्रति कुदृष्टि रखनेवाले, लंपट, कपटी, मोह और ममता से युक्त तथा विद्रोही लोगों को ही अभेदवादी (साम्यवादी) कहा जायगा।[१]

१०. वैसे तो साम्यवाद धर्म, नैतिकता व मजहब का कट्टर विरोधी है, पर यह स्वयं अपने को संसार के समक्ष एक कट्टर धर्म के रूप में प्रस्तुत करता है जिसमें स्वतन्त्र चिन्तन के लिए कोई स्थान नहीं है। "मसीहावाद और अपरिवर्तनीय अन्धविश्वास पर आधारित मजहब के अनुयायी की तरह कट्टर समाजवादी नये स्वतन्त्र विचारों से दूर ही रहना पसन्द करता है। यही कारण है कि कम्युनिस्टों के शब्दकोश में ऐसे विचारकों के लिए अनेक प्रकार की गालियाँ भी रहती हैं। परन्तु विचारशील मानव विचाररहित नहीं हो सकता। यदि उसकी विचारतरंगों को योग्य दिशा देने की कोई योजनाबद्ध व्यवस्था न रही तो उसका अनिवार्य परिणाम चतुर्दिक भ्रम के रूप में सामने आये बिना नहीं रह सकता।"[२]

११. साम्यवाद भविष्य की संदिग्ध वस्तु की आशा दिखाकर लोगों के पास से वर्तमान की वस्तु का भी अपहरण कर लेता है। २८ अप्रैल, १९१९ में ही प्रिंस क्रोपोटकिन ने पश्चिमी यूरोप के मजदूरों के नाम एक पत्र में लिखा—

"मैं आपको स्पष्ट रूप से यह बताना अपना दायित्व समझता हूँ कि मेरे विचार से सुदृढ़ केन्द्रित शासन-व्यवस्था के आधार पर, दलीय तानाशाही के फौलादी शिकंजे के नीचे साम्यवादी गणतन्त्र निर्माण करने का प्रयास असफलता के रूप में ही सामने आयेगा। रूस से हम इस बात को सीख रहे हैं कि साम्यवाद को प्रवेश करने से कैसे रोका जाय? जब तक देश में दलीय तानाशाही का शासन कायम है तब तक किसान और मजदूर परिषदें अपना महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं बना सकतीं। वे अपना समस्त वैशिष्ट्य ही खो बैठेंगी। रूसी गणराज्य आज एक ऐसी अभेद्य नौकरशाही को जन्म दे रहा है जिसके सम्मुख फ्रान्स की वह

---

१. परतिय लंपट कपट सयाने। मोह द्रोह ममता लपटाने॥
तेइ अभेदवादी ज्ञानी नर। देखा मैं चरित्र कलियुग कर॥ —रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड

२. दीनदयाल उपाध्याय, राष्ट्र-चिन्तन, पृ० ७०

नौकरशाही भी मात हो जायगी जिसमें कहीं रास्ते में आँधी से गिरे हुए पेड़ को बेचने के लिए भी चालीस सरकारी अधिकारियों की आवश्यकता पड़ती है।''

साम्यवाद में हमें एक बौद्धिक कपट (Intellectual Dishonesty) एवं दुरंगी नीति (Duplicity) का आभास मिलता है। साम्यवादी दूसरों को तो अन्तर्राष्ट्रीयता (Internationalism) का पाठ पढ़ाते हैं, पर स्वयं वे पक्के राष्ट्रवादी (Nationalist) होते हैं। वे अपनी आक्रामक सेना को तो मुक्ति-सेना (Liberation-Army) के नाम से पुकारेंगे पर दूसरे देश की सुरक्षा सेना को आक्रामक सेना कहकर पुकारेंगे। अपनी कुटिल एवं निकृष्टतम विचारधारा को तो प्रगतिशील (Progressive) विचारधारा कहेंगे पर दूसरी राष्ट्रीय विचारधारा को वे प्रतिक्रियावादी विचारधारा कहकर लांछित करेंगे। चीन ने भारत पर आक्रमण कर और रूस ने चेकोस्लोवाकिया पर आक्रमण कर संसार के समक्ष अपने वास्तविक रूप को प्रकट कर दिया है कि उनके लिए धर्म, नैतिकता, ईमानदारी, सच्चाई, मित्रता इत्यादि का कोई मूल्य नहीं है। भारत जैसे धार्मिक एवं अध्यात्मवादी देश के लिए साम्यवाद निश्चय ही अनुपयुक्त विचारधारा है। वर्तमान समय में रूस-चीन का संघर्ष साम्यवाद की दुर्बलताओं एवं उसके अन्तर्विरोधों को पूर्ण रूप में प्रकट कर देता है।

अब हम साम्यवाद के विषय में कुछ भारतीय देश-भक्तों और मनीषियों द्वारा व्यक्त किये गये विचारों का वर्णन करेंगे। इनमें महर्षि अरविन्द, कविवर रवीन्द्र और राष्ट्र-भक्त नेताजी सुभाषचन्द्र बोस के विचार विशेष मननीय हैं—

१. महर्षि अरविन्द

राष्ट्रीयता—महर्षि अरविन्द ने साम्यवाद की अन्तर्राष्ट्रीयता की कटु आलोचना की है। उनके अनुसार 'आस्था और विश्वास' समर्पण और शक्ति के स्रोत हैं। आदर्श एक आधार देता है और विश्वास उसको मूर्त रूप करता है। मातृ-भूमि में श्रद्धा-भक्ति ईश्वर में श्रद्धा-भक्ति रखने के समान है। उन्होंने देश और जातीयता को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना है। वे स्वदेश में साम्यवादी गतिविधियों से संघर्ष को 'देवासुर-संग्राम' मानते हैं जिसमें अन्त में देवताओं की ही विजय होती है।

साम्य-दर्शन—श्री अरविन्द का विचार था कि साम्यवाद भौतिक और आर्थिक नियतिवाद का परिणाम नहीं है, वह अन्दर से उत्पन्न होता है। उनके समाजवाद का आधार आत्मा है न कि जड़-पदार्थ। वे कहते थे, ''हमारा समाजवाद अनेकता में एकता का पोषक है और उसमें वर्ग-संघर्ष के लिए कोई स्थान नहीं है। हमारी सामाजिक एकता की धारणा भ्रातृत्व का प्रतिपादन करती है, क्योंकि विश्व के सभी प्राणी 'मातृशक्ति' के पुत्र हैं।'' इसी प्रकार श्री अरविन्द ने अपने 'भ्रातृत्व' शीर्षक लेख में 'साम्य' शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा था, ''साम्यवाद भ्रातृत्व से उत्पन्न होता है। बिना भ्रातृत्व का भाव उदय हुए साम्यभाव उत्पन्न नहीं किया जा सकता। भ्रातृत्व के ऊपर साम्य की स्थापना न करके साम्य के ऊपर भ्रातृत्व की स्थापना करने की चेष्टा करना सोशलिस्टों की भूल है। साम्यहीन भ्रातृत्व का होना तो सम्भव है पर भ्रातृत्वहीन होने से साम्य का

टिकना बिलकुल ही असम्भव है। क्योंकि वह मतभेद, झगड़े और आधिपत्य की प्रवल इच्छाओं से निश्चय रूप से नष्ट हो जाया करता है और नष्ट हो जाना अनिवार्य भी है। इसलिए प्रथम सम्पूर्ण भ्रातृत्व और पीछे सम्पूर्ण साम्य होना चाहिए।''

२. कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ मानव-धर्म में विश्वास करते थे जिसका स्रोत वेदों और उपनिषदों में मिलता है। सन् १९३० में वे रूस गये थे और अपने 'रूस से पत्र' (Letters from Russia) में उन्होंने साम्यवाद के प्राय: सभी सिद्धान्तों की बड़ी कड़ी आलोचना की है। उन्होंने कहा है, ''मैं नहीं समझता कि कम्युनिस्ट व्यक्ति और समाज की सीमाओं को व्यापक कर सके हैं तथा इसलिए वे फासिस्टों की तरह हैं। समाज के लिए वे व्यक्ति का दमन करने से नहीं हिचकिचाते। पर यदि व्यक्ति को जंजीरों में जकड़ दिया जाता है तो समाज मुक्त नहीं रह सकता। यह एक शक्तिशाली व्यक्ति की तानाशाही है। यह तानाशाही संयोगवशात् कुछ काल के लिए भले ही कुछ अच्छे परिणाम दे सके, लेकिन दीर्घकाल के लिए नहीं। लेकिन यह भी सम्भव नहीं है कि योग्य नेता सदैव मिलते रहें।......इसके अतिरिक्त निर्बाध अधिकार-शक्ति मानव को भ्रष्ट कर देती है।''

तानाशाही—''मेरा विश्वास है कि तानाशाही एक भयंकर बुराई है और इस बुराई के कारण ही रूस में कई बार दमन-चक्र चला है। यह शक्ति का नकारात्मक पक्ष है और इसलिए पाप है।''

आगे गुरुदेव ने साम्यवादियों द्वारा मानव-मस्तिष्क पर अधिकार जमा लेने के कुचक्र की 'सीता-हरण' से तुलना की है चाहे इसके लिए 'लंकादहन' ही क्यों न हो जाय। इसी सन्दर्भ में वे लिखते हैं, ''वे सोचते हैं कि सीता-हरण के कार्य की तरह मस्तिष्क पर अधिकार पाना सम्भव है और उसके बाद यदि लंका में आग लगती है तो लगे। मुझे उन राज्याध्यक्षों में विश्वास नहीं है जो मानव-मन को तैयार किये बिना ही सिद्धान्त ऊपर से थोप देते हैं। कितना विचित्र है कि जिन्हें धर्म-ग्रन्थों में विश्वास नहीं है वे आर्थिक सिद्धान्तों के अंध-भक्त बन जाते हैं और वे इन सिद्धान्तों के क्रियान्वयन के लिए बल-प्रयोग करते हैं।''

आर्थिक विषमता—कविवर के अनुसार सम्पत्ति श्रम का प्रतिफल है, पर वे समझते थे कि बल-प्रयोग द्वारा आर्थिक विषमता को दूर करना अनैतिक कार्य है। ''सम्पत्ति का वैषम्य बल-प्रयोग या जादू के जोर से दूर नहीं किया जा सकता। मनुष्यों की योग्यताएँ पृथक्-पृथक् हैं और इसी कारण उनकी उपलब्धियों में अन्तर होता है। इसके अतिरिक्त मानव-स्वभाव में भी विभिन्नता है। कुछ में धन-संग्रह की प्रवृत्ति होती है। कुछ में यह प्रवृत्ति नहीं होती। इस प्रकार सम्पत्ति का अन्तर बढ़ता है।'' गुरुदेव आर्थिक विषमता का समाधान हिंसा द्वारा नहीं, वरन् सहकारिता के आधार पर करना चाहते थे। उन्होंने आगे लिखा है, ''मानव-जीवन के किसी क्षेत्र में पूर्ण समानता न तो सम्भव ही है और न वांछनीय। पूर्ण समानता प्रयत्न करने की प्रवृत्ति को समाप्त कर देगी और बुद्धि को निष्क्रिय

बना देगी। दूसरी ओर अत्यधिक वैषम्य भी बुरा है, क्योंकि इससे मनुष्य-मनुष्य में सामाजिक खाईं बढ़ती है। आज असमानता की सीमा नहीं है। समाज में असन्तोष और क्रान्ति भड़काने की योजनाएँ बनायी जा रही हैं। अतः, सब लोगों को शिक्षा, स्वास्थ्य तथा आजीविका के समान अवसर मिल सकें—इसका उपाय खोजा जाना चाहिए।"

नेताजी सुभाषचन्द्र बोस

नेताजी अपनी प्रखर राष्ट्र-भक्ति के कारण साम्यवादियों के कोप-भाजन बने थे। उन्होंने उनकी राष्ट्र-भक्ति को बर्जुवा विचार-दर्शन कहकर निन्दा की थी। नेताजी कम्युनिस्टों के अन्तर्राष्ट्रीयतावाद को बहुत अच्छी प्रकार समझते थे। इस विषय में उनका १९४३ में टोकियों में दिया गया भाषण अति स्पष्ट है—"हमने सही और गलत अन्तर्राष्ट्रीयतावाद के अन्तर को पहचान लिया है। राष्ट्रीयता के आधार पर निर्मित अन्तर्राष्ट्रीयता ही वस्तुतः उचित अन्तर्राष्ट्रीयता है।" नेताजी का मत था कि अन्तर्राष्ट्रीयता का आधार उदार राष्ट्रवाद की भावना पर आधारित होना चाहिए। उनके अनुसार न तो रूस और न ही मार्क्सवाद हमारे लिए दिशा-निर्देशक हो सकते हैं। "प्रेरणा के लिए रूस की ओर ताकना एक मूर्खता होगी।" नेताजी के समाजवाद की कल्पना का स्पष्ट चित्र हमें उनके द्वारा १९२६ में रंगून में दिये गये भाषण में मिलता है जिसमें उन्होंने कहा था, "यह भारतीय समाजवाद मार्क्स के निबन्धों से पैदा नहीं हुआ। यह भारत के सांस्कृतिक दाय से निर्मित है।"

१. बोल्शेविज़्म (Bolshevism)

बोल्शेविज्म, मार्क्सवाद का रूसी संस्करण है। लेनिन और स्टालिन इसके अग्रदूत रहे हैं। लेनिन १८९० में ही क्रान्तिकारी आन्दोलन में शामिल हो गये थे। उन्होंने मार्क्स और एंजिल्स का अध्ययन करने में अनेक वर्ष विदेशों में बिताये। प्रथम विश्व-युद्ध के दौरान वे जर्मन लोगों द्वारा स्वदेश लाये गये। उन्होंने इस अवसर का सदुपयोग जारशाही शासन को उखाड़ फेंकने और क्रान्ति कराने में किया। नवम्बर १९१७ से लेकर अपनी मृत्युपर्यन्त १९२४ तक वे बराबर सोवियत पार्टी के सर्वमान्य नेता रहे। उन्होंने मार्क्सवाद का उपयोग रूसी परिस्थितियों में बहुत ही बुद्धिमत्तापूर्वक किया। उन्होंने परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार मार्क्सवाद में संशोधन भी प्रस्तुत किया।

लेनिनवाद (Leninism) (१८७०-१९२४)

मार्क्सवाद के संशोधन के परिणामस्वरूप लेनिनवाद की उत्पत्ति हुई है। लेनिन ने मार्क्सवाद में निम्न संशोधन प्रस्तुत किये हैं—

१. लेनिन के अनुसार पूँजीवाद का अन्तिम चरण साम्राज्यवाद है। वे कहा करते थे कि साम्राज्यवाद मरते हुए पूँजीवाद का अन्तिम रूप है। उनके अनुसार एकाधिकृत पूँजी (Monopoly Capital) और वित्त-पूँजी (Finance Capital) की चरम परिणति साम्राज्यवाद में होती है। साम्राज्यवाद में प्रारम्भ से अन्त तक संघर्ष ही संघर्ष है। पहले तो

यह संघर्ष साम्राज्यवादी देश के अन्दर ही उत्पन्न होता है। यह संघर्ष सम्पन्न और विपन्न, पूँजीपति और श्रमिक तथा मध्यमवर्ग और सर्वहारा-वर्ग के बीच उत्पन्न होता है। संघर्ष का दूसरा रूप पूँजीवादी और साम्राज्यवादी देशों की बाजार के लिए पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता के परिणामस्वरूप उत्पन्न होता है। प्रत्येक साम्राज्यवादी देश अपने तैयार माल की खपत के लिए तथा कच्चे माल की प्राप्ति के लिए विदेशों में प्रभाव-क्षेत्र स्थापित करना चाहता है जिसका परिणाम होता है संघर्ष, युद्ध और साथ-साथ राष्ट्रीय आन्दोलनों का उदय।

२. मार्क्स ने भविष्यवाणी की थी कि साम्यवाद सबसे पहले किसी अत्यधिक औद्योगिक देश में आयेगा, पर लेनिन ने प्रश्न किया कि यदि ऐसी बात है तो साम्यवाद का प्रथम उदय सामन्तशाही देश (रूस) में क्यों हुआ? इस प्रश्न का लेनिन इस प्रकार उत्तर देते हैं कि यद्यपि रूस ने पूँजीवाद के चरम रूप का अनुभव नहीं किया था, फिर भी उसने पूँजीवाद और उद्योगवाद का अप्रत्यक्ष अनुभव अवश्य किया था। पर वास्तव में बात ऐसी नहीं है। तात्कालिक रूसी समाज अत्यधिक सामन्तशाही, सैनिकवादी और निरंकुश हो रहा था और उसे फ्रांसीसी पूँजी से शक्ति भी प्राप्त हो रही थी। ऐसी स्थिति में रूस की जनता सामन्तवाद से मुक्ति दिलानेवाले किसी भी परिवर्तन के लिए तैयार थी।

३. मार्क्सवाद के ऊपर लेनिन ने जो तीसरा संशोधन प्रस्तुत किया वह था मार्क्सवाद के अन्तर्राष्ट्रीयतावाद की राष्ट्रीय व्याख्या। उन्होंने 'एक देश में समाजवाद' के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उनका कथन था कि जिस प्रकार संसार के सभी देशों में पूँजीवाद के विभिन्न रूप हैं, ठीक उसी प्रकार संसार के सभी देशों में समाजवाद के एक रूप होने की अपेक्षा विभिन्न रूपों की अधिक सम्भावना है। लेनिन का विश्वास था कि पूँजीवाद के सागर के बीच एक 'समाजवादी द्वीप' सारे संसार के सर्वहारा-वर्ग के क्रान्तिकारी आन्दोलन के लिए एक 'प्रकाश-पुंज' का कार्य कर सकता है पर तूफानों के बीच सही रास्ता निकालाना उन देशों का ही काम है जो समाजवादी लक्ष्य को प्राप्त करना चाहते हैं। अतः, लेनिन के साम्यवाद का एक राष्ट्रीय रूप है।

४. मार्क्स ने सर्वहारा-वर्ग के अधिनायकवाद की शिक्षा दी, पर लेनिन ने पार्टी के अधिनायकवाद (Dictatorship of the Party) के ऊपर विशेष बल दिया। उनका कहना था कि "श्रमिकों को स्वयं अभी तक यह पता नहीं है कि शासन कैसे किया जाता है और वर्षों तक उन्हें पहले प्रशिक्षण प्राप्त करना होगा। अतः शासन करने के लिए युद्ध में मँजे हुए क्रान्तिकारी साम्यवादियों की एक सेना की आवश्यकता है। हमारे पास ऐसी सेना है और वह दल है।" लोकतान्त्रिक केन्द्रीकरण (Democratic Centralism) के सिद्धान्त पर आधारित साम्यवादी दल मजदूर दल के अग्रिम दस्ते का काम करेगा। दल के आन्तरिक लोकतन्त्र को जीवित रखने के लिए लेनिन ने आलोचना और आत्मालोचन का महत्त्व बताया। दल सर्वहारा-वर्ग के अधिनायकत्त्व का साधन है और उसे श्रमिक-वर्ग की एकता, इच्छा-शक्ति और बुद्धिमत्ता का मूर्त-रूप बनना है।

५. लेनिन एक व्यावहारिक विचारक थे। उन्होंने स्वयं को किसी कल्पना का कभी भी दास नहीं बनाया। जब उन्होंने देखा कि १९१७-२१ के संघर्षवादी साम्यवाद का जनता द्वारा प्रबल विरोध किया जा रहा है, तब उन्हें वापस ले लेने में और उसके स्थान पर पूँजीवादी व्यवस्था को पुन: चालू करने में उन्हें कोई कठिनाई नहीं हुई।

६. मार्क्स का विचार था कि देश में पूँजीपतियों के अन्त तथा वर्ग-विहीन समाज की स्थापना के बाद राज्य का अस्तित्व स्वत: समाप्त हो जायगा। पर देखा यह गया कि रूस में साम्यवाद की स्थापना के बाद राज्य का अन्त नहीं हुआ। लेनिन ने इसके कारण का अनुसंधान करते हुए बताया कि जब तक अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में ऐसे पूँजीवादी देश पाये जाते हैं जिनसे साम्यवाद के अस्तित्व के लिए खतरा है, तब तक साम्यवादी देशों में भी राज्य का अन्त नहीं हो सकता। इस सम्बन्ध में लेनिन ने लिखा है, "हम केवल राज्य में ही नहीं, वरन् राज्यों के संगठन में रह रहे हैं और साम्राज्यवादी राज्यों के साथ सोवियत गणतन्त्र का अस्तित्व बहुत दिनों तक बना रहे इस बात की कल्पना भी नहीं की जा सकती। उनमें से एक को अन्त में विजयी होना है और इसके पूर्व कि वह अन्त आये सोवियत जनतन्त्र और मध्यवर्ग द्वारा शासित राज्यों में भयंकर संघर्षों की श्रृंखला अनिवार्य होगी।' इस प्रकार हम देखते हैं कि जब तक संसार के किसी भी देश में पूँजीवादी व्यवस्था है, साम्यवादी देशों से राज्य का अन्त होना व्यावहारिक नहीं है।

स्टालिनवाद (Stalinism) (१८७९-१९५३ ई०)

स्टालिन, लेनिन का उत्तराधिकारी था। लेनिन की मृत्यु के शीघ्र बाद १९२४ में साम्यवादी दल में संसारव्यापी क्रान्ति के प्रश्न पर गम्भीर मतभेद उत्पन्न हो गये। ट्राटस्की (Trotsky) और उसके कुछ अनुयायी लेनिन के जीवनकाल में भी यह खुलकर कहते थे कि सोवियट यूनियन को खुलकर संसारव्यापी क्रान्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए। ट्राटस्की का विचार था कि बिना यूरोप अन्य देशों के सर्वहारा-वर्ग की प्रत्यक्ष सहायता के सोवियत रूस में न तो समाजवादी समाज की स्थापना होगी और न सर्वहारा-वर्ग का अधिनायकवाद ही स्थापित हो सकेगा। स्टालिन के भी अप्रैल १९२४ तक ऐसे ही विचार थे। किन्तु बाद में अचानक उसके विचार बदल गये। अब वह प्रत्येक देश में स्वतन्त्र रूप से समाजवाद की स्थापना करना चाहता था, बशर्तें कि सम्बन्धित देश का आकार और उसकी जनसंख्या बड़ी हो तथा उसके प्राकृतिक साधन भी विशाल हों। १९२५ के दिसम्बर में दल का २५वाँ अधिवेशन हुआ। इस अधिवेशन में स्टालिन के उक्त विचार स्वीकार कर लिये गये। यह मान लिया गया कि रूस के चारों ओर पूँजीवादी देश भले ही बने रहें, उसमें समाजवादी समाज की स्थापना हो सकती है।

लेनिनवाद से भिन्न स्टालिन द्वारा प्रतिपादित साम्यवाद में हमें दो प्रमुख बातें मिलती हैं—१. प्रथम उसने एकदलीय नेतृत्व के स्थान पर व्यक्तिगत नेतृत्व का प्रतिपादन किया और देश में स्वयं अधिनायक के रूप में उसने कार्य किया। इसी

व्यक्तिगत तानाशाही के विरोध में **खुश्चेव** (Khrushchev) ने अपने समय में सामूहिक नेतृत्त्व (Collective Leadrship) की दुहाई दी। २. दूसरी नवीन बात जो स्टालिन ने हमें बतायी यह यह है कि साम्यवादी व्यवस्था होने का अर्थ वेतन की विषमता का पूर्ण रूप से अन्त हो जाना नहीं है। इसका अर्थ केवल इतना ही है कि सबको उनकी **आवश्यकतानुसार वस्तुएँ उपलब्ध होनी चाहिए**। सबको उचित वेतन व निवास मिलना चाहिए। स्टालिन का यह विचार आय की असमानता को स्वीकार करता है जिससे साम्यवाद का मौलिक विरोध माना जाता है। इस बात की चर्चा हमें न तो मार्क्स द्वारा प्रतिपादित साम्यवाद के मूल रूप में और न लेनिन द्वारा समर्थित उसके संशोधित रूप में ही मिलती है। स्टालिन की इस स्वीकारोक्ति ने साम्यवाद को एक व्यावहारिक रूप प्रदान किया है। स्टालिन ने स्वयं लिखा है, "ऐसे समाजवाद से मार्क्सवाद पूर्णतः अपरिचित है जिसमें प्रत्येक को समान वेतन मिले, समाज मात्रा में गोश्त मिले, समान मात्रा में रोटी मिले और एक-सी ही अन्य वस्तुएँ समान मात्रा में ही मिलें।"[१]

इस प्रकार हम देखते हैं कि मार्क्स ने साम्यवादी विचारधारा को एक निश्चित वैज्ञानिक रूप प्रदान किया तथा लेनिन और स्टालिन ने इसे व्यावहारिक रूप दिया। सच पूछा जाय तो साम्यवाद एक निरन्तर विकासशील प्रयोगात्मक विचारधारा है, जिसका अन्तिम रूप अभी भी निश्चित नहीं हो पाया है। शायद वह कभी भी निश्चित न हो सकेगा।

२. माओवाद (Maoism)

माओवाद, लेनिनवाद का ही एक रूपान्तरण है। अन्तर केवल इतना ही है कि लेनिन का साम्यवाद औद्योगिक पूँजीवाद का अनिवार्य परिणाम है तो माओ का साम्यवाद कृषि सम्बन्धित पूँजीवाद का अनिवार्य परिणाम है। भूमि की भूख चीन की प्रधान समस्या रही है और माओवाद उसी समस्या का उत्तर है।

संक्षिप्त इतिहास—आधुनिक चीन में क्रान्तिकारी समाजवाद का जन्म डॉ० सुनयात सेन (Dr. Sunyat-sen) से हुआ। उन्होंने सन् १९११ में संसार के समक्ष अपने तीन सिद्धान्तों को रखा—१. राष्ट्रीयतावाद, २. लोकतन्त्र और ३. जनता की जीविका अथवा समाजवाद। पर इन विचारों से चीन का कोई विशेष लाभ न हुआ। सन् १९१९ तक चीन की हालत दिनोंदिन बिगड़ती ही गयी। इसी समय रूस में बोल्शेविज्म का सितारा बुलन्द हो रहा था, जिसका चीन के बुद्धिजीवियों पर विशेष रूप से प्रभाव पड़ा। १९१८ में पेकिंग में एक साम्यवादी दल की स्थापना हो चुकी थी। इसी समय चीन के सुप्रसिद्ध दार्शनिक ली-ताओ-चाओ (Li-Tao-chao) साम्यवाद की ओर प्रवृत्त हो रहे थे। उनके पुस्तकालय में काम करनेवाले माओ-त्से-तुंग (Mao-Tse-tung) पर अपने

---

1. The sort of socialism in which every one receives the same wages, the same quantity of meat, the same quantity of bread and receives the same products in the same quantity—such a socialism is unknown to Marxism. – *Stalin*

मालिक का इतना प्रभाव पड़ा कि वे साम्यवादी समाज में एक विद्यार्थी के रूप में शामिल हो गये। इस बीच रूस और चीन के मध्य कर्मचारियों का आदान-प्रदान हो रहा था। जुलाई १९२१ तक पेकिंग, कैण्टन, शंघाई इत्यादि नगरों में साम्यवादी दल की स्थापना हो गयी। इसकी स्थापना ठोस लेनिनवाद के आधार पर हुई थी। डॉ० सुनयात सेन पर भी साम्यवादी दल का प्रभाव पड़ा।

डॉ० सुनयात सेन ने अपने तीन सिद्धान्तों में से एक राष्ट्रीयतावाद को प्राप्त करने के लिए लेनिनवादी पद्धति पर एक दल का संगठन किया जिसे को-मिन-तांग (Kuo-Min-tang) दल कहते हैं जो सभी वर्गों का संयुक्त दल था। साम्यवादियों से भी इस दल में शामिल होने की अपील की गयी। दल के रूप में तो नहीं, पर वैयक्तिक रूप में साम्यवादी इसमें अवश्य शामिल हुए। रूसी साम्यवादी नेता बोरोदिन (Borodin) और डॉ० सुनयात सेन दोनों को-मिन-तांग दल के प्रधान संचालक थे।

इसी बीच माओ-त्से-तुंग जो स्वयं एक कृषक परिवार के थे, क्रान्ति के लिए किसानों का संगठन करने लगे। वे स्वभाव से ही क्रान्तिकारी थे और क्रान्ति करने का तरीका भी उन्हें ज्ञात था। इधर साम्यवादियों ने को-मिन-तांग दल में अनेक प्रमुख स्थान प्राप्त कर लिये और एक साम्राज्य-विरोधी और सामन्त-विरोधी कार्यक्रम तैयार किया। इसी बीच डॉ० सुनयात सेन की मृत्यु हो गयी और उनके उत्तराधिकारी दक्षिण-पन्थी सेनापति च्यांग काई-शेक (Chiang kai-shek) साम्यवादियों और क्रान्तिकारियों के विरुद्ध हो गये। साम्यवादियों को भारी संख्या में को-मिन-तांग से निकाल दिया गया और संदेहास्पद लोगों को गोली मारने का आदेश दिया गया। बोरोदिन छिपकर रूस भाग गये।

च्यांग कांई-शेक की निर्दयता के परिणामस्वरूप किसानों और मजदूरों ने संयुक्त होकर लोकतन्त्रीय अधिनायकत्व की स्थापना के लिए लाल-सेना (Red Army) का गठन किया। १९२७ में राष्ट्रवादियों और साम्यवादियों के बीच कृषि-सुधारों को लेकर तीव्र मतभेद उत्पन्न हुआ। साम्यवादियों का निर्दयतापूर्वक दमन किया गया और देश में गृह-युद्ध की आग भड़क उठी। माओ-त्से-तुंग ने लाल सेना की मदद से १९३१ में अस्थायी सोवियत (साम्यवादी) सरकार का गठन किया।

इसी समय जापान ने मंचूरिया पर आक्रमण कर दिया। इस स्थिति का अनुचित लाभ उठाकर साम्यवादियों ने राष्ट्रीयतावादियों के विरुद्ध जोरदार आन्दोलन छेड़ दिया। युद्ध के बीच दोनों दलों में मेल हो गया, पर युद्ध समाप्त होते ही दोनों दल शक्ति-परीक्षा में जुट गये। को-मिन-तांग दल भ्रष्टाचार व कुनबापरस्ती के कारण साम्यवादियों का मुकाबला न कर सका। धीरे-धीरे सारे चीन पर साम्यवादियों का अधिकार हो गया और १९४९ में च्यांग काई-शेक और उनके अनुयायियों को फारमोसा द्वीप में शरण लेनी पड़ी।

माओ का साम्यवादी योगदान

१. विचारों और संस्थाओं के क्षेत्र में माओ, हेगल और मार्क्स के विरोध नियम (Law of Contradiction) में विश्वास करते हैं। मार्क्स की भाँति उनका भी विचार है

कि विज्ञानों का उद्‌भव पदार्थ से ही होता है। आज संसार समाजवादी और पूँजीवादी गुटों में बँटा हुआ है। दोनों ही में अपने अन्तर्विरोध है। माओ के अनुसार पूँजीवाद के अन्तर्विरोध केवल युद्ध और क्रान्ति के द्वारा ही दूर किये जा सकते हैं, किन्तु समाजवाद के अन्तर्विरोध शान्तिपूर्वक दूर किये जा सकते हैं।

२. स्टालिन अपने विरोधियों को सर्वथा समाप्त कर देने में विश्वास करते थे पर माओ विचारों की यान्त्रिक एकरूपता स्थापित करने के लिए मस्तिष्क के शुद्धीकरण (Brain Washing) में विश्वास रखते थे। वे विरोधियों को मिलाकर चलने में विश्वास करते थे। न केवल मजदूरों और किसानों को, वरन् मध्यमवर्गों और सम्पन्न देशभक्तों को भी वे साम्यवादी दल में शामिल करने के पक्षपाती थे। इस प्रकार माओ सर्वहारा-वर्ग के अधिनायकत्व के प्राचीन विचार के स्थान पर 'विभिन्न वर्गों के सहयोग' में विश्वास करते थे। माओ ने अपनी पुस्तक 'नवीन लोकतन्त्र' (A New Democracy-१९३८) में 'सामन्तों और देशद्रोही पूँजीपतियों के शेष प्रतिक्रियावादी अंशों के विरुद्ध', 'लोकतन्त्रीय अधिनायकत्व' की धारणा के आधार पर अपने को जनता का मित्र होने का दावा किया है।

३. माओ सामन्तवाद (Feudalism), पूँजीवाद (Capitalism) और साम्राज्यवाद (Imperialism) के विरुद्ध एक प्रवल अभियान चलाया। रूसी साम्यवाद में खेतों के समष्टीकरण (Collectivisation) की व्यवस्था है, पर चीनी साम्यवाद में किसानों के स्वामित्व (Peasant Proprietorship) की सामान्य व्यवस्था है। किसी ऐसे व्यक्ति को जमीन रखने की आज्ञा नहीं है जो स्वयं उसे जोत न सके। इसके परिणामस्वरूप मध्यमवर्ग समाप्त हो चुका है। माओ का साम्यवाद शहरी सर्वहारा-वर्ग पर आधारित न होकर ग्रामीण सर्वहारा-वर्ग पर आधारित है। आगे चलकर माओ ने कम्यूनों (Communes) की व्यवस्था की जिसमें एक प्रकार की सामूहिक खेती होती थीं, पर वे अधिक सफल नहीं हुए।

४. एक असाधारण सैनिक नेता होते हुए भी माओ-त्से-तुंग का विश्वास है कि सेना को असैनिक (Civilian) सत्ता केअधीन होना चाहिए। उनका दृढ़ विश्वास है कि साम्यवादी आन्दोलन महत्त्वाकांक्षी सेनापतियों के हाथ में नहीं जाना चाहिए जैसा कि डॉ० सुनयात सेन की मृत्यु के बाद चीन में हुआ। इससे साम्यवादी विचार-धारा के प्रसार और उन्नयन में पर्याप्त बाधा पहुँचती है।

३. अराजकतावाद (Anarchism)

अराजकतावाद किसी भी प्रकार की अधिकार-शक्ति को अनावश्यक व अनुचित मानता है। व्यक्तिवाद और साम्यवाद दोनों राज्य की अधिकार-शक्ति का विरोध करते हैं, पर अराजकतावाद का राज्य का विरोध अत्यन्त उग्र और क्रान्तिकारी है। व्यक्तिवादी जहाँ राज्य के कार्यों को केवल सुरक्षा तथा सुव्यवस्था तक ही सीमित करना चाहते हैं वहाँ अराजकतावादी राज्य के अस्तित्व को ही समाप्त करने के पक्षपाती हैं। इसी प्रकार

साम्यवादी जहाँ क्रान्ति के पश्चात् राज्य को संक्रमण काल के लिए सर्वहारा-वर्ग के अधिनायक तन्त्र के रूप में सुरक्षित रखना चाहते हैं, अराजकतावादियों की क्रान्ति का प्रमुख उद्देश्य राज्य को पूर्ण रूप से समाप्त कर देना है। इस प्रकार अराजकतावाद एक अत्यन्त उग्र एवं अतिवादी विचार है।

अराजकतावाद का इतिहास

आधुनिक अराजकतावाद यद्यपि प्रूधाँ (Proudhon), बैकुनिन (Bakunin), क्रोपोटकिन (Kropotkin), बट्रेण्ड रसेल (Bertrand Russell) इत्यादि विचारकों की देन है, पर इसके मूलभूत तत्त्व इतिहास के अत्यन्त प्राचीन काल में पाये जाते हैं।

प्राचीन ग्रीस के इतिहास में जीनो (Zeno) ने एक ऐसे समाज की कल्पना की थी जिसमें राज्य का अस्तित्व न हो तथा जिसमें स्वतन्त्रता व समानता ही व्यवस्था के मुख्य आधार-स्तम्भ हों। पर इस प्रकार का समाज किन साधनों द्वारा स्थापित किया जा सकता है, इस पर जीनो ने कुछ भी प्रकाश नहीं डाला। आगे चलकर विलियम गॉडविन (William Godwin) (१७५६-१८३६) ने अपनी पुस्तक 'ऐन इन्क्वायरी कन्सर्निङ्ग पोलिटिकल जस्टिस' (An Enquiry Concerning Political Justice) में राज्य और व्यक्तिगत सम्पत्ति दोनों का खुलकर विरोध किया। उनकी यह मान्यता थी कि मनुष्य स्वभाव से विवेकयुक्त और न्यायप्रिय होता है और यदि राज्य और व्यक्तिगत सम्पत्ति द्वारा उसके इन गुणों का हनन न किया जाय तो वह परस्पर स्नेह और सहयोग द्वारा आदर्श समाज की स्थापना कर सकता है। इसी प्रकार टॉमस हॉड्स्किन (Thomas Hodgskin) (१७८७-१८६९) के विचारों में भी अराजकतावादी तत्त्व पाये जाते हैं। उनका मत था कि यह विश्व प्रकृति के स्थायी एवं अपरिवर्तनीय नियमों द्वारा सुव्यवस्थित है और मनुष्य भी इसी सुव्यवस्था का अंग होने के कारण उन्हीं नियमों द्वारा संचालित है। उसके लिए राज्य तथा उसकी कानून-व्यवस्था अनावश्यक है। पर वह शान्ति एवं सुव्यवस्था के लिए राज्य को आवश्यक मानता था। अतः वह अराजकतावादी न होकर केवल एक उग्र व्यक्तिवादी विचारक ही है।

अराजकतावाद को एक सुव्यवस्थित विचारधारा के रूप में प्रस्तुत करने का श्रेय सर्वप्रथम प्रूधाँ (Proudhon) (१८०९-१८६५) को प्राप्त हुआ। वे समाजवादी होते हुए भी साम्यवाद का विरोध करते थे। उन्होंने स्वयं एक बार कहा था, "मैं साम्यवाद का विरोधी हूँ और यदि मुझे अब कम प्रगतिशील समाजवादी समझा जाता है तो ऐसा इसलिए है कि मैंने कल्पना का सहारा छोड़ दिया है जब कि अन्य समाजवादी इसके आवरण में हैं।" उनका कहना था कि राज्य के अस्तित्व से व्यक्ति की स्वतन्त्रता का हनन होता है क्योंकि वह शक्ति पर आधारित है। उसके अनुसार राज्य का विकास व्यक्तिगत सम्पत्ति की व्यवस्था से हुआ है जिसके कारण अन्याय, असमानता और आर्थिक शोषण का बोलबाला होता है। वह राज्य को शोषण व अत्याचार का प्रतीक मानता था। उसने स्वयं लिखा है, "मनुष्य पर मनुष्य के द्वारा शासन किसी भी रूप में अत्याचार है। समाज

का सबसे अधिक निर्दोष उच्चतम रूप सुव्यवस्था तथा अराजकता के समन्वय में ही हो सकता है।"[1]

प्रूधाँ व्यक्तिगत सम्पत्ति को चोरी का माल कहते हुए भी व्यक्तिगत सम्पत्ति का उतना विरोधी नहीं था जितना कि वह उसके असमान वितरण का विरोधी था। उसके अनुसार सच्चा समाजवादी समाज वही है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को तीन-तीन एकड़ भूमि तथा एक-एक गाय प्राप्त हो। राज्य के अन्त के बाद लोग पारस्परिक सहयोग-सिद्धान्त (The Principle of Mutualism) के अनुसार कार्य करेंगे। व्यक्ति तथा ऐच्छिक समुदाय मिलकर उत्पादन की व्यवस्था को सँभालेंगे। सहयोग के आधार पर बैंकों का निर्माण होगा जो बिना सूद लोगों को कर्ज देगा। पुनः, ऐच्छिक समुदायों द्वारा ही वितरण तथा अन्य आर्थिक कार्य सहयोग के आधार पर सम्पादित किये जायेंगे।

थोरियो (Thoreau) (१८१७-१८६२) के विचारों में भी अराजकतावादी तत्त्व प्राप्त होते हैं। उसके अनुसार मनुष्य स्वभाव से ही उत्तम और सद्व्यवहार पूर्ण है। अतः, उसे विवेक के आधिपत्य में स्वतन्त्र छोड़ देना चाहिए तथा उसके ऊपर राज्य जैसी वाह्य व्यवस्था का कुछ भी नियन्त्रण नहीं होना चाहिए। उसका कहना था कि "वह सरकार सबसे अच्छी सरकार है जो बिलकुल शासन नहीं करती।"[2] शासन और अत्याचार दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। वह कहता था, "मनुष्य या तो विधि के विधान के अन्तर्गत रहता है या उस पर अत्याचारी शासक का शासन होता है।"[3] इस प्रकार वह व्यक्ति के स्वतन्त्र विकास का पक्षपाती था।

प्रूधाँ के बाद जिस व्यक्ति ने अराजकतावाद का सर्वाधिक प्रसार किया वह बैकुनिन (Bakunin) (१८१४-१८७६ ई०) था। वह राज्य, व्यक्तिगत सम्पत्ति, पूँजीवाद और धर्म सभी का विरोधी था। राज्य के विषय में साधारणतया कहा जाता है कि वह व्यक्ति का हित-साधन करता है, पर बैकुनिन के अनुसार वह शक्ति, निरंकुशता व अत्याचार का प्रतीक है। उससे व्यक्ति का कोई हित-साधन नहीं हो सकता। अतः, राज्य का अन्त होना चाहिए। इसी प्रकार सम्पत्ति और पूँजीवाद के कारण ही धनिकवर्ग निर्धनों को अपने अधिकार में कर लेता है और उन्हीं के कारण गरीबों का शोषण तथा नैतिक पतन होता है। साथ-साथ बैकुनिन धर्म का भी विरोधी था। उसके अनुसार धर्म समाज में पूँजीवाद तथा राज्य जैसी संस्थाओं को जन्म देता है। इस सम्बन्ध में बैकुनिन के ये शब्द विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, "ईश्वर बहुत कुछ जार के समान था और जार ईश्वर के समान ही अत्याचारी था।"[4] इस प्रकार धर्म के विषय में बैकुनिन का विचार मार्क्स की

---

1. Government of man by man in every form is oppression. The highest perfection of society is found in the union of order and anarchy. – *Proudhon*
2. That government is the best which governs not at all. – *Thoreau*
3. Men must either be governed by God .or they must be ruled by Tyrants. – *Thoreau*
4. God was very like the Czar and Czar was like God, a tyrant. – *Bakunin*

भाँति साम्यवादी था। बैकुनिन अराजकतावादी समाज की स्थापना के लिए विकास-क्रम की अपेक्षा क्रान्ति का आवाहन करता था। उसका कहना था कि क्रान्ति का नेतृत्व विश्वसनीय अराजकतावादियों की छोटी-छोटी गुप्त समितियों के हाथ में होना चाहिए। क्रान्ति की ज्वाला नगरों से प्रारम्भ होकर गाँवों की ओर बढ़नी चाहिए तथा आवश्यकता पड़ने पर शक्ति का प्रयोग भी होना चाहिए। राज्य की समाप्ति के बाद अराजकतावादी समाज में प्रत्येक व्यक्ति को समानता के आधार पर श्रम करने तथा अपने श्रम के अनुसार लाभ के उपभोग करने का अधिकार प्राप्त होगा। अराजकतावादी समाज में प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यतानुसार कार्य करेगा और आवश्यकतानुसार धन प्राप्त करेगा। आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था ऐच्छिक समुदायों के हाथ में होगी, जिनका उत्पादन के साधनों पर अधिकार होगा। "स्वेच्छा से मनुष्य कम्यूनों के रूप में, कम्यून प्रान्तों के रूप में और प्रान्त राष्ट्रों के रूप में तथा अन्त में राष्ट्र यूरोप के संगठित राज्यों के रूप में, तत्पश्चात् सम्पूर्ण विश्व के रूप में संगठित होंगे।"

सुप्रसिद्ध साहित्यकार टॉल्सटॉय (Tolstoy) (१८२८-१९१०) के साहित्य में भी हमें अराजकतावाद के दर्शन होते हैं। वे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता व राज्याधिपत्य को परस्पर विरोधी मानते थे। वे राज्य को शक्ति तथा हीनता के प्रतीक मानते थे। उनका विचार था कि यदि लोग ईसाई धर्म के सिद्धान्तों का सच्चाई से पालन करें तो राज्य व सरकार की कोई आवश्यकता ही नहीं रहेगी। पूर्णतः ईसाई धर्म का पालन करने से लोगों में घृणा, राग, द्वेष, मोह, मान, माया, लोभ, छल, स्वार्थ इत्यादि का लेश मात्र भी अंश नहीं रहेगा और ऐसी अवस्था में लोगों को राज्य या सरकार के नियन्त्रण की आवश्यकता ही न होगी। इसी कारण टॉल्सटॉय के विचारों को ईसाई अराजकतावाद (Christian Anarchism) भी कहते हैं।

अराजकतावाद की चरमावस्था हमें क्रोपोट्किन (Kropotkin) (१८४२-१९२१) के विचारों में प्राप्त होती है। उनके अनुसार राज्य एक ऐसी बेकार संस्था है जिससे लाभ की अपेक्षा हानि अधिक हुई है। राज्य के कानून व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अपहरण करते हैं, अतः वे व्यर्थ हैं। अधिकांश रूप में कानून रूढ़ियों के ही मूर्त रूप होते हैं, अतः कानून की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि इन रूढ़ियों के द्वारा ही समाज भली-भाँति संचालित हो सकता है। राज्य के सभी कार्य मनुष्य स्वयं अथवा अपने ऐच्छिक समुदायों द्वारा सम्पन्न कर सकता है। यहाँ तक कि विदेशी आक्रमणों का मुकाबला भी व्यक्ति स्वयं अपना संगठन बनाकर कर सकते हैं। बैकुनिन की भाँति क्रोपोट्किन ने भी व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा पूँजीवाद का विरोध किया है। पूँजीवाद धनी को और धनी तथा निर्धन को और निर्धन बना देता है। इसमें श्रमिकों का शोषण तथा उनका उत्पीड़न होता है। उन्होंने धर्म का भी विरोध किया है और कहा है कि धर्म सामान्य जनता पर पूँजीपतियों के अधिकार बनाये रखने में उनकी मदद करता है। जहाँ तक साधनों का प्रश्न है, क्रोपोट्किन के अनुसार मानव स्वयं स्वाभाविक रूप से अराजकतावादी समाज की ओर अग्रसर हो रहा है। अनेक कार्य बिना राज्य की सहायता

के ही ऐच्छिक समुदायों द्वारा सम्पादित हो रहे हैं। समाज-व्यवस्था का आधार व्यक्ति के ऐच्छिक समुदाय होंगे, जिनकी सदस्यता वह स्वयं अपनी रुचि के अनुसार स्वीकार करेगा। समाज में व्यक्ति अपनी रुचि एवं योग्यता के अनुसार कार्य करेंगे और आवश्यकतानुसार वस्तुओं को प्राप्त करेंगे।

ऊपर जितने अराजकतावादी विचारकों का वर्णन किया गया, उन्हें दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—प्रथम भाग में विलिमय गॉडविन व प्रूधाँ आदि विचारक आते हैं जो अहिंसावादी व व्यक्तिवादी थे तथा जिनके विचारों को **व्यक्तिवादी अराजकतावाद** (Individualistic Anarchism) कहा जा सकता है। द्वितीय समूह में बैकुनिन और क्रोपोट्किन जैसे विचारक आते हैं जो हिंसावादी व साम्यवादी थे तथा जिनके विचारों को इस कारण **साम्यवादी अराजकतावाद** (Communistic Anarchism) कहा जाता है।

अराजकतावाद का अर्थ

अराजकतावाद का अंग्रेजी पर्याय एनार्किज्म (Anarchism), एनार्किया (Anarchia) शब्द से व्युत्पन्न हुआ है जिसका अर्थ शासन-रहित अथवा राज्य-रहित समाज है। अतः, व्युत्पत्ति के आधार पर अराजकतावाद का यही अर्थ हो सकता है कि यह वह सामाजिक सिद्धान्त है जिसका उद्देश्य राज्य-रहित समाज का निर्माण करना है। पर यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो पता चलेगा कि अराजकतावाद केवल राज्य का ही नहीं, वरन् अन्य प्रकार के आधिपत्य जैसे पूँजीवाद, धर्म इत्यादि का भी विरोधी है। किसी भी प्रकार का आधिपत्य या बन्धन क्यों न हो, उससे मनुष्य अपना स्वरूप-धर्म भूल जाता है। स्वेच्छा, स्वतन्त्रता व पूर्ण सहयोग के आधार पर ही आदर्श समाज की स्थापना की जा सकती है तथा इससे व्यक्तित्व का उच्चतम विकास भी सम्भव हो सकता है। इस समाज को सुव्यवस्थित रखने का कार्य राज्य तथा उसके कानूनों पर न होकर मानव-निर्मित समितियों पर होगा। क्रोपोट्किन ने स्वयं कहा है, "अराजकतावाद जीवन तथा आचरण का ऐसा सिद्धान्त है जिसमें एक ऐसे शासन-विहीन समाज की कल्पना की गयी है जिसमें शान्ति तथा सुव्यवस्था किसी कानून के अधीन रहकर तथा किसी शक्ति के आधिपत्य में रहने से प्राप्त नहीं होती, बल्कि जिसकी प्राप्ति विभिन्न समुदायों के स्वेच्छा से किये गए समझौतों के फलस्वरूप होती है। ये समुदाय प्रादेशिक तथा व्यावसायिक आधारों पर, उत्पादन तथा उपभोग की व्यवस्था के लिए और सभ्य मानव की अगणित प्रकार की आवश्यकताओं तथा आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए मानव की स्वेच्छा से बनाये जाते हैं।"

अराजकतावाद और मानव का स्वरूप

अराजकतावाद मानव के दैवी रूप में विश्वास करता है। सामाजिक प्राणी होने के कारण वह स्वभावतः सहयोगी है। यदि उसकी योगयता व रुचि के अनुसार मनुष्य को काम दिया जाय, तो वह श्रम के प्रति उदासीन कभी नहीं हो सकता। वह बौद्धिक और

विवेकयुक्त प्राणी है, अतः वह समाज के प्रति अपने कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व को भली-भाँति समझता है। किन्तु राज्य, धर्म, पूँजीवाद जैसी वाह्य संस्थाओं ने उसके ऊपर अनुचित दबाव डालकर उसके स्वाभाविक और वास्तविक रूप को विकृत कर दिया है। विकृति के कारण उसकी स्वतन्त्रता, संकल्प-शक्ति व नैतिक चेतना का ह्रास हो गया है। अराजकतावादियों का विचार है कि यदि मनुष्य को राज्य, पूँजीवाद तथा धर्म के अस्वाभाविक बन्धनों से मुक्त कर दिया जाय तो उसका दैवी रूप पुनः स्पष्ट हो जायगा जिसके कारण एक ओर तो वह स्वयं उच्चतम विकास कर सकेगा और दूसरी ओर वह ऐसे आदर्श समाज के निर्माण में योगदान कर सकेगा जिसमें स्वेच्छा, स्नेह, सहकारिता इत्यादि भावनाओं का विशेष हाथ होगा।

अराजकतावाद और राज्य

अराजकतावाद राज्य के विरोध के परिणामस्वरूप ही उत्पन्न हुआ। व्यक्तिवाद राज्य को एक आवश्यक बुराई मानता है, पर अराजकतावाद उसे एक अनावश्यक बुराई मानता है। उसके अनुसार राज्य एक ऐसा विकार है जो अस्वाभाविक होने के साथ-साथ व्यक्ति के लिए अत्यन्त हानिकारक भी है। राज्य चाहे प्रजातन्त्रीय हो अथवा राजतन्त्रीय, उसके मौलिक स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आता। वह अपने प्रत्येक रूप में व्यक्ति के लिए हानिकारक तथा एक अनावश्यक बुराई है। जैसा बैकुनिन ने कहा है, "चर्च अपने को चर्च न कहेगा, वह अपने को पाठशाला कहने लगेगा। राज्य अपने को राजतन्त्र न कहकर गणतन्त्र कहने लगेगा। पर फिर भी वह आधिपत्य ही रहेगा।"

अराजकतावादियों ने राज्य की—अस्वाभाविकता, ऐतिहासिकता, उपयोगिता एवं आर्थिक आधार पर आलोचना की है। राज्य एक अस्वाभाविक अभिकरण है क्योंकि वह विवेकी, तर्कशील और शुभेच्छु मनुष्यों को अविवेकी, स्वार्थी और पदलोलुप बना देता है। राज्य की शक्ति शासकों को तो निष्ठुर तथा अत्याचारी बना देती है और सामान्य जनता में वह दासता की प्रवृत्ति उत्पन्न करती है। प्रिन्स क्रोपोट्किन ने राज्य का ऐतिहासिक दृष्टि से खण्डन किया है। राज्य की उत्पत्ति से पहले व्यक्ति सुखी व स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करते थे। राज्य के कारण मनुष्य दुःखी व परतन्त्र बन गया है। राज्य कानून-निर्माण द्वारा कोई सुधार नहीं करता, वरन् समाज में जो रूढ़ियाँ और प्रथाएँ होती हैं उन पर ही वह कानून की छाप लगा देता है। राज्य के द्वारा किसी प्रकार के सुधार की आशा करना व्यर्थ ही है।

इसी प्रकार उपयोगिता और आर्थिक आधार पर भी अराजकतावादियों ने राज्य का खण्डन किया है। उपयोगिता की दृष्टि से राज्य एक बेकार ही नहीं, वरन् एक हानिकारक संस्था है। उसके कानून मानवीय स्वतन्त्रता के शत्रु होते हैं। राज्य का वास्तविक आधार शक्ति है न कि इच्छा। अतः, राज्य का रूप निरंकुश, दुराचारी तथा अत्याचारी संस्था का है। राज्य का जनतन्त्रीय रूप भी एक भ्रम ही है; क्योंकि कोई भी मनुष्य किसी अन्य मनुष्य का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता। समूहों का भी वास्तविक

प्रतिनिधित्व असम्भव है। अराजकतावादियों के अनुसार सामान्य इच्छा का विचार भी एक भ्रम है। सामान्य इच्छा एक अमूर्त कल्पना है। अत:, राज्य का अन्त हो जाना चाहिए। अन्य सामाजिक संस्थाएँ राज्य के कार्य को भली-भाँति कर सकती हैं। देश की सुरक्षा के लिए भी राज्य की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि ये कार्य नागरिकों के स्वयंसेवक दल द्वारा और अच्छी प्रकार किये जा सकते हैं। चीन इसका उदाहरण है। यदि यह कहा जाय कि राज्य अपराध को रोकता व अपराधियों को दण्ड देता है, तो भी ठीक नहीं है, क्योंकि आज तक न तो अपराध मिटा और न अपराधियों की संख्या ही घटी। अत: राज्य को उपयोगी नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार आर्थिक दृष्टि से भी राज्य एक हानिकारक संस्था है। व्यक्तिगत सम्पत्ति से उत्पन्न होकर राज्य ने व्यक्तिगत सम्पत्ति को ही बढ़ावा दिया है। राज्य पूँजीपतियों का पक्ष लेता है और श्रमिकों के साथ अन्याय करता है। यदि व्यक्तिगत सम्पत्ति को समाप्त कर दिया जाय तो राज्य की आवश्यकता भी समाप्त हो जायगी।

उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखकर ही सुप्रसिद्ध अराजकतावादी विचारक क्रोपोट्किन ने कहा था, "राज्य का कोई स्वाभाविक या ऐतिहासिक औचित्य नहीं है। वह मनुष्य की स्वाभाविक सहयोगी वृत्ति के विरुद्ध है।"[1]

अराजकतावाद और पूँजीवाद

अराजकतावाद एक समाजवादी विचारधारा होने के कारण पूँजीवाद का विरोध करता है। साम्यवादियों की भाँति वह भी श्रम को मूल्य का आधार मानता है। अत: जो लाभ या अतिरिक्त मूल्य उत्पन्न होता है, वह पूँजीपतियों की जेब में न जाकर श्रमिकों मे वितरित होना चाहिए। पूँजीवाद समाज में वर्ग-संघर्ष को भी उत्पन्न करता है जिसके कारण समाज में एकता व सुख-समृद्धि कभी भी उत्पन्न नहीं हो सकती। इसी कारण अराजकतावादी व्यक्तिगत सम्पत्ति और पूँजीवाद का विरोध करते हैं। जब तक समाज के आर्थिक ढाँचे में आमूल परिवर्तन नहीं किया जाता, तब तक किसी भी प्रकार के राजनीतिक परिवर्तन की आशा करना व्यर्थ है। अधिकांश अराजकतावादी जिनमें बैकुनिन और क्रोपोट्किन प्रसिद्ध हैं, पूँजीवाद का अन्त करके सम्पत्ति का समाजीकरण चाहते हैं। ऐसे अराजकतावादियों को साम्यवादी अराजकतावादी (Communistic Anarchist) कहते हैं। इसके विपरीत, कुछ अन्य अराजकतावादी हैं जो किसी सीमा तक व्यक्तिगत सम्पत्ति को बनाये रखना चाहते हैं। ऐसे अराजकतावादियों को व्यक्तिवादी अराजकतावादी (Individualistic Anarchist) कहते हैं। किन्तु लगभग सभी अराजकतावादी पूँजीवाद का सक्रिय विरोध करते हैं।

अराजकतावाद और धर्म

अराजकतावादी धर्म का डटकर विरोध करते हैं। उनके अनुसार धर्म एक

---

1. The state is without any natural or historical justification. It is opposed to man's naturally co-perative instinct. – *Kropotkin*

अन्धविश्वास व प्रवञ्चनामात्र है जो मनुष्य की विवेक-शक्ति का अपहरण कर उसे भाग्यवादी बना देता है। धर्म राज्य और पूँजीवाद जैसी अत्याचारी और शोषक संस्थाओं को संरक्षण प्रदान करता है। हमारी धर्म-भीरुता ही राज्य और पूँजीवाद जैसी अत्याचारी संस्थाओं के विरुद्ध क्रान्ति का आवाहन करने से हमें रोक देती है और हम उन्हें चुपचाप सहन करते हैं। जैसा कि बैकुनिन ने कहा है, "सब निरंकुश शासन-प्रणालियों में खोखले सिद्धान्तवादी और धर्मान्धों का निरंकुश शासन सबसे अधिक खराब होता है। वे अपने ईश्वर के वैभव और अपने विचार की विजय में इतनी श्रद्धा रखते हैं कि उन्हें जीवधारी वास्तविक मानव की स्वतन्त्रता अथवा उसकी मान-मर्यादा, यहाँ तक कि उसके कष्ट और पीड़ा से भी कोई सहानुभूति नहीं होती।" अराजकतावादियों द्वारा धर्म के विरोध का यही प्रमुख कारण है।

अराजकतावाद और साधन-प्रणाली

अराजकतावाद का प्रमुख उद्देश्य एक राज्य-रहित, वर्ग-रहित व धर्म-रहित समाज की स्थापना करना है। पर इस प्रकार के समाज की स्थापना किस साधन-प्रणाली द्वारा सम्भव है, इस विषय में अराजकतावादियों में पर्याप्त मतभेद है। साधनों की दृष्टि से दो प्रकार के अराजकतवादी पाये जाते हैं—१. विकासवादी अराजकतवादी (Evolutionary Anarchists) और २. क्रान्तिकारी अराजकतावादी (Revolutionary Anarchists)। विकासवादी अराजकतावादी क्रमिक विकास द्वारा साम्यवाद की स्थापना पर बल देते हैं। वे बल, हिंसा व क्रान्ति के विरुद्ध हैं। उनका विचार है कि उच्च लक्ष्यों की प्राप्ति उच्च साधनों द्वारा ही सम्भव है। बल और हिंसा बर्बरता के प्रतीक हैं। मानवीय समाज की स्थापना शान्तिपूर्ण उपायों द्वारा ही होनी चाहिए। टॉल्सटॉय इसके प्रबल समर्थक हैं।

इसके विपरीत, क्रान्तिकारी अराजकतावादियों का विचार है कि समाज के त्वरित विकास के लिए क्रान्ति आवश्यक है। यद्यपि स्वाभाविक रूप से मानव अराजकतावादी समाज की ओर अग्रसर है, पर फिर भी इसकी गति को तीव्र करने के लिए और साथ-साथ मार्गावरोधों को दूर करने के लिए क्रान्ति की आवश्यकता होती है। क्रान्ति का नेतृत्व कुछ विश्वसनीय अराजकतावादियों की छोटी-छोटी गुप्त समितियों के द्वारा होना चाहिए। क्रान्ति की ज्वाला नगरों से प्रारम्भ होकर गाँव की ओर बढ़नी चाहिए। शक्ति और बल का प्रयोग वहीं होना चाहिए जहाँ उसकी आवश्यकता हो। बैकुनिन और क्रोपोट्किन इसी मत के अनुयायी हैं।

अराजकतावाद और सामाजिक संगठन

राज्य का अन्त हो जाने के बाद अराजकतावादी समाज की क्या रूपरेखा होगी इसके विषय में अराजकतावादियों के विचार बहुत स्पष्ट नहीं हैं। उनके अनुसार आधुनिक शासन का अर्थ है बन्धन, संकुचन, विचलन, पृथक्करण जब कि अराजकतावाद का अर्थ है स्वतन्त्रता, संगठन और प्रेम। राज्य-सरकार भय और अहं पर आधारित है, जबकि अराजकता का आधार भ्रातृत्व है। हमें सैनिक-दमन का सामना तभी

करना पड़ता है जब हम अपने को राज्यों में विभाजित कर लेते हैं। इसी प्रकार हमें कानून के संरक्षण की तभी आवश्यकता पड़ती है जब व्यक्तियों के रूप में हम अपने को दूसरों से पृथक् कर लेते हैं। तात्पर्य यह है कि यदि हम अनावश्यक बन्धन, भेदभाव, सैनिक-दमन और कानून की दासता से मुक्त होना चाहते हैं तो हमें कृत्रिम संस्थाओं को समाप्त कर अराजकतावादी समाज की स्थापना करनी चाहिए।

राज्य का लोप होने पर जाति, रंग, धर्म, राष्ट्रीयता या विश्वास के भेद स्वतः समाप्त हो जायँगे और उनके स्थान पर स्वतन्त्र समाज की स्थापना की जायगी। इस समाज का संगठन सहयोग, प्रेम व स्वतन्त्रता की भावना पर आधारित होगा। विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिए ऐच्छिक समुदायों का निर्माण होगा जिनकी सदस्यता पूर्णतः स्वेच्छा पर आधारित होगी। प्रत्येक समुदाय अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र और स्व-शासित होगा। वही कर्मचारियों की नियुक्ति करेगा। इन समुदायों की कई श्रेणियाँ होंगी। जिला-समुदायों के ऊपर प्रान्तीय, प्रान्तीय समुदायों के ऊपर राष्ट्रीय व राष्ट्रीय समुदायों के ऊपर अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय बनेंगे। समुदायों के नियम समुदाय के सदस्यों पर लागू होंगे। यदि कोई सदस्य समुदाय के नियमों का उल्लंघन करता है तो उसे समुदाय से बहिष्कृत कर दिया जायगा। अराजकतावादियों के अनुसार विकेन्द्रीकरण आदर्श समाज का एक महत्त्वपूर्ण लक्षण है। केन्द्रीयकरण समाज की सभी बुराइयों को जन्म देती है। विकेन्द्रीकरण समाज की सभी बुराइयों का एकमात्र समाधान है। समाज के कार्य केन्द्रीय राजकीय संस्थाओं द्वारा नहीं, वरन् स्वायत्त संस्थाओं द्वारा संचालित होने चाहिए।

जहाँ तक अराजकतावादी समाज के आर्थिक संगठन का प्रश्न है, इस दिशा में पूर्ण साम्यवाद होगा। उत्पादन के सभी साधनों पर समाज का स्वामित्व होगा। क्रोपोट्किन इस सिद्धान्त को व्यर्थ मानते हैं कि उत्पादनशील वस्तुओं—मशीनें, कारखाने, भूमि, कच्चे माल, यातायात के साधन इत्यादि का स्वामित्व तो समाज का होना चाहिए, जबकि तैयार माल—मकान, वस्त्र, खाद्य सामग्री इत्यादि का स्वामित्व निजी होना चाहिए। उनका कथन है, "वे मकान जो हमें आश्रय देते हैं, वे वस्त्र जो हमारा तन ढँकते हैं, कोयला और गैस जिन्हें जलाते हैं, खाना जिसे हम खाते हैं, किताबें जिनसे हम शिक्षा लेते हैं, वे सब उत्पादन के लिए उतने ही आवश्यक और लाभ-पूर्ण हैं जितनी मशीनें, कारखाने और कच्चे पदार्थ हैं।"

अराजकतावादी समाज में व्यक्ति अपनी शक्ति और इच्छा के अनुसार कार्य करेगा तथा अपनी आवश्यकतानुसार वस्तुओं को प्राप्त करेगा। सार्वजनिक भोजनालयों, वस्त्रालयों, सड़कों, उद्यानों और पुस्तकालयों की व्यवस्था होगी जिनका लोग स्वतन्त्र और निःशुल्क प्रयोग करेंगे। वैज्ञानिक विधियों से उत्पादन इतना बढ़ाया जायगा कि सभी लोग आवश्यकतानुसार वस्तुओं का उपभोग कर सकेंगे। क्रोपोट्किन ने स्वयं लिखा है, "अराजकतावादी समाज में प्रत्येक वस्तु पर प्रत्येक व्यक्ति का अधिकार होगा, प्रत्येक

व्यक्ति उत्पादन-क्रिया में उचित योग देगा और प्रत्येक व्यक्ति को सम्पूर्ण उत्पादन में अपना उचित भाग पाने का अधिकार होगा।"[१]

मूल्यांकन

१. अराजकतावाद की मनुष्य की कल्पना ठीक नहीं है। मनुष्य के भीतर केवल दैवी गुण ही नहीं पाये जाते। उसके स्वभाव के सदा दो पक्ष होते हैं—स्वार्थी तथा निस्वार्थी, व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक, दैवी तथा पाशविक। अराजकतावाद मनुष्य के दैवी पक्ष पर ही बल देकर उसके पाशविक पक्ष की स्पष्ट अवहेलना करता है। इस प्रकार उसके मनुष्य की कल्पना एकांगी है।

२. अराजकतावादियों के अनुसार मनुष्य में जो दुर्गुण पाये जाते हैं उनके लिए राज्य तथा उसके कानून उत्तरदायी हैं, ठीक नहीं है। यह ठीक है कि राज्य के कुछ दोषपूर्ण कानूनों से निर्दोष और निरपराध व्यक्तियों की हानि हो जाया करती है और कभी-कभी शासकों के प्रति विद्रोह की भावना उठ खड़ी होती है, पर यह कहना कि मनुष्य के प्रत्येक दुर्गुण के लिए राज्य अथवा उसके कानून उत्तरदायी हैं, ठीक नहीं हो सकता। अधिकतर राज्य के कानून मनुष्य के हित में होते हैं और उसकी सामान्य इच्छा को व्यक्त करते हैं। राज्य-कानून मानव-स्वभाव के दोषों के जनक न होकर उनके सुधारक होते हैं।

३. अराजकतावादियों की राज्य-सम्बन्धी अवधारणा भी त्रुटिपूर्ण है। वे राज्य को शक्ति, दमन और शोषण का प्रतीक मानते हैं। पर बात ऐसी नहीं है। राज्य अपनी शक्ति का प्रयोग देश के कानूनों को चरितार्थ करने के लिए तथा बाधक एवं विध्वंसक शक्तियों को नष्ट करने के लिए करता है। वास्तव में राज्य का स्वरूप शक्ति नहीं, वरन् उसका कानून और विधान है। देश में विधान के क्रियान्वयन से सभी लोगों को लाभ पहुँचता है। राज्य का लोकहितकारी रूप भी है जो रेल, तार, डाक, सड़क इत्यादि के निर्माण में अभिव्यक्त होता है। अतः, अराजकतावादियों का यह विचार कि राज्य दमन, अत्याचार, शक्ति व शोषण का प्रतीक है, ठीक नहीं है।

४. अराजकतावादियों की स्वतन्त्रता की अवधारणा भी सदोष है। उनके अनुसार कानून और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता में परस्पर-विरोध है। पर बात ठीक इसके विपरीत है। वे स्वतन्त्रता को स्वेच्छाचारिता या स्वैराचारिता के अर्थ में लेते हैं जो ठीक नहीं है। बिना कानून या नियम के स्वतन्त्रता का अस्तित्व असम्भव है। हाँ, इतना अवश्य है कि कानून स्व-निर्मित होना चाहिए। यदि वाह्य नियमों के द्वारा हम संचालित हैं तो हम वास्तव में परतन्त्र हैं। पर यदि हम अपने ऊपर आत्म-संयम करते हैं तो इससे हमारी स्वतन्त्रता का कुछ भी व्याघात नहीं होता। सिसरों ने ठीक ही लिखा है,

---

1. In the Anarchist society all belongs to every one and, provided each contributes his full share of production, each has a right to share in all that is produced by every body. – *Kropotkin*

"स्वतन्त्र होने के लिए ही हम बन्धन स्वीकार करते हैं।"[1] नियन्त्रण के अभाव में समाज के भीतर जिसकी लाठी उसकी भैंस वाली कहावत चरितार्थ होने लगेगी और सर्वत्र अशान्ति तथा अव्यवस्था का बोलबाला हो जायगा। अतः स्वतन्त्रता तथा नियन्त्रण में कोई विरोध नहीं है।

५. अराजकतावादियों के भावी समाज की रूपरेखा भी काल्पनिक और अव्यावहारिक है। वे अनियन्त्रित मानव-चेतना को समाज का आधार बनाना चाहते हैं जो नियन्त्रण के अभाव में उच्छृङ्खलता को प्रोत्साहित करेगी। मानव के ऐच्छिक समुदाय समाज का ठीक प्रकार प्रबन्ध नहीं कर सकते। ऐच्छिक समुदायों के बीच संघर्ष अनिवार्य है। शक्तिशाली समुदायों द्वारा अल्पसंख्यक समुदायों का शोषण और दमन भी हो सकता है। राज्य की नियंत्रक शक्ति के अभाव में ये ऐच्छिक समुदाय परस्पर-विरोधी दिशाओं में कार्य कर समाज में अव्यवस्था भी फैला सकते हैं। राज्य के अभाव में देश वाह्य आक्रमण से अपनी रक्षा भी नहीं कर सकता। यह सोचना कि सम्पूर्ण विश्व ऐच्छिक समुदायों द्वारा शासित होगा, एक कोरी कल्पना है।

४. फासीवाद (Fascism)

संक्षिप्त इतिहास

प्रथम विश्व-युद्ध (१९१४-१९१९ ई०) का उद्देश्य जनतन्त्र की रक्षा करना था, पर युद्ध के परिणामस्वरूप जनतन्त्र के स्थान पर अधिनायकतन्त्र (Dictatorship) के विभिनन रूप प्रकट हुए। कुछ देशों में अधिनायकतन्त्र संसदीय शासन के विरोध में प्रतिक्रियारूप उत्पन्न हुआ, पर कुछ देशों ने अराजकता से बचने के लिए इसे स्वीकार किया। फासीवाद अधिनायकवाद तो नहीं है, पर उसी का एक रूप अवश्य है। सच पूछा जाय तो फासीवाद एक प्रकार का सर्वाधिकारवाद (Totalitarianism) है जिसकी मान्यता है कि "हमारा जीवन, हमारी क्रियाशीलता और हमारा अस्तित्व राज्य में ही है।" सर्वाधिकारवाद के अनुसार, मनुष्य का अपने जीवन पर अधिकार नहीं होता है। वह राज्य का धरोहर है और उसका राज्य के हित में उपयोग होना चाहिए। मुसोलिनी (Mussolini) के शब्दों में—"यदि उन्नीसवीं शताब्दी समाजवाद, उदारवाद और लोकतन्त्र का युग था तो बीसवीं शताब्दी अधिकार, सत्ता, समष्टिवाद और सर्वाधिकार-वादी राज्य का युग है।"

फासीवाद का प्रथम आविर्भाव इटली में प्रथम महायुद्ध के पश्चात् हुआ। युद्ध बन्द हो जाने के कारण कारखानों में काम करने वाले मजदूर बड़ी संख्या में बेकार हो गये। इस परिस्थिति में रूस के साम्यवाद का इटली पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। वहाँ समाजवादी दल ने श्रमिकों की समितियों द्वारा कारखानों को संचालित करने का प्रयत्न किया। इसी समय इटली में मुसोलिनी के नेतृत्व में एक नयी शक्ति का आविर्भाव हुआ। मुसोलिनी समाजवादी तो था, पर वर्ग-संघर्ष पर आधारित रूसी समाजवाद का वह

1. We are bound in order to be free. *– Cicero*

विरोधी था। मार्च सन् १९१९ में उसने अपने अनुयायियों की एक सभा बुलायी जिसका नाम फैसियो (Fascio) रक्खा गया। इस संस्था का उद्देश्य रूसी समाजवाद का विरोध करना था। मुसोलिनी का विचार था कि रूसी समाजवाद राष्ट्रीय हित की परवाह न करके केवल वर्गों के हित को ही विशेष महत्त्व देता है। अत: फैसियो का उद्देश्य वर्गहित पर आधारित अन्तर्राष्ट्रीय समाजवाद की स्थापना न होकर राष्ट्रीय हितसाधन को ध्यान में रखते हुए राष्ट्रीय समाजवाद की स्थापना करना था।

सर्वप्रथम फैसियो की स्थापना मिलान नगर में हुई। शीघ्र ही यह इटली के प्राय: सभी नगरों में तीव्र गति से फैल गया। फैसियों के सदस्य फासिस्ट तथा उनका मत फासीवाद (Fascism) कहलाया। दल का स्वयंसेवक संघ भी बनाया गया। इसके सदस्य काली कमीज पहनते थे जिसके कारण उन्हें ब्लैक शर्ट्स (Black Shirts) कहते थे। वे सैनिक अनुशासन में रहते थे तथा परेड के समय सैनिक ढंग से सलामी देते थे। मुसोलिनी उनका नेता तथा प्रधान सेनापति था। धीरे-धीरे स्वयंसेवकों की संख्या बढ़कर ४०,००० तक पहुँच गयी। वे अस्त्र-शस्त्र से पूर्ण रूप में सुसज्जित थे। १९२२ के नैपुल्स अधिवेशन में मुसोलिनी ने घोषणा की कि "या तो इटली का शासन स्वयं मेरे हाथ में आ जायगा और नहीं तो हमें रोम पर आक्रमण करना होगा।" तत्कालीन प्रधानमन्त्री जिओलिति ने समझ लिया कि अब सत्ता उसके हाथ में नहीं रह सकती और २७ अक्टूबर १९२२ को उसने प्रधान मन्त्रित्व से त्यागपत्र दे दिया। विवश होकर इटली के तत्कालीन राजा को मुसोलिनी को अपने नेतृत्व में मन्त्रि-परिषद् बनाने के लिए आमन्त्रित करना पड़ा। इस प्रकार वह इटली का प्रधानमन्त्री बना। प्रधानमन्त्री वनने के बाद मुसोलिनी ने अपनी सारी शक्ति को इटली में फासीवाद स्थापित करने में लगाया।

फासीवाद का अर्थ

जैसा पहले ही कहा गया कि फासीवाद शब्द इटैलियन भाषा के 'फैसियो' (Fascio) शब्द से व्युत्पन्न है जिसका अर्थ 'लकड़ियों का बँधा हुआ बोझ' होता है। प्राचीन काल में रोम का राज्य-चिह्न 'फैसियो' अर्थात् लकड़ियों का बँधा बोझ व एक कुल्हाड़ी होता था। लकड़ियों का बँधा बोझ राष्ट्रीय एकता का और कुल्हाड़ी राजकीय शक्ति की द्योतक मानी जाती थी। मुसोलिनी के फासिस्ट दल ने इसी रोम के प्राचीन राज्य-चिह्न को अपने दल का ध्वज-संकेत बनाया और वर्ग-संघर्ष पर आधारित साम्यवादी समाज-व्यवस्था के स्थान पर राजकीय नियन्त्रण के अधीन राष्ट्रीय एकता पर आधारित फासीवादी समाज-व्यवस्था को अपना लक्ष्य घोषित किया।

राष्ट्रीय एकता, अनुशासन और शक्ति पर विशेष बल देने के कारण फासीवाद ने देश के नवयुवकों को अपनी ओर विशेष रूप से आकृष्ट किया। भाषण, वाद-विवाद एवं व्यर्थ के तार्किक विश्लेषण के स्थान पर ठोस कार्य-विधि को विशेष महत्त्व दिया गया। मुसोलिनी ने स्वयं कहा था, "फासीवाद वास्तविकता पर आधारित है, हम निश्चित तथा वास्तविक उद्देश्यों को प्राप्त करना चाहते हैं। मेरा कार्यक्रम कार्य करना है,

केवल बातें करना नहीं।"[1] वास्तविकता पर आधारित होने के कारण ही फासीवाद ने अपने को किसी निश्चित मत या सिद्धान्त में आबद्ध या सीमित करने की चेष्टा नहीं की। इसका स्वरूप सिद्धान्तवादी कम, व्यावहारिक अधिक है। जैसा मुसोलिनी ने कहा है, "देश, काल तथा परिस्थिति के अनुसार हम कुलीनतन्त्री और जनतन्त्री, रूढ़िवादी और प्रगतिवादी, प्रतिक्रियावादी और क्रान्तिकारी तथा वैधता और अवैधता सभी के पोषक हो सकते हैं।" फासीवाद कोई सिद्धान्त नहीं है, यह एक कार्य-प्रणाली है। इसने कभी भी अपने को पूर्व-निश्चित सैद्धान्तिक बन्धनों में आबद्ध करने का प्रयत्न नहीं किया। यह मतवादी न होकर विशुद्ध यथार्थवादी है। स्वयं मुसोलिनी ने कहा था, "फासीवाद का सम्बन्ध किसी ऐसी नीति के समर्थन से नहीं है, जिस पर विवरण-सहित पहले से विचार किया गया हो। इसका जन्म क्रियात्मक आवश्यकता के परिणामस्वरूप हुआ तथा प्रारम्भ से ही यह सैद्धान्तिक न होकर व्यावहारिक रहा है।"[2] साम्यवादियों की तरह फासीवादियों का कोई घोषणा-पत्र नहीं है। देश-काल-पात्र के अनुसार उन्होंने अपने सिद्धान्तों को परिस्थितियों के अनुकूल करने में कभी भी हिचकिचाहट नहीं दिखाई। वे पूर्णतः व्यावहारिक थे।

फासीवाद की प्रमुख विशेषताएँ

समय-समय पर फासीवाद ने अपने उद्देश्यों एवं मन्तव्यों को प्रकट किया है। उन्हीं के आधार पर नीचे फासीवाद की कुछ प्रमुख विशेषताओं को हम भावात्मक (Positive) और अभावात्मक (Negative) दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—

(अ) भावात्मक विशेषताएँ

१. राज्य का समादर—फासीवाद व्यक्तिवाद की तरह न तो राज्य को एक आवश्यक बुराई मानता है और न साम्यवाद और अराजकतावाद की तरह राज्य को समाप्त ही करना चाहता है। राज्य एक आवश्यक अच्छाई है और उसी की उन्नति-अवनति पर व्यक्ति की उन्नति-अंवनति निर्भर करती है। मुसोलिनी ने कहा है, "राज्य.....एक आध्यात्मिक और नैतिक इकाई है तथा वह एक ऐसा संगठन है जिसका उद्‌भव तथा विकास परमात्मा की ही अभिव्यक्ति है। राज्य राष्ट्र की आत्मा का ही प्रतिनिधि है।"[3] फासीवाद राज्य का इतना समादर करता है कि उसके समक्ष व्यक्ति का स्थान गौण ही है। राज्य व्यक्ति के लिए नहीं, वरन् स्वयं व्यक्ति राज्य के लिए है। राज्य

---

1. Fascism is based on reality, we want to be definite and real, our programme is action not talk. – *Mussolini*
2. Fascism is not the nursing of a doctrine worked beforehand with detailed elaboration. It was born of the need for action and was from beginning practical rather than theoretical. – *Mussolini*
3. The state.....is a spiritual and ethical entity....an organisation which in its origin and growth is manifestation of the spirit. The state.... transmits the spirit of the people. – *Mussolini*

साध्य है, व्यक्ति उसका साधन है। राज्य की स्वतन्त्रता के आगे व्यक्ति की स्वतन्त्रता का कोई मूल्य नहीं। मुसोलिनी के शब्दों में—"फासीवादी राज्य में वे सब स्वतन्त्रताएँ समाप्त कर दी जाती हैं जो निरर्थक और हानिकारक होती हैं, पर उनकी रक्षा की जाती है जो आवश्यक होती हैं। इन सबका निर्णायक व्यक्ति नहीं हो सकता। केवल राज्य ही इस सम्बन्ध में निर्णय कर सकता है।"

२. साम्राज्यवाद, हिंसा और शक्ति में विश्वास—फासीवाद के अनुसार अपने पूर्ण विकास के लिए प्रत्येक राज्य को यह अधिकार है कि वह आवश्यकतानुसार अपनी सीमाओं का विस्तार कर सकता है। राज्य अपने हितों की रक्षा के लिए अन्य राज्यों की भूमि पर अधिकार कर सकता है। इस प्रकार फासीवाद साम्राज्यवाद का समर्थक सिद्धान्त है। इसका अनिवार्य परिणाम यह है कि फासीवाद शक्ति और हिंसा का पक्षपाती है। वह शान्तिपूर्ण उपायों द्वारा किसी समस्या के समाधान में विश्वास नहीं करता। फासीवादी युद्ध को हेय नहीं, वरन् वांछनीय वस्तु मानते हैं। कार्ली के शब्दों में—"फासिज्म का उद्भव ही युद्धों से होता है तथा युद्ध से ही उसका विकास सम्भव है।"[१] फासीवाद के अनुसार राज्य का कार्य नागरिकों के जीवन-स्तर की वृद्धि करना नहीं, वरन् युद्ध और विजय द्वारा राष्ट्र के सम्मान की वृद्धि करना है।

३. निगमित राज्य का समर्थन—फासीवाद निगमवाद (Corporativism) में विश्वास करता है। प्रारम्भ में इटली के फासीवादी श्रमिक संघवाद (Syndicalism) में विश्वास करते थे। १९२६ के पश्चात् उन्होंने श्रमिक संघवाद के स्थान पर निगमवाद का समर्थन किया। फासिस्ट दल ने घोषणा की कि उत्पादन की प्रत्येक शाखा में एक निगम (Corporation) की स्थापना होनी चाहिए। इस निगम की दो विशेषताएँ थीं। प्रथम यह कि इसमें श्रमिक-संघों के साथ-साथ उत्पादकों और मिल-मालिकों को भी प्रतिनिधित्व दिया जाता था। दूसरी विशेषता यह थी कि ये निगम ही देश के सारे उद्योगों का प्रबन्ध करते थे। उद्योगों का संचालन न तो व्यक्तिगत पूँजी के हाथ में था और न राज्य के हाथ में। निगम ही व्यक्तिगत सम्पत्ति का नियमन करते थे और वही उद्योगों को चलाते थे। हाँ, इन निगमों की विशेषता यह थी कि वे स्वायत्त (Autonomous) संस्थाएँ न होकर पूर्णतः राज्य द्वारा नियन्त्रित होती थीं। बहुलवादियों (Pluralists) की तरह फासीवादी इन निगमों को अधिकतम स्वतन्त्रता देने के पक्षपाती नहीं हैं, वे उन्हें पूर्णतः राज्य के अधीन रखना चाहते हैं। निगम, राज्य के अधीन होने चाहिए और वे ऐसे स्रोत होने चाहिए जिनके द्वारा राज्य की इच्छा की अभिव्यक्ति और उसके विशेष उद्देश्यों की पूर्ति हो सके।

४. राज्य के जैविक सिद्धान्त का समर्थन—फासीवादी राज्य को प्रमुख और व्यक्तियों को गौण मानते हैं। अतः, स्वाभाविक है कि वे राज्य के जैविक सिद्धान्त का प्रतिपादन करें। जिस प्रकार हाथ, पैर, आँख, कान इत्यादि विभिन्न अंगों द्वारा निर्मित होने पर भी शरीर का अपना पृथक् अस्तित्व होता है, उसी प्रकार व्यक्तियों से निर्मित होने पर

---

1. Fascism is from war and in war it must find its outlet. – *Mano Carli*

भी राज्य का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व होता है। जिस प्रकार सम्पूर्ण शरीर की रक्षा के लिए गलित अंगों का बलिदान किया जा सकता है, उसी प्रकार राज्य के सर्वोच्च हितों की रक्षा के लिए व्यक्ति और समुदायों के हितों का बलिदान करने में कोई अनौचित्य नहीं है। इस प्रकार फासीवाद जैविक सिद्धान्त (Organic Theory) में आस्था रखता है।

राज्य का जैविक सिद्धान्त व्यक्ति के कर्त्तव्य को भी निश्चित कर देता है। जिस प्रकार अंगों का पृथक् अस्तित्व न होकर उनका काम केवल शरीर के हितों का सम्पादन करना है, उसी प्रकार राज्य के व्यक्तियों का राज्य से पृथक् न तो कोई व्यक्तित्व होता है और न उनका कोई पृथक् हित ही होता है। फासीवादी लोकतन्त्र के आदर्श व्यक्ति-स्वातन्त्र्य में विश्वास नहीं रखते। वे व्यक्तियों की संख्या की अपेक्षा उनके गुणों को अधिक महत्त्व देते हैं। फासीवादियों के अनुसार जनता की वास्तविक इचछा का निर्णय आवश्यक रूप से बहुमत द्वारा नहीं होता, उसकी वास्तविक अभिव्यक्ति प्रायः जनता के किसी सर्वमान्य नेता द्वारा ही होती है। उनका मत है कि लोकमत की वास्तविक अभिव्यक्ति तभी हो सकती है जब राज्य में एक ऐसा सर्वमान्य नेता हो जो सार्वजनिक हितसाधन को ध्यान में रखकर लोगों को आज्ञा प्रदान करे और सब लोग उसकी आज्ञाओं का परिपालन करें। अतः, फासीवाद लोकतन्त्र का विरोधी सिद्धान्त है।

(ब) अभावात्मक विशेषताएँ

१. लोकतन्त्र का विरोध—फासीवाद लोकतन्त्र के उद्देश्यों को तो स्वीकार करता है, पर उसकी कार्य-विधि का विरोध करता है। लोकतन्त्र के राजनीतिक दल जनता का हितसाधन न कर जनता को मूर्ख बनाकर केवल अपना ही हितसाधन करते हैं। लोकतन्त्र से सम्पूर्ण जनता का लाभ नहीं होता; उससे कुछ पढ़े-लिखे मध्यम श्रेणी के लोगों का ही लाभ होता है। इसके अतिरिक्त कृषक व श्रमिक-समाज की लोकतन्त्र में कुछ भी आस्था नहीं होती, क्योंकि लोकतन्त्र में धनिक अत्यधिक धनी हो जाते हैं और गरीब अत्यधिक गरीब। वे ऐसी समाज-व्यवस्था चाहते हैं, जिससे सामूहिक रूप से समाज की सार्वजनिक उन्नति सम्भव हो सके। फासीवाद द्वारा लोकतन्त्र के विरोध का एक कारण यह भी है कि इसमें गुणों की अपेक्षा संख्या को विशेष महत्त्व दिया जाता है। उसके अनुसार केवल संख्या के आधार पर न तो कोई गलत चीज सही सिद्ध की जा सकती है और न सही चीज गलत। संख्या यथार्थ का बोध भी नहीं करा पाती। मूर्खों की संख्या बुद्धिमानों से सदा अधिक होती है। अतः कोई आवश्यक नहीं कि बहुमत का निर्णय सदा यथार्थ ही हो।

२. व्यक्तिवाद का विरोध—फासीवाद व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य का विरोधी है, क्योंकि उसके लिए राज्य से पृथक् व्यक्ति का कोई अस्तित्व नहीं है। मुसोलिनी के शब्दों में—''सब राज्य के अन्तर्गत है, कोई भी राज्य से बाहर नहीं है और न कोई राज्य का विरोध ही कर सकता है।'' फासीवाद एक सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य में विश्वास करता है जो व्यक्ति के सामाजिक, राजनीतिक, नैतिक तथा कानूनी सभी पहलुओं का नियमन करता है। राज्य की इच्छा को अपनी इच्छा मानकर ही व्यक्ति अपनी सभ्यता और

संस्कृति का विकास कर सकता है। इसमें व्यक्ति को हड़ताल, प्रदर्शन, सत्याग्रह इत्यादि का कोई भी अधिकार नहीं मिलता। इसमें राज्य ही सब कुछ है।

३. अहिंसावाद का विरोध—फासीवाद विश्व-शान्ति के घोर विरोधी हैं। हिंसा और युद्ध में उनका अटूट विश्वास है। मुसोलिनी कहता था कि जो लोग विश्व-शान्ति की बात करते हैं वे कायर हैं। विश्व-शान्ति एक अव्यावहारिक और काल्पनिक विचार है। विरोधियों का दमन शान्ति द्वारा नहीं, वरन् शक्ति द्वारा ही सम्भव है। फासीवादियों के अनुसार शान्ति एक तालाब के समान है, जहाँ पानी स्थिर होकर गन्दा हो जाता है। बिना दूसरों की अवनति के किसी की उन्नति असम्भव है। बिना युद्ध के कोई मनुष्य, कोई जाति, कोई समाज या कोई राज्य उन्नति नहीं कर सकता। बार-बार अहिंसा, शान्ति और सन्धि की बात करने से जाति कायर हो जाती है। अत: फासीवाद शान्ति के पक्ष में नहीं है।

४. बुद्धिवाद का विरोध—फासीवादी तर्क और बुद्धि के स्थान पर विश्वास और अव्यभिचारी निष्ठा को अधिक महत्त्व देते हैं। उनके अनुसार तर्क और बुद्धि की अपेक्षा भावनाओं का हमारे जीवन में अधिक महत्त्व है और उन्हीं के आधार पर हम अपने जीवन को अधिक सुखी वना सकते हैं। दूसरी बात यह है कि मनुष्य के सभी निर्णय तर्कसंगत हों, कोई आवश्यक नहीं। हमारे सभी तर्क प्रामाणिक भी नहीं होते। अत: हमें तर्क-वितर्क को छोड़कर राष्ट्र के प्रति अटूट निष्ठा और विश्वास के साथ अपने कार्य करने चाहिए जिससे कि राष्ट्रीय जीवन समृद्ध हो सके।

५. अन्तर्राष्ट्रीयतावाद का विरोध—फासीवादी पूर्णत: राष्ट्रवादी होते हैं। उनके अनुसार प्रत्येक राज्य को अपने गुणों के अनुसार अपने हितों की साधना के लिए अपने कर्त्तव्यों का पालन करना चाहिए। हमें इस बात का ध्यान नहीं रखना चाहिए कि हमारे कर्त्तव्य-पालन से किसी अन्य राष्ट्र के हितों की रक्षा हो रही है अथवा नहीं हो रही है। अपने राष्ट्र का हित ही सर्वोपरि है; वह परम-साध्य है। राष्ट्र-हित के सम्पादन के लिए हमें उचित या अनुचित सभी प्रकार के साधनों का उपयोग करना चाहिए। राष्ट्र-हित ही सर्वोच्च शुभ है।

फासीवाद की उपर्युक्त भावात्मक और अभावात्मक विशेषताओं के वर्णन के बाद हम उसकी सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक समाज-व्यवस्था का वर्णन करेंगे—

फासीवाद और सामाजिक व्यवस्था

फासीवादियों के अनुसार लोकतन्त्र में सम्पूर्ण समाज का हित-साधन न होने के कारण ही समाज का निर्धन वर्ग समाजवाद की ओर आकृष्ट हो रहा है। पर रूसी समाजवाद भी सम्पूर्ण समाज का भला नहीं करता। हमें लोकतन्त्रवाद और रूसी समाजवाद दोनों से पृथक् सिद्धान्त की आवश्यकता है। मुसोलिनी का समाजवाद रूसी समाजवाद से दो बातों में भिन्न है—

१. रूसी समाजवाद वर्ग-संघर्ष में विश्वास करता है पर मुसोलिनी का वर्ग-संघर्ष में तनिक भी विश्वास नहीं था। उसका कहना था कि वर्गों में संघर्ष के स्थान पर परस्पर

सहयोग होना चाहिए, क्योंकि यदि समाज के सभी वर्ग परस्पर सहयोग करते हैं तो इससे सम्पूर्ण राष्ट्र की भलाई होगी और राष्ट्र की भलाई में ही समाज के सभी वर्गों का कल्याण निहित है। २. मुसोलिनी का समाजवाद रूसी समाजवाद से एक अन्य अर्थ में भी भिन्न है। रूसी या मार्क्सवादी समाजवाद विशुद्ध भौतिकता पर आधारित है, पर मुसोलिनी यह नहीं मानता कि मनुष्य का सुख-दुःख केवल पैसे पर ही निर्भर है। समाज की केवल आर्थिक उन्नति से ही मनुष्य का सर्वतोमुखी विकास नहीं हो सकता। मुसोलिनी के ही शब्दों में—"आर्थिक समृद्धि मनुष्य को उन पशुओं के समान बना देगी, जिन्हें केवल अपना पेट अच्छी तरह भरने की ही चिन्ता रहती है और इस प्रकार मनुष्य जाति का अस्तित्व केवल भौतिक रह जायगा।"[१] इस प्रकार फासीवाद वर्ग-संघर्ष के स्थान पर वर्गों के पारस्परिक सहयोग पर विशेष बल देता है। साथ-साथ मनुष्य के केवल आर्थिक विकास का ही नहीं, वरन् उसके सर्वतोमुखी विकास के लिए वह प्रयत्नशील है।

फासीवाद और आर्थिक व्यवस्था

फासीवादी न तो व्यक्तिवादी और न पूर्ण रूप से समाजवादी आर्थिक व्यवस्था के ही पक्षपाती हैं। वे यद्भाव्यम् नीति (Laissez faire) के प्रतिकूल हैं और नहीं चाहते कि आर्थिक क्षेत्र में पूँजीपति लाभ करने के लिए मनमानी करते रहें। वे यह भी वांछनीय नहीं समझते कि सम्पूर्ण आर्थिक जीवन राज्य द्वारा संचालित हो। यद्यपि राज्य को पूर्ण अधिकार है कि वह राष्ट्रीय हित में देश के उद्योगों का नियमन करे और आवश्यकता पड़ने पर उनमें हस्तक्षेप करे, पर राज्य के सभी व्यवसाय प्रत्यक्ष रूप में उसके नियन्त्रण में चले जायँ, यह उसे कदापि अभीष्ट नहीं है। बड़े और भारी उद्योग तो राज्य द्वारा चलाये जा सकते हैं पर शेष उद्योग पूँजीपतियों और श्रमिकों के निगम द्वारा संचालित होने चाहिए। पूँजीपतियों और श्रमिकों में संघर्ष के स्थान पर सहयोग होना चाहिए। पूँजीपतियों और श्रमिकों के पृथक्-पृथक् संघ (Syndicates) हो सकते हैं पर दोनों की सम्मिलित बैठकों में विचार-विमर्श द्वारा विवादों का निर्णय होना चाहिए। यदि सम्मिलित बैठक में किसी विवाद का सर्वमान्य निर्णय नहीं हो जाता तो न्यायालय द्वारा विवादों का निर्णय कराना चाहिए। वर्ग-हित की अपेक्षा राष्ट्र-हित को सर्वोपरि समझना चाहिए।

फासीवाद और राजनीतिक व्यवस्था

फासीवादी लोकतन्त्र, राजनीतिक दलबन्दी, विचार-स्वातन्त्र्य व सार्वजनिक मतदान द्वारा स्थापित किसी शासन-प्रणाली में विश्वास नहीं करते। वे किसी सुदृढ़ शक्तिशाली दल के समर्थन के आधार पर एक सर्वमान्य नेता के अधिनायकतन्त्र द्वारा शासन चलाना चाहते हैं। उनका विचार है कि एक बार यह प्रकट हो जाने पर कि जनता किस पार्टी व किस नेता द्वारा शासन चाहती है, उस पार्टी व नेता को अपना कार्यक्रम पूरा

1. Economic well-being would reduce man to the level of animals, caring for only one thing to be fed and well fed, and would thus degrade numanity to a purely physical existence. – *Mussolini*

करने का पूरा अवसर प्राप्त होना चाहिए। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर मुसोलिनी ने सन् १९२३ से यह कानून स्वीकृत कराया था कि निर्वाचन में सबसे अधिक मत प्राप्त करने वाली पार्टी को इटली की संसद में दो तिहाई स्थान मिलने चाहिए जिससे वह निर्वाध रूप से अपना शासन चला सके। आगे चलकर उसने ऐसा कानून पास कराया कि संसद के प्रतिनिधि सम्पूर्ण देश के लिए १३१ संघ (Syndicates) बनाये तथा सम्पूर्ण व्यवस्था को फासीवादी दल जब स्वीकार कर ले तो जनता द्वारा उसकी स्वीकृति करा ली जाय। यद्यपि यह व्यवस्था पूर्ण रूप से अलोकतान्त्रिक थी पर फासीवाद इसे सर्वथा उचित मानते थे, क्योंकि उनके अनुसार फासीवादी दल व उसका नेता मुसोलिनी वास्तविक रूप में इटली की जनता की सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व करते थे।

फासीवाद की समीक्षा और उसका मूल्यांकन करने के पहले जर्मनी के नात्सीवाद (Nazism) पर विचार कर लेना आवश्यक है, क्योंकि नात्सीवाद भी फासीवाद का ही एक विशिष्ट रूप है।

५. नात्सीवाद (Nazism)

नात्सीवाद भी फासीवाद की तरह राज्य के सर्वाधिकारवाद (Totalitarianism) का समर्थक सिद्धान्त है। पुनः, फासीवाद की ही तरह यह लोकतन्त्रवाद को अवांछनीय और अनुपयोगी तथा साम्यवाद को राष्ट्रीयता के विरुद्ध मानता है। जर्मनी में नात्सीवाद का उदय किन परिस्थितियों में हुआ, इसका थोड़ा सिंहावलोकन कर लेना अप्रासंगिक न होगा।

संक्षिप्त इतिहास

सन् १९१८ में जर्मनी विश्व-युद्ध में पराजित हो चुका था। जर्मनी की तथाकथित 'अजेय' सेना को मित्र-राष्ट्रों की सेना के आगे घुटने टेक देने पड़े जिसके कारण देश भर में व्याकुलता छा गयी। युद्ध के वाद वार्सायी (Versailles) में जो शान्ति-सम्मेलन हुआ और उसमें जर्मनी का जो अपमान हुआ, उससे जर्मन जाति को बड़ा असन्तोष हुआ। वार्सायी सन्धि के अनुसार जर्मनी से उसके अनेक उपनिवेश छीन लिये गये और उसकी भूमि का कुछ भाग फ्रांस को दे दिया गया। इसके साथ उस पर एक बहुत बड़ी धनराशि युद्ध के हरजाने के रूप में लाद दी गयी। जर्मनी के ऊपर ये सारे अत्याचार तत्कालीन जर्मन लोकतन्त्रीय सरकार के अन्तर्गत हुए। इसका परिणाम यह हुआ कि जर्मनी की जनता के मन में लोकतन्त्रीय शासन के विरुद्ध एक असामान्य प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई। वह देश की शासन-व्यवस्था में ऐसा क्रान्तिकारी परिवर्तन देखने की इच्छुक थी जो न केवल राष्ट्र का उत्कर्ष ही कर सके, बल्कि देश की खोयी हुई प्रतिष्ठा को भी पुनः उसे प्राप्त करा सके। जर्मनी की जनता में व्याप्त इस घोर असन्तोष को हिटलर (Hitler) ने पहचाना। उसने पूर्ण रूप से इस बात की जानकारी प्राप्त की कि जर्मन जनता की वास्तविक अभिलाषा और आकांक्षा क्या है। उसने सम्पूर्ण राष्ट्र को सूत्रबद्ध करने के लिए 'राष्ट्रीय समाजवाद' (National Socialism) का नारा दिया। सम्पूर्ण जर्मन जाति ने इसका समर्थन किया। हिटलर जर्मनी का उद्धारक घोषित कर दिया गया।

नात्सीवादी विचारधारा (The Ideology of Nazism)

नात्सीवादी राज्य या सरकार का कोई व्यवस्थित सिद्धान्त नहीं है। वह केवल एक आन्दोलन है जो भावनापूर्ण परिस्थितियों में उठ खड़ा हुआ था। नात्सीवाद राज्य को सातवें आसमान पर पहुँचा देता है। राष्ट्रीय एकता की स्थापना के लिए नाजियों ने राज्य को अतिमानवीय सत्ता (Superhuman Entity) का रूप दिया। समाज (Vock) को एक कच्चे माल के समान माना गया जिससे राज्य का निर्माण होता है। समाज को सबल बनाने के लिए नाजियों ने अपना यह आदर्श बनाया, "व्यक्ति कुछ नहीं, समाज ही सब कुछ है।" "एक व्यक्ति के हितों की अपेक्षा समाज के हित अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं।" समाज में अधिकारों की अपेक्षा कर्त्तव्य पर अधिक बल देना चाहिए। अंग्रेजी और जर्मन परम्पराओं के पारस्परिक विरोध को प्रकट करते हुए स्पेंग्लर ने लिखा है, "अंग्रेजी परम्परा में हमें व्यक्तिगत उत्तरदायित्व, आत्म-निर्णय, संकल्प और व्यक्तिगत साहस का भाव मिलता है। जर्मन परम्परा में राज्य-भक्ति, अनुशासन, आत्म-बलिदान और आत्म-प्रशिक्षण पर जोर दिया जाता है।...किसी एक व्यक्ति का जीवन स्वयं उसके लिए नहीं है। सबका जीवन सबके लिए है।"

नात्सीवादियों के अनुसार राज्य की प्रधान विशेषता शक्ति और ओज है, न्याय और नैतिकता नहीं। शक्ति ही न्याय है। नात्सीवाद 'मत्स्य-न्याय' या 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' के सिद्धान्त का प्रचार करता है। हिटलर के शब्दों में—"जिसे जीना है उसे युद्ध करना होगा। जो इस संसार में युद्ध नहीं करना चाहता उसे जीने का कोई अधिकार नहीं है। ये शब्द भले ही अत्यधिक कठोर लगें, पर वस्तु-स्थिति यही है।"......मैनहीम सार्वजनिक स्कूल के प्रधानाध्यापक डॉ० क्रीक (Dr. Krieck) का कहना था कि "विश्वविद्यालयों का काम सैनिक युद्ध सम्बन्धी विज्ञान पढ़ाना है, न कि पदार्थमूलक विज्ञान पढ़ाना।" राइखस्वेर के भूतपूर्व प्रधान जेनरल फॉन सीक्ट (Gen. Von Seeckt) ने लिखा था कि युद्ध मानव-सफलता की पराकाष्ठा है। युद्ध मानव-जाति के इतिहास में विकास की अन्तिम स्वाभाविक अवस्था है। युद्ध ही समस्त वस्तुओं का जनक है। युद्ध को रोकने का प्रयत्न प्राकृतिक विधान के प्रतिकूल है। यह भयंकर बात है।

हिटलर अपने को विशुद्ध आर्य-सन्तान मानता था। नात्सीवादियों का यह विश्वास था कि आर्य लोग सभ्यता के महान् निर्माता हैं और शेष संसार अनार्य या निम्न कोटि की जातियों से भरा हुआ है। हरमैन गॉच (Hermann Gauch) का कथन था कि अनॉर्डिक या अनार्य लोग आर्यों या नॉर्डिक लोगों और पशुओं के बीच की स्थिति में हैं। वे वनमानुष से कुछ ही अच्छे हैं। अनार्य पशु और मनुष्य के बीच का प्राणी है। अत: उसके लिए अव-मानव (Sub-human) की उपाधि ही ठीक है।

इस अतिवादी जर्मन जातीयतावाद के साथ ईसाई धर्म का एक विकृत रूप जोड़ दिया गया। कैथॉलिक और प्रोटेस्टेण्ट दोनों ही धर्मों की निन्दा की गयी। दोनों ही के विरुद्ध अन्तर्राष्ट्रीयतावाद और नैतिक दासता के आरोप लगाये गये। प्रो० अर्न्स्ट बर्गमन (Prof. Ernst Bergmann) ने लिखा था, "जर्मन धर्म के मानने वाले हम लोग आज

इस प्राचीन नॉर्डिक भारती-जर्मन (Indo-Germanic) ज्योति-पुंज प्रतिमा को अपनाते हैं और मानव-जाति को हानि पहुँचाने वाले ईसाई धर्म तथा झूठी और रुग्ण ईसा की प्रतिमा से छुटकारा पाते हैं। नवीन जर्मन मूर्तिपूजावाद का महा पुरोहित स्वयं हिटलर ही है। वही सच्ची पवित्र आत्मा है। हिटलर एक है। ईश्वर भी एक है। हिटलर ईश्वर के समान है। हिटलर एक नवीन, एक महत्तर और अधिक शक्ति सम्पन्न ईसा है।"

नात्सीवाद और राजनीतिक व्यवस्था

हिटलर ने जिस नवीन शासन-व्यवस्था का प्रारम्भ किया उसे नात्सीवाद कहते हैं। फासीवाद की ही तरह उसका भी आधारभूत तत्व एक पार्टी तथा उसके एकमात्र नेता हिटलर का निर्विरोध अधिनायकतन्त्रीय शासन था। राज्य और नात्सी दल के बीच तादात्म्य-सम्बन्ध स्थापित किया गया। किसी भी दूसरी पार्टी का अस्तित्व सहन नहीं किया जा सकता था क्योंकि कई पार्टियों से राज्य कमजोर और शक्तियों का अपव्यय होता है। जुलाई १९३३ के विधान के अनुसार—

१. जर्मनी में केवल एक ही राजनीतिक दल है और वह है राष्ट्रीय सामाजिक जर्मन मजदूर दल (National Socialist German Workers Party)।

२. जो कोई किसी दूसरे राजनीतिक दल की स्थापना करने का प्रयत्न करेगा या किसी अन्य राजनीतिक दल को कायम रखेगा उसे तीन वर्ष तक की कैद की सजा दी जा सकेगी। कोई आश्चर्य नहीं है कि हिटलर और उसके अनुयायी लोकतन्त्र और लोकतन्त्रीय संस्थाओं से घृणा करते थे।

नात्सीवाद लोकतन्त्र का विरोधी सिद्धान्त है। हिटलर के अनुसार लोकतन्त्र एक सड़ी-गली लाश है, क्योंकि यह "मूर्ख, भ्रष्ट और मन्द गति से चलने वाली है। कहा जाता था कि विधानसभाएँ विवाद की दुकानें हैं, जिनसे कोई परिणाम नहीं निकल सकता। नात्सीवाद व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को अतीत की अन्ध-भक्ति मानते थे।" जुलाई १९३३ में हिटलर ने गर्व से घोषित किया, "राजनीतिक दलों को अब बिलकुल समाप्त कर दिया गया। यह एक ऐतिहासिक घटना है और कई एक मामलों में इसके महत्त्वपूर्ण और दूरगामी प्रभावों का अनुमान सबके द्वारा अभी तक नहीं लगाया जा सका है। अब हमें लोकतन्त्र के अन्तिम चिह्नों से भी छुटकारा प्राप्त कर लेना चाहिए, विशेषकर मतदान-विधि से और बहुमत द्वारा निर्णय से।......(राष्ट्रीय समाजवादी) दल ही ने राज्य का रूप ग्रहण कर लिया है।"

नात्सीवादियों ने अपनी परम्पराओं के अनुसार अपनी पार्टी का संगठन नेतृत्व के आधार पर किया था। नेताओं की एक शृंखला पार्टी का संचालन करती थी। उसकी कार्यपद्धति नीचे से ऊपर की न होकर ऊपर से नीचे की ओर थी। नात्सीवादियों के नेतृत्व का आधार लोकतन्त्र न होकर सैनिक-तन्त्र था। शक्ति से ही नेतृत्व की स्थापना की गयी थी और शक्ति से ही उसे कायम रखा गया था। नात्सी विचारधारा के अनुसार कुछ लोगों का जन्म नेता बनने के लिए होता है और शेष लोगों का जन्म इन नेताओं के पीछे चलने के लिए होता है। हिटलर राज्य, सरकार और सेना सभी के प्रधान थे। उनकी आज्ञा ही

कानून था। शासन के संचालकों का मनोनयन हिटलर ही करता था। वे सब हिटलर के प्रति पूर्णरूपेण वफादार थे। तूफानी दल (Storm Troopers) और काली कुर्ती वालों (Black Shirts) का संगठन सैनिक ढंग से किया गया। प्रारम्भ में इन दोनों संगठनों की स्थापना नात्सी पार्टी की रक्षा करने और सार्वजनिक शान्ति-व्यवस्था कायम करने के लिए की गई थीं। इन दोनों संगठनों के बल पर ही नात्सीवादियों ने सत्ता ग्रहण की थी। नात्सीवादियों के सत्तारूढ़ हो जाने के बाद अपने नेता हिटलर की रक्षा करना ही इन दोनों संगठनों का मुख्य कार्य था। जर्मनी में आत्मघाती टुकड़ियाँ (Suicide Squads) भी स्थापित की गयीं जो राज्य और पार्टी के नाम पर हिटलर की आज्ञा पाते ही तुरन्त शरीर का बलिदान करने को तैयार रहती थीं। सारांश यह है कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में नात्सीदल ने अपना अधिकार जमा रखा था।

नात्सीवाद और आर्थिक व्यवस्था

नात्सीवादियों के अनुसार राज्य का एक दैवी रूप होता है और राज्य की आज्ञाओं का पालन करना प्रत्येक नागरिक का परम कर्त्तव्य है। पर राज्य दैवी तभी हो सकता है जब कि उसके भीतर आर्थिक स्व-निर्भरता का गुण विद्यमान हो। नात्सीवादी राष्ट्रीय एकता और संगठन के नाम पर आर्थिक स्व-निर्भरता पर विशेष बल देते थे।

फासीवादियों की तरह ही नात्सीवादी पूँजीपतियों और श्रमिकों के पारस्परिक संघर्ष को अनिवार्य न मानकर उनकी परस्पर-पूरकता पर बल देते थे। नात्सीवादियों की आर्थिक नीति न तो विशुद्ध पूँजीवादी थी और न विशुद्ध समाजवादी ही क्योंकि उनके अनुसार दोनों ही मत राष्ट्र को विरोधी दलों में विभाजित करते हैं। राष्ट्रीय हितों को दृष्टि में रखते हुए सबके हितों का समन्वय होना चाहिए। जनता के कल्याण के नाम पर पूँजीपति और मजदूर दोनों पर राज्य का नियंत्रण रहता है। इटली में मालिकों और श्रमिकों के पृथक्-पृथक् संघ (Syndicates) स्थापित किये गये थे और पुन: उनका निगम बनाया गया था। पर जर्मनी में मालिकों और मजदूरों के पृथक्-पृथक् संगठन नहीं थे, क्योंकि नात्सीवाद मालिकों और मजदूरों के हितों में किसी प्रकार का संघर्ष नहीं मानता। पूँजीपतियों और मजदूरों दोनों को मजदूर मोर्चे में शामिल किया गया। मजदूर-मोर्चों के दरवाज़े अनार्यों के लिए बन्द रखे गये। बड़े उद्योगों को कायम रहने दिया गया। पर इन उद्योगों पर राज्य ने अपना कठोर नियन्त्रण रखा। कोई भी जर्मनी से बाहर धन नहीं ले जा सकता था। वित्त-मंत्री के अधीन काम करने वाली अर्थ-समिति का उद्योग, व्यवसाय, बैंकों, बीमा, सार्वजनिक उपयोगिताओं और हस्त शिल्प-कला पर नियन्त्रण था पर व्यक्तिगत उद्योगों पर रोक नहीं लगायी गयी थी। सन् १९३३ के बाद जर्मन सरकार देश के बैंकों पर पूरा-पूरा नियन्त्रण रखने लगी। वस्तुओं के आयात और निर्यात के लिए सरकार से अनुमति लेनी पड़ती थी। हड़तालों और तालाबन्दियों पर रोक लगा दी गयी थी। वेतन और मूल्य निर्धारित कर दिये गये थे। हिटलर आर्थिक क्षेत्र में व्यक्तियों को अवसर देने की नीति का समर्थक था। राजनीतिक ढाँचे की भाँति सम्पूर्ण आर्थिक ढाँचा

भी नेतृत्व के सिद्धान्त पर सैनिक ढंग से तैयार किया गया था। फासीवादी इटली की अपेक्षा नात्सीवादी जर्मनी में निजी सम्पत्ति और वैयक्तिक उत्साह पर अधिक प्रतिबन्ध लगाये गये थे।

नात्सीवाद और प्रचारतन्त्र

प्रत्येक तानाशाह और अधिनायकवादी को अपनी बात दूसरों के गले उतारने के लिए प्रचारतन्त्र (Propaganda) का सहारा लेना पड़ता है। कम्युनिस्ट प्रचारतन्त्र से हम भली-भाँति परिचित हैं। उन्होंने प्रचार का एक मनोविज्ञान ही विकसित कर लिया है। 'प्रजातन्त्र' और 'प्रगतिशीलता' के नाम पर वे किस प्रकार लोकतन्त्र और देश-भक्ति का गला घोंटते हैं, इससे सारी दुनियाँ परिचित है। नात्सीवादियों ने भी अपनी तथाकथित 'श्रेष्ठता' और 'शुद्धता' को दूसरों के ऊपर थोपने के लिए सबल प्रचारतन्त्र का सहारा लिया। प्रचार-मन्त्री डॉ० गोयबेल्स (Dr. Goebbels) का असत्य भाषण लोकोक्ति का रूप ले चुका है। स्वयं हिटलर प्रचार-कला में पर्याप्त दक्ष था। उसने अपनी आत्मकथा 'मेरा संघर्ष' (Mein Kampf) में सफल प्रचार के लिए निम्न सुझाव दिये हैं, "जनता पर व्यापक प्रभाव, कुछ बातों पर अधिक जोर देना, उन्हीं बातों को बार-बार कहना, आत्म-निश्चय और आत्म-विश्वास के साथ निश्चयात्मक घोषणाओं के रूप में भाषण की रचना, प्रचार में अधिकतम परिश्रम और फल-प्राप्ति में असीम धैर्य।" हिटलर का सूत्र-वाक्य था—"प्रचार का बौद्धिक स्तर जितना ही निम्न होगा, उतनी ही अधिक संख्या में लोगों को अपने पक्ष में करने में सफलता मिलेगी।" डॉ० गोयबेल्स ने हिटलर के उपर्युक्त सूत्र को इस प्रकार रूपान्तरित किया है—"प्रचार सामान्यीकरण (Simplification) की कला है।" हिटलर कहता था कि प्रचार का सच्चाई से कोई सम्बन्ध नहीं है। उसके मत में—"यदि एक असत्य बात साहस के साथ कही जाती है और वह बड़ा असत्य होता है तो लोग उसके बड़ा होने के कारण ही उसमें विश्वास करने लगते हैं।"

भाषणमंच, रंगमंच, विद्यालय, सिनेमा, रेडियो, समाचार-पत्र, कला, विज्ञान और साहित्य सभी को नात्सीवाद की उद्देश्य-सिद्धि में सहायक बनना पड़ा। स्कूलों में पढ़ाये जाने वाले प्रत्येक विषय को नात्सी प्रचार-तन्त्र का साधन बनाया गया। हिटलर की पूजा को धर्म माना गया। प्रत्येक जर्मन प्रतिदिन ५० से लेकर १५० बार तक 'ह्वेल हिटलर' (हिटलर की जय) कहा करता था। प्रत्येक जर्मन बच्चे द्वारा पढ़ी जाने वाली नाजी पाठ्य-पुस्तक में हिटलर के प्रति निम्नलिखित बहुमूल्य भावना प्रकट की गयी थी—

हमारे नेता, एडॉल्फ, हिटलर
हम तुम्हें प्यार करते हैं,
हम तुम्हारे लिए प्रार्थना करते हैं,
हम तुम्हारी बात सुनना पसन्द करते हैं,
हम तुम्हारे लिए कार्य करते हैं,
तुम्हारी जय हो।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सर्वाधिकारवाद को जर्मनी में जो पवित्रता प्राप्त थी वह उसे इटली में कभी नहीं मिली।

फासीवाद और नात्सीवाद का मूल्यांकन

फासीवाद और नात्सीवाद में यद्यपि नामों की भिन्नता है और कहीं-कहीं उनकी नीतियों में भी थोड़ी बहुत भिन्नता पायी जाती है, पर अधिकतर दोनों के आदर्श, मान्यताएँ और कार्य-प्रणाली में पर्याप्त समानता है। वस्तुतः, नात्सीवाद फासीवाद का ही एक रूप है। अतः दोनों का एक साथ मूल्यांकन प्रस्तुत किया जा सकता है—

१. फासीवाद लोकतन्त्र की सभी मान्यताओं, 'स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व' का विरोधी सिद्धान्त है। इसमें व्यक्ति को अपना संकल्प-स्वातन्त्र्य अधिनायक की इच्छा पर बलिदान कर देना पड़ता है। फासीवाद लोकतन्त्र के स्थान पर अधिनायकवाद (Dictatorship) और सर्वाधिकारवाद (Totalitarianism) की स्थापना करना चाहता है जो कभी भी स्वीकार्य नहीं हो सकता।

२. फासीवादी शासन-व्यवस्था में व्यक्ति के स्वतन्त्र और उन्मुक्त विकास की कोई सम्भावना नहीं होती। राज्य के अंकुश में उसका जीवन इतना नियन्त्रित (Regimented) हो जाता है कि विकास असम्भव है।

३. फासीवाद सत्ता और शक्ति के केन्द्रीकरण (Centralisation) में विश्वास करता है। शासन-तन्त्र और अर्थ-तन्त्र दोनों पर केन्द्र का नियन्त्रण होता है। इसका दुष्परिणाम यह होता है कि जनता की योग्यता व शक्ति का राज्य के हित में पूर्ण सदुपयोग नहीं हो पाता।

४. फासीवाद और नात्सीवाद दोनों राज्य के विस्तार में विश्वास करते हैं। अर्थात् दोनों साम्राज्यवाद के पोषक हैं। इसका अनिवार्य परिणाम यह होता है कि सबल राष्ट्र निर्बल राष्ट्रों का शोषण करते हैं और सम्पूर्ण विश्व को युद्धाग्नि में ढकेल देते हैं। युद्ध से किसी राष्ट्र की उन्नति नहीं होती। वस्तुतः फासीवादी शान्ति के शत्रु होते हैं। वे केवल बाह्य आक्रमण के लिए ही नहीं वरन् आन्तरिक प्रशासन के लिए भी अधिकतम शक्ति के प्रयोग का समर्थन करते हैं। वे जनमत का निर्माण न कर उसका दमन करने में ही विश्वांस करते हैं जो अनुचित है।

५. साम्यवादियों के अनुसार फासीवादी अधिनायकतन्त्र पूँजीवाद की चरम परिणति है। अन्तिम अवस्था में जब पूँजीवादी प्रतियोगिता अत्यधिक बढ़ जाती है और माल की खपत कम हो जाती है, पूँजीवादी इस स्थिति में नहीं रहते कि श्रमिकों को उचित वेतन देते रहें और लाभ भी कमाते रहें। ऐसी स्थिति में वे लोकतन्त्रीय व्यवस्था को तिलांजलि देकर सम्पूर्ण देश पर अधिनायकतन्त्र थोप देते हैं।

६. फासीवाद में शिक्षा, कला व साहित्य का स्वतन्त्र विकास सम्भव नहीं होता। विचार-स्वातन्त्र्य के अभाव में जनता की सृजनात्मक शक्ति कुंठित हो जाती है। विचार-निर्माण-कार्य (Indoctrination) एक अमानुषिक व्यवहार है।

१८

गाँधीवाद
(Gandhism)

गाँधीवाद

गाँधीवाद एक बहु-चर्चित शब्द है जो व्यक्त करता है कि गाँधीजी ने एक ठोस और युक्ति-युक्त दार्शनिक निकाय की स्थापना की है जिसे हम गाँधी-दर्शन के नाम से अभिहित कर सकते हैं। पर बात ऐसी नहीं है। भारतीय और यूनानी मानस की यह विशेषता है कि तत्त्व-चिन्तक होने के कारण वे अपने अनुभव और कल्पना को तुरन्त किसी-न-किसी दार्शनिक व्यवस्था के साँचे में ढाल देते हैं। गाँधीजी के अनुसार इससे तत्त्व का साक्षात्कार नहीं किया जा सकता। विचार-निष्ठा व तर्क-निष्ठा हमें सत्य से बहुत दूर खींच ले जाती है और हमें जीवन-निष्ठ नहीं होने देती। 'सिद्धान्त' या 'वाद' में सत्यांश लेश मात्र ही होता है। 'विचार' में भी यद्यपि सत्य का अंश 'सिद्धान्त' से अधिक होता है, पर वह भी पूर्ण सत्य की अभिव्यक्ति नहीं करता। 'तथ्य' में ही पूर्ण सत्य की अभिव्यक्ति सम्भव है। इस प्रकार गाँधीजी अस्तित्ववाद (Existentialism) के पोषक थे। वे किसी योजना, पद्धति अथवा निकाय के दास नहीं थे। एक बार उन्होंने कहा था, "मैं पहले से सोचकर किये हुए निर्णय से ही चिपक कर चलने वाला नहीं हूँ; जैसी परिस्थिति हो, वैसा ही सोचने का मेरा स्वभाव है। सिद्धान्त और व्यवहार दोनों के समन्वय से जो मुझे सूझ आती है, उसी को लेकर मैं आगे बढ़ता हूँ। मैं अपने को किसी पूर्वाग्रहों के जाल में फँसने नहीं देता। मेरा एक ही आग्रह रहता है, सत्य का और विश्व-कल्याण का।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि गाँधीजी को 'दार्शनिक' बनने की कोई चिन्ता न थी। वे कहते थे—जब तक मैं जीवित हूँ, नये-नये प्रयोग करता रहूँगा। नवीन प्रयोगों के आधार पर ही हम अपने अनुभवों में निरन्तर संशोधन और परिमार्जन कर उत्तरोत्तर सत्य तक पहुँच सकते हैं। उन्होंने यह कभी नहीं कहा कि उन्हें अन्तिम सत्य की प्राप्ति हो गयी है। इस प्रकार गाँधीवाद सिद्धान्तों का, मतों का, नियमों का, विनियमों का और आदेशों का समूह नहीं है, प्रत्युत् वह एक जीवन-शैली या जीवन-दर्शन है। यह शैली एक नवीन दिशा की ओर संकेत करती है अथवा मनुष्य की जीवन-समस्याओं के लिए प्राचीन समाधान प्रस्तुत करती है।[१] गाँधीजी किसी वाद (इज़्म) के समर्थक नहीं थे। उन्होंने अपने विचारों को कभी भी पूर्ण नहीं कहा। अपने कार्यों को उन्होंने 'सत्य के

---

१. सीतारमैय्या, गाँधी एण्ड गाँधिज़्म, भाग १; पृ० ३५

प्रयोग' कहा है। गाँधीजी ने एक बार कहा था, 'पूर्ण संगति एक हौआ (Hobgoblin) है।' उनके विचार और कार्य किसी निश्चित सिद्धान्त द्वारा संचालित न होते थे। उन्होंने सदैव अपने मस्तिष्क को खुला रखने की चेष्टा की। एक बार मार्च १९३६ ई० में सओली में सर्व-सेवा-संघ के सदस्यों के समक्ष गाँधीजी ने कहा था—"गाँधीवाद नाम की कोई वस्तु नहीं है और मैं अपने बाद कोई सम्प्रदाय नहीं छोड़ना चाहता।......वे मत जो मैंने बनाये हैं और वे परिणाम जो मैंने प्राप्त किये हैं अन्तिम नहीं हैं। मैं उन्हें कल बदल सकता हूँ।......मेरा सारा दर्शन यदि हम इसे दर्शन के नाम से पुकारें, इस बात में निहित है जो मैंने कहा है। आप इसे 'गाँधीवाद' के नाम से नहीं पुकारेंगे; इसमें कोई वाद नहीं है।" इस प्रकार 'गाँधीवाद' नाम की कोई वस्तु नहीं है। यह केवल गाँधीमार्ग और दृष्टिकोण है[1], जो न तो कठोर है, न नियमित और न अन्तिम ही। गाँधीजी भूलें करने से नहीं डरते थे। भूलें करना और उन्हें सुधारने के प्रयत्न में ही मानव का संकल्प-स्वातन्त्र्य निहित है।

गाँधीवाद की दार्शनिक पृष्ठभूमि

प्रत्येक सामाजिक विचारधारा की एक दार्शनिक पृष्ठभूमि होती है। गाँधीवाद के पीछे भी एक तत्त्व-विज्ञान है जिसके विभिन्न पक्षों का दिग्दर्शन करना यहाँ आवश्यक है—

१. परम तत्त्व—गाँधीजी के अनुसार 'सत्य ही तत्त्व है और तत्त्व ही सत्य है।' प्रत्येक सत्य कर्म में एवं प्रत्येक सत्यानुभव में हमें ईश्वर की सत्ता का आभास मिलता है। गाँधीजी के लिए सत्य एवं ईश्वर में कोई अन्तर नहीं है। यद्यपि ईश्वर के शिवं एवं सुन्दरं रूप पर गाँधीजी ने विशेष ध्यान नहीं दिया पर इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि उनके लिए ईश्वर केवल 'सत्यं' रूप ही है और उसका 'शिवं' एवं 'सुन्दरं' से कोई सरोकार नहीं। उनके 'शिवं' एवं 'सुन्दरं' सत्य के ही अनिवार्य परिणाम हैं। जो 'सत्य' रूप होगा, उसमें 'शिव' और 'सौन्दर्य' अनिवार्य रूप से पाये जायेंगे। इस प्रकार 'सत्यं' 'शिवं' एवं 'सुन्दरं' तीन पृथक् वस्तुएँ न होकर एक ही तत्त्व के तीन विभिन्न रूप हैं।

ऊपर जिस सत्य के विषय में वर्णन किया गया उसका साक्षात्कार प्रथम हमें अपरोक्षानुभूति द्वारा होता है। पर उस शाश्वत और अनन्त सत्य का पूर्ण साक्षात्कार करना परिच्छिन्न एवं सीमित मानवों के लिए सम्भव नहीं है। अतः उसका दर्शन हमें केवल आंशिक रूप में ही होता है। इतना होते हुए भी वह आंशिक एवं सापेक्षिक सत्य, उस पूर्ण एवं निरपेक्ष सत्य तक पहुँचने का सोपान है। गाँधीजी ने स्वयं कहा है—"जब तक मुझे उस निरपेक्ष एवं पूर्ण सत्य का साक्षात्कार नहीं हो जाता, सापेक्षिक सत्य का मैं कदापि परित्याग नहीं कर सकता। वह सापेक्षिक सत्य ही तब तक के लिए मेरी ढाल और तलवार है।"[2] तात्पर्य यह है कि यद्यपि गाँधीजी के लिए सत्य एक स्थिर पूर्ण तत्त्व है, पर उसका ज्ञान गत्यात्मक एवं अनुभूति आंशिक है। आंशिक ज्ञान से प्रयत्न द्वारा हम पूर्ण ज्ञान तक पहुँच सकते हैं।

१. यूनेस्को सेमिनार, जनवरी, १९५३

२. एक्सपेरिमेण्ट्स, भाग १, पृ० ६

इसके अतिरिक्त ईश्वर के विषय में गाँधीजी की एक अन्य विशिष्ट कल्पना भी है। गाँधीजी ने प्रथम ईश्वर को सत्य रूप माना, फिर उन्होंने इस 'सत्य' को 'प्राकृतिक विधान' का रूप दिया। गाँधीजी को ईश्वर का सगुण रूप उतना प्रिय नहीं था जितना कि उनका निर्गुण रूप। एक बार उन्होंने 'हरिजन' में लिखा था, "मैं ईश्वर को व्यक्ति रूप नहीं मानता।"[१] इसीलिए क़भी-कभी वे ईश्वर को अदृश्य शक्ति, विधान, नैतिकता, निर्भयता, अन्तरात्मा इत्यादि नामों से अभिहित किया करते थे। उन्होंने एक स्थल पर लिखा है, "एक ऐसा अपरिवर्तनीय विधान है जिससे संसार में सभी कुछ शासित है, चाहे वह वस्तु हो अथवा व्यक्ति।......वह प्राकृतिक विधान जो सबके जीवन का शासन करता है, ईश्वर है। विधान और विधायक दो नहीं वरन् एक हैं।"[२] इस प्रकार हम देखते हैं कि गाँधीजी के लिए सत्य अर्थात् ईश्वर प्राकृतिक विधानों का एक 'समन्वयात्मक पूर्ण तत्त्व' है अथवा समष्टि है। चूँकि ईश्वर और उसके प्राकृतिक विधान में कोई अन्तर नहीं है अतः ईश्वर प्राकृतिक नियमों का कभी भी उल्लंघन नहीं कर सकता। अथवा यों कहा जाय कि ईश्वर के लिए प्राकृतिक नियमों के भंग करने का कोई प्रश्न ही नहीं है, क्योंकि वास्तव में वे दो नहीं वरन् एक हैं।[३]

ईश्वर, गाँधीजी के लिए एक अनिवार्य आवश्यकता है। ईश्वर में उनकी इतनी प्रबल आस्था थी कि एक बार उन्होंने कहा था कि यदि सारा संसार अनीश्वरवादी बन जाय तो भी वे ईश्वर के एकमात्र साक्षी के रूप में वर्तमान रहेंगे।

२. जगत्—गाँधीजी के लिए जगत् ईश्वर का ही विस्तार है। अतः वह असत् कभी नहीं हो सकता। वह विवर्त नहीं है। जहाँ तक जगत् का प्रश्न है, गाँधीजी अद्वैत-वेदान्ती होने की अपेक्षा अनेकान्तवादी अथवा स्याद्वादी होना अधिक पसन्द करेंगे। यह ठीक है कि जगत् परिवर्तनशील है, पर इस परिवर्तन के पीछे एक अपरिणामी तत्त्व अवश्य है जो सदा स्थिर रहता है। अतः, जगत् को पूर्ण असत्य नहीं कहा जा सकता। यही कारण था कि गाँधीजी ने जीवनपर्यन्त जगत् की समस्याओं के समाधान में ही अपना सारा समय व्यतीत किया। स्वामी शंकराचार्य ने ब्रह्म एवं जगत् के बीच लम्बवत् (Vertical) सम्बन्ध माना, पर गाँधीजी के लिए यह सम्बन्ध क्षैतिज (Horizontal) है। जगत्, ईश्वर की अभिव्यक्ति होने के कारण सत् है।

३. मानव और उसके जीवन का लक्ष्य—गाँधीजी मनुष्य को हड्डी, रक्त और मांस का केवल एक पिण्ड ही नहीं मानते थे। शरीर के अतिरिक्त भी उसके भीतर एक ऐसी वस्तु है जो शरीर से भी अधिक मूल्यवान है और वह है उसकी आत्मा। आत्मा ईश्वर का ही एक अंश है जो प्रयत्न करके ईश्वरत्व को प्राप्त कर सकती है। यद्यपि गाँधीजी आत्मा और शरीर दोनों की सत्यता में विश्वास करते थे, पर ईश्वर का अंश होने के कारण आत्मा उनके लिए कहीं अधिक मूल्यवान वस्तु थी। वे आत्मा की पवित्रता

---

१. I do not regard God as a Person. हरिजन, २३ मार्च, १९४०

२. एण्डूज, सी०एफ०, महात्मा गाँधीज आइडियाज, पृ० ४३

३. बोस एन०के०, सेलेक्शन्स फ्रॉम गाँधी, पृ० ६

और शुद्धता में अटल विश्वास रखते थे। यद्यपि वे समझते थे कि हमारी आत्मा के भीतर 'शैतान' तत्त्व भी विद्यमान है और उसे अपने भीतर से निकालने का प्रयत्न भी उन्होंने किया, पर दूसरों की आत्माओं के भीतर बैठे 'शैतान' की ओर उन्होंने कम ध्यान दिया। इसके लिए हम उन्हें दोष भी नहीं दे सकते। जो भला होता है वह दूसरों को भी भला ही समझता है। गाँधीजी के अनुसार मानव का चरम उद्देश्य आत्म-साक्षात्कार या मोक्ष की प्राप्ति है। अहिंसा की राजनीति को उन्होंने मोक्ष-प्राप्ति का साधन वनाया। एक स्थल[1] पर गाँधीजी ने लिखा है, "मैं सत्य का एक साधारण पुजारी हूँ। मैं इसी जीवन में मोक्ष-प्राप्ति का इच्छुक हूँ। मेरी राष्ट्रीय सेवा कां एकमात्र उद्देश्य है कि मैं अपनी आत्मा को शरीर के बन्धन से मुक्त कर लूँ।"

४. अहिंसा—गाँधीजी के लिए 'सत्य' साध्य या लक्ष्य है और अहिंसा उसकी प्राप्ति का साधन है। "अहिंसा के बिना सत्य की खोज एवं उसकी प्राप्ति दोनों असम्भव हैं। अहिंसा एवं सत्य में इतना परस्पर सम्वन्ध है कि दोनों को पृथक् करना असम्भव है। वे एक ही सिक्के के दो पहलू हैं अथवा उस अचिह्नित धातु के दो पहलू हैं जिनके सीधे और उलटे के बीच निर्णय करना कठिन है।"[2] अहिंसा हमारे अस्तित्व का सिद्धान्त है। यदि हमें संसार में जीवित रहना है तो हमें दूसरों से प्रेम अवश्य करना होगा। गाँधीजी एक क्षण के लिए भी सोच नहीं सकते थे कि संसार घृणा एवं हिंसा पर आधारित हो सकता है। अहिंसा एवं प्रेम जीवों के अस्तित्व का विधान है। "यह तथ्य ही कि अभी तक संसार में असंख्य प्राणी जीवित हैं, इस बात का ज्वलन्त प्रमाण है कि उसकी आधार-शिला शस्त्रों की शक्ति नहीं, वरन् सत्य एवं प्रेम की शक्ति है।"[3]

गाँधीजी ने विकासवाद के सिद्धान्त के आधार पर भी अहिंसा का प्रतिपादन किया। उन्होंने कहा कि मूल रूप से हम सभी पहले जंगली थे। धीरे-धीरे विकास के परिणामस्वरूप हम पशु से मनुष्य रूप में आये। मानव-इतिहास इस बात का साक्षी है कि मनुष्य की हिंसक वृत्ति का क्रमशः ह्रास और उसकी अहिंसक वृत्ति का क्रमशः विकास हो रहा है। "मैं काल्पनिक विचारक नहीं हूँ। मैं एक व्यावहारिक आदर्शवादी हूँ। अहिंसा का धर्म केवल ऋषियों एवं सन्तों के लिए ही नहीं, वरन् वह सर्वसाधारण के लिए भी है। जिस प्रकार पशुओं के लिए शक्ति का विधान है, उसी प्रकार मनुष्यों के लिए अहिंसा का विधान है। निम्न पशुओं में आत्मा सुषुप्त होती है, अतः वे शक्ति-सिद्धान्त के सिवा कुछ भी नहीं जानते। मनुष्य की प्रतिष्ठा के लिए यह आवश्यक है कि वह किसी उच्च विधान—आत्मा की शक्ति—में अपने को समर्पित कर दे।"[4]

गाँधीजी का यह अटूट विश्वास था कि स्थायी सामाजिक क्रान्ति के लिए हिंसा का सहारा नहीं लिया जा सकता, क्योंकि हिंसा, हिंसा को जन्म देती है। स्थायी क्रान्ति प्रेम और

---

१. यंग इण्डिया, ३ अप्रैल, १९२४
२. यरवदा मन्दिर से, पृ० ८-९
३. सेलेक्शन्स फ्रॉम गाँधी, पृ० २२
४. यंग इण्डिया, अगस्त ११, १९२०

अहिंसा द्वारा ही सम्भव है, जिसमें कभी-कभी दूसरों के हृदय-परिवर्तन करने के लिए हमें शरीर की आहुति भी देनी पड़ सकती है। गाँधीजी ने अपने अहिंसा के सिद्धान्त को आत्मा के पुनर्जन्म-सिद्धान्त के साथ संयुक्त किया है। यदि किसी व्यक्ति की आत्मा इतनी दूषित है कि वह तत्काल सत्य का अवलोकन नहीं कर सकती, तो ऐसे व्यक्ति को तत्त्व का साक्षात्कार कराने के लिए यदि प्राणों का भी बलिदान करना पड़े तो भी हमें करना चाहिए।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि गाँधीजी का वास्तव में अहिंसा से क्या तात्पर्य था? इस बात को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है—

"यह अहिंसा वह स्थूल वस्तु नहीं है जो आज हमारी दृष्टि के सामने है। किसी को न मारना इतना तो है ही। कुविचार मात्र हिंसा है। उतावली हिंसा है। मिथ्या-भाषण हिंसा है। द्वेष हिंसा है। किसी का बुरा चाहना हिंसा है। जगत् के लिए जो आवश्यक वस्तु है उस पर अधिकार बनाये रखना हिंसा है।" (मंगल प्रभात)

"हिंसा मिथ्या है, माया है, अहिंसा ही सत्य वस्तु है। अहिंसा के बिना सत्य का साक्षात्कार असम्भव है। ब्रह्मचर्य, अस्तेय, अपरिग्रह भी अहिंसा के अर्थ में सम्मिलित है। ये अहिंसा को सिद्ध करने वाले हैं। अहिंसा सत्य का प्राण है। उसके बिना मनुष्य पशु है।" (गीता माता)

"अहिंसा सभी जीवित प्राणियों के प्रति दूषित भावना का सर्वथा अभाव है।"[१]

"जान बूझ कर भी दूसरों की गलतियों के लिए दुःख झेलना अहिंसा का गत्यात्मक रूप है।"

"अहिंसा केवल इस मूल सिद्धान्त पर आधारित है कि जो नियम एक व्यक्ति के प्रति लागू होता है, वह पूर्ण विश्व के लिए भी उतना ही लागू होता है।"[२]

"जब कायरता और हिंसा में से एक पर चलना हो, तो मैं हिंसा पर चलना अच्छा समझता हूँ। मैं बिना किसी को मारे हुए शान्तिपूर्वक मर जाने का साहस उत्पन्न करना चाहता हूँ। पर जिस किसी में यह साहस नहीं है, उसके लिए मैं यही अच्छा समझता हूँ कि लज्जापूर्वक खतरे से दूर भागने के बजाय वह मारे और मरे।"

"जो तलवार चलाते-चलाते मर जाते हैं वे निश्चित ही बहादुर हैं, किन्तु जो तलवार की चोट बिना उँगली उठाये अथवा स्थिर हुए सहन कर लेते हैं, उनसे भी अधिक बहादुर है।"[३]

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि एक मुक्त और वीतराग व्यक्ति ही पूर्ण रूप में अहिंसक हो सकता है। साधारण मानवों के लिए अहिंसक होना सरल कार्य नहीं है। गाँधीजी ने अहिंसा शब्द को बहुत व्यापक रूप में लिया है। निषेधात्मक रूप में यह किसी को मनसा, वाचा, कर्मणा और कायेन चोट न पहुँचाना है। विधायक रूप में—अहिंसा का अर्थ है प्राणिमात्र के प्रति प्रेम और सेवा-भाव।

---

१. यंग इण्डिया, मार्च ९, १९२०
२. हरिजन, १२ नवम्बर, १९३८
३. यंग इण्डिया, ११ नवम्बर, १९२८

पर यदि अहिंसा का पूर्ण-परिपालन केवल मुक्त और वीतराग व्यक्ति ही कर सकते हैं तो फिर साधारण व्यक्तियों के लिए कौन-सा साधन उपलब्ध है?

व्यावहारिक दृष्टि से यदि अहिंसा-हिंसा पर विचार किया जाय तो पूर्ण हिंसा और पूर्ण अहिंसा दोनों अमूर्त-प्रत्यय (Abstract Idea) प्रतीत होंगे। व्यक्ति न तो पूर्ण हिंसा द्वारा और न पूर्ण अहिंसा द्वारा हीं संसार में जीवित रह सकता है। उसे हिंसा और अहिंसा के बीच 'मध्यम-मार्ग' (Middle Path) निकालना ही पड़ेगा। गाँधीजी इस तथ्य को भली भाँति समझते थे। एक स्थल पर उन्होंने लिखा है, "हिंसा व्यापक वस्तु है। हम हिंसा की होली के बीच घिरे हुए पामर प्राणी हैं। यह वाक्य गलत नहीं है कि जीव, जीव पर जीता है। मनुष्य एक क्षण के लिए भी वाह्य हिंसा के बिना नहीं जी सकता।.....यदि इस हिंसा से छूटने के लिए वह महा प्रयत्न करता है, उसकी भावना में अनुकम्पा होती है, वह सूक्ष्म से सूक्ष्म जन्तु का भी नाश नहीं चाहता और यथाशक्ति उसे बचाने का प्रयत्न करता है, तो वह अहिंसा का पुजारी है।......किन्तु कोई देहधारी वाह्य हिंसा से सर्वथा मुक्त नहीं हो सकता।" इस उद्धरण से स्पष्ट है कि हिंसा और अहिंसा का निर्णय वाह्य प्रयत्नों से नहीं, वरन् उन प्रयत्नों में निहित भावनाओं से निर्धारित होता है।

यहाँ ध्यान में रखने की बात यह है कि अहिंसा-सिद्धान्त कोई अनुभव-निरपेक्ष सिद्धान्त (Apriori Principle) नहीं है, यह एक अनुभव-सापेक्ष अथवा परिस्थिति-सापेक्ष सिद्धान्त (Aposteriori Principle) है। इसका सम्बन्ध विज्ञान-जगत् (World of Ideas) से न होकर वस्तु-जगत् (Matters of Fact) से है। सच पूछा जाय तो समाज-दर्शन की सभी समस्याओं का सम्बन्ध विज्ञानों से न होकर वस्तु-जगत् से है। यही कारण है कि विभिन्न परिस्थितियों में गाँधीजी ने अहिंसा का विभिन्न अर्थ लगाया। पर इसका यह अर्थ नहीं है कि गाँधीजी अवसरवादी थे। उनके प्रत्येक परिवर्तन के पीछे एक निश्चित सिद्धान्त कार्य करता था। यह पहले ही निवेदन किया जा चुका है कि गाँधीजी विचार-निष्ठ होने की अपेक्षा तथ्य-निष्ठ होना अधिक श्रेयस्कर समझते थे। एक स्थल पर उन्होंने लिखा है, "मैंने अहिंसा-सिद्धान्त को भारत या किसी अन्य व्यक्ति के समक्ष सिवाय अनौपचारिक रूप के किसी सिद्धान्त (Creed) रूप में कभी भी नहीं रखा। मैंने कांग्रेस के समक्ष इसे राजनीतिक समस्याओं के समाधान के लिए एक राजनीतिक पद्धति के रूप में रखा।" एक राजनीतिक पद्धति के रूप में, किसी अन्य श्रेयस्कर पद्धति के लिए इसका परिवर्तन, संशोधन, रूपान्तरण और यहाँ तक कि परित्याग भी किया जा सकता है। अतः, यदि मैं तुमसे कहता हूँ कि आज इस नीति का परित्याग कर देना चाहिए, तो मैं राजनीतिक बुद्धिमत्ता की बात कह रहा हूँ। यह एक राजनीतिक अन्तर्दृष्टि है।

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि अहिंसा-सिद्धान्त कोई अहैतुक आदेश (Categorical Imperative) नहीं है जिसे बिना परिस्थितियों पर विचार किये ही स्वीकार कर लिया जाय। पारमार्थिक दृष्टि वाले व्यक्तियों के लिए भले ही यह अहैतुक आदेश हो पर व्यावहारिक व्यक्तियों के लिए तो यह सहैतुक आदेश (Conditional

Imperative) ही रहेगा। यही कारण था कि गाँधीजी ने कई अवसरों पर हिंसा की संस्तुति की थी। अहमदाबाद के लावारिस कुत्तों को मरवाने की आज्ञा देना, दु:खद परिस्थितियों में मरती हुई हुई गाय को मारने के लिए इंजेक्शन दिलवाना, कश्मीर में पाकिस्तान के आक्रमण के समय भारत द्वारा सैनिक कार्रवाई का अनुमोदन करना तथा भारत-विभाजन के बाद पाकिस्तान में हिन्दुओं की दुर्दशा देखकर गाँधीजी का यह कहना कि "यदि पाकिस्तान अपने यहाँ हिन्दुओं पर आक्रमण करता रहा तो भारत को उस पर आक्रमण करने के सिवा कोई विकल्प न रहेगा।" गाँधीजी के अहिंसा-सिद्धान्त के व्यावहारिक रूप हैं। यदि कायरता और हिंसा में किसी एक का चुनाव करना है तो गाँधीजी हिंसा चुनने के लिए ही आदेश देंगे। अहिंसा वीरों के लिए है—"तुम सशक्त हो, फिर भी पशु-बल का प्रयोग न करो, दण्ड देने की शक्ति रखते हुए भी क्षमा कर सको, तभी तुम अहिंसा के उपासक समझे जाओगे। जिसमें दम ही नहीं है, जो अशक्त, कायर और भयभीत है, वह किसी को क्या क्षमा करेगा?"

कभी-कभी गाँधीजी की उक्तियाँ हमें किंकर्तव्यविमूढ़ कर देती हैं। कभी तो वे अहिंसा-सिद्धान्त को एक अहैतुक सिद्धान्त के रूप में लेते हैं और कभी उसकी एक सहैतुक सिद्धान्त के रूप में व्याख्या करते हैं। पर वास्तविकता क्या है? क्या हमें प्रत्येक परिस्थिति में अहिंसक रहना चाहिए अथवा परिस्थितियों के अनुसार हमें अहिंसा-सिद्धान्त में संशोधन करना चाहिए। गीता के अनुसार तो लोक-संग्रह के लिए और निष्काम भाव से यदि हम हिंसा का सहारा लेते हैं तो उसमें हिंसा की कोई बात नहीं है। वह अहिंसा ही है। हाँ! स्वार्थ और व्यक्ति-संग्रह के लिए की गयी हिंसा, हिंसा अवश्य कही जायगी। इसीलिए गीता में अहिंसक होने के लिए कई प्रागपेक्षाएँ दी हुई हैं जिनकी पूर्ति करना साधक के लिए परमावश्यक है। गाँधीजी ने भी अपनी रचनाओं में इन व्रतों का वर्णन किया है। पर एक स्थल पर गाँधीजी ने जो लिखा है उससे प्रतीत होता है कि गाँधीजी गीता के निष्कर्षों से पूर्ण सहमत नहीं थे। वे कहते हैं—"गीता की शब्दावली के अनुसार युद्ध और कर्म-फल-त्याग में कोई परस्पर विरोध नहीं है। पर चालीस वर्ष से गीता की शिक्षाओं को अपने जीवन में चरितार्थ करने के अनवरत प्रयत्नों के परिणामस्वरूप मैं विनयपूर्वक इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि बिना पूर्ण अहिंसा के परिपालन के पूर्ण निष्काम कर्म असम्भव है।" गीता और गाँधीजी के निष्कर्षों में अन्तर यह है कि गीता के अनुसार निष्काम कर्म के ऊपर अहिंसा आधारित है पर गाँधीजी के अनुसार अहिंसा के ऊपर निष्काम कर्म आधारित है। वास्तव में दोनों दृष्टिकोणों में कोई विशेष अन्तर नहीं है। अहिंसा और निष्काम कर्म दोनों ईश्वरत्व प्राप्त करने के साधन हैं। गुणों के अनुसार हमारे साधन में भिन्नता हो सकती है, पर साध्य एक ही है। व्यावहारिक दृष्टि से गीता का सिद्धान्त गाँधीजी के सिद्धान्त से कहीं उत्तम प्रतीत होता है। पारमार्थिक स्तर पर हिंसा-अहिंसा का कोई प्रश्न ही नहीं उत्पन्न होता। व्यावहारिक जगत् में ही हिंसा-अहिंसा की बात उत्पन्न होती है। सिद्धान्त रूप में हम कह सकते हैं कि व्यक्ति-

संग्रह के लिए तो अहिंसा, पर लोक-संग्रह के लिए यदि हिंसा भी करनी हो तो उसे करना चाहिए। अपने जीवन को भले ही हम अहिंसा की वेदी पर बलिदान कर दें, पर समूची जाति, समाज और राष्ट्र को अहिंसा के नाम पर बलिदान करने का किसी को अधिकार नहीं दिया जा सकता। इस पर आगे विचार किया जायगा।

अहिंसा का पालन करना कोई आसान काम नहीं है। उसकी अनेक प्रागपेक्षाएँ हैं। अहिंसा के पालन में ईश्वर-प्रार्थना, उपवास और प्रायश्चित्त का विधान किया गया है। गाँधीजी ने अहिंसा के पालक के लिए ११ व्रतों का अनुमोदन किया है जो आचार्य विनोबा के शब्दों में निम्न हैं—

अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य असंग्रह।
शरीर-श्रम अस्वाद सर्वत्र भयवर्जन।
सर्वधर्मी समानत्व स्वदेशी स्पर्श-भावना।
हीं एकादश सेवावी नम्रत्व व्रतनिश्चये॥

(विनाबाकृत श्लोक)

अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य, असंग्रह (संचय न करना, अपरिग्रह), शरीर-श्रम, अस्वाद, सर्वत्र भय-वर्जन (अभय), सर्वधर्मी-समानत्व (सभी धर्मों को बराबर समझना), स्वदेशी (अपने देश की वस्तुओं का ही उपयोग करना), स्पर्श-अहिंसा के ही विभिन्न रूप हैं। इस प्रकार गाँधीजी के अनुसार अहिंसा ही सब धर्मों का मूल है।

गाँधीजी का दृढ़ विश्वास था कि एक वास्तविक प्रजातान्त्रिक सामाजिक व्यवस्था की स्थापना में अहिंसा प्रथम आवश्यक तत्त्व है। अहिंसा के बिना इसका अस्तित्व कुछ दिनों के लिए ही हो सकता है। गाँधीजी के शब्दों में—"सच्चा प्रजातन्त्र या जनता के स्वराज्य की प्राप्ति असत्य तथा हिंसात्मक साधनों द्वारा कभी नहीं हो सकती, क्योंकि इन साधनों के प्रयोग का अर्थ होगा—विरोधियों को कुचलना या उनका समूल नाश करना। इससे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता नहीं रह जायगी। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की पूर्ण प्राप्ति तो केवल एक अमिश्रित अहिंसा के राज्यों में ही हो सकती है।"

गाँधीवाद की धार्मिक पृष्ठभूमि

गाँधीजी एक पूर्णत: धार्मिक व्यक्ति थे। उन्होंने गीता, पातञ्जलि के योगसूत्र, रामायण, महाभारत तथा कुछ जैन और बौद्ध धर्म-ग्रन्थों से धर्म-शिक्षा ग्रहण की थी। गाँधीजी को प्रभावित करने वाले गैर-हिन्दू स्रोतों में से गिरि-प्रवचन (Sermon on the Mount) का उन पर सर्वाधिक प्रभाव पड़ा जिसकी मूल शिक्षा यह थी कि बुराई को अच्छाई से जीतना चाहिए। "यदि कोई तुम्हारे एक गाल पर थप्पड़ मारे तो उसके सामने दूसरा गाल भी कर दो", "अपने शत्रुओं को भी प्यार करो", "जो तुमसे घृणा करते हों उनके साथ नेकी करो", "जो तुम्हारे साथ अत्याचार करते हों, उनके लिए तुम भगवान् से प्रार्थना करो" तथा "अगर तुम्हारा शत्रु भूखा हो तो उसे खाने को रोटी दो और यदि वह प्यासा है तो उसे पीने

को पानी दो।" इन विचारों का गाँधीजी के मन पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा।

गाँधीजी की नैतिक और धार्मिक विचार-धारा पर लाओ-त्से (Lao-Tse) और कन्फ्यूशियस (Confucius) की शिक्षाओं का भी प्रभाव पड़ा था। लाओ-त्से ने आत्म-अनस्थापन (Non-assertiveness) की शिक्षा दी थी। उन्होंने आदर्श जीवन की नम्रता की उपमा जल से दी थी। उनका कहना था कि सर्वोत्तम मनुष्य जल के समान है—जल सभी वस्तुओं को लाभ पहुँचाता है और वह उनके साथ प्रतियोगिता नहीं करता। जल ऐसे निम्नतम स्थानों पर रहता है जहाँ रहना कोई पसन्द न करेगा। ऐसे स्थानों पर रह कर भी वह चीन के दार्शनिक ताओ (Tao) के समीप पहुँचता है। गाँधीजी ने कन्फ्यूशियस से यह सीखा कि मनुष्यों को दूसरों के प्रति वैसा व्यवहार नहीं करना चाहिए जैसा व्यवहार वे स्वयं दूसरों के द्वारा अपने प्रति न चाहते हों।

इसलाम से जिसका सम्बन्ध हिंसा और जोर-दबाव से सम्बद्ध किया जाता है, गाँधीजी ने अहिंसा की शिक्षा ली। उन्होंने इसमें दयालुता, शान्ति, प्रेम और विचारशीलता का सन्देश पाया। गाँधीजी जानते थे कि इसलाम शब्द का अर्थ है शान्ति, सुरक्षा और मुक्ति। कुरान की एक महत्त्वपूर्ण शिक्षा है, "धर्म में जोर-जबर्दस्ती नहीं होनी चाहिए।"

धर्म निरपेक्ष लेखकों में थोरियो (Thoreau), रस्किन (Ruskin) और टॉल्सटॉय (Tolstoy) ने गाँधीजी को पर्याप्त प्रभावित किया। गाँधीजी ने थोरियों से सविनय अवज्ञा (Civil Disobedience) और करबन्दी (Non-payment of Taxes) की प्रेरणा प्राप्त की। उन्होंने रस्किन की पुस्तकें 'अन्टु दिस लास्ट' (Unto this Last) और 'क्राउन ऑव वाइल्ड ऑलिव्स' (Crown of Wild Olives) से शारीरिक श्रम का आदर करना सीखा। टॉल्स्टॉय से गाँधीजी ने अराजकतावाद (Anarchism) का पाठ पढ़ा था।

१. धर्म—गाँधीजी ने धर्म के विषय में जो कुछ अन्तिम रूप से सीखा, वह हिन्दूधर्म की पुस्तकों से ही सीखा था। गीता, उपनिषद् और वेद उनके धर्म के मूल स्रोत थे। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि धर्म से गाँधीजी का वास्तविक अभिप्राय क्या था? क्या धर्म का अर्थ किसी विशेष सम्प्रदाय या मत से था जो आज दिन संसार में दिखाई पड़ता है। धर्म की व्याख्या करते हुए गाँधीजी ने एक स्थल पर लिखा है, "धर्म से मेरा तात्पर्य किसी औपचारिक या व्यावहारिक धर्म से नहीं है, वरन् उस धर्म से है जो सभी धर्मों का मूल है और जो हमें स्रष्टा का साक्षात्कार कराता है।"[१]

गाँधीजी ने धर्म को एक बहुत गूढ़ अर्थ में लिया है। धर्म का अर्थ सम्प्रदाय नहीं वरन् प्राकृतिक नियम (Universal Law) है। 'धारयतीति धर्मः' या 'धारणात् इति धर्मः' अर्थात् 'जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को धारण करता है वही धर्म है'। धर्म हमारे अस्तित्व का विधान है। इस दृष्टि के अनुसार धर्म-निरपेक्षता वदतोव्याघात है। दुःख है कि आज गाँधीजी के तथाकथित अनुयायी धर्म के वास्तविक अर्थ को न समझकर धर्म-निरपेक्षता

---

1. By religion, I do not mean formal religion or customary religion, but the religion which underlines all religions which brings us face to face with our maker. —*Gandhiji*

की तोता-रटन्त लगाये हुए हैं। गाँधीजी ने धर्म-निरपेक्षता को अपनी राजनीति में कहीं भी स्थान नहीं दिया था। अपनी बात को स्पष्ट करते हुए गाँधीजी ने लिखा है, "परनतु मैं धर्म का क्या अर्थ समझता हूँ? वह हिन्दू धर्म नहीं है जिसे मैं निश्चित रूप से अन्य धर्म की अपेक्षा श्रेष्ठ समझता हूँ, बल्कि मेरा धर्म तो वह धर्म है जो कि मनुष्य के स्वभाव को ही बदल देता है, जो मनुष्य को उसके आन्तरिक सत्य से अटूट सम्बन्ध में बाँध देता है और जो सदैव हमें पाक-साफ करता है। धर्म मनुष्य के अन्दर वह स्थायी तत्त्व है जो कि पूर्ण अभिव्यक्ति प्राप्त करने के लिए कोई भी बलिदान करने को तत्पर रहता है।"

२. हिन्दू धर्म—यद्यपि गाँधीजी ने धर्म और हिन्दूधर्म में भेद किया है, पर गाँधीजी हिन्दूधर्म को सर्वश्रेष्ठ धर्म समझते थे। हिन्दूधर्म कोई सम्प्रदाय नहीं है; वह शाश्वत और सनातन धर्म है। १९३२ ई० में अंग्रेजों की भेद-नीति के कारण हरिजनों को हिन्दू-धर्म से पृथक् किया जा रहा था। गाँधीजी ने यरवदा जेल में आमरण अनशन किया। नेहरूजी को गाँधीजी ने पत्र में लिखा था, "हरिजन आन्दोलन निरे बौद्धिक व्यायाम से कहीं बड़ी वस्तु है। समस्त संसार में इससे बुरी वस्तु अन्य कोई नहीं है। किन्तु मैं धर्म के बिना नहीं रह सकता और इसलिए हिन्दुत्व को भी नहीं छोड़ सकता। यदि हिन्दुत्व ने मुझे निराश किया तो मेरा जीवन भार हो जायगा। मैं ईसाई, इसलाम व अन्य अनेक धर्मों से यदि प्रेम करता हूँ तो हिन्दुत्व के माध्यम से हो। इसे मुझसे छीन लो, फिर मेरे पास कुछ न बचेगा। किन्तु तब भी मैं इसे छुआछूत एवं ऊँच-नीच के विचारों के सहित सहन नहीं कर सकता। सौभाग्य से हिन्दुत्व में ही इस विकृति की अचूक दवा भी विद्यमान है।" इस प्रकार हम देखते हैं कि गाँधीजी की हिन्दू-धर्म में अपार श्रद्धा थी। वे प्रगतिशीलता के नाम पर धर्म-निरपेक्षता के हिमायती कदापि न थे।

३. धार्मिक सहिष्णुता—यद्यपि गाँधीजी हिन्दूधर्म को सर्वश्रेष्ठ मानते थे पर उनके अन्दर किसी प्रकार की धार्मिक कट्टरता विद्यमान नहीं थी। वे सभी धर्मों का समान रूप से आदर करते थे। उनके लिए राम-रहीम, कृष्ण-करीम, काबा-कैलाश और कुरान-पुरान सब एक हैं। उन्होंने लिखा है कि "मैं वेदों के एकमात्र ईश्वर में विश्वास नहीं करता। मेरा विश्वास है कि बाइबिल, कुरान और जेन्द अवस्ता में उतनी ही ईश्वरीय प्रेरणा है जितनी कि वेदों में पायी जाती है।" इस प्रकार गाँधीजी का विश्वास था कि ईश्वर तक पहुँचने के कई मार्ग हो सकते हैं और विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों का परस्पर विवाद व्यर्थ है।

४. धर्म परिवर्तन का विरोध—गाँधीजी धर्म के गूढ़ अर्थ को समझते थे। धर्म के तीन अर्थ हैं—गुण, नियम और कर्त्तव्य। 'धर्म' के भीतर इन तीनों अर्थों का समावेश है। प्रत्येक व्यक्ति के आन्तरिक गुण भिन्न-भिन्न होते हैं, अतः वह भिन्न-भिन्न नियमों द्वारा संचालित होता है और यही कारण है कि उसके कर्त्तव्य भी भिन्न-भिन्न होते हैं। मनुष्यों के भीतर गुणों की विभिन्नता के कारण ही उनका एक धर्म कभी नहीं हो सकता। इसीलिए व्यक्ति को अपना धर्म त्याग कर दूसरों का धर्म ग्रहण नहीं करना चाहिए। जब

धर्म-परिवर्तन सामूहिक रूप से और भौतिक लाभ के लिए किया जाता है, वह निन्दनीय और स्पृहणीय है। गाँधीजी ने ईसाई मिशनरियों को सलाह दी थी कि वे धर्म-परिवर्तन के कार्य को अपने शैक्षिक, मेडिकल और अन्य सामाजिक कार्यों से पृथक् रखें। उन्होंने एक बार लिखा था, ''यदि मुझे अधिकार होता और मैं विधि बना सकता तो मैं भौतिक लाभ के लिए धर्म-परिवर्तन को एकदम बन्द कर देता।'' उनका कहना था कि यदि कोई हिन्दू अपने धर्म से असन्तुष्ट है तो ''उससे कहिये कि वह हिन्दूधर्म का अध्ययन कर अच्छा हिन्दू बने।'' प्रत्येक धार्मिक व्यक्ति का यह कर्त्तव्य है कि वह एक हिन्दू को अच्छा हिन्दू बनने में, एक मुसलमान को अच्छा मुसलमान बनने में और एक ईसाई को अच्छा ईसाई वनने में सहायता दे। हिन्दू धर्म की कठिनाइयों का ईसाइयों को अनुचित लाभ नहीं उठाना चाहिए। वे कहते थे, ''यदि हम हिन्दू छुआछूत रूपी दैत्य को नष्ट नहीं कर देते तो वह हिन्दुओं को और हिन्दू धर्म दोनों को नष्ट कर देगा।''

५. धर्म और समाज—धर्म व्यक्ति और समाज दोनों का अधिष्ठान है। धर्मविहीन समाज की कल्पना भी नहीं की जा सकती। ''समाज में से धर्म को निकाल फेंकने का प्रयत्न बन्ध्यापुत्र के समान ही निष्फल कार्य है और यदि कहीं वह सफल हो जाय तो उसमें समाज का विनाश निश्चित है। धर्म के रूपान्तर हो सकते हैं। उनमें प्रत्यक्ष अन्धविश्वास, सड़न और अपूर्णताएँ दूर हो सकती हैं, हुई हैं और होती रहेंगी। मगर धर्म तो जब तक जगत् है, तब तक चलता ही रहेगा क्योंकि धर्म ही जगत् का आधार है। धर्म की अन्तिम व्याख्या है ईश्वर का कानून। ईश्वर और उसका कानून पृथक्-पृथक् चीजें नहीं हैं।''

धर्म और ईश्वर को अपृथक् मानने के कारण ही गाँधीजी ने धर्म-सेवा, लोक-सेवा और ईश्वर सेवा को एक ही माना था। ''मैं सम्पूर्ण का अंश हूँ और मैं भगवान् को मानव-समाज से पृथक् नहीं कर सकता। मेरा धर्म भगवत्-सेवा और इसी कारण मानव-सेवा है।'' इनसे स्पष्ट है कि धर्म और समाज का सम्बन्ध आत्मा और शरीर के सम्बन्ध के समान है। दोनों को एक-दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता।

६. धर्म और राजनीति—आजकल धर्म और राजनीति को एक-दूसरे से पृथक् रखा जाता है। 'धर्म-निरपेक्ष' राज्य की कल्पना एक फैशन का रूप ले चुकी है। वास्तव में 'धर्म-निरपेक्षता' (Secularism) एक विदेशी विचारधारा है जो भारतीय जन-जीवन के बिलकुल विपरीत है। विदेशों, विशेषकर यूरोप में जो धार्मिक सम्प्रदाय (Religion) व राज्य में एक प्रकार का गठबन्धन हो गया था, उससे मुक्त होने के लिए धर्म-निरपेक्षता का नारा बुलन्द किया गया। पर सच पूछा जाय तो आज तक यूरोप धर्म-निरपेक्ष नहीं हो पाया है। भारत में धर्म और सम्प्रदाय एक ही नहीं है। यहाँ धर्म शब्द का प्रयोग धारण-शक्ति, शाश्वत नियम या सनातन-नियम के रूप में लिया जाता है, जिसे कोई व्यक्ति, समाज या राष्ट्र अस्वीकार नहीं कर सकता। अतः, तात्त्विक दृष्टि से धर्म-निरपेक्षता एक वदतोव्याघात (Self-Contradiction) है। हम सम्प्रदाय-निरपेक्ष भले ही हो जायँ, धर्म-निरपेक्ष कभी नहीं हो सकते।

गाँधीजी 'धर्म' के इस गूढ़ अर्थ को भली-भाँति समझते थे। इसीलिए धर्म-

निरपेक्षता को वे अभिशाप समझते थे। उन्होंने कहा था, "धर्म-रहित राजनीति कोई राजनीति नहीं है। धर्म-रहित राजनीति एक मौत का फन्दा है, क्योंकि वह आत्मा का हनन करती है।" उनकी दृष्टि में धर्म और राजनीति आत्मा और शरीर की तरह अलग नहीं है। वे कहते थे, "जब से मुझे सार्वजनिक जीवन का ज्ञान है प्रत्येक शब्द जो मेरे मुँह से निकला है, प्रत्येक कार्य जो मैंने किया है, सबके पीछे एक धार्मिक चेतना और धार्मिक उद्देश्य रहा है।"

गाँधीजी का प्रमुख उद्देश्य मनुष्य और समाज को नैतिक बनाना था, किन्तु एक नैतिक पुरुष और एक नैतिक समाज तभी बन सकते हैं जब हम समस्त अत्याचारों के विरुद्ध खड़े हो जायँ, चाहे वह राज्य का अत्याचार हो, चाहे समाज का और चाहे व्यक्ति का। तदनुसार राजनीति उनके लिए आवश्यक बुराई थी। उन्होंने कहा था, "यदि मैं राजनीति में भाग लेता हूँ, तो इसका केवल यही कारण है कि राजनीति हम सबको सर्प के घेरे (Coil) की तरह घेरे हुए है और जिससे चाहे कोई कितनी ही चेष्टा करे बाहर नहीं जा सकता। मैं उस सर्प से युद्ध करना चाहता हूँ, मैं राजनीति में धर्म को सम्मिलित करने की चेष्टा कर रहा हूँ।" वे समझते थे कि अहिंसात्मक राज्य और अहिंसात्मक समाज के लिए राजनीतिक स्वतन्त्रता आवश्यक है। "वह व्यक्ति जो नहीं जानता कि देश-भक्ति और देश-प्रेम क्या है, सच्चे धर्म और कर्त्तव्य को नहीं जानता" और "जो यह कहते हैं कि धर्म का राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं है वे धर्म का अर्थ नहीं जानते।"[१]

गाँधीजी की कार्य-पद्धति

गाँधीजी की समाज-दर्शन को सबसे बड़ी देन यह है कि वे पवित्र साध्यों की प्राप्ति के लिए पवित्र साधनों पर बल देते थे। गाँधीवादी प्रविधि (Gandhian Technique) के कई रूप हैं जिनका यहाँ संक्षेप में वर्णन किया जायगा।

१. साध्य और साधन (End and Means)—फासीवादियों एवं साम्यवादियों के अनुसार साध्य ही साधनों के औचित्य को प्रदर्शित करता है (The end justifies the means)। यदि साध्य पवित्र हैं तो उसे प्राप्त करने के लिए उचित-अनुचित किसी भी प्रकार के साधनों का उपयोग किया जा सकता है। गाँधीजी ने इस सिद्धान्त को ठुकरा कर इसके स्थान पर अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि साधन ही साध्य के औचित्य को सिद्ध करता है (The means justifies the end)। गाँधीजी का कथन है कि फासीवादियों और साम्यवादियों की विचारधारा साध्य और साधन में एक कृत्रिम विभाजन उत्पन्न करती है जिससे किसी कार्य की सावयवी एकता विनष्ट हो जाती है। उनकी धारणा थी कि साध्य तथा साधन एक-दूसरे से पृथक् नहीं किये जा सकते; साधन से ही साध्य का विकास होता है। उन्हीं के शब्दों में—"साधन एक बीज की तरह है और उद्देश्य एक वृक्ष की तरह। साधन और उद्देश्य में वही अटल सम्बन्ध है जो बीज और वृक्ष

---

१. 'माई एक्सपेरिमेण्ट्स विद् ट्रुथ', भाग II, पृ० ५९१

में है।"[१] वास्तव में गाँधीजी के लिए साधन ही सब कुछ था। वे विश्वास करते थे, "अगर कोई व्यक्ति साधनों का ख्याल रखता है तो उद्देश्य स्वयं अपना ध्यान रखेंगे।"[२] गाँधीजी ने स्वयं घोषणा की थी—"स्वराज्य प्राप्त करने की चेष्टा स्वयं स्वराज्य है।"

गाँधीजी साध्य की अपेक्षा साधन की पवित्रता पर विशेष वल देते थे, इसका एक कारण था। वह कारण यह था कि मनुष्य केवल साधन पर ही नियन्त्रण रख सकता है। साध्य, जब तक कि वह प्राप्त नहीं कर लिया जाता, अप्राप्त ही रहता है। ऐसी स्थिति में हम अधिक-से-अधिक यही कर सकते हैं कि साधन जिस पर हमारा वश है उसका नियन्त्रण करें। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि हमें शुभ उद्देश्यों की सिद्धि करनी है तो हमें शुभ उपायों का सहारा लेना चाहिए। गीता में भी इसी बात की शिक्षा दी गयी है कि हमें कोई कार्य फल-प्राप्ति के लिए नहीं करना चाहिए। हमारे सभी कार्य निष्काम भाव से सम्पादित होने चाहिए।

२. सत्याग्रह—गाँधीजी की कार्य-विधि को सत्याग्रह-आन्दोलन भी कहा जाता है जिसका अर्थ है—सत्य के प्रति आग्रह। सत्याग्रह एक नया विज्ञान है अथवा यह कर्मयोग का व्यावहारिक दर्शन है। इसे **निष्क्रिय विरोध** (Passive Resistance), **असहयोग** (Non-Co-operation), **सविनय अवज्ञा** (Civil Disobedience) इत्यादि कई नामों से अभिहित किया जाता है। सत्यागह की व्याख्या करते हुए गाँधीजी ने कहा है—सत्याग्रह सत्य पर आरूढ़ रहकर अथवा सत्य को साक्षी करके, दूसरे शब्दों में, प्रेम के साथ स्वयं कष्ट उठाने के लिए तत्पर होना है।[३] यह उस सच्चे ईश्वर-भक्त मनुष्य का शस्त्र है जो सत्य द्वारा बुराई को जीतने की चेष्टा करता है तथा जो आत्मबल से शारीरिक बल के विरोध की चेष्टा करता है।

(अ) असहयोग (Non-Co-operation)—गाँधीजी का विचार था कि बिना व्यक्ति के सहयोग के उस पर कोई अत्याचार नहीं कर सकता। अतः यदि हम चाहते हैं कि कोई हमारे ऊपर अत्याचार न करे तो इसके लिए हमें अत्याचारी के साथ असहयोग करना चाहिए। यह असहयोग हड़ताल (Strike), **सामाजिक बहिष्कार** (Social Boycott), धरना (Picketing) कई रूप ले सकता है।

(ब) सविनय अवज्ञा (Civil Disobedience)—सविनय अवज्ञा, असहयोग की अन्तिम सीढ़ी और सबसे भयावह रूप है। गाँधीजी ने इसे "सबसे अधिक प्रभावशाली और सशस्त्र क्रान्ति का रक्तहीन रूप कहा है।" उन्होंने सविनय अवज्ञा को "अनैतिक नियमों को तोड़ना" कहा है। "यह प्रतिरोधी के विद्रोह को असैनिक अर्थात् अहिंसात्मक

---

1. The means may be likened to a seed, the end to a tree; and there is just the same inviolable connection between the means and the end as there is between the seed and the tree.
   हिन्द स्वराज, पृ० ६०
२. हरिजन फरवरी, १९३९
३. यूनेस्को सेमिनार, पृ० ३८२

ढंग से प्रकट करता है।'' गाँधीजी ने अवज्ञा की अपेक्षा सविनय पर विशेष बल दिया था जिससे कि आन्दोलन हिंसापूर्ण एवं सैनिक न हो जाय। उन्होंने कहा था, ''सविनय अवज्ञा हृदय से आदरपूर्वक एवं संयत होनी चाहिए और कुछ अच्छे सिद्धान्तों पर आधारित होनी चाहिए तथा इसके पीछे घृणा और शत्रुता नहीं होनी चाहिए।'' चूँकि यह एक शक्तिशाली और उग्र उपचार है, इसे अत्यन्त सावधानी से और कम-से-कम प्रयोग में लाना चाहिए। गाँधीजी ने प्रारम्भ में कुछ चुने हुए अनुशासित लोगों के लिए ही इसका प्रयोग करने की आज्ञा दी थी। कौन-से नियम भंग करने योग्य हैं और कौन-से नियम भंग करने के योग्य नहीं हैं, इसका निर्णय एक नेता या योग्य सत्याग्रहियों की एक केन्द्रीय समिति ही कर सकती है।

(स) हिजरत (Hijarat)—''स्थायी निवास-स्थान से दूसरी जगह चले जाना हिजरत कहलाता है। गाँधीजी ने उन लोगों को घर छोड़ने की सम्मति दी जो लोग अत्यन्त दुःख का अनुभव करते हैं और एक स्थान पर आत्म-सम्मान के साथ नहीं रह सकते और उनमें उस शक्ति की कमी है जो सच्ची अहिंसा से प्राप्त होती है अथवा जो हिंसापूर्ण ढंग से अपनी रक्षा नहीं कर सकते हैं।''[१] १९२८ ई० में उन्होंने बारदोली के सत्याग्रहियों को और सन् १९३९ ई० में लिम्बड़ी, जूनागढ़ और विट्ठलगढ़ के सत्याग्रहियों को घर छोड़ने की सम्मति दी थी, क्योंकि सवर्ण हिन्दू उनमें नियमित रूप से आतंक फैला रहे थे और इससे उनमें अत्यन्त भय उत्पन्न हो गया था।[२]

(द) भूख हड़ताल (Fasting)—भूख हड़ताल या उपवास, सत्याग्रह का सबसे शक्तिशाली उपाय है। इससे जन-मानस को जागरित करने और उद्वेलित करने में पर्याप्त सहायता मिलती है। गाँधीजी इसे अग्निबाण[३] कहते थे और कहते थे कि उन्होंने इसे विज्ञान[४] के रूप में परिणत कर दिया है। साथ-ही-साथ उन्होंने इसे एक भयावह अस्त्र की भी संज्ञा दी है क्योंकि इसका बड़ी आसानी से दुरुपयोग किया जा सकता है। गाँधीजी के अनुसार उपवास किसी बात को मनवाने के लिए नहीं, वरन् प्रायश्चित्त एवं आत्म-शुद्धि के लिए प्रयुक्त होना चाहिए। उपवास अन्याय के विरोध में अथवा बुराई करने वाले आत्म-परिवर्तन के लिए भी किया जा सकता है। उपवास का व्रत उसी व्यक्ति को लेना चाहिए जिसके भीतर आध्यात्मिक बल हो और जिसका मस्तिष्क श्रेष्ठ हो। उपवास के लिए आध्यात्मिक बल, पवित्रता, आत्म-संयम, नम्रता और अटल विश्वास प्रागपेक्षाएँ हैं।[५] उपवास के विषय में सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इसका प्रयोग तभी करना चाहिए जब कि किसी बुराई को दूर करने के सभी साधन विफल हो जायँ। इसका प्रयोग अन्तिम अस्त्र के रूप में ही होना चाहिए।[६]

---

१. हरिजन, ३ फरवरी, १९४० ई०
२. हरिजन, ५ अक्टूबर, १९३५ ई०
३. हरिजन, १३ अक्टूबर, १९४० ई०
४. प्रेस-विज्ञप्ति, २१ सितम्बर, १९३२ ई०
५. हरिजन, ३ अक्टूबर, १९४० ई०
६. हरिजन, २१ अप्रैल, १९४६ ई०

(य) हड़ताल (Strike)—हड़ताल के विषय में पश्चिमी विचारधारा और गाँधीजी की विचारधारा में आकाश-पाताल का अन्तर है। पश्चिम में हड़ताल का उद्देश्य पूँजीपतियों को नष्ट कर उनके स्थान पर 'श्रमिकों के एकाधिकार' को स्थापित करना है। पर गाँधीजी के अनुसार उद्योग पूँजी और श्रम दोनों के संकलित प्रयास का परिणाम होता है। गाँधीजी ने श्रमिकों को सलाह दी थी कि वे उद्योगों को अपना समझें और तदनुसार अन्याय, शोषण व मालिकों के लालच के विरुद्ध आन्दोलन करें। श्रमिकों को विध्वंसक उपायों का सहारा लेकर उद्योगों को नष्ट करने का कोई अधिकार नहीं है। इससे मालिकों और मजदूरों दोनों की हानि होती है। श्रमिकों को हड़ताल द्वारा उद्योगों को हस्तगत और अपने नियन्त्रण में करने का प्रयत्न भी नहीं करना चाहिए। हड़ताल पूर्ण रूप से अहिंसक होना चाहिए। साथ ही साथ हड़तालियों की माँगें उचित, तर्क-सम्मत और न्यायपूर्ण होनी चाहिए। हड़ताल के बीच श्रमिकों की मूल-भूत आवश्यकताएँ पूर्ण होती रहें, इसके लिए उन्हें हस्त-कला में प्रवीण होना चाहिए, नहीं तो उनकी हड़ताल कभी भी सफल नहीं हो सकती।

गाँधीजी की सामाजिक विचारधारा

गाँधीजी पूर्ण अहिंसात्मक सिद्धान्तों पर आधारित आदर्श समाज का निर्माण करना चाहते थे। गाँधीजी मानव-समूह को भगवान् का ही विराट् रूप मानते थे। उन्हीं के शब्दों में—"यदि मैं जानता कि भगवान् मुझे हिमालय की गुफा में मिलेंगे, तो मैं तुरन्त वहीं चला जाता। पर मैं जानता हूँ कि मैं उन्हें मानव-समूह से पृथक नहीं पा सकता।" वे एक ऐसे आदर्श समाज का निर्माण करना चाहते थे जिसमें मानव और भगवान् का सम्बन्ध निकटतम हो, सरकार का हस्तक्षेप निम्नतम हो और आदर्श जीवन की अधिकतम प्राप्ति हो। अर्थात् उनका आदर्श समाज ऊँच-नीच, जाति-पाँति, साम्प्रदायिक भेद-भाव, वर्ग-संघर्ष तथा पारस्परिक प्रतियोगिता पर आधारित न होकर सत्य व अहिंसा पर आधारित होगा। ऐसे समाज में सब सबको आत्मीय समझेंगे, व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्ध सत्य व अहिंसा पर स्वचालित होंगे और उन पर किसी प्रकार के वाह्य नियन्त्रण की आवश्यकता नहीं होगी। गाँधीजी की कल्पना का आदर्श समाज एक अराजक (Anarchist) या राज्य-विहीन समाज है जिसमें सामाजिक सामञ्जस्य राजनीतिक हस्तक्षेप द्वारा नहीं, वरन् सत्य, अहिंसा और पारस्परिक सहयोग पर आधारित होगा।

गाँधीजी का आदर्श समाज 'रामराज्य' है, जिसका अर्थ है, "पूर्ण नैतिक अधिकारों और कर्त्तव्यों पर जनता का स्वत्व।" 'हिन्दू'[१] में प्रकाशित गाँधीजी के एक वक्तव्य में आदर्श 'रामराज्य' की झाँकी हमें प्राप्त होती है। "धार्मिक दृष्टिकोण से इसे पृथ्वी पर ईश्वर का राज्य कहा जा सकता है। राजनीतिक दृष्टिकोण से यह वह पूर्ण जनतंत्र है जिसमें सम्पत्ति, वर्ण, जाति, धर्म तथा स्त्री-पुरुष के भेद पर आधारित सभी असमानताओं का लोप हो चुका हो। इसके अन्तर्गत धरती तथा राज्य सभी कुछ जनता का होगा। न्याय त्वरित, पूर्ण तथा सस्ता होगा। देश में भजन, पूजन, व्याख्यान तथा समाचार-

१. हिन्दू, २२ जून, १९४५ ई०

पत्रों की स्वतन्त्रता होगी। ये सब नैतिक अनुशासन द्वारा आत्म-नियोजित (Self-imposed) नियम के नियन्त्रण के कारण सम्भव होगा। ऐसा राज्य निश्चित ही सत्य तथा अहिंसा पर आधारित होगा और निस्सन्देह समृद्ध, सुखी एवं स्वयंपूर्ण या आत्म-निर्भर (Self-contained) ग्रामों तथा ग्रामीण समुदायों का समूह होगा।"

रामराज्य में शराबखोरी या नशेबाजी का नाम तक न होगा, न कोई भूखा ही मरेगा। इसमें शासक-वर्ग प्रजा की शारीरिक, मानसिक, आर्थिक तथा आध्यात्मिक सभी आवश्यकताओं की पूर्ति करेगा। बिना किसी भेद-भाव या पक्षपात के सबको अपनी योग्यतानुसार विकास करने की स्वतन्त्रता तथा सुविधाएँ उपलब्ध होंगी। इसका आधार पशु-बल न होकर लोगों द्वारा प्रेम तथा स्वेच्छापूर्वक दिया गया सहयोग होगा। इसमें स्त्रियों तथा पुरुषों, सभी को समान अधिकार प्राप्त होंगे। मनुष्य अपनी पत्नी को छोड़कर अन्य सभी स्त्रियों का उनकी आयु के अनुसार माता, बहन या पुत्री के रूप में समादर करेगा। इसमें अस्पृश्यता न होगी तथा शारीरिक श्रम-सिद्धान्त का पालन करेंगे। राज्य का निम्नतम हस्तक्षेप होगा। अधिकार की अपेक्षा कर्त्तव्य-पालन पर सबकी दृष्टि होगी। वह प्रत्येक दृष्टि से पूर्ण राज्य होगा।

अब हम 'रामराज्य' की प्रमुख विशेषताओं का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करेंगे—

१. वर्ण-व्यवस्था—गाँधीजी के अनुसार हिन्दू सामाजिक संगठन का आधार वर्ण-व्यवस्था है। 'वर्ण' शब्द 'वरण' (Selection) शब्द से व्युत्पन्न है जिसका अर्थ है—मनुष्य के पेशे के चुनाव का पूर्ण-निर्धारण। वर्ण का नियम यह है कि एक व्यक्ति अपनी रोटी कमाने के लिए अपने पूर्वजों के पेशे को अपनायेगा। प्रत्येक बालक स्वभावतः अपने पिता के गुण को प्राप्त करता है और इस कारण उसे अपने पिता का पेशा चुनना चाहिए। इस प्रकार वर्ण वंशानुसंक्रमण का नियम है। जिस प्रकार वाह्य प्रकृति में न्यूटन का आकर्षण-सिद्धानत लागू होता है, उसी प्रकार अन्तःप्रकृति में वर्ण-नियम लागू होता है। यह एक सार्वभौम नियम है।

संसार में सभी व्यक्ति शारीरिक और मानसिक दृष्टि से समान नहीं होते। अतः प्रत्येक व्यक्ति को उसकी शारीरिक तथा मानसिक योग्यता के अनुसार कार्य सौंपा जाय, यही उचित है। वर्ण-व्यवस्था इसी का नाम है। पर इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि सामाजिक कार्यों में अच्छे-बुरे, ऊँच-नीच या छोटे-बड़े का कोई भेद है। सभी सामाजिक कार्य समान होते हैं, क्योंकि कोई भी दूसरों का कार्य नहीं कर सकता। न प्रोफेसर भंगी का कार्य कर सकता है और न भंगी प्रोफेसर का। फिर उनमें ऊँच-नीच का भेद कैसा? सामाजिक कार्य के आधार पर ऊँच-नीच की भावना अनुचित और अवैज्ञानिक है। जब तक कोई व्यक्ति अपना कार्य समाज की भलाई को दृष्टि में रखकर करता है, तब तक वह कभी भी छोटा या बुरा नहीं हो सकता। ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त में समाज की उपमा शरीर से और समाज के व्यक्तियों की उपमा शरीर के अंगों से दी गयी है। जिस प्रकार शरीर के विभिन्न अंगों और उनके कार्यों में विभिन्नता होते हुए भी वे शरीर के हित का साधन करते हैं, उसी प्रकार समाजरूपी शरीर के विभिन्न वर्णों और उनके कार्यों में

विविधता होते हुए भी वे समाज के सम्पूर्ण हित का साधन कर सकते हैं। विभिन्न वर्णों में परस्पर-सहयोग, परस्पर-पूरकता व परस्परावलम्बन होना चाहिए। समाज के विभिन्न वर्णों में संघर्ष का कोई कारण नहीं है।

वर्ण-व्यवस्था का उद्देश्य सम्पत्ति कमाना नहीं, वरन् सम्पूर्ण समाज का कल्याण करना है। गाँधीजी के अनुसार वर्ण-व्यवस्था का जाति-प्रथा से कोई सम्बन्ध नहीं है। जाति-प्रथा तो अस्पृश्यता की भाँति हिन्दूधर्म का एक बहुत बड़ा अभिशाप है। जाति-प्रथा अधिकारों पर अधिक पर कर्त्तव्यों पर कम बल देती है। इसके विपरीत, वर्ण अधिकारों पर कम पर कर्त्तव्यों पर विशेष बल देता है। प्रत्येक वर्ण समाज के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन कर अपना और साथ-साथ सम्पूर्ण समाज का हित कर सकता है। समाज की सेवा करने के लिए ही सभी वर्णों का जन्म हुआ है। यह सेवा-कार्य ब्राह्मण अपने ज्ञान से, क्षत्रिय अपनी रक्षा करने की शक्ति से, वैश्य अपनी व्यापार-वाणिज्य करने की योग्यता से और शूद्र अपने शारीरिक श्रम से करते हैं। इसमें ऊँच-नीच, उत्तम-अधम इत्यादि का कोई प्रश्न ही नहीं उत्पन्न होता। अपने स्थान पर प्रत्येक व्यक्ति उत्तम है और दूसरों के स्थान पर प्रत्येक व्यक्ति अधम है। अतः, या तो सभी व्यक्ति उत्तम हैं, या सभी अधम। गाँधीजी के अनुसार वर्णाश्रम का अर्थ है आत्मसंयम, स्थिरता, शक्ति की मितव्ययता इत्यादि।

यद्यपि, गाँधीजी के अनुसार वर्ण-व्यवस्था का जन्म से घनिष्ठ सम्बन्ध है, पर इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि कि एक ब्राह्मण को हम सदैव ब्राह्मण केवल इसलिए कहते रहें कि उसका जन्म ब्राह्मण-परिवार में हुआ है। गाँधीजी के शब्दों में—"वर्ण जन्म के द्वारा निर्धारित होता है, परन्तु उसे धारण करने के लिए उससे सम्बन्धित कर्त्तव्यों का पालन आवश्यक है। ब्राह्मण माँ-बाप से उत्पन्न व्यक्ति ब्राह्मण कहलायेगा, परन्तु यदि एक उचित आयु तक वह अपने चरित्र में ब्राह्मण गुणों का विकास नहीं कर पाता तो उसे ब्राह्मण नहीं कहा जा सकता। वह ब्राह्मणत्व के नीचे गिर जायगा। इसके विपरीत, एक व्यक्ति जो कि ब्राह्मण माँ-बाप से उत्पन्न नहीं हुआ है फिर भी अपने चरित्र में ब्राह्मण के गुणों को विकसित कर लेता है, ब्राह्मण है।"

उपर्युक्त विवेचन से वर्ण-व्यवस्था के निम्नलिखित अनिवार्य परिणाम निकलते हैं—

(अ) समस्त व्यवसाय, पेशे या उद्यम समान हैं। वर्ण-धर्म में ऊँच-नीच का बिलकुल ही स्थान नहीं है।

(ब) वंशानुगत उद्यम या पेशे का उद्देश्य धन का संचय करना नहीं, वरन् इसका मुख्य उद्देश्य अपनी आजीविका कमाना तथा समाज के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन करना है।

(स) यदि हम समाज में वर्ण-व्यवस्था को सफल बनाना चाहते हैं तो यह आवश्यक है कि विभिन्न पेशों की आय में अधिक-से-अधिक समानता होनी चाहिए। आय की असमानता के कारण लोगों का ध्येय आजीविका कमाना नहीं, वरन् धन का संचय करना हो गया।

आचार्य विनोबा भावे ने वर्ण-व्यवस्था की निम्न तीन विशेषताओं की ओर हमारा

ध्यान आकृष्ट किया है—(अ) सब काम के लिए समान वेतन, (ब) समस्त प्रकार की प्रतिस्पर्धा का विलोप तथा (स) एक ऐसी शिक्षा-पद्धति जिसमें लोगों की वंशानुगत शक्तियों का पूरा-पूरा लाभ उठाया जाता है।

२. स्वदेशी—गाँधीजी के आदर्श समाज की दूसरी विशेषता है—स्वदेशी भावना। गाँधीजी के शब्दों में—"स्वदेशी हमारे अन्दर की वह भावना है जो हमें दूर की वस्तुओं और सेवाओं को त्याग कर केवल निकटतम पास-पड़ोस की वस्तुओं और सेवाओं का उपयोग करने तक सीमित रखती है।" गाँधीजी के अनुसार हमें स्वदेशी-भावना का अनुशीलन धार्मिक, राजनीतिक एवं आर्थिक तीनों क्षेत्रों में करना चाहिए। तभी समाज का हम अधिकतम हित कर सकते हैं। इस प्रकार (अ) धर्म के क्षेत्र में हमें अपने पूर्वजों के धर्म तक ही सीमित रहना चाहिए। यदि हमें अपने धर्म में कोई दोष दिखाई पड़े तो उससे उन दोषों को निकालकर हमें अपने धर्म की सेवा करनी चाहिए। (ब) जहाँ तक राजनीति के क्षेत्र में स्वदेशी भावना का प्रश्न है, गाँधीजी शासन-प्रबन्ध के लिए भारत की स्वदेशी संस्थाओं जैसे ग्राम-पंचायतों को काम में लाने के पक्ष में थे। हमें इनके प्रमाणित दोषों का निराकरण करके उनकी सेवा करनी चाहिए। (स) आर्थिक क्षेत्र में "स्वदेशी का अर्थ है विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार तथा स्वदेश में बनी वस्तुओं का प्रयोग।" गाँधीजी कहा करते थे कि ऐसी ही वस्तुओं का निर्माण करो जिनमें निर्माण की सभी सामग्रियाँ पाँच मील के इर्द-गिर्द उपलब्ध हो सकें। (द) भाषा के क्षेत्र में स्वदेशी का अर्थ है—सभी विदेशी भाषाओं का बहिष्कार और सभी विषयों के अध्ययन के लिए मातृ-भाषा का अधिकाधिक प्रयोग।

३. व्यक्तिगत स्वतन्त्रता—व्यक्ति के व्यक्तित्व के स्वस्थ विकास के लिए व्यक्तिगत स्वतन्त्रता परमावश्यक है। इसीलिए गाँधीजी के अनुसार व्यक्तिगत स्वतन्त्रता आदर्श समाज का प्रमुख लक्षण है। पर व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अर्थ स्वेच्छाचारिता से नहीं है, जो समाज में अव्यवस्था व अराजकता को जन्म देती है। गाँधीजी ने स्पष्ट कहा है, "मैं व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को महत्त्व प्रदान करता हूँ, परन्तु आपको यह न भूलना चाहिए कि मनुष्य आवश्यक रूप में एक सामाजिक प्राणी है। वह अपनी वर्तमान स्थिति पर इस कारण पहुँचा है कि उसने सामाजिक प्रगति की आवश्यकताओं के साथ अपने व्यक्तिवाद का अनुकूलन करना सीखा है। अप्रतिबन्धित व्यक्तिवाद जंगल के पशुओं का नियम है। हमने व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा सामाजिक प्रतिबन्ध के बीच की एक स्थिति को ढूँढ़ निकालना सीखा है। सम्पूर्ण समाज के कल्याण के लिए सामाजिक प्रतिबन्धों को स्वेच्छा से स्वीकार कर लेने से समाज और व्यक्ति दोनों को ही लाभ होता है।" समाज को चाहिए कि व्यक्ति के विकास के लिए उत्तम वातावरण का निर्माण करे और व्यक्ति को चाहिए कि अपनी योग्यता का प्रयोग वह सामाजिक कल्याण के लिए करे। पर इसके लिए व्यक्तिगत स्वतन्त्रता परमावश्यक है।

४. सर्वोदय—गाँधीजी के आदर्श समाज का अन्तिम ध्येय 'सर्वोदय' समाज का निर्माण करना है। 'सर्वोदय' की कल्पना समाज की पूँजीवादी और साम्यवादी दोनों

कल्पनाओं से पृथक् कल्पना है। पूँजीवाद और साम्यवाद दोनों डार्विन के वर्ग-संघर्षवाद पर आधारित विचार हैं। पूँजीवाद श्रमिकों का शोषण कर पूँजीपतियों के हितों की रक्षा करता है। इसके विपरीत, साम्यवाद पूँजीपतियों को नष्ट कर श्रमिकों के हितों की रक्षा करने का दावा करता है। पर, गाँधीजी के अनुसार, ये दोनों एकांगी विचार हैं और दोनों जीवन के परस्परपूरकता-सिद्धान्त की अवहेलना करते हैं। गाँधीजी का आदर्श समाज वह है जिसमें पूँजीपतियों और श्रमिकों सबका (सर्व) हित-साधन (उदय) होता हो। आदर्श समाज में पूँजीपति और श्रमिक एक-दूसरे को नष्ट न कर परस्पर-सहयोग करने का प्रयत्न करेंगे। अपनी आत्म-कथा में सर्वोदय-सिद्धान्त का गाँधीजी ने इस प्रकार वर्णन किया है—

(अ) सबकी भलाई में हमारी भलाई निहित है।

(ब) वकील और नाई दोनों के काम की कीमत एक-सी होनी चाहिए, क्योंकि आजीविका का अधिकार सबको एक समान है।

(स) सादा मेहनत-मजदूरी का अर्थात् किसान का जीवन ही सच्चा जीवन है।

सर्वोदय की विचारधारा उन्नीसवीं शताब्दी के उपयोगितावादियों की 'अधिकतम संख्या के अधिकतम सुख' वाली विचारधारा से बिलकुल पृथक् विचारधारा है। श्री विनोबाजी के शब्दों में—"सर्वोदय कुछ का या बहुतों का या अधिकतम का उत्थान नहीं चाहता। हम अधिकतम के अधिकतम सुख से संतुष्ट नहीं हैं। हम तो केवल एक की और सबकी, ऊँचे और नीचे की, सबल और निर्बल की, बुद्धिमान् और बुद्धिहीन की भलाई से ही संतुष्ट हो सकते हैं। सर्वोदय शब्द एक उत्कृष्ट और सर्व-व्यापक भावना को अभिव्यक्त करता है।"

गाँधीजी की राजनीतिक विचारधारा

गाँधीजी पृथ्वी पर अहिंसात्मक राज्य की स्थापना करना चाहते थे, पर इस अहिंसात्मक राज्य का वास्तविक स्वरूप क्या होगा, इस पर उन्होंने स्पष्ट बात नहीं कही है। इसका कारण यह है कि पहले से ही इस बात का वर्णन करना असामयिक और अवैज्ञानिक होता। उन्होंने लिखा है, "मैंने जान-बूझ कर अहिंसा पर आधारित समाज के सरकार की रूपरेखा के विषय में लिखना उचित नहीं समझा। जब समाज अहिंसा के नियम के अनुसार स्वयं बन जायगा तो इसका रूप आज के समाज के रूप से पूर्णतया भिन्न होगा। परन्तु मैं इस बात को पहले से नहीं बतला सकता कि अहिंसा पर आधारित सरकार कैसी होगी।"[१] फिर भी राज्य और सरकार के विषय में गाँधीजी ने जो समय-समय पर विचार व्यक्त किये हैं उनके आधार पर आदर्श राज्य की निम्न विशेषताएँ होंगी—

१. दार्शनिक अराजकतावाद—गाँधीजी के राज्य-सम्बन्धी विचार पश्चिमी राजनीतिक विचारधारा के दार्शनिक अराजकतावाद (Philosophical Anarchism) से मिलते-जुलते हैं। वे राज्य का किसी भी रूप में खण्डन करते थे। वे कहते थे कि राज्य आज्ञा करता है और जो कोई आज्ञा दी जाती है वह अपने साथ व्यक्ति के कार्यों का

---

१. हरिजन, ११ फरवरी, १९३९ ई०

नैतिक मूल्य नहीं रख सकती। कोई भी कार्य तभी तक नैतिक है जब तक कि वह स्वेच्छापूर्ण है और "कोई भी कार्य जो स्वेच्छापूर्ण नहीं है, नैतिक नहीं कहा जा सकता.....। जब तक हम यन्त्रों की भाँति कार्य करते हैं, उस समय तक नैतिकता का कोई प्रश्न ही नहीं उत्पन्न होता। वही कार्य नैतिक है जो जान-बूझकर और कर्त्तव्य समझकर किया गया है।"[१] इसके साथ गाँधीजी का यह भी विचार था कि राज्य हिंसा का प्रतीक है। वे कहते हैं, "फिर भी राज्य का अधिकार हिंसा पर स्थित है। जहाँ कहीं हिंसा होती है वहाँ शोषण होगा, भले ही राज्य का कोई भी प्रजातान्त्रिक स्वरूप क्यों न हो। राज्य सामूहिक और संगठित रूप से हिंसा का प्रतिनिधित्व करता है। व्यक्ति के आत्मा होती है परन्तु राज्य का एक आत्मा-हीन यन्त्र है। यह हिंसा से जिसके द्वारा इसका जन्म हुआ है, कभी पृथक् नहीं हो सकता।"[२]

२. राज्य-विहीन प्रजातन्त्र—गाँधीजी राज्यविहीन प्रजातन्त्र में विश्वास करते थे। उनके अनुसार राज्य मनुष्य की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता में बाधक है और इसलिए वे राज्य को न्यूनतम शक्ति देने के पक्षपाती थे। "मैं राज्य की शक्तियों की वृद्धि को बड़ी आशंका की दृष्टि से देखता हूँ। ऊपर से तो जान पड़ता है कि राज्य की बढ़ती हुई शक्ति शोषण की रोक-थाम करके जनता की भलाई कर रही है, पर वास्तव में इससे मानव-जाति को बड़ी हानि पहुँचती है, क्योंकि इससे व्यक्ति का व्यक्तित्व जो सभी प्रकार की उन्नति का मूल है, नष्ट हो जाता है।" अतः, व्यक्ति के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास हो सके, इसके लिए आवश्यक है व्यक्ति का जीवन अधिक-से-अधिक राज्य के नियंत्रण से मुक्त हो।

यद्यपि राज्यविहीन प्रजातन्त्र (Stateless Dmocracy) गाँधीजी का आदर्श था, पर वे व्यवहार में स्वीकार करते थे कि वर्तमान परिस्थितियों में इस प्रकार के आदर्श अराजक राज्य की स्थापना सम्भव नहीं है। समाज के विघटनकारी तत्त्वों का सामना करने के लिए किसी-न-किसी रूप में राज्य की आवश्यकता रहेगी ही। उनके लिए राज्य एक आवश्यक बुराई (Necessary Evil) है। इस प्रकार गाँधीजी आदर्श में अराजकतवादी (Anarchist) पर व्यवहार में व्यक्तिवादी (Individualist) थे किन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि राजनीतिक शक्ति को साध्य (End) ही मान लिया जाय। "मेरी दृष्टि में राज्य-सत्ता कोई साध्य नहीं है, बल्कि मनुष्य जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उनके लिए अपनी हालत सुधारने का एक साधन है।" व्यवहार में राज्य की अनिवार्य आवश्यकता को स्वीकार करते हुए भी गाँधीजी अराजक राज्य को अपना आदर्श मानते थे। ऐसे लोगों को जो आदर्श अराजक राज्य की चरितार्थता में अविश्वास करते हैं, गाँधीजी ने उत्तर देते हुए लिखा है "मेरे विचार से ऐसा प्रश्न पूछने से कोई भी लाभ नहीं हो सकता। यदि हम ऐसे समाज के निर्माण के लिए प्रयत्न करते रहें, तो वह किसी सीमा तक क्रमशः बनता रहेगा और उस सीमा तक लोगों को उससे लाभ पहुँचेगा। यूक्लिड ने कहा है कि रेखा

---

१. एथिकल रेलिजन, पृ० ४०

२. मॉडर्न रिव्यू, अक्टूबर, १९४३, 'गाँधीजी के साथ एन०के० बोस का साक्षात्कार'

३. यंग इण्डिया, २ जुलाई, १९३१ ई०

वही हो सकती है, जिसमें चौड़ाई न हो, किन्तु ऐसी रेखा न तो कोई आज तक बना पाया है और न बना पायेगा। फिर भी आदर्श रेखा को ध्यान में रखने से ही प्रगति हो सकती है। जो बात रेखा के विषय में सत्य है, वही प्रत्येक आदर्श के विषय में भी सत्य है।''[१] अत: गाँधीजी राज्यविहीन प्रजातन्त्र में विश्वास करते थे।

३. विकेन्द्रीकरण—गाँधीजी के अनुसार आदर्श अहिंसात्मक राज्य में सत्ता या शक्ति का अधिकतम विकेन्द्रीकरण (Maximum Decentralisation) होना चाहिए। वे राजनीतिक और आर्थिक दोनों क्षेत्रों में विकेन्द्रीकरण के पक्षपाती थे। किसी भी रूप में शक्ति का केन्द्रीकरण अनुचित और गाँधीवादी विचारधारा के बिल्कुल विपरीत है। अहिंसात्मक समाज और शक्ति का केन्द्रीकरण दोनों साथ-साथ नहीं चल सकते, क्योंकि बिना बल-प्रयोग के केन्द्रीकरण को स्थिर नहीं रखा जा सकता। शक्ति का केन्द्रीकरण प्रजातन्त्र के आदर्शों के भी प्रतिकूल है, क्योंकि केन्द्रीकरण से व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का क्षेत्र संकुचित हो जाता है और देश में असमानता की वृद्धि होती है। जब तक राष्ट्रीय शक्ति का चाहे वह राजनीतिक हो या प्रशासकीय या आर्थिक, समान वितरण न होगा, तब तक स्व-राज्य की स्थापना असम्भव है।

४. ग्रामीण गणराज्य—गाँधीजी के ग्रामीण गणराज्य (Village Republic) की कल्पना उनके राजनीतिक विकेन्द्रीकरण का ही अनिवार्य परिणाम है। उनके अनुसार शासन, उत्पादन व वितरण सभी की मूल इकाई गाँव होनी चाहिए। गाँधीजी के आदर्श राज्य की कल्पना के अनुसार प्रत्येक गाँव एक गणराज्य होगा और राष्ट्रीय सरकार इन्हीं ग्रामीण गणराज्यों के ठोस आधार पर आधारित होगी। वह एक ऐसा वृत्त होगा जिसका केन्द्र व्यक्ति होगा। वास्तव में देखा जाय तो गाँधीजी द्वारा प्रतिपादित राज्य स्वावलम्बी व्यक्तियों और गाँवों का संघ है। ग्रामीण गणराज्य की रूपरेखा गाँधीजी ने निम्न प्रकार से प्रस्तुत की है—

''स्वतन्त्रता नीचे से प्रारम्भ होनी चाहिए। प्रत्येक गाँव एक गणराज्य अथवा पंचायतराज्य होगा। उसके पास पूरी सत्ता और शक्ति होगी। इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक गाँव को आत्मनिर्भर होना होगा—अपनी आवश्यकताएँ स्वयं पूरी कर लेनी होंगी ताकि वह अपना सारा प्रबन्ध स्वयं चला सके; यहाँ तक कि वह सम्पूर्ण संसार के विरुद्ध अपनी रक्षा स्वयं कर सके।......इस प्रकार अन्तत: हमारी बुनियाद व्यक्ति पर होगी। इसका यह अर्थ नहीं कि पड़ोसियों या दुनिया पर भरोसा न रखा जाय या उनकी स्वेच्छा और खुशी से दी हुई सहायता न ली जाय। सारांश केवल यह है कि सब स्वतन्त्र होंगे और सब एक दूसरे पर अपना प्रभाव डाल सकेंगे। जिस समाज का प्रत्येक व्यक्ति यह जानता है कि उसे क्या करना चाहिए और इससे भी बढ़कर यह जानता है कि किसी भी व्यक्ति को ऐसी वस्तु की कामना नहीं करनी चाहिए जिसे कि दूसरे लोग समान श्रम करके प्राप्त न कर सकें, वह समाज अवश्य ही बहुत ऊँचे स्तर की सभ्यता वाला होगा।''

---

१. हरिजन सेवक, १५ सितम्बर, १९४६ ई०

"ऐसे समाज की रचना स्वभावतः सत्य और अहिंसा पर ही हो सकती है। मेरा विचार है कि जब तक ईश्वर पर जीता-जागता विश्वास न हो, तब तक सत्य और अहिंसा पर चलना असम्भव है। ईश्वर वह जीवित शक्ति है जिसमें संसार की समस्त शक्तियाँ समा जाती हैं। वह किसी का सहारा नहीं लेती है और संसार की दूसरी सब शक्तियों के समाप्त हो जाने पर भी स्थिर रहती है। इस जीते-जागते प्रकाश पर जिसने अपने दामन में सब कुछ लपेट रखा है, मैं विश्वास न रखूँ तो मैं समझ न सकूँगा कि मैं किस तरह जीवित हूँ।"

"ऐसा समाज अगणित गाँवों का बना होगा।......वहाँ तो समुद्र की लहरों की भाँति जीवन एक के बाद एक घेरे या वृत्त की भाँति होगा और व्यक्ति उसका मध्यबिन्दु होगा। वह व्यक्ति सदा अपने गाँव के लिए मर-मिटने को तैयार होगा। गाँव अपने आस-पास के गाँवों के लिए मर-मिटने को तैयार रहेगा। इस प्रकार अन्ततः सारा समाज ऐसे लोगों का बन जायगा, जो उद्धत बन कर कभी किसी पर आक्रमण नहीं करते, वल्कि सदैव नम्र रहते हैं और अपने में समुद्र की उस शान को अनुभव करते हैं, जिसके वे अभिन्न अंग हैं।"

"इस प्रकार सबसे बाहर का घेरा अपनी शक्ति का उपयोग भीतर वालों को कुचलने में नहीं करेगा, बल्कि उन सबको शक्ति देगा और उनसे शक्ति पायेगा

इसमें प्रत्येक धर्म का अपना पूर्ण तथा समान स्थान होगा। हम सब एक ही विशाल पेड़ के पत्ते हैं। इस वृक्ष की जड़ हिलायी नहीं जा सकती, क्योंकि वह पाताल तक पहुँची है। जबरदस्त से जबरदस्त आँधी भी उसे हिला नहीं सकती।

"इसमें उन मशीनों के लिए कोई जगह न होगी जो मनुष्य के परिश्रम का स्थान लेकर चन्द लोगों के हाथों में सारी सत्ता एकत्रित कर देती हैं। सभ्य और संस्कारी मानवों की दुनिया में परिश्रम का अपना अद्भुत स्थान है। उसमें ऐसी मशीनों की गुंजाइश होगी जो प्रत्येक व्यक्ति को उसके काम में मदद पहुँचाये।"[१]

इसी प्रकार एक अन्य स्थान पर गाँधीजी ने स्वावलम्बी व्यक्तियों के ग्रामीण गणराज्य की ओर अधिक स्पष्ट रूपरेखा प्रस्तुत की है जो निम्न प्रकार है—

"मेरा ग्राम-स्वराज्य का आदर्श यह है कि प्रत्येक गाँव एक पूर्ण गणराज्य हो।...प्रत्येक गाँव का प्रथम कार्य होगा—खाने के लिए अन्न और कपड़ों के लिए रुई की फसलों को उत्पन्न करना। पशुओं के लिए वहाँ चरागाह होने चाहिए और लोगों के खेल-कूद व मनोरंजन के लिए खेल के मैदान। यदि और भूमि हो तो रुपया कमाने वाली लाभप्रद फसलें उत्पन्न की जायँ, परन्तु उनमें गाँजा, अफीम, तम्बाकू आदि सम्मिलित न होनी चाहिए। स्वच्छ जल के लिए जलाशयों का प्रबन्ध भी आवश्यक है, चाहे वे सुरक्षित कूप हों या तालाब। बुनियादी (Basic) शिक्षा अन्तिम कक्षा तक अनिवार्य होगी। यथासम्भव प्रत्येक कार्य सहकारिता के आधार पर किया जायगा। आजकल की-सी

१. हरिजन, २८ जुलाई १९४६ ई०

अस्पृश्यतामूलक जाति-पाँति न होगी। दण्ड के स्थान पर ग्राम-समाज अहिंसा-मूलक सत्याग्रह व असहयोग से काम लेगा। ग्राम-रक्षकों का एक दल होगा जो ग्राम-निवासियों में से ही बारी-बारी चुना जायगा। ग्राम का शासन पाँच व्यक्तियों की पंचायत द्वारा संचालित होगा। इन पंचों में निर्धारित निम्नतम योग्यता होनी आवश्यक होगी और इनका चुनाव प्रतिवर्ष गाँव के सभी वयस्क स्त्री-पुरुषों द्वारा होगा। आजकल की तरह दण्ड-व्यवस्था होगी ही नहीं और पंचायत ही गाँव की व्यवस्थापिता सभा, कार्यकारिणी सरकार व न्यायपालिका सब कुछ होगी।

"यदि मेरा स्वप्न पूरा हो जाय तो भारत के सात लाख गाँवों में से प्रत्येक गाँव में समृद्ध प्रजातन्त्र बन जायगा। उस प्रजातन्त्र का कोई व्यक्ति अनपढ़ न रहेगा, काम के अभाव में कोई बेकार न रहेगा, बल्कि किसी-न-किसी कमाऊ धन्धे में लगा रहेगा। प्रत्येक व्यक्ति को खाने के लिए पौष्टिक वस्तुएँ, रहने को स्वच्छ हवादार मकान और तन ढकने को पर्याप्त खादी मिलेगी और प्रत्येक ग्रामवासी को सफाई और आरोग्य के नियम मालूम होंगे और वह उनका पालन किया करेगा।"[१]

यही गाँधीजी के ग्रामीण गणराज्य की कल्पना है। कुछ लोग इसे अव्यावहारिक भले ही मान लें, पर इसे आदर्श मानकर चलने में कोई हानि नहीं है। आदर्श जितना ही उच्च कोटि का होगा, हमारे व्यवहार में उतनी ही उत्कृष्टता विद्यमान होगी।

गाँधीजी की आर्थिक विचारधारा

१. मनुष्य केन्द्र है—गाँधीजी आधुनिक युग की जटिल आर्थिक व्यवस्था को मानव-कल्याण की दृष्टि से अनुपयोगी समझते थे। वे मशीनों की सहायता से चलने वाले विशालकाय उद्योगों वाली अर्थ-व्यवस्था के स्थान पर कुटीर उद्योगों पर आधारित अपेक्षाकृत सरल अर्थ-व्यवस्था के पक्षपाती थे। पर इसका यह अर्थ नहीं है कि गाँधीजी मशीनों के विरोधी थे। वे मशीनों के विरोधी न होकर मशीनयुग के विरोधी थे। उनका विश्वास था कि मशीन उसी समय तक अच्छी है जब तक कि वह मनुष्य की सेवा करती है। किन्तु ज्यों ही वह मनुष्य का स्थानापन्न हो जाती है, वह अच्छी नहीं रह जाती। मशीन को स्वामिनी न होकर मनुष्य की सेविका होनी चाहिए। जहाँ तक जन-शक्ति और मशीन-शक्ति का सम्बन्ध है, वे चाहते थे कि बड़े पैमाने पर मशीनों का उपयोग किये जाने के पहले भारत की महान् जन-शक्ति और पशु-शक्ति का उपयोग कर लिया जाय। अतः, गाँधीजी मनुष्य और मशीन में मनुष्य को ही वरीयता प्रदान करते थे।

२. शरीर-श्रम—गाँधीजी का मत था कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आजीविका के लिए कुछ-न-कुछ शारीरिक श्रम अवश्य करना चाहिए। गाँधीजी इस प्रकार के श्रम को 'रोटी का श्रम' (Bread Labour) की संज्ञा देते थे और कहते थे कि बिना रोटी के

---

१. हरिजन, २६ जुलाई, १९४२ ई०

लिए श्रम किये जो लोग अपना पेट भरते हैं वे समाज के चोर हैं।[१] उन्हीं के शब्दों में "रोटी के लिए प्रत्येक मनुष्य को मजदूरी करनी चाहिए, शरीर को झुकाना चाहिए, यह ईश्वर का कानून है। यह मूल खोज टॉल्सटॉय की नहीं है, बल्कि उनसे कम प्रसिद्ध लेखक टी०एम० बोन्दरेव्ह की है। टॉल्सटॉय ने उसे रोशन किया और अपनाया। इसकी झाँकी मेरी आँखें भगवद्गीता के तीसरे अध्याय में करती हैं। यज्ञ किये बिना जो खाता है वह चोरी का अन्न खाता है, ऐसा कठिन शाप यज्ञ न करने वाले को गीता में दिया गया है। यहाँ यज्ञ का अर्थ शरीर के परिश्रम या रोटी के लिए मजदूरी ही सम्भव है और मेरी राय में यही बात ठीक प्रतीत होती है।"[२]

अब प्रश्न यह है कि क्या बौद्धिक श्रम व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन में अनावश्यक है? ऐसी बात नहीं है। गाँधीजी ने जीवन में बौद्धिक श्रम की अवमानना नहीं की है। उनका कहना केवल इतना ही है कि बौद्धिक श्रम और शारीरिक श्रम के क्षेत्र पृथक्-पृथक् हैं—बौद्धिक श्रम आत्मा और मन की क्षुधा को शान्त करता है और शारीरिक श्रम शरीर की भूख को तृप्त करता है। वे एक-दूसरे के स्थानापन्न कभी नहीं हो सकते। गाँधीजी के शब्दों में—"मैं बौद्धिक श्रम के मूल्य की अवगणना नहीं करता हूँ, लेकिन बौद्धिक श्रम कितनी ही मात्रा में क्यों न किया जाय, उससे शरीर-श्रम की थोड़ी भी क्षति-पूर्ति नहीं होती, जो कि हममें से प्रत्येक की भलाई के लिए करने को पैदा हुआ है।" गाँधीजी का विचार था कि हमें शारीरिक श्रम की कमाई खानी चाहिए, बौद्धिक श्रम की नहीं। वे कहते हैं, "शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति शारीरिक श्रम से ही होनी चाहिए। केवल मस्तिष्क का श्रम तो आत्मा के प्रीत्यर्थ है और वह स्वतः संतोष रूप है। उसमें पारिश्रमिक मिलने की इच्छा नहीं करनी चाहिए। उस आदर्श व्यवस्था में डॉक्टर, वकील आदि पूर्णतः समाज के हित के लिए ही काम करेंगे, अपने लिए नहीं।"

शरीर-श्रम में विश्वास के कारण ही गाँधीजी भिक्षा की माँग और भिक्षा-दान दोनों को देश-हित के प्रतिकूल बात कहते थे। भिखमंगे बनने की अपेक्षा भूखों मर जाना वे अधिक श्रेयस्कर समझते थे। पर यह बात स्वस्थ मनुष्यों पर ही लागू होती है, अपाहिजों पर नहीं। इसके साथ-साथ गाँधीजी का यह भी विश्वास था कि "यदि शरीर-श्रम के इस निरपवाद कानून को सब मानें तो ऊँच-नीच का भेद मिट जाय।" यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने पसीने की कमाई पर रहे तो दुनिया स्वर्ग के रूप में परिणत हो जाय।

३. उत्पादन-ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था—उत्पादन-प्रणाली हमारी नैतिक, राजनीतिक एवं सामाजिक संस्थाओं को जन्म देती है। जैसा पहले ही कहा गया है कि गाँधीजी के सम्पूर्ण जीवन-दर्शन का केन्द्र 'मनुष्य' है, अतः हमें ऐसी कोई उत्पादन या वितरण-प्रणाली नहीं अपनानी चाहिए जिसमें साधारण मनुष्य की हानि होती है। उनकी राय में ऐसी आर्थिक व्यवस्था निन्दनीय है जो जनता का शोषण करके कुछ थोड़े-से

---

१. इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः॥ —गीता ३/१२

२. मंगल-प्रभात, १९५९, पृ० ४१-४४

लोगों के हाथों में सम्पत्ति केन्द्रित करती है। इसलिए वे पूँजीवादी उत्पादन-प्रणाली का विरोध करते थे, क्योंकि उसमें वस्तुओं के उत्पादन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए नहीं, वरन् लाभार्जन के लिए किया जाता है जो अमानवीय है। गाँधीजी का विचार था कि बड़े पैमाने पर उत्पादन (Over-Production) की प्रणाली द्वारा ही संसार में व्यक्ति का व्यक्ति द्वारा व राष्ट्र का अन्य राष्ट्र द्वारा शोषण सम्भव होता है। आधुनिक यान्त्रिकीकरण का यह सबसे बड़ा अभिशाप है कि इसमें हम उत्पादन को उपभोग के साथ संयुक्त न कर उत्पादन को ही साध्य मान बैठते हैं। भारत जैसे अधिक जनसंख्या वाले देश के लिए तो वे इसे अत्यन्त हानिकर मानते थे। अत: गाँधीजी का कहना था कि उत्पादन का **विकेन्द्रीकरण** होना चाहिए और जहाँ तक सम्भव हो, उत्पादन मनुष्यों के हस्तकौशल व पशुओं के श्रम द्वारा संचालित कुटीर उद्योगों के माध्यम से होना चाहिए। वे चरखे द्वारा सूत की कताई व खद्दर की बुनाई को मुख्य कुटीर उद्योग समझते थे। इसके दो लाभ हैं— प्रथम तो मनुष्य की वस्त्र सम्बन्धी एक मुख्य आवश्यकता की पूर्ति होती है और दूसरे इससे करोड़ों लोग अपनी जीविका चला सकते हैं। इसके अतिरिक्त आटे की पिसाई, चावल कूटना, गुड़ बनाना, मधुमक्खियों को पालना, तेल पेरना, रस्सी बँटना, टोकरियाँ बनाना, खिलौने व मिट्टी के बर्तन व ईट बनाना इत्यादि ऐसे अनेक कुटीर उद्योग हैं जिन्हें मशीनों के आविष्कार के कारण लोग छोड़ते चले जा रहे हैं। इन्हें प्रोत्साहित करके लोगों में आत्म-निर्भरता उत्पन्न की जा सकती है और साथ-साथ उत्पादन और बेकारी दोनों की समस्या भी सुलझायी जा सकती है। इस प्रकार ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था (Village Economy) द्वारा गाँधीजी देश की आर्थिक समस्याओं का समाधान चाहते थे।

उपर्युक्त कथन का यह अर्थ कदापि न निकालना चाहिए कि गाँधीजी मशीनों और मशीनों के द्वारा संचालित बड़े-बड़े उद्योगों के पूर्णत: विरुद्ध थे। कुछ अवस्थाओं में वे मशीनों के प्रयोग को आवश्यक समझते थे। पर वे ऐसी मशीनों के प्रयोग को नहीं चाहते थे जो या तो विनाशकारी हो या श्रमिकों के शोषण को प्रोत्साहित करने वाली हो। उदाहरण के लिए तोप, बन्दूक, मशीनगन व बम विनाशकारी होने के कारण सर्वथा त्याज्य हैं। इसी प्रकार बड़े-बड़े कारखानों में प्रयुक्त होने वाली वे मशीनें जो श्रमिकों का शोषण करने में पूँजीपतियों की सहायता करती है, सर्वथा त्याज्य हैं। पर रेल, जहाज, सिलाई, मशीन, हल, चरखा, फावड़ा इत्यादि मशीनों का प्रयोग अवश्य होना चाहिए, क्योंकि वे मनुष्य की आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन में सहायक होती हैं। **मशीनों को मनुष्य की सहायिका होनी चाहिए, शोषिका नहीं।** गाँधीजी का विचार था कि यदि बड़े उद्योगों और कारखानों का खोलना आवश्यक ही हो तो उन्हें निजी क्षेत्र (Private Sector) में न होकर सार्वजनिक क्षेत्र (Public Sector) में होना चाहिए जिससे कि उनके द्वारा लाभ के लिए उत्पादन व शोषण न होने पाये। **मशीनों और भारी उद्योगों के विषय में गाँधीजी का सिद्धान्त यह था कि उन्हें कुटीर और लघु उद्योगों का पूरक होना चाहिए, उनका स्थानापन्न नहीं।** भारत में वे पूँजी-प्रधान (Capital-intensive) उद्योगों के स्थान पर श्रम-प्रधान (Labour-intensive) उद्योगों को स्थापित करना चाहते

थे, जिससे कि समाज में कोई बेकार न रह जाय। "यान्त्रिक शक्ति से चलने वाली मशीनों का व्यवहार करके लाखों लोगों को बेकार कर देना मेरी दृष्टि में अपराध है।"

४. उपभोग—आधुनिक युग में भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही सारे श्रम किये जाते हैं। आजकल सभी लोग जीवन-स्तर (Standard of Living) की वृद्धि में व्यस्त हैं। जिसकी जितनी ही अधिक आवश्यकताएँ और उन आवश्यकताओं को संतुष्ट करने की क्षमता विद्यमान है, वह उतना ही सभ्य समझा जाता है। पर गाँधीजी, गीता और बाइबिल के शब्दों में ऐसे लोग मनुष्य नहीं, वरन् राक्षस (Demon) हैं। वे भोग और काम को ही जीवन के परम पुरुषार्थ मानते हैं और इनको तुष्ट करने के लिए अधिक-से-अधिक धन का अर्जन करना चाहते हैं। यह **भोगवादी प्रवृत्ति** है। पर इससे मनुष्य को शान्ति कदापि नहीं प्राप्त हो सकती। हम अपनी इच्छाओं की जितनी ही तुष्टि करते हैं, वे बढ़ती ही चली जाती हैं।[1] अतः मनुष्य का लक्ष्य इच्छाओं की तृप्ति नहीं, वरन् उनका संयम होना चाहिए। इसे गाँधीजी **सीमा-सिद्धान्त** (The Doctrine of Limits) कहते थे। एक स्थल पर उन्होंने लिखा है, "मनुष्य को शरीर भोग-प्राप्ति के लिए नहीं, वरन् सेवा के लिए मिला है। त्याग ही सुखी जीवन का रहस्य है। त्याग ही जीवन है, भोग ही मृत्यु है।"[2] इसी कारण गाँधीजी आवश्यकताओं की वृद्धि में नहीं, वरन् उनके परिसीमन में विश्वास करते थे। मनुष्य की वास्तविक समृद्धि सभ्यता के विकास से नहीं वरन् संस्कृति की समुन्नति से होती है। अतः उपभोग के क्षेत्र में गाँधीजी **संयमवादी** थे।

५. वितरण—वितरण के विषय में गाँधीजी का विचार था कि प्रत्येक व्यक्ति को केवल उतनी ही वस्तुओं का संचय और संग्रह करना चाहिए जितनी कि उन्हें तात्कालिक आवश्यकता है। उनके अनुसार स्वयं प्रकृति उतना ही उत्पादन करती है जितना किसी समय सृष्टि के लिए आवश्यक है। यदि प्रत्येक व्यक्ति केवल अपनी आवश्यकतानुसार ही ले और अनावश्यक संग्रह न करे तो संसार में अभावग्रस्तता की स्थिति उत्पन्न ही न हो। इसी कारण गाँधीजी **अस्तेय** और **अपरिग्रह** की भावना पर विशेष बल देते थे। आवश्यकता से अधिक धन-संग्रह करने से धनी व्यक्ति और समाज दोनों का अहित होता है—धनी का तो नैतिक पतन होता है और समाज में आर्थिक विषमता की वृद्धि होती है। अतः गाँधीजी का आदर्श था कि समाज में सम्पत्ति का समान वितरण होना चाहिए। समान वितरण का यह अर्थ नहीं है कि सबको सम्पत्ति समान मिलनी चाहिए, इसका अर्थ केवल इतना ही है कि समाज में धन का न्याय्य वितरण (Equitable Distribution) होना चाहिए जिससे कि समाज से विषमता, वर्ग-विद्वेष, वर्ग-संघर्ष और क्षोभ को दूर किया जा सके।

६. प्रन्यास का सिद्धान्त (Doctrine of Trusteeship)—समाज से विषमता को दूर करने का एक साम्यवादी तरीका होता है जिसे हिंसात्मक क्रान्ति कहते हैं। पर

---

१. न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्तमेव भूय एवाभिवर्धते॥ —महाभारत, आदिपर्व, ७२, ४९

२. हरिजन, २४ फरवरी, १९४६ ई०

गाँधीजी समाज की विषमताओं को अहिंसा और प्रेम द्वारा दूर करना चाहते थे। वे वर्ग-संघर्ष की अनिवार्यता में विश्वास न कर उनके परस्पर-सहयोग में विश्वास करते थे। वे पूँजीपतियों और श्रमिकों की परस्पर-निर्भरता और परस्पर-पूरकता में विश्वास करते थे। पूँजीपति और श्रमिक दोनों समाज के लाभदायक प्राणी हैं और समाज को दोनों से लाभ पहुँच सकता है। पूँजीपति न तो श्रमिक के कार्य कर सकता है और न श्रमिक पूँजीपति का। अत: दोनों को एक-दूसरे का स्थानापन्न न बनकर दोनों को परस्पर-सहयोग करना चाहिए। गाँधीजी पूँजीपतियों को नष्ट करने के विरोधी थे। उनका कथन यह है कि "अहिंसक मार्ग यह है कि अपनी उचित आवश्यकताएँ पूरी करने के बाद जो पैसा शेष बचे उसका धनी प्रजा की ओर से संरक्षक (Trüstee) बन जाय। अगर वह प्रामाणिकता से संरक्षक बनेगा, तो जो पैसा पैदा करेगा उसका सद्व्यय भी होगा। जब मनुष्य अपने-आपको समाज का सेवक मानेगा, समाज के लिए धन कमायेगा और समाज के कल्याण के लिए उसे खर्च करेगा, तब उसकी कमाई में शुद्धता आयेगी। उसके साहस में भी अहिंसा होगी। यदि इस प्रकार की कार्य-प्रणाली का आयोजन किया जाय, तो समाज में बिना संघर्ष के मूक क्रान्ति पैदा हो सकती है।" अर्थात् यदि समाज का प्रत्येक व्यक्ति अपनी शक्ति और सामर्थ्य का उपयोग व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए नहीं, वरन् सबके कल्याण के लिए करे तो स्वामित्व का झगड़ा ही समाप्त किया जा सकता है। गाँधीजी के अनुसार महत्त्वपूर्ण बात यह नहीं है कि सम्पत्ति का स्वामित्व किसके पास है, वरन् महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उस सम्पत्ति को हम किस प्रकार खर्च करते हैं।

गाँधीजी प्रकृति के विरुद्ध जाने के पक्षपाती नहीं हैं। वे ऐसे समाज का निर्माण नहीं करना चाहते थे जिसमें सबकी सम्पत्ति समान कर दी जाय। यह न तो सम्भव है और न वांछनीय ही। वे योग्यता की अवमानना नहीं करना चाहते थे। वे ऐसी जड़ समानता का निर्माण नहीं करना चाहते थे जिसमें कोई आदमी अपनी योग्यताओं का पूरा-पूरा उपयोग कर ही न पायें। ऐसा समाज अन्त में नष्ट हुए बिना नहीं रह सकता। "इस लिए मेरी सलाह बिलकुल सही है कि धनवान् लोग चाहे करोड़ों रुपये कमाएँ, लेकिन उनका उद्देश्य सारा पैसा सबके कल्याण में समर्पित कर देने का होना चाहिए।" गाँधीजी अहिंसात्मक उपायों से सर्वोदय (सबका हित) समाज का निर्माण करना चाहते थे जिसमें पूँजीपतियों और श्रमिकों दोनों का हित हो। वे कहते थे—"अहिंसात्मक उपाय के द्वारा न तो हम पूँजीपति को नष्ट करना चाहते हैं और न ही पूँजीवाद को। हम पूँजीपति को निमन्त्रण देते हैं कि वह अपने को उन लोगों का संरक्षक माने जिनके परिश्रम पर वह अपनी पूँजी को बनाने, कायम रखने तथा उसे बढ़ाने के लिए आश्रित है।"

गाँधीजी उत्तराधिकार रूप में प्राप्त सम्पत्ति को भी प्रन्यास के सिद्धान्त द्वारा समाधान करना चाहते थे। वे नहीं चाहते थे कि राज्य हिंसा के द्वारा पूँजीवाद को समाप्त करने का प्रयत्न करे। उन्होंने लिखा है, "मेरा दृढ़ विश्वास है कि यदि राज्य ने पूँजीवाद को हिंसा के द्वारा दबाने की कोशिश की तो वह स्वयं ही हिंसा के जाल में फँस जायगा और फिर कभी भी अहिंसा का विकास नहीं कर सकेगा। इसीलिए मैं संरक्षता के सिद्धान्त

का सुझाव देता हूँ।" किन्तु यदि पूँजीपति जनता का संरक्षक बनने को तैयार न हों तो क्या करना चाहिए? इसके उत्तर में गाँधीजी ने लिखा है, "इस प्रश्न का उत्तर ढूँढ़ने में ही मुझे अहिंसक असहयोग और सविनय अवज्ञा के सिद्धान्त प्राप्त हुए। कोई भी धनवान गरीबों के सहयोग के बिना धन नहीं कमा सकता।" अतः, यदि गरीब धनिकों के विरुद्ध असहयोग आन्दोलन चलाएँ तो वाध्य होकर धनिकों को उनका संरक्षक बनना पड़ेगा। किन्तु यदि असहयोग आन्दोलन के परिणामस्वरूप भी पूँजीपति अपनी पूँजी को समाज के कल्याण के लिए खर्च नहीं करना चाहता तो "हमें राज्य के द्वारा भरसक कम हिंसा का आश्रय लेकर उनसे उनकी सम्पत्ति ले लेनी पड़ेगी।" यह अतिवादी उपाय एक अन्तिम शस्त्र के रूप में ही प्रयोग करना चाहिए, क्योंकि साधारण परिस्थितियों में सम्पत्ति के ऊपर राज्य के नियन्त्रण को गाँधीजी अच्छा नहीं समझते थे। उनके विचार में "राज्य की हिंसा की तुलना में वैयक्तिक स्वामित्व या पूँजीपतियों की हिंसा कम हानिकारक है। किन्तु यदि राज्य का स्वामित्व अनिवार्य ही हो तो मैं भरसक राज्य की कम-से-कम मालिकी की सिफारिश करूँगा।"

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि सम्पत्ति को सार्वजनिक कल्याण के लिए खर्च करने का अभिप्राय क्या है? इस बात को स्पष्ट करते हुए गाँधीजी ने लिखा है कि सम्पत्ति को सबके हित में खर्च करने का यह अर्थ नहीं है कि वह उस सम्पत्ति को गरीबों में बाँट देगा। वैसा करने से वे खा-पीकर उसे शीघ्र ही बराबर कर देंगे। वह उसे ऐसे उद्योगों और व्यवसायों में लगायेगा जिससे सर्वसाधारण को कार्य मिल सके। ग्रीन की भाँति गाँधीजी भी पूँजी के सामाजिक उपयोग में विश्वास करते थे। पूँजीपति अपनी सम्पत्ति का सदुपयोग जलाशय बनवाने, विद्यालय स्थापित करने इत्यादि सामाजिक कार्यों में कर सकता है। इस प्रकार गाँधीवाद पूँजीवाद और साम्यवाद की बुराइयों को दूरकर उनके गुणों में समन्वय स्थापित करने का प्रयास करता है।

७. गाँधीवाद का समाजवाद—गाँधीजी को १९०४ में ही रस्किन के विचारों में समाजवाद की झलक मिली थी। उन्होंने लिखा है, "एक वकील के कार्य का वही मूल्य है जो एक नाई के कार्य का, क्योंकि दोनों को अपने कार्यों से अपनी आजीविका उपार्जित करने का समान अधिकार प्राप्त है।"[१] गाँधीजी समाजवादी तो थे, पर उनका समाजवाद स्वदेशी था; वह मार्क्स और एञ्जिल्स से सीखा हुआ समाजवाद नहीं था। उनका समाजवाद उनकी अहिंसा का परिणाम है। जो अहिंसावादी होगा वह सामाजिक अन्याय में कभी भी विश्वास नहीं कर सकता।[२] यही वास्तविक समाजवाद है। पूँजीपतियों द्वारा पूँजी के दुरुपयोग के साथ ही समाजवाद प्रारम्भ नहीं होता; भारतीय समाजवाद ईशोपनिषद[३] के प्रथम श्लोक से ही हमें प्राप्त होने लगता है। गाँधीजी के अनुसार "सच्चा

---

१. माई एक्सपेरिमेण्ट्स, पृ० ३

२. हरिजन, २० अप्रैल, १९४० ई०

३. ॐ ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्चित् जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्यचित् धनम्॥

समाजवाद तो हमें अपने पूर्वजों से प्राप्त हुआ है जो हमें यह सिखा गये हैं—'सब भूमि गोपाल की है', इसमें कहीं मेरी और तेरी की सीमाएँ नहीं है। ये सीमाएँ मनुष्य द्वारा निर्मित हैं और इसीलिए वे उन्हें तोड़ भी सकते हैं।''[१]

मार्क्स एवं पश्चिमी विचारधारा के अनुसार समाजवाद का अर्थ होता है देश की सारी सम्पत्ति पर राज्य का स्वामित्व (State Capitalism), पर गाँधीजी सम्पत्ति के केन्द्रीकरण (Centralisation) को समाज का अभिशाप मानते थे। सम्पत्ति चाहे व्यक्ति में और चाहे राज्य में केन्द्रित हो, दोनों बुराइयों को उत्पन्न करती है। वे सम्पत्ति के केन्द्रीकरण में नहीं, वरन् उसके विकेन्द्रीकरण में विश्वास करते थे। हरिजन में समाजवाद की व्याख्या करते हुए गाँधीजी ने लिखा है, ''समाजवाद एक सुन्दर शब्द है और जहाँ तक मुझे मालूम है, समाजवाद में समाज के सब सदस्य बराबर होते हैं—न कोई नीचा होता है और न कोई ऊँचा। किसी व्यक्ति के शरीर में सिर सबसे ऊपर होने के कारण ऊँचा नहीं होता है और न पैर के तलवे जमीन को छूने के कारण नीचे होते हैं। जैसे व्यक्ति के शरीर के सब अंग बराबर होते हैं, वैसे ही समाज रूपी शरीर के सारे अंग भी बराबर होते हैं, यही समाजवाद है।''

''उसमें राजा और प्रजा, अमीर और गरीब, मालिक और मजदूर सब एक स्तर पर होते हैं। धर्म की भाषा में कहें तो समाजवाद में द्वैत या भेदभाव नहीं होता। सर्वत्र एकता, अद्वैत का प्रभुत्व होता है। आज संसार भर के समाज को देखें तो द्वैत और अनेकता के सिवा कुछ नहीं दिखाई देता। एकता या अद्वैत का नाम-निशान नहीं दिखाई देता। यह आदमी ऊँचा है, वह नीचा है, यह हिन्दू है, वह मुसलमान है, तीसरा ईसाई है, चौथा पारसी है, पाँचवां सिख है और छठा यहूदी है। इनमें भी बहुत-सी उपजातियाँ हैं। मेरी कल्पना की एकता या अद्वैतवाद में सब एक हो जाते हैं; एकता में समा जाते हैं।''

''यह समाजवाद स्फटिक की तरह शुद्ध है। इसलिए इसे सिद्ध करने के साधन भी शुद्ध ही होने चाहिए। अशुद्ध साधनों से सिद्ध होने वाला साध्य भी अशुद्ध ही होता है। इसलिए राजा का सिर काट डालने से राजा और प्रजा बराबर नहीं हो जायँगे और न मालिक का सिर काटने से मालिक और मजदूर बराबर हो जायँगे। हम असत्य से सत्य को प्राप्त नहीं कर सकते। सत्यमय आचरण द्वारा ही सत्य को प्राप्त किया जा सकता है।''[२]

धार्मिक, सामाजिक एवं राजनीतिक समानता का तब तक कोई अर्थ नहीं है, जब तक कि देश के सभी वर्गों में आर्थिक समानता न लायी जाय। इसीलिए गाँधीजी आर्थिक समाजवाद पर विशेष बल देते थे। गाँधीजी के शब्दों में—''आर्थिक समानता के लिए काम करने का अर्थ है, पूँजी और मजदूरी के बीच झगड़ों को सदा के लिए मिटा देना। इसका अर्थ यह होता है कि एक ओर से जिन मुट्ठी भर पैसे वाले लोगों के हाथ में राष्ट्र की सम्पत्ति का बड़ा भाग एकत्रित हो गया है, उनकी सम्पत्ति को कम करना और दूसरी ओर से जो करोड़ों लोग आधा पेट खाते और नंगे रहते हैं, उनकी सम्पत्ति में वृद्धि

१. यंग इण्डिया, १५ नवम्बर १९२८ ई०
२. हरिजन, १३ जुलाई, १९४७ ई०

करना।" धनिकों को नष्ट करने से नहीं, वरन् धनी और निर्धन के बीच अन्तर को कम करने से ही समाजवाद की स्थापना की जा सकती है।

जहाँ तक समाज में आर्थिक समानता लाने का प्रश्न है, गाँधीजी ने कहा था कि यह तभी सम्भव है जब कि प्राथमिक आवश्यकताओं के उत्पादन के साधन जनता के नियन्त्रण में रहें। वे एकाधिकार के विरोधी थे। "यह आदर्श हर जगह तभी व्यवहार में उतारा जा सकता है जब जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओं के उत्पादन साधन जनता के नियन्त्रण में रहें। वे प्रत्येक को बिना किसी बाधा के उसी तरह प्राप्त होने चाहिए, जिस तरह कि भगवान् की दी हुई हवा और पानी हमें प्राप्त है या होने चाहिए, किसी भी हालत में वे दूसरों के शोषण के लिए चलाये जाने वाले व्यापार का वाहन न बनें। किसी भी देश, राष्ट्र या समुदाय का उन पर एकाधिकार होना अन्यायपूर्ण माना जायगा। हम आज न केवल अपने इस दुःखी देश में बल्कि दुनिया के सारे हिस्सों में भी जो गरीबी देखते हैं उसका कारण इस सरल सिद्धान्त की उपेक्षा ही है।" उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि गाँधीजी किसी व्यक्ति, समुदाय, राज्य या राष्ट्र किसी के भी हाथ में सम्पत्ति के केन्द्रीकरण को बुरा मानते थे। वे एकाधिकार के सर्वथा विरोधी थे, उसका रूप चाहे जो कुछ भी हो। वे सत्ता और सम्पत्ति दोनों के विकेन्द्रीकरण में विश्वास करते थे। उनके अनुसार विकेन्द्रीकरण ही समाजवाद का व्यावर्तक गुण है। यदि कोई आर्थिक पद्धति हमें विकेन्द्रीकरण की अपेक्षा केन्द्रीकरण की ओर ले जाती है तो वह समाजवाद नहीं, बल्कि पूँजीवाद है। गाँधीजी के साम्यवाद की व्याख्या करते हुए उनके साथी प्यारेलाल[१] ने लिखा है, "गाँधीजी का विचार था कि उद्योगों का केन्द्रीकरण और भारी उत्पादन-क्षमता प्रजातन्त्र के विरुद्ध है। उनका यह भी विचार था कि राजनीतिक और आर्थिक सत्ता का अत्यधिक विकेन्द्रीकरण मौलिक अधिकारों और नागरिक स्वतन्त्रताओं का नाश करता है। वे समझते थे कि अहिंसा और केन्द्रीकृत उद्योग चाहे उद्योग निजी पूँजी द्वारा चलते हों चाहे सरकारी नियन्त्रण में, एक साथ नहीं चल सकते। गाँधीजी राज्य की हिंसक प्रवृत्ति की अपेक्षा व्यक्ति की हिंसा को क्षमा कर सकते थे, क्योंकि व्यक्तिगत हिंसा से कम हानि होगी। यदि राज्य पूँजीवाद को हिंसा द्वारा समाप्त करेगा तो राज्य स्वयं खतरे में पड़ जायगा, क्योंकि वह फिर किसी ओर से भी अहिंसा की आशा नहीं कर सकेगा। राज्य स्वयं हिंसा का प्रतीक है। व्यक्ति की आत्मा होती है, किन्तु राज्य आत्माहीन मशीन है। इसीलिए गाँधीजी कहते हैं—"मैं ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त से सहमत हूँ।"

विकेन्द्रीकरण में विश्वास करने और केन्द्रीकरण के विरोधी होने के कारण ही गाँधीजी देश के औद्योगीकरण के बहुत पक्षपाती न थे। उन्हें डर था कि कहीं औद्योगीकरण देश के लिए अभिशाप न बन जाय। औद्योगीकरण से शोषण व साम्राज्यवाद को प्रोत्साहन मिलता है। वे लिखते हैं, "मैं नहीं समझता कि किसी भी

१. प्यारेलाल, यूनेस्को सेमिनार, परिशिष्ट, पृ० ३११

देश के लिए किसी भी अवस्था में बड़े कल-कारखानों का विकास करना आवश्यक है। भारत के लिए तो वह और भी कम आवश्यक है। मेरा विश्वास है कि स्वाधीन भारत दु:ख से कराहते हुए संसार के प्रति अपना कर्त्तव्य अपने सहस्रों गृह-उद्योगों का विकास कर, सादा किन्तु उदात्त जीवन अपना कर और संसार के साथ शान्तिपूर्वक रहकर ही पूरा कर सकता है।"[१] पर इसका अर्थ यह नहीं कि गाँधीजी औद्योगीकरण के बिलकुल ही प्रतिकूल थे। वे उन्हीं भारी उद्योगों के पक्षपाती थे जो हमारे लघु उद्योगों की स्थापना में सहायक होते हैं। वे ऐसे भारी उद्योगों की स्थापना के प्रतिकूल थे जो मनुष्य को दास बना देते और उसे बेकार कर देते हैं। वे व्यक्ति के हित को सदा प्राथमिकता देते थे।

गाँधीवाद और मार्क्सवाद

आजकल गाँधीवाद मार्क्सवाद की परस्पर तुलना एक फैशन हो गयी है। गाँधीजी के सर्वोदय और समाजवाद के विचार लोगों में भ्रम उत्पन्न कर देते हैं कि दोनों में एकरूपता नहीं तो पर्याप्त समानता अवश्य पायी जाती है। अमेरिका के सुप्रसिद्ध पत्रकार लुई फिशर से एक साक्षात्कार में गाँधीजी ने कहा था, "मैं अपने-आपको साम्यवादी ही कहता हूँ।......मेरा साम्यवाद, समाजवाद से अधिक भिन्न नहीं है। यह दोनों का मीठा मेल है। साम्यवाद जैसा कि मैंने उसे समझा है, समाजवाद का प्राकृतिक परिणाम है।"[२] गाँधीवाद और मार्क्सवाद की तुलना करते हुए लोगों ने कहा है कि दोनों के उद्देश्यों में प्रचुर समानता है; केवल उनके साधनों में ही भिन्नता है। इस आधार पर कुछ लोग गाँधीवाद को 'हिंसारहित साम्यवाद' कहते हैं। पर सच पूछा जाय तो गाँधीवाद और साम्यवाद दो परस्परविरोधी विचारधाराएँ हैं। उनमें शायद ही किसी प्रकार का साम्य है। उनमें साधनों में ही नहीं, वरन् साध्यों में भी भिन्नता है। नीचे गाँधीवाद और साम्यवाद के बीच कुछ आधारभूत भेदों का वर्णन किया जाता है जो निम्न हैं—

१. साम्यवाद पूर्णतया भौतिकवादी दर्शन है जो प्रत्यक्ष जगत् को ही एकमात्र सत्य मानता है। इसके विपरीत, गाँधीजी एक निरपेक्ष और शाश्वत सत्य में विश्वास करते थे जो पूर्णतया आध्यात्मिक है। हमारे सभी व्यवहार इस चेतन तत्त्व द्वारा निर्धारित किये जाते हैं। साम्यवाद में इस चेतन तत्त्व का सर्वथा अभाव पाया जाता है।

२. चेतन तत्त्व में विश्वास न करने के कारण ही साम्यवाद धर्म का विरोधी है। उसके अनुसार धर्म सबल वर्ग का पोषक और निर्बल वर्ग का शोषक है। गरीबों को वह ईश्वर, कर्म-फल, स्वर्ग, नरक, भाग्य इत्यादि में विश्वास करने की प्रेरणा देकर उन्हें अपने सांसारिक दु:खों के प्रति उदासीन बना देता है। इस प्रकार धर्म गरीबों की उन्नति में बाधक होता है। साम्यवादियों के लिए धर्म एक 'अफीम' है जिसका हमें सर्वथा परित्याग कर देना चाहिए। पर इसके विपरीत धर्म गाँधीवाद का प्राण है। गाँधीजी धर्म से विहीन

---

१. हरिजन, १ सितम्बर, १९४६ ई०

२. गाँधीजी के साथ साक्षात्कार, जुलाई, १९४६ ई०

किसी व्यक्ति, समाज या राष्ट्र की कल्पना भी नहीं कर सकते थे। इसीलिए उन्होंने अपनी कल्पना के आदर्श 'रामराज्य' को धार्मिक दृष्टिकोण से पृथ्वी पर ईश्वर का राज्य कह कर परिभाषित किया है।

३. साम्यवाद और गाँधीवाद दोनों में 'व्यक्ति' की भिन्न कल्पनाएँ दी गयी हैं। साम्यवाद में मानव को परिस्थितियों का दास, अकिंचन एवं अनास्थामय माना गया है; वह अपनी भौतिक एवं आर्थिक परिस्थितियों के पूर्ण नियन्त्रण में है। मनुष्य का संकल्प परिस्थिति-सापेक्ष है। उसके अन्दर वास्तविक स्वतन्त्रता तभी आ सकती है जब कि वह आर्थिक दृष्टि से पूर्ण समर्थ हो। यह साम्यवादी समाज-व्यवस्था में ही सम्भव है। इसके विपरीत, गाँधीवाद में मनुष्य का संकल्प-स्वातन्त्र्य परिस्थिति-निरपेक्ष है। यदि हमारे भीतर नैतिक बल है तो हम किसी भी परिस्थिति में अपने संकल्प-स्वातन्त्र्य को अक्षुण्ण रख सकते हैं। मनुष्य परिस्थितियों का दास नहीं, बल्कि उनमा निर्माता है।

४. साम्यवाद का केन्द्र-बिन्दु राज्य है। वह सोचता है, कि जब तक उसका राज्य-सत्ता पर अधिकार नहीं हो जाता तब तक न तो समाज का आर्थिक ढाँचा ठीक हो सकता है और न व्यक्ति का समुचित सुधार ही हो सकता है। अर्थात्, साम्यवादी की अपने लक्ष्य को प्राप्त करने की प्रक्रिया ऊपर से आरम्भ होती है; इसके विपरीत, गाँधीवादी यह प्रक्रिया नीचे की ओर से आरम्भ करता है। उसका केन्द्र-बिन्दु राज्य नहीं वरन् व्यक्ति है। वह पहले मनुष्य के हृदय में क्रान्ति लाना चाहता है, तभी वाह्य परिस्थितियों में सुधार की आशा की जा सकती है। अत: राजनीतिक सत्ता पर अधिकार पाना क्रान्ति का परिणाम है, उसका प्रारम्भ नहीं।

५. साधन सम्बन्धी दृष्टिकोण में भी गाँधीवाद और साम्यवाद में पर्याप्त अन्तर है। मार्क्सवाद या साम्यवाद के अनुसार हिंसात्मक क्रान्ति द्वारा ही समाजवाद की स्थापना की जा सकती है। यदि हमारे उद्देश्य न्यायिक हैं तो उन्हें प्राप्त करने के लिए हम किसी भी प्रकार के साधन का प्रयोग कर सकते हैं। (The end justifies the means) पर गाँधीवाद हृदय-परिवर्तन व अहिंसात्मक क्रान्ति में विश्वास करता है। हिंसा, हिंसा ही को जन्म देती है। इससे समाज में स्थायी शान्ति स्थापित नहीं की जा सकती। साधन और साध्य में एकरूपता होनी चाहिए। अनुचित साधनों से उचित साध्य की सिद्धि नहीं की जा सकती। उचित साध्यों की सिद्धि के लिए उचित साधनों का ही उपयोग करना चाहिए (The means justifies the ends)।

६. मार्क्सवाद पूँजीपतियों का विनाश करके सर्वहारा वर्ग का अधिनायकवाद स्थापित करना चाहता है। यह एक परिहार-विधि है जिसमें पूँजीपतियों को नष्ट करके समाज में समाजवाद की स्थापना की जाती है। पर गाँधीवाद में किसी को नष्ट करने की योजना नहीं है, उसमें पूँजीपति एवं श्रमिक दोनों के अभ्युदय (सर्वोदय) की कामना की जाती है। पूँजीपति और श्रमिक दोनों के परस्पर-सहयोग से जितना समाज का कल्याण हो सकता है उतना वर्ग-संघर्ष द्वारा कदापि नहीं।

७. मार्क्सवाद देश की सम्पत्ति के ऊपर राज्य के स्वामित्व का प्रतिपादन करता है।

इसके अनुसार उत्पादन और वितरण के सभी साधनों पर राज्य का एकाधिकार होना चाहिए। यह केन्द्रीकरण में विश्वास करता है। इसके विपरीत, गाँधीवाद के अनुसार केन्द्रीकरण अहिंसा-सिद्धान्त के बिलकुल प्रतिकूल बात है। केन्द्रीकरण और औद्योगीकरण मानव को दास व अकिंचन बना देते हैं तथा श्रमिकों का शोषण करते हैं। इसीलिए विशालकाय उद्योगों के स्थान पर लघु-उद्योगों को प्रोत्साहित करना चाहिए। तभी मानव की स्वतन्त्रता और गरिमा की रक्षा की जा सकती है। इस प्रकार गाँधीवाद विकेन्द्रीकरण पर विशेष बल देता है।

गाँधीवाद की समीक्षा

१. गाँधीजी एक युग-द्रष्टा थे। उन्होंने निर्विकल्प अनुभूति द्वारा 'तत्त्व' का कुछ-न-कुछ साक्षात्कार अवश्य किया था। पर इतना तो निश्चित ही कहा जा सकता है कि 'तत्त्व' का उन्हें 'पूर्ण' साक्षात्कार नहीं हुआ था। यदि उन्हें तत्त्व का पूर्ण साक्षात्कार हुआ होता तो उन्हें 'प्रयोग' करने की आवश्यकता कभी न होती। गाँधीजी ने आगमन-पद्धति द्वारा उच्चतम सत्य तक पहुँचने की चेष्टा की। उसमें उन्होंने कई बार भूलें भी कीं। इसे उन्होंने स्वीकार भी किया। पर कोई भी दर्शन प्रयत्न और भूल सिद्धान्त पर आधारित नहीं होता। गाँधीजी स्वयं अपनी कमी को जानते थे। उन्होंने कई बार कहा था "मैं दार्शनिक नहीं हूँ। अत: 'गाँधी-दर्शन' नाम की कोई वस्तु नहीं है।"

गाँधीजी की जगत्-सम्बन्धी कल्पना भी ठीक नहीं थी। वे जगत् को ईश्वर की सत्य सृष्टि मानते थे। यही कारण था कि उन्होंने विश्वास कर लिया कि पारमार्थिक जगत् और व्यावहारिक जगत् एक ही प्रकार के नियमों द्वारा संचालित होते हैं। पर बात ऐसी नहीं है। जगत् में व्यवहार करने के पहले हमें दृष्टि-भेद को सदा ध्यान में रखना चाहिए। यदि हम पारमार्थिक दृष्टि से ही व्यवहार करना चाहते हैं तो गाँधीजी द्वारा प्रतिपादित अहिंसा-सिद्धान्त शत-प्रतिशत सही है, क्योंकि यह संसार में सभी व्यक्तियों को देव-तुल्य मानता है। पर यदि हम व्यावहारिक दृष्टि अपनाना चाहते हैं तो व्यवहार करते समय हमें जगत् के शुभ और अशुभ दोनों पक्षों पर ध्यान देना होगा। जगत् के अशुभ तत्त्व का यदि हमने विचार नहीं किया तो हमें जीवन में बड़ा भारी धोखा उठाना पड़ सकता है।

३. गाँधीजी यद्यपि जानते थे कि प्रत्येक मनुष्य के भीतर दैवी और आसुरी दोनों प्रवृत्तियाँ विद्यमान हैं पर दूसरों की आत्माओं के भीतर बैठे 'शैतान' की ओर उन्होंने कम ध्यान दिया। वे सबको देवतुल्य मानकर ही व्यवहार करते थे जो सत्य नहीं है। पारमार्थिक दृष्टि से यह बात भले ही सत्य मान ली जाय पर व्यावहारिक दृष्टि से तो यह बिलकुल ही असत्य है। धर्म तो यही कहता है कि भले के साथ भला और बुरे के साथ बुरा व्यवहार करना चाहिए।[१] कृतघ्न के साथ सहिष्णुता, क्षमा और दान का कोई प्रभाव नहीं

१. यस्मिन् यथा वर्तते यो मनुष्यः।
तस्मिनस्तथा वर्तितव्यं सः धर्मः॥

पड़ता। दण्ड ही एक ऐसी वस्तु है जो इस समय लाभकारी होती है।[१]

४. सिद्धान्ततः गाँधीजी का अहिंसा-सिद्धान्त बिलकुल सही है। पर व्यवहार में सिद्धान्तों के साथ तथ्यों पर भी ध्यान रखने की आवश्यकता होती है। गाँधीजी किसी भी परिस्थिति में अहिंसा का परित्याग नहीं करना चाहते थे। पर ऐसा सम्भव नहीं है। व्यक्ति-संग्रह के लिए भले ही हम अहिंसक बने रहें पर लोक-संग्रह के लिए यदि हमें हिंसा करने की आवश्यकता पड़ती है तो उसे करना चाहिए। यहाँ गाँधीजी के अहिंसा सिद्धान्त के स्थान पर गीता का निष्काम कर्मयोग अधिक व्यावहारिक है। हाँ, व्यक्तिगत स्वार्थ की सिद्धि के लिए हिंसा की इजाजत नहीं दी जा सकती, पर कौरवों से लड़ने के लिए यदि पाण्डव युद्ध करते हैं तो वह सर्वथा उचित ही है।

५. गाँधीजी बार-बार कहते थे कि जिस प्रकार यूक्लिड का बिन्दु काल्पनिक होने पर भी हम विन्दु के आदर्श का परित्याग नहीं करते, उसी प्रकार अहिंसा-सिद्धान्त कोरा आदर्श होते हुए भी हमें उससे विचलित नहीं होना चाहिए। पर यह संतुलन ठीक नहीं है। रेखागणित के नियमों और सिद्धान्तों का सम्बन्ध विशुद्ध विज्ञान-जगत् (World of Ideas) से है, पर हिंसा-अहिंसा का सम्बन्ध विज्ञान-जगत् से न होकर वस्तु-जगत् (Matters of Fact) से है। वस्तु-जगत् सम्बन्धी निर्णय हमें कोरे सिद्धान्तों पर नहीं वरन् तथ्यों के आधार पर लेना चाहिए। तभी हम अपना और दूसरों का भला कर सकते हैं।

६. गाँधीजी राजनीति को मोक्ष का साधन मानते थे। पर सच पूछा जाय तो राजनीति द्वारा मोक्ष प्राप्त करना असम्भव है। मोक्ष का अर्थ है—आवागमन के बन्धन से मुक्ति। पर एक राजनीतिज्ञ या देश-भक्त आवागमन के बन्धन से मुक्त होने की अपेक्षा भगवान् से प्रार्थना करेगा कि "हे भगवान्! तू बार-बार मुझे इस भारत-भूमि में जन्म दे जिससे कि मुझे देश की सेवा करने का पुनः-पुनः सुअवसर मिले।" राजनीतिज्ञ को मोक्ष से भला क्या मिल सकता है?



१. दण्ड एव वरो लोके पुरुपस्येति मे मतिः।
धिक् क्षमामकृतज्ञेपु सान्त्वं दानमथापिवा॥ —रामायण, युद्धकाण्ड, २२-४८

१९

एकात्म मानववाद
(Integral Humanism)

अन्तिम समन्वय
(Final Reconciliation)

अब तक हमने जितने समाज-दर्शनों—पूँजीवाद, समाजवाद, साम्यवाद एवं गाँधीवाद—का वर्णन किया उनमें सभी ने जीवन के एकांगी पक्ष को लेकर ही अपने जीवन-दर्शन की स्थापना की। पूँजीवाद यदि केवल पूँजीपतियों के हितों का ही ध्यान रखता है तो समाजवाद और साम्यवाद केवल श्रमिकों के हितों को ही समाज का हित समझते हैं। गाँधीजी के 'सर्वोदय' की कल्पना जीवन के समग्र भाग का ध्यान तो अवश्य रखती है पर वह इतनी आदर्शवादी और विज्ञानवादी है कि उसे पृथ्वी पर उतारकर जीवन में चरितार्थ करना कठिन ही नहीं, वरन् असम्भव भी है। आधुनिक भारत के एक महान् विचारक स्व० पं० दीनदयाल उपाध्यायजी ने एक ऐसे ही समग्र जीवन-दर्शन देने की चेष्टा की थी जो हमारी भौतिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक सभी आवश्यकताओं की तृप्ति कर सके। राजनीतिक विद्वेष एवं वैचारिक असहिष्णुता के कारण बहुत कम लोगों का ध्यान इस मनीषी के विचारों की ओर गया है, पर समाज-दर्शन के निरपेक्ष द्रष्टा होने के कारण हम उनके समाज-सम्बन्धी विचारों को यहाँ संक्षेप में प्रस्तुत करना अपना परम कर्त्तव्य समझते हैं।

जीवन-वृत्त एवं रचनाएँ

पं० दीनदयालजी उपाध्याय का जन्म २५ सितम्बर, १९१६ को राजस्थान में धनकिया ग्राम में हुआ था। बी०ए० की परीक्षा पास करने के बाद सन् १९३७ में वे राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ में सम्मिलित हुए और १९५१ तक उसकी सेवा करते रहे। १९५२ में वे भारतीय जनसंघ के महामंत्री बने। १९६७ में कालीकट अधिवेशन में वे जनसंघ के अध्यक्ष चुने गये। दुर्भाग्य से ११ फरवरी, सन् १९६८ को संदेहपूर्ण परिस्थितियों में ट्रेन से यात्रा करते हुए उनकी मृत्यु हो गयी। 'एकात्म मानववाद', 'राजनीतिक डायरी', 'राष्ट्रचिन्तन', 'चन्द्रगुप्त' एवं 'शंकराचार्य' उनकी प्रमुख रचनाएँ हैं।

एकात्म मानववाद का अर्थ

उपाध्यायजी भारतीय परम्परा के अनुसार राष्ट्र को एक स्वयंभू, सावयव और जीवमान सत्ता मानते थे। सावयव और जीवमान इकाई की विशेषता यह होती है कि इसमें

और इसके अंगों में एक प्रकार का आन्तरिक सम्बन्ध (Internal Relation) होता है। यहाँ 'पूर्ण' 'अंश' के ऊपर, 'अंश' 'पूर्ण' के ऊपर तथा प्रत्येक 'अंश' प्रत्येक दूसरे 'अंश' के ऊपर आश्रित होता है। जिस प्रकार व्यक्तियों का एक स्वाभाविक धर्म (गुण) होता है, उसी प्रकार राष्ट्र का भी एक धर्म (चिति)[१] होता है जिसके अनुसार चलने से राष्ट्र की सर्वांगीण उन्नति होती है। धर्म का अर्थ बहुमत के शासन से नहीं है, वरन् सामान्य इच्छा (General Will) के शासन से है। राष्ट्र की आत्मा द्वारा शासन ही वास्तविक प्रजातन्त्र है। यही एकात्म मानववाद है।

एकात्म मानववाद का दूसरा अर्थ यह है कि हमें ऐसा समग्र जीवन-दर्शन चाहिए जिसमें शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा, व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और विश्व तथा अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष सभी की युगपद सिद्धि सम्भव हो सके। पश्चिम के जितने समाज-दर्शन हैं चाहे वह पूँजीवाद हो या समाजवाद, सभी अर्थ और काम को ही जीवन का पुरुषार्थ मानते हैं, पर उपाध्यायजी का एकात्म मानववाद जीवन के किसी भी पुरुषार्थ की अवज्ञा नहीं करता। अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष चारों पुरुषार्थों द्वारा संचालित जीवन ही उत्तम जीवन है।

एकात्म मानववाद का तीसरा अर्थ यह है कि व्यक्ति अपना चाहे जितना उत्कर्ष कर ले, पर जब तक उस समाज का उत्कर्ष नहीं होगा जिसका कि वह अंग है तब तक उसकी कोई इज्जत नहीं होती। समाज व्यक्ति का ही एक बाह्यं रूप है। अत:, समाज की उन्नति में व्यक्ति की उन्नति और व्यक्ति की उन्नति में समाज की उन्नति निहित है।

संस्कृतिवादी मार्ग

उपाध्यायजी ने जीवन-ध्येय की प्राप्ति के चार प्रमुख मार्गों[२] का वर्णन किया है— १. अर्थवादी मार्ग, २. राजनीतिवादी मार्ग, ३. मतवादी मार्ग और ४. संस्कृतिवादी मार्ग। अर्थवादी सम्पत्ति को ही सब कुछ समझता है तथा उसके स्वामित्व एवं वितरण को सब प्रकार की दुरवस्था की जड़ मानकर उसमें सुधार करना ही वह अपना एकमेव कर्त्तव्य समझता है। समाजवादी एवं साम्यवादी इसी प्रथम अर्थवादी वर्ग में आते हैं। राजनीतिवादी जीवन का सम्पूर्ण महत्त्व राजनीतिक प्रभुत्व प्राप्त करने में ही आँकता है तथा वह राजनीतिक दृष्टि से ही संस्कृति, मजहब व अर्थनीति की व्याख्या करता है। वह सिद्धान्तवादी न होकर विशुद्ध अवसरवादी होता है। उपाध्यायजी के अनुसार कांग्रेस बहुत कुछ राजनीतिवादी दल है। तीसरा वर्ग मजहबपरस्त या मतवादियों का है जो अपने मजहब के सिद्धान्तों के अनुसार ही देश की समाजनीति, राजनीति एवं अर्थनीति चलाने में विश्वास करते हैं। यह मुल्ला-मौलवियों और रूढ़िवादी कट्टरपंथियों का वर्ग है जो देश की समस्याओं का राष्ट्रीय दृष्टि से ही विचार न कर साम्प्रदायिक दृष्टि से ही विचार करते हैं। मुस्लिम लीग इसी कोटि में आती है। इन सबसे पृथक् संस्कृतिवादियों का

१. दीनदयाल उपाध्याय, राष्ट्रचिन्तन, पृ० ११५
२. दीनदयाल उपाध्याय, राष्ट्रचिन्तन, पृ० ६

मार्ग है जो देश की सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक समस्याओं का उसकी 'चिति' एवं 'संस्कृति' के अनुसार विशुद्ध राष्ट्रीय दृष्टि से विचार करते हैं। किसी देश की संस्कृति उसकी आत्मा है और उसकी रक्षा एवं विकास करना देशवासियों का परम कर्त्तव्य होना चाहिए। उपाध्यायजी इसी संस्कृतिवाद के संरक्षक और पोषक थे। वे 'आर्थिक मनुष्य' या 'राजनीतिक मनुष्य' को अपनी इकाई न मानकर 'समग्र मानव' को ही इकाई मानते थे। यही उनके समाज-दर्शन की विशेषता थी।

एकात्म मानववाद और समाज-व्यवस्था

१. धर्म—उपाध्यायजी गाँधीजी की 'स्वदेशी' भावना के सच्चे अनुयायी थे। वे प्राचीन वर्णाश्रम-व्यवस्था व धर्म के ऊपर समाज की व्यवस्था स्थापित करना चाहते थे। धर्म का अर्थ किसी मजहब या सम्प्रदाय से नहीं है। "यतोऽभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः।" समाज को सम्प्रदाय-निरपेक्ष होना चाहिए, धर्म-निरपेक्ष नहीं। उनके अनुसार धर्म-निरपेक्षता वैसे ही निरर्थक है, जैसे ताप-विहीन अग्नि।[१] धर्म-निरपेक्षता हमारे अस्तित्व के लिए विघातक रोग है जिससे हमें बचने का प्रयत्न करना चाहिए। धर्म जीवन के सभी पुरुषार्थों की सिद्धि करता है। इस सन्दर्भ में उपाध्यायजी ने महर्षि व्यासजी के निम्न श्लोक[२] को उद्धृत किया है—

ऊर्ध्वबाहुर्विरोम्येष न च कश्चिच्छ्रणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्मः किं न सेव्यते॥

२. सहयोग-सिद्धान्त—पश्चिम के जितने समाज-दर्शन हैं, वे डार्विन के संघर्ष-सिद्धान्त (Struggle for Existence) पर आधारित हैं, अर्थात् संसार में वही व्यक्ति, जाति या वर्ग अपने अस्तित्व को कायम रख सकता है जो संघर्ष में विजयी हो। उपाध्यायजी के अनुसार संघर्ष जीवन का केवल एकांकी पक्ष है। पूँजीवाद, समाजवाद और साम्यवाद केवल संघर्ष-सिद्धान्त पर आधारित होने के कारण ही एकांगी विचार हैं। वास्तविकता यह है कि जीवन संघर्ष और सहयोग (Co-operation) दोनों पर आधारित है। हम वर्गों को कभी भी पूर्णतया समाप्त नहीं कर सकते। भेदता, भिन्नता और नानात्व जीवन का एक यथार्थ है। हमें विभिन्न वर्गों में संघर्ष की अपेक्षा परस्परपूरकता (Complimentariness) पर विशेष बल देना चाहिए।[३] विभिन्न जातियों, विभिन्न वर्गों, पार्टियों, पूँजीपति-श्रमिक एवं निजी क्षेत्र और सार्वजनिक क्षेत्र में संघर्ष के स्थान पर सहयोग होनां चाहिए। तभी हम समाज का अधिकतम हित-संवर्धन कर सकते हैं।

३. व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध—इस विषय में उपाध्यायजी उदार विज्ञानवादी (Moderate Idealist) हैं। ग्रीन, ब्रैडले और बोसांके की भाँति उपाध्यायजी के अनुसार व्यक्ति और समाज के बीच कोई संघर्ष नहीं है। यदि कहीं है

---

१. दीनदयाल उपाध्याय, एकात्म मानववाद

२. राष्ट्रचिन्तन, पृ० ७

३. उपाध्याय, पोलिटिकल डायरी, पृ० १५४

तो वह विकृति का लक्षण है। वे कहते हैं, "समष्टि हित के लिए व्यक्ति की स्वतन्त्रता को प्रतिबन्धित करने की आवश्यकता नहीं है। वास्तव में स्वैराचार में व्यक्ति का विकास नहीं, विनाश है। समृष्टि के साथ एकात्मता ही व्यक्ति की पूर्ण विकसित अवस्था है। व्यक्ति ही समष्टि की पूर्णता का माध्यम और माप है। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और समाज-हित अविरोधी हैं।"[१]

एकात्म मानववाद और राजनीतिक व्यवस्था

उपाध्यायजी की राजनीतिक विचारधारा में भी हमें 'स्वदेशी' की झलक मिलती है जैसा कि निम्न बातों से स्पष्ट हो जायगा—

१. राष्ट्र-प्रेम—राष्ट्र-प्रेम एक जन्मजात मूल-प्रवृत्ति है और इसीलिए सबके भीतर पायी जाती है। यदि किसी व्यक्ति के पास इसकी न्यूनता है तो यह 'विकृति' है और 'धर्म' द्वारा उसका संशोधन होना चाहिए। उपाध्यायजी के अनुसार राष्ट्र-प्रेम एक अव्यभिचारी भक्ति या एकात्म निष्ठा की वस्तु है। यह विवाद और तर्क की वस्तु नहीं है। यह स्वयं-सिद्धियों की भाँति अनिदर्शनीय (Indemonstrable) है। यह विश्वास की वस्तु (Article of Faith) है। राष्ट्रीयता पुरस्कार की भी वस्तु नहीं है। यदि कोई व्यक्ति राष्ट्र-प्रेम के लिए मूल्य या कीमत मानता है तो वह राष्ट्रद्रोही है। इस प्रकार हम देखतें हैं कि उपाध्याय जी के अन्दर राष्ट्र के प्रति कितना अगाध प्रेम था। वे देश के लिए जिये और देश के लिए ही उन्होंने अपने को उत्सर्ग कर दिया।

२. राष्ट्र का अर्थ—उपाध्यायजी राष्ट्र को एक आध्यात्मिक वस्तु मानते थे। राष्ट्र को परिभाषित करते हुए उन्होंने लिखा है, "भूमि, जन और संस्कृति के संघात से राष्ट्र का निर्माण होता है।"[२] भूमि और जन के कारण संस्कृति को मूर्त रूप मिलता है; जन और संस्कृति के कारण जड़-भूमि चैतन्यमयी बन जाती है तथा संस्कृति एवं भूमि के कारण मर्त्य जन अमरता को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार भूमि, जन और संस्कृति के पुंज को ही राष्ट्र कहते हैं। उपाध्यायजी के राष्ट्र की कल्पना योगी अरविन्द के राष्ट्र की कल्पना से पर्याप्त मिलती-जुलती है। योगी अरविन्द का उद्धरण देते हुए उपाध्यायजी ने लिखा है, "प्रत्येक राष्ट्र विकासोन्मुख मानवात्मा की एक शक्ति के रूप में अभिव्यक्ति है तथा वह उन सिद्धान्तों के आधार पर ही जीता है जिनका वह मूर्तिमान रूप है।"[३] राष्ट्र एक जीवित वस्तु है जिसकी एक आत्मा होती है तथा जिसके संस्कारों के आधार पर उस राष्ट्र की संस्कृति निर्धारित होती है। राष्ट्र जीवमान इकाई है।

३. चिति—जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति के भीतर कुछ स्वाभाविक गुण पाये जाते हैं जो उसके जीवन के कर्त्तव्य को निर्धारित करते हैं, उसी प्रकार प्रत्येक जाति या राष्ट्र का एक स्वाभाविक गुण होता है जो उसे ईश्वरीय विधान के अनुकूल प्राप्त होता है। इसी

---

१. उपाध्याय, राष्ट्रचिन्तन, पृ० ५६

२. उपाध्याय, राष्ट्रचिन्तन, पृ० १३०

3. Each Nation is a Shakti or power of the evolving spirit in humanity and lives by the principles which it embodies. —*Aurobindo*

जातिगत वैशिष्ट्य या भावना को ही 'चिति' कहते हैं।[१] यही राष्ट्र का केन्द्र-बिन्दु है। इसके आधार पर जिन-जिन संस्कारों की सृष्टि होती है उन सबसे एवं उन संस्कारों से बनने वाले भाव को मिलाकर हम 'संस्कृति' कहते हैं। संस्कृति एक गतिमान कल्पना है, वह वर्द्धमान है, व्यापक है। 'चिति' स्थायी होती है। 'चिति' ही राष्ट्रत्व का द्योतक है। 'चिति' के प्रकाश से ही राष्ट्र को अपनी चिति या संस्कृति के विरुद्ध कोई भी कार्य नहीं करना चाहिए।

४. धर्म-राज्य—उपाध्यायजी की राज्य की कल्पना आधुनिक लोकतान्त्रिक राज्य से कहीं उच्चतर कल्पना थी। पाश्चात्य प्रजातान्त्रिक राज्य में दो त्रुटियाँ हैं;—प्रथम त्रुटि तो यह है कि प्रजातन्त्र अधिक-से-अधिक बहुमत का शासन है, सर्वमत का शासन नहीं। भारतीय जनतन्त्र की कल्पना में निर्वाचन, बहुमत, अल्पमत आदि बाहरी व्यवस्थाओं के स्थान पर सभी मतों के सामञ्जस्य तथा समन्वय पर ही बल दिया गया है। प्रजातन्त्र की दूसरी त्रुटि यह है कि यह राजा और प्रजा के हितों में स्थायी विरोध मानकर राजा को बराबर प्रजा के नियन्त्रण में रखने के लिए विरोधी दल के रूप में एक निरन्तर चलने वाले विद्रोह की तलवार राजा के सिर पर लटका कर रखता है। उपाध्यायजी के अनुसार, प्रजातन्त्र का यह रूप मानव-विकास के उपयुक्त नहीं है। यह सम्भवतः ईश्वर और शैतान की द्वैतवादी ईसाई विचारधारा में से उत्पन्न हुआ है। यदि हम वास्तव में मानव का कल्याण करना चाहते हैं तो राजा और प्रजा के संघर्ष के स्थान पर उनमें परस्पर-सहयोग की भावना को जागरित करना चाहिए।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि राजा और प्रजा के बीच सहयोग को किस प्रकार स्थापित किया जाय। इसके उत्तर में उपाध्यायजी लिखते हैं कि धर्म ही एक ऐसी वस्तु है जो राजा और प्रजा के बीच सहयोग स्थापित कर सकती है। यदि राजा और प्रजा दोनों अपने धर्म का उचित पालन करें तो सहयोग स्वतः हो सकता है। जिस प्रकार धर्मानुयायी प्रजाजन को दण्ड देने अथवा हटाने का अधिकार राजा को नहीं है, उसी प्रकार धर्मपालक राजा को हटाने का अधिकार प्रजा को नहीं होना चाहिए। राजा को हटाना प्रजा का धर्म नहीं है, अपितु धर्म का पालन करना प्रजा का धर्म है। धर्म ही राज्य का प्राण है। अतः राज्य के जनराज्य होने के साथ उसे धर्म-राज्य भी होना चाहिए। लिंकन ने प्रजातन्त्र को 'जनता का, जनता द्वारा, जनता के लिए' शासन कहा है।[१] यहाँ 'का' स्वतन्त्रता का, 'द्वारा' प्रजातन्त्र का और 'के लिए' धर्म का द्योतक है। अतः धर्म-राज्य ही वास्तविक जनराज्य है।

एकात्मवाद एवं आर्थिक व्यवस्था

उपाध्याय के आर्थिक विचार सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं। वैसे तो प्रत्येक क्षेत्र में वे अपनी पार्टी के आधिकारिक प्रवक्ता थे, पर वे पार्टी की अर्थनीति के विशेषज्ञ माने जाते थे। उनके आर्थिक विचार विशेष माननीय हैं।

---

1. Democracy is a government of the people, by the people and for the people. – *Lincoln*

१. अर्थनीति का भारतीकरण—उपाध्यायजी अर्थनीति में भी 'स्वदेशी' भावना को महत्त्व देते थे। वे कहते थे कि पश्चिम के आर्थिक दृष्टिकोण सर्वथा एकांगी हैं। पूँजीवाद केवल उत्पादन पर ही अधिक बल देता है। इस वृद्धिगत उत्पादन के कारण ही नवीन यन्त्रों का आविष्कार किया गया और इन यन्त्रों के स्वामी ही उत्पादन के स्वामी भी बन गये। लाभ में जब श्रमिकों को यथेष्ट भाग नहीं मिला, तब उनमें प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई जिसके परिणामस्वरूप एक नयी प्रणाली समाजवाद या साम्यवाद उत्पन्न हुई। समाजवाद भी एकांगी है, क्योंकि वह केवल वितरण की ही प्रणाली हो सकती है, उत्पादन की नहीं। पूँजीवाद और समाजवाद दोनों ही आर्थिक प्रणालियाँ उपभोगप्रधान हैं, क्योंकि दोनों ही अर्थ और काम—उपभोग को ही मानव-जीवन का लक्ष्य मानती हैं। साधारणतया इच्छाओं और आवश्यकताओं के अनुसार उत्पादन किया जाता है, पर अब उत्पादन के अनुसार इच्छाओं की कृत्रिम उत्पत्ति की जा रही है, जिससे कि उत्पादित वस्तुओं को बेचा जा सके। उपाध्यायजी के अनुसार यह अप्राकृतिक एवं अमर्यादित आर्थिक व्यवस्था है। प्रकृति की भी एक मर्यादा होती है। उसका अतिक्रमण करने से प्रकृति अपना कार्य बन्द कर देती है। अमेरिका में लाखों एकड़ भूमि इस प्रकार बेकार कर दी गयी है। आर्थिक नीति का आधार शोषण नहीं, दोहन होना चाहिए।

२. संयमित उपभोग—उपाध्यायजी के अनुसार अधिकाधिक उपभोग का सिद्धान्त ही मनुष्य के दुःखों का कारण है। उपभोग की इच्छा को कभी भी तृप्त नहीं किया जा सकता। गाँधीजी इसी कारण इच्छाओं के परिसीमन में विश्वास करते थे। वर्ग-संघर्ष जिसके ऊपर समूचा साम्यवाद खड़ा है, ऐसे उपभोग के कारण ही उत्पन्न होता है। "भारतीय मतवाद जब वर्ग-संघर्ष का खण्डन करता है, तब उसका तात्पर्य यही होता है कि उसने उपभोग को नियन्त्रित कर लिया है तथा अधिकाधिक उपभोग के बजाय न्यूनतम उपभोग को आदर्श बनाया है। मनुष्य की प्रकृत भावनाओं का संस्कार करके उसमें अधिकाधिक उत्पादन, समान वितरण तथा संयमित उपभोग की प्रवृत्ति पैदा करना ही आर्थिक क्षेत्र में संस्कृति का कार्य है। इसमें ही तीनों का संतुलन है।"[१]

३. आर्थिक मनुष्य की भ्रामक कल्पना—पूँजीवाद और समाजवाद दोनों के मनुष्य की कल्पना 'आर्थिक मनुष्य' (Economic Man) की कल्पना है जो अर्थ और काम को ही जीवन का एकमात्र पुरुषार्थ मानती है। पर 'आर्थिक मनुष्य' एक अमूर्त प्रत्यय है। उपाध्यायजी अपनी अर्थनीति में अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष चारों पुरुषार्थों को महत्त्व देते थे। वे सम्पूर्ण मानव (Whole Man) को इकाई मानकर चलते थे। पूँजीवाद का आधार यदि आर्थिक मनुष्य माना गया तो उसकी प्रतिक्रियास्वरूप समाजवाद ने सामूहिक मनुष्य (Mass Man) की कल्पना की। दोनों व्यवस्थाओं में मनुष्य का अमानवीयकरण किया गया। मनुष्य के समग्र रूप का किसी भी व्यवस्था ने विचार नहीं किया।

४. मानववाद—आर्थिक और सामूहिक मनुष्य की कल्पना ने जो क्रमशः

---

१. उपाध्याय, राष्ट्रचिन्तन, पृ० ८१-८२

पूँजीवाद और समाजवाद के केन्द्रीय विचार हैं, मानवता के साथ महान् अपराध किया है। उपाध्यायजी के अनुसार जब तक एक-एक व्यक्ति की विशिष्टता-विविधता को ध्यान में रखकर हम उसके विकास की चिन्ता नहीं करेंगे, तब तक मानवता की सच्ची सेवा नहीं हो सकती। समाजवाद और पूँजीवाद दोनों ने मनुष्य को व्यवस्था के निर्जीव यन्त्र का एक पुर्जा मात्र बना डाला। "एक स्वतन्त्र जुलाहे को समाप्त कर उसे विशाल कारखाने का मजदूर बना दिया गया। बजाज के स्थान पर एक विभागीय स्टोर्स बना दिया गया। दर्जी के स्थान पर रेडीमेड कपड़ा लाकर रख दिया गया।"[१] मनुष्य अर्थात् एक जानवर जो आठ घण्टे यन्त्रवत् मजदूरी करे और १६ घण्टे खाये। इस प्रकार कार्य और जीवन के बीच एक दीवार खड़ी कर दी गयी। यही मनुष्य का अमानवीकरण है।

५. आर्थिक लोकतन्त्र—उपाध्यायजी भारतीय जन-मानस के पारखी थे। वे जानते थे कि भारतीय, आत्मा की स्वतन्त्रता में विश्वास करता है। इसीलिए वे इसे हर कीमत पर अक्षुण्ण रखना चाहते थे। राजनीतिक लोकतन्त्र के साथ-साथ आर्थिक लोकतन्त्र भी आवश्यक है। विकेन्द्रीकरण लोकतन्त्र का प्राण है। पूँजीवाद एवं तथाकथित समाजवादी अर्थ-व्यवस्था दोनों केन्द्रीकृत होने के कारण लोकतन्त्र-विरोधी हैं। वास्तविक लोकतन्त्र वहीं हो सकता है जहाँ सत्ता और धन दोनों का विकेन्द्रीकरण हो। आर्थिक प्रजातन्त्र द्वारा समाज के प्रत्येक व्यक्ति को उसकी योग्यतानुसार कार्य करने का अवसर देना चाहिए। बिना व्यक्तिगत उत्साह (Individual Initiative) के उत्पादन में वृद्धि कदापि नहीं हो सकती।

६. विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था—विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था आर्थिक लोकतन्त्र का अनिवार्य परिणाम है। इसके लिए समाज में स्वयंसेवी क्षेत्र (Self-Employed Sector) को खड़ा करना होगा। समाजवादी व्यवस्था, निजी स्वामित्व की बुराइयों से तो मुक्त है, पर सम्पत्ति-अर्जन की एषणा जिससे व्यक्तित्व का विकास तथा पुरुषार्थ की प्रेरणा मिलती है, उसकी उसमें व्यवस्था नहीं है। यहाँ व्यक्ति भीमकाय मशीन का एक पुर्जा मात्र होता है। डिजलस के अनुसार समाजवादी व्यवस्था में शोषकों का प्राचीन वर्ग तो समाप्त हो जाता है, किन्तु नौकरशाही का एक नया शोषक-वर्ग उसके स्थान पर उत्पन्न हो जाता है। प्रति-क्रान्ति को रोकने के नाम पर राज्य अधिकाधिक निरंकुश बनता जाता है तथा वह दिन जब राज्य समाप्त होकर राज्य-विहीन समाज-व्यवस्था जन्म लेगी, एक कल्पना मात्र ही रह जाता है। इन्हीं सब कारणों से उपाध्यायजी पश्चिमी समाजवाद के बिलकुल विरोधी थे।

उपाध्यायजी के अनुसार वास्तविक मानव की गरिमा विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है, जिसकी निम्न प्रमुख विशेषताएँ हैं—

(अ) प्रत्येक व्यक्ति को न्यूनतम जीवन-स्तर की आश्वस्ति तथा राष्ट्र की सुरक्षा-सामर्थ्य की व्यवस्था।

(ब) इस स्तर के उपरान्त उत्तरोत्तर समृद्धि जिससे व्यक्ति एवं राष्ट्र को वे साधन

---

१. उपाध्याय, राष्ट्रचिंतन, पृ० ८८-८९

उपलब्ध हो सकें जिससे वे अपनी चिति के आधार पर विश्व की प्रगति में योगदान कर सकें।

(स) प्रत्येक सबल एवं स्वस्थ व्यक्ति को साभिप्राय रोजगार का अवसर देना तथा प्रकृति के साधनों को मितव्ययिता के साथ उपयोग करना।

(द) राष्ट्र के उत्पादक उपादानों का विचार कर अनुकूल प्रौद्योगिकी का विकास करना।

(य) अर्थ-व्यवस्था मानव की अवहेलना न कर उसके विकास में साधक हो तथा समाज के सांस्कृतिक एवं अन्य जीवन-मूल्यों की रक्षा करे।

(र) विभिन्न उद्योगों आदि में राज्य, व्यक्ति तथा अन्य संस्थाओं के स्वामित्व का निर्णय व्यावहारिक आधार पर हो।

संक्षेप में—विकेन्द्रीकरण एवं स्वदेशी हमारी अर्थ-व्यवस्था के दो आधार होने चाहिए।

७. यान्त्रिकीकरण का विरोध—मशीन पूँजी का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्वरूप है। इसका वास्तविक स्वरूप क्या है? मशीनों का क्यों आविष्कार किया गया? मनुष्य की उत्पादकता एवं क्षमता को बढ़ाने के लिए ही यन्त्र का आविष्कार हुआ है। "यन्त्र मानव का सहायक है, प्रतिस्पर्धी नहीं, किन्तु जहाँ मानव-श्रम को एक विनिमिय की वस्तु समझकतर उसका मूल्यांकन रुपयों में होने लगा, वहाँ मशीन मानव की प्रतिस्पर्धी बन गयी। यह पूँजीवादी दृष्टिकोण का दोष है। यदि मशीन मानव का स्थान लेकर उसे भूखा मारे तो वह उन उद्देश्यों के विपरीत होगा जिनकी सिद्धि के लिए यन्त्र का आविष्कार हुआ। जड़ मशीन का यह दोष नहीं, यह दोष जीवित मानव का है। यह बुराई उस अर्थ-व्यवस्था की है जिसमें साध्य-साधन विवेक लुप्त हो जाता है।"[१] तात्पर्य यह है कि मशीन साधन मात्र ही है, पर जब हम उसे साध्य-मूल्य प्रदान करते हैं तो उससे मानव का अहित होता है। मशीन मानव की सहायिका है, उसका स्थानापन्न नहीं। मनुष्य और मानव के कार्यों में सहयोग और सामञ्जस्य होना चाहिए, विरोध नहीं।

८. लघु एवं कुटीर उद्योगों में विश्वास—गाँधीजी की तरह उपाध्यायजी भी देश की मानवीय शक्ति और बेकारी देखकर लघु एवं कुटीर उद्योगों के विकास के पक्षपाती थे। "राजनीति में व्यक्ति की रचनात्मक क्षमता को जिस प्रकार तानाशाही नष्ट करती हैं, उसी प्रकार अर्थनीति में व्यक्ति की रचनात्मक क्षमता को भारी पैमाने पर किया गया उद्योगीकरण नष्ट करता है। ऐसे उद्योगों में व्यक्ति स्वयं भी मशीन का एक पुर्जा बन कर रह जाता है। इसलिए तानाशाही की भाँति ऐसा उद्योगीकरण भी वर्जनीय है।"[२] आर्थिक क्षेत्र में व्यक्ति की यह रचना-शक्ति तभी प्रकट हो सकती है, जब विकेन्द्रीकरण के आधार पर उद्योगों की व्यवस्था हो। विकेन्द्रीकरण का तात्पर्य मशीनों का आत्यन्तिक परित्याग नहीं है, वरन् उन मशीनों का प्रयोग है जो मनुष्य को बेकार न कर दें। लघु उद्योगों के विकास से बेकारी की समस्या का समाधान होगा, गाँव अधिकाधिक

---

१. उपाध्याय, एकात्म मानववाद

२. उपाध्याय, राष्ट्रचिन्तन, पृ० ८२

स्वावलम्बी होंगे तथा व्यक्ति को प्रेरणा मिलने के कारण वस्तु के गुण तथा उत्पादन दोनों में वृद्धि होगी। पुरातन काल के कुटीर उद्योग जितनी उत्तम श्रेणी की वस्तुएँ तैयार करते थे, उतनी आज की मशीने तैयार नहीं कर पातीं। ढाके का मलमल जगत् प्रसिद्ध है।

आर्थिक क्षेत्र की तीनों वस्तुओं—मनुष्य, श्रम और यन्त्र में परस्पर समन्वय होना चाहिए। इसे उपाध्याय द्वारा प्रतिपादित इस सूत्र द्वारा प्रकट किया जा सकता है—ज × क × य = इ (ज= काम करने की अवस्था और व्यवस्था, य यन्त्र तथा इ समाज की प्रभावी इच्छा का द्योतक है।)

इस सूत्र के अनुसार यदि हम चाहते हैं कि ज निश्चित रहे (जो 'प्रत्येक को काम के अनुसार' आवश्यक है।) तो इ के अनुपात में क और य को बदलना होगा। ज्यों-ज्यों हमारी माँग बढ़ती जायगी, हमें ऐसे यन्त्रों का उपयोग करना होगा जिससे उत्पादन में वृद्धि की जा सके। किन्तु इ का बढ़ना हमारी क्रय-शक्ति पर भी आश्रित है। क्रय-शक्ति तभी बढ़ेगी जब उत्पादन अधिक, धन का सम-वितरण और देश में बेकारी न हो। इस प्रकार मनुष्य, श्रम और मशीन तीनों के समन्वय से ही आर्थिक समृद्धि की जा सकती है।

९. निगमवाद—उद्योगों का श्रमीकरण—उपाध्याय भारी उद्योगों के प्रतिकूल न थे, पर वे उन्हीं भारी उद्योगों को चाहते थे जो लघु उद्योगों के चलाने के लिए आवश्यक हैं या सुरक्षा सम्बन्धी हैं। वे राज्य-समाजवाद या सरकारी समाजवाद के विरोधी थे, क्योंकि सरकारी समाजवाद एक प्रकार का सरकारी पूँजीवाद होता है जो निजी लाभ के अभाव में अक्षमता और भ्रष्टाचार को प्रोत्साहित करता है। इसी प्रकार व्यक्तिगत पूँजीवाद में अन्ध प्रतिस्पर्धा, धोखाधड़ी और शोषण का बोलबाला होता है। अतः, पूँजीवाद चाहे व्यक्तिगत हो चाहे सरकारी, दोनों मानव-कल्याण में बाधक हैं। सरकारीकरण देश के सभी व्यक्तियों को नौकर बना देता है। सरकारी उद्योगों का संचालन हृदयहीन नौकरशाही एवं अफसरशाही करती है जिनकी उन उद्योगों में कोई रुचि नहीं होती। स्वप्रेरणा व जोखिम के अभाव में गुण और परिमाण दोनों की हानि होती है। इसी कारण उपाध्यायजी राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था में श्रमिकों के राष्ट्रीयकरण, उद्योगों के श्रमीकरण एवं देश के औद्योगीकरण के पक्षपाती थे। श्रमिक राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत हों, कृषि-भूमि का स्वामित्व किसानों के हाथ में हो तथा देश में लघु एवं कुटीर गृह-उद्योगों का विकास हो। जहाँ भारी उद्योगों के विकल्प न हों वहाँ स्वायत्तशासी निगम की स्थापना होनी चाहिए। डाक, तार, रेल, परिवहन, बैंक तथा बीमा इत्यादि उद्योगों में छोटे अंश की पूँजी के शेयर जारी करके मध्यमवर्ग को बेचा जाय और उस उद्योग के कर्मचारियों को शेयर खरीदने में प्राथमिकता दी जाय। उपाध्यायजी के अनुसार पूँजी और श्रम में कोई आत्यन्तिक भेद नहीं है। श्रम भी एक प्रकार की पूँजी है और पूँजीपति भी एक प्रकार का श्रमिक है क्योंकि वह व्यवस्था करने में श्रम करता है। अतः, दोनों में सहयोग हो सकता है। उद्योगों में पूँजीपतियों और श्रमिकों दोनों के सहकारीकरण से पूँजीवाद और समाजवाद दोनों की अच्छाइयों को सुरक्षित एवं उनकी

बुराइयों को दूर किया जा सकता है। देश की सम्पत्ति का स्वामित्व जनता के हाथ में, न कि सरकार के हाथ में होना चाहिए। सरकार का कार्य उद्योगों का मार्गदर्शन करना व आर्थिक सहायता देना है, नियन्त्रण करना नहीं। इस प्रकार हमें, "धर्म-राज्य, लोकतन्त्र, सामाजिक समानता और आर्थिक विकेन्द्रीकरण को अपना लक्ष्य वनाना होगा। इन सबका सम्मिलित निष्कर्ष ही हमें एक ऐसा जीवन-दर्शन उपलब्ध करा सकेगा, जो आज के समस्त झंझावातों में हमें सुरक्षा प्रदान कर सके। आप इसे किसी भी नाम से पुकारिये, हिन्दुत्ववाद, मानवतावाद अथवा अन्य कोई भी नयः वाद, किन्तु यही एकमेव मार्ग भारत की आत्मा के अनुरूप होगा और जनता में नवीन उत्साह संचारित कर सकेगा।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि उपाध्यायजी का समाज-दर्शन पश्चिम के सभी समाज-दर्शनों से श्रेष्ठतर है। यह एक पूर्ण समाज-दर्शन है।



परिशिष्ट-१

वर्णाश्रम-व्यवस्था एवं पुरुषार्थ

संसार की कुछ संस्कृतियाँ यदि भौतिकवाद पर विशेष बल देती हैं तो कुछ अध्यात्मवाद पर। भारतीय संस्कृति ही विश्व में एक ऐसी संस्कृति है जो भौतिकवाद और अध्यात्मवाद में अपूर्व समन्वय स्थापित करती है। हिन्दू-जीवन-दर्शन सांसारिक अभ्युदय और आध्यात्मिक उत्कर्ष दोनों का युगपद विकास करना चाहता है। वर्णाश्रम-व्यवस्था और पुरुषार्थ इसी समन्वयवादी प्रवृत्ति के परिणाम हैं। वर्ण, आश्रम एवं पुरुषार्थ इन तीनों का यहाँ पृथक्-पृथक् वर्णन किया जायगा।

१. वर्ण-व्यवस्था

वैदिक काल में वर्ण और आश्रम समाज के सुदृढ़ आधार थे जिन पर आर्य लोगों का व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन आधारित था। समष्टि के कल्याण के लिए तो वर्ण-व्यवस्था, पर व्यष्टि के कल्याण के लिए आश्रम-व्यवस्था का प्रावधान किया गया था। इन्हें मिलाकर वर्णाश्रम-धर्म भी कहते हैं क्योंकि इनमें निहित कर्त्तव्यों का पालन करने से व्यक्ति और समाज दोनों का हित होता है।

तात्विक दृष्टि से यदि विचार किया जाय तो वर्णों का कोई विशेष महत्त्व नहीं है क्योंकि सारा जगत् ही ब्रह्ममय है।[१] पर व्यावहारिक दृष्टि से वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत सम्पूर्ण समाज को चार भागों में विभाजित किया गया है—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। इसके पीछे मनोवैज्ञानिक कारण यह है कि ज्ञान, सुरक्षा, आजीविका तथा सेवा मनुष्य की चार स्वाभाविक इच्छाएँ होती हैं और चारों वर्ण क्रमशः इन चार स्वाभाविक इच्छाओं की तुष्टि करते हैं।

'वर्ण' शब्द का अर्थ

व्युत्पत्ति के दृष्टिकोण से 'वर्ण' शब्द 'वृञ् वरणे' या 'वरी' धातु से बना है जिसका अर्थ है वरण करना अथवा चुनना। अपने स्वभाव के अनुसार मनुष्य जिस व्यवसाय का वरण करता है, वही उसका वर्ण होता है। अतः, वर्ण का जाति से कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं होता। इस दृष्टि से जो पठन-पाठन का कार्य करते हैं वे ब्राह्मण, जो रक्षा का कार्य करते हैं वे क्षत्रिय, जो व्यवसाय में रुचि रखते हैं वे वैश्य तथा जिनकी सेवा-कार्य में विशेष अभिरुचि है वे शूद्र कहे जायँगे। 'वर्ण' का यही वास्तविक अर्थ है।

सांख्य-दर्शन में 'वर्ण' शब्द का अर्थ रंग से लिया गया है। प्रत्येक वर्ण का एक

---

१. न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्—शान्ति पर्व, १८८-२००

निश्चित रंग होता है। इस दृष्टि से जो शुक्ल हैं वे ब्राह्मण, जो रक्त हैं वे क्षत्रिय, जो पीत हैं वे वैश्य और जो कृष्ण वर्ण के हैं उन्हें शूद्र कहा जायगा। पर यह 'वर्ण' शब्द का वास्तविक अर्थ नहीं है। वाह्य गुणों की अपेक्षा आन्तरिक गुणों के आधार पर ही वर्ण-व्यवस्था का आयोजन किया गया है। वर्ण-व्यवस्था एक नैसर्गिक व्यवस्था है क्योंकि स्वयं ईश्वर ने इसकी सृष्टि की है।[१]

वर्ण-व्यवस्था का दार्शनिक महत्त्व

भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत जीवन का परम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति है। यही कारण है कि भारत की जितनी सामाजिक व्यवस्थाएँ हैं उनका मूल उद्देश्य व्यक्ति को मोक्ष की प्राप्ति कराना है। वर्ण-व्यवस्था का भी यही उद्देश्य है। यदि व्यक्ति अपने वर्ण-धर्म का निष्काम भाव से यथोचित पालन करे, तो उन्हें सहज ही में मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है।[२] अपना गुणरहित धर्म भी, दूसरे के भली प्रकार अनुष्ठान किए हुए धर्म से श्रेष्ठतर है। अतः, प्रत्येक व्यक्ति को अपने वर्ण-धर्म का उचित रूप में पालन करना चाहिए।

वर्ण-व्यवस्था का सामाजिक महत्त्व

समाज की सर्वांगीण प्रगति के लिए यह आवश्यक है कि विभिन्न समूहों में होने वाली अनावश्यक प्रतिस्पर्धा को समाप्त कर दिया जाय तथा प्रत्येक समूह के कार्यों को निर्धारित कर दिया जाय जिससे कि कोई भी समूह दूसरे के कार्यों में अनुचित हस्तक्षेप न कर सके। अपने स्व-धर्म के अनुसार कार्य करने और दूसरों के धर्मों में हस्तक्षेप न करने से ही सम्पूर्ण समाज की उन्नति हो सकती है।

पाश्चात्य चिन्तन प्रणाली

संघर्ष-सिद्धान्त (Struggle for Existence)—में विश्वास करती है पर हिन्दू-संस्कृति जीवन-संघर्ष को अनिवार्य नहीं मानती। हिन्दू-संस्कृति परस्पर-सहयोग, परस्पर-पूरकता और परस्परावलम्बन सिद्धान्त पर आधारित है। अपने वर्ण-धर्म के अनुसार कर्त्तव्य पालन और दूसरे के वर्ण-धर्म में अहस्तक्षेप से ही व्यष्टि और समष्टि दोनों का हित-साधन हो सकता है। कुछ लोग यह कहते हैं कि यदि किसी व्यक्ति में दूसरे वर्ण के गुण पर्याप्त मात्रा में पाए जाते हैं, तो क्या उस वर्ण के कर्त्तव्यों का परित्याग कर देना चाहिए? इसके उत्तर में कहा जाता है कि 'अर्थ' और 'काम' सम्बन्धी मानव-जीवन के उद्देश्यों की सिद्धि के लिए वर्ण-धर्म का पालन करना चाहिए किन्तु ज्ञान, उपासना और दान के लिए इस प्रकार का कोई प्रतिबन्ध नहीं है।[३] अर्थात् वर्ण-व्यवस्था

---

१. चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ॥ गीता ॥ ४/१३

२. स्वे-स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥ १८/४५

३. सन्तोषस्त्रिषु कर्त्तव्यः स्वदारे भोजने धने।
त्रिषु चैव न कर्त्तव्योऽध्ययने जपदानयोः ॥

का प्रावधान अर्थ-साधन के लिए है, धर्म-साधन के लिए नहीं। हिन्दू-संस्कृति के अन्तर्गत वर्ण-व्यवस्था जहाँ एक ओर लौकिक आकांक्षाओं को घटाकर मनुष्य को पूर्ण अपरिग्रह की ओर ले जाती है, वहाँ दूसरी ओर पूर्ण ज्ञान, पूर्ण आनन्द और पूर्ण शक्ति का भोक्ता बनने की प्रेरणा भी प्रदान करती है।

वर्ण की उत्पत्ति—वर्णों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कई सिद्धान्त प्रचलित हैं। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त ऋग्वेद के 'पुरुषसूक्त'[१] में प्राप्त होता है जिसके अनुसार सर्वशक्तिमान् पुरुष के मुख से ब्राह्मण की, बाहु से क्षत्रिय की, ऊरू से वैश्य की तथा पैरों से शूद्र की उत्पत्ति हुई। इस सिद्धान्त में समाज को एक विराट पुरुष माना गया है जिसके वर्ण विभिन्न अंग हैं। यह समाज का जैविक सिद्धान्त (Organic Theory) है। जिस प्रकार शरीर के विभिन्न अंगों के कार्य पृथक्-पृथक् होते हुए भी उनमें परस्पर-पूरकता पायी जाती है और सभी अपने-अपने गुणों के अनुसार शरीर की सेवा करते हैं, ठीक उसी प्रकार विभिन्न वर्णों के कार्य पृथक्-पृथक् होते हुए भी उनमें परस्परावलम्बन है और सब मिलकर समाजरूपी शरीर की सेवा करते हैं। विभिन्न वर्णों में संघर्ष नहीं, वरन् सहयोग होना चाहिए।

भृगु-संहिता के अनुसार ब्रह्मा ने सर्वप्रथम केवल ब्राह्मणों की सृष्टि की। पर आगे चलकर मानव-जाति के उनके रंगों के अनुसार चार वर्ण विकसित हो गये। ब्राह्मणों का रंग सफेद, क्षत्रियों का लाल, वैश्यों का पीला तथा शूद्रों का रंग काला था। किन्तु आगे चलकर स्वयं भृगु मुनि को स्वीकार करना पड़ा कि रंग के आधार पर वर्णों का वैज्ञानिक विभाजन नहीं किया जा सकता। वर्णों के विभाजन का वास्तविक आधार तो कर्म है। जो सत्त्व-गुण प्रधान थे वे ब्राह्मण कहलाये; जो रजोगुण-प्रधान थे वे क्षत्रिय हुए; जो तमोमिश्रित रज:प्रधान व्यक्ति थे वे वैश्य कहलाये तथा जो तमोगुण-प्रधान थे उन्हें शूद्र के नाम से अभिहित किया गया। भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में इसी मत का प्रतिपादन किया था। उनके अनुसार वर्ण शरीर के अंग की वस्तु न होकर स्वभाव का तथ्य है जो किसी भी अवस्था में परिवर्तित नहीं होता। चातुर्वर्ण्य प्रकृति में स्थिति रहता है।[२] अपने पूर्व संस्कारों के अनुसार जिसको जैसी प्रकृति मिली है, वही उसका वर्ण है।

वर्ण-परिवर्तन—चूँकि वर्ण-व्यवस्था जन्म पर नहीं, बल्कि कर्म पर आधारित है, अत: एक वर्ण में जन्म लेने के बाद भी यदि किसी व्यक्ति के गुण और कर्म उस वर्ण से पृथक् हैं तो उसका वर्ण उसके गुण और कर्म द्वारा ही निर्धारित समझा जायगा। महाभारत में भगवान् वेदव्यास ने वर्ण-व्यवस्था के बारे में बड़ा अच्छा वर्णन किया है—पांडव जुए में हारकर बारह वर्ष का वनवास भोगते हुए द्वैतवन जा पहुँचे। वहाँ एक दिन भीम को अजगर रूपधारी शाप-भ्रष्ट राजर्षि नहुष ने अपनी पकड़ में ले लिया। थोड़ी देर

---

१. ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्, बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः, पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥ —ऋग्वेद

२. प्रकृतिविशिष्टं चातुर्वर्ण्यसंस्कार विशेषाच्च।

बाद राजा युधिष्ठिर पहुँचे और नहुष से भीम को छोड़ देने का अनुनय-विनय करने लगे। नहुष के प्रश्नों का उत्तर देने के बाद उसने भीम को छोड़ा।

अजगर ने प्रश्न किया, "ब्राह्मण कौन है?" युधिष्ठिर ने उत्तर दिया, "सत्य, दान, क्षमा, शील, सहृदयता, तप, दया इत्यादि जिसमें हो, वही ब्राह्मण है।"[१] यदि शूद्र में भी ये गुण पाये जायँ, तो क्या वह भी ब्राह्मण कहा जायगा? ऐसा संशय नागराज को हुआ। महाराज युधिष्ठिर ने उत्तर दिया, "शूद्र में यदि आचार के ये लक्षण हों तो वह शूद्र नहीं रहा। ब्राह्मण में यदि ये लक्षण न हों तो वह ब्राह्मण नहीं रहा।"[२] जिसमें चरित्र है, वही ब्राह्मण है, जिसमें चरित्र नहीं है, वह शूद्र है।[३] यदि चरित्र से ही ब्राह्मण होता है तो इसका अर्थ यह हुआ कि बिना चरित्र या कर्म के जाति व्यर्थ हो जाती है, ऐसा अजगर ने प्रश्न किया। इसका उत्तर देते हुए राजा युधिष्ठिर ने कहा,[४] "हे नागराज! यहाँ जाति-पाँति, है ही कहाँ? कौन-सी वह जाति है, जहाँ वर्ण का संकर नहीं हुआ। वर्णों के परस्पर सम्मिश्रण के कारण मेरी सम्मति में जाति की ठीक पहचान करना व्यर्थ ही है। जो तत्त्व-दर्शी हैं उनके मत में शील ही मनुष्य है। जन्म के बाद यदि वर्णों के जातकर्म आदि संस्कार भी किये जायँ, पर यदि किसी में चरित्र नहीं हुआ, तो मैं उसे वर्ण-संकर की हालत में ही पड़ा समझूँगा। इसलिए, "हे नागराज! मैंने पहले ही यह कहा कि जिस व्यक्ति में निखरा हुआ चरित्र है, वही ब्राह्मण है।" आगे चलकर कहा गया है कि पुण्य कर्म द्वारा वर्णों में उत्कर्ष सम्भव है।[५] पुनः ऐसा कहा गया है कि न तो कुल द्वारा और न जन्म द्वारा ही, बल्कि कर्म द्वारा ही लोग ब्राह्मण होते हैं। एक चाण्डाल भी अपने शुभ कर्मों द्वारा ब्राह्मण हो जाता है।[६] इस प्रकार हम निष्कर्ष निकालते हैं कि वर्ण का सम्बन्ध गुण व कर्म से है, जाति से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

२. आश्रम-व्यवस्था

हिन्दू संस्कृति उत्पादन में व्यक्तिवादी, वितरण में समाजवादी तथा उपभोग में

---

१. सत्यं, दानं क्षमा शीलमानृशंस्यं तपो घृणा।
दृश्यते यत्र नागेन्द्र, स ब्राह्मण इति स्मृतः॥

२. शूद्रे तु यद्भवेल्लक्षण, द्विजे तच्च न विद्यते।
न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो, ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः॥

३. यत्रैतल्लक्ष्यते सर्प वृतं, स ब्राह्मणः स्मृतः।
यत्रै तत्र भवेद् सर्प, तं शूद्रमितिं निर्दिशेत्॥

४. जातिरत्र महासर्प, मनुष्यत्वे महामते।
संकरात् सर्ववर्णानाम्, दुष्परीक्ष्येति मे मतिः॥
यत्रेदानीं महासर्प, संस्कृतं वृत्तमिष्यते।
तं ब्राह्मणमहं पूर्वमुक्तवान् भुजगोत्तम॥

५. वर्णोत्कर्ष अवाप्नोति नरः पुण्येनकर्मणा। —शान्ति-पर्व

६. न कुलेन जात्या वा क्रियाभि र्ब्राह्मणो भवेत्।
चण्डालोऽपि हि वृत्तस्थो ब्राह्मणः स युधिष्ठिर!॥

संयमवादी और त्यागवादी है। हम इहलोक की अपेक्षा परलोक पर विशेष ध्यान देते हैं। जीवन का उद्देश्य केवल भोग की प्राप्ति ही नहीं है, वरन् योग या मोक्ष की प्राप्ति भी है। पर यह कार्य एकाएक नहीं हो सकता। यथार्थ और आदर्श दोनों के समन्वय से ही मोक्ष की प्राप्ति की जा सकती है। कुछ लोग कहते हैं कि भारतीय संस्कृति केवल मोक्षवादी है और वह मानव-जीवन की वास्तविकताओं की उपेक्षा करती है। पर बात ऐसी नहीं है। हिन्दू-संस्कृति ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास तथा अर्थ, धर्म, काम एवं मोक्ष सभी के समन्वय और सामञ्जस्य में विश्वास करती है। हिन्दू-समाज में आश्रम-व्यवस्था का यही रहस्य है।

आश्रम-व्यवस्था व्यावहारिकता एवं आध्यात्मिकता के बीच अपूर्व समन्वय स्थापित करती है। मानव-जीवन जड़ नहीं है, वह गतिमान है। उसका एक प्रस्थान-बिन्दु है और एक गन्तव्य-बिन्दु है। अत: यह आवश्यक है कि उस गति को इस प्रकार नियमित एवं नियंत्रित किया जाय कि जीवन का अन्तिम लक्ष्य अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति हो जाय। यह त्यागमय भोग का आदर्श मूर्तरूप है। ब्रह्मचर्याश्रम में हम ज्ञान की प्राप्ति करते हैं, गृह-स्थाश्रम भोग का सम्यक् ज्ञान प्राप्त कराता है, वानप्रस्थ हमें निर्लिप्तता का पाठ पढ़ाता है तथा संन्यासाश्रम द्वारा हमें मोक्ष की प्राप्ति होती है। ये चारों आश्रम मानव-जीवन के चार विश्राम-स्थाल हैं जो हमारी जीवन-यात्रा को सुगम बनाकर हमें लक्ष्य की प्राप्ति कराते हैं। शतपथ ब्राह्मण में इसका स्पष्ट उल्लेख है कि "प्रत्येक व्यक्ति को पहले ब्रह्मचर्याश्रम में प्रवेश करना चाहिए, उसके बाद गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहिए, गृहस्थ के बाद उसे वानप्रस्थी हो जाना चाहिए तथा अन्तिम अवस्था में उसे संन्यास ग्रहण कर लेना चाहिए।"[१]

'आश्रम' शब्द का अर्थ—'आश्रम' शब्द संस्कृत के 'श्रम' धातु से व्युत्पन्न है जिसका अर्थ है प्रयास या परिश्रम करना। इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'आश्रम' का अर्थ है—(अ) वह विश्राम-स्थाल जहाँ थोड़े समय तक व्यक्ति रुककर फिर अपने जीवन के कार्य सम्पादित करता है और (ब) वह स्थल जहाँ से व्यक्ति अपने जीवन की अगली यात्रा की तैयारी करता है। अत: 'आश्रम' शब्द 'श्रम' और 'विश्राम' दोनों का परिचायक है। महाभारत में श्री व्यास ने लिखा है कि जीवन के चार विश्राम-स्थल या आश्रम को चार सरणियों वाली एक सीढ़ी समझना चाहिए जो व्यक्ति को 'ब्रह्म' (गन्तव्य) तक पहुँचाने के लिए प्रयोग में लायी जा सकती है।

आश्रम-व्यवस्था की दार्शनिक व्याख्या

भारतीय दर्शन में ज्ञान और कर्म का विवाद बहुत प्राचीन है। मीमांसकों के अनुसार मनुष्य इस जीवन में यज्ञादि कर्मों को करता हुआ ब्रह्म को प्राप्त कर सकता है (धर्मब्रह्मणी वेरक वेधे)। इसके विपरीत अद्वैत वेदान्तियों के अनुसार ब्रह्म ज्ञान-स्वरूप है

---

१. ब्रह्मचर्य्याश्रमं समाप्य गृही भवेत्।
गृही भूत्वा बनी भवेत्, वनीभूत्वा प्रव्रजेत्॥

और वह ज्ञान के द्वारा ही गम्य है। विशिष्टाद्वैत के अनुसार ब्रह्म, ज्ञान और कर्म दोनों के समुच्चय से ही प्राप्त किया जा सकता है। आश्रम-व्यवस्था भी ज्ञान-कर्म-समुच्चयवाद में विश्वास रखती है। इसमें ब्रह्मचर्य और संन्यास आश्रम ज्ञानार्जन-प्रधान और गृहस्थ तथा वानप्रस्थ कर्म-प्रधान थे। इस प्रकार अपने जीवन के सौ साल में पचास वर्ष ज्ञानार्जन और पचास वर्ष कर्मार्जन द्वारा व्यक्ति ब्रह्मत्व को प्राप्त कर सकता है। आश्रम-व्यवस्था का यही दार्शनिक महत्त्व है।

आश्रमों का विभाजन—सामाजिक संगठन की दृष्टि से जिस प्रकार सम्पूर्ण समाज को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों में विभाजित किया गया है उसी प्रकार व्यक्तिगत जीवन को समुन्नत बनाने के लिए जीवन-यात्रा के सम्पूर्ण काल को चार आश्रमों में विभाजित कर दिया गया था। उनके नाम हैं—(१) ब्रह्मचर्याश्रम, (२) गृहस्थाश्रम, (३) वानप्रस्थाश्रम और (४) संन्यासाश्रम। इनका नीचे संक्षिप्त वर्णन किया जाता है—

१. ब्रह्मचर्याश्रम—ब्रह्मचर्य (ब्रह्म + चर्य) का अर्थ है ऐसे मार्ग पर चलना जिससे मनुष्य शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक सभी दृष्टियों से महान् बन सके। उपनयन संस्कार द्वारा बालक द्विज घोषित किया जाता था (संस्कारात् द्विज उच्यते)। यह संस्कार व्यक्ति को अनुशासित जीवन व्यतीत करने के लिए आमंत्रित करता है। ब्रह्मचर्याश्रम का प्रमुख उद्देश्य है बालक को विद्यार्जन कराना। इसके लिए बालकों को गुरुकुल में भेज दिया जाता था। ब्राह्मण धर्म का, क्षत्रिय शस्त्र का तथा वैश्य व्यापार का अध्ययन करते थे। शूद्रों को गुरुकुल में पढ़ने का निषेध था। पठन-पाठन के द्वारा बालक ऋषि-ऋण से उऋण होने का प्रयत्न करता था। मनु ने तीन प्रकार के ब्रह्मचर्य की कल्पना की है—शारीरिक ब्रह्मचर्य, मानसिक ब्रह्मचर्य एवं आध्यात्मिक ब्रह्मचर्य। ब्रह्मचारी को इन तीनों का पालन करना चाहिए। निश्चित पाठ्यक्रम समाप्त करने के बाद बालक प्रतीकात्मक स्नान करता था जिसके बाद उसे 'स्नातक' घोषित किया जाता था। 'स्नातक' होने के बाद वह घर लौट आता था। इसे 'समावर्तन' कहते हैं।

२. गृहस्थाश्रम—गृहस्थाश्रम सभी आश्रमों का आधार है। मनु के अनुसार जैसे सब जन्तु वायु के आधार पर जीवित रहते हैं, वैसे ही सब प्राणी गृहस्थाश्रम से जीवन धारण करते हैं[१]। जैसे सभी नदी-नद समुद्र में जाकर स्थिर होते हैं, वैसे ही तीनों आश्रम गृहस्थ में ही स्थिति प्राप्त करते हैं।[२] गृहस्थाश्रम जीवन के तीन ऋणों—देव-ऋण, पितृ-ऋण एवं ऋषि-ऋण से मुक्त होने का मार्ग भी प्रशस्त करता है। इसके अतिरिक्त गृहस्थाश्रम के द्वारा मनुष्य पंच महायज्ञ (ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ और नृयज्ञ), पाकयज्ञ, हविर्यज्ञ एवं सोमयज्ञ करता है। प्रथम तीन यज्ञों का सम्बन्ध तीन ऋणों से है। भूतयज्ञ का अर्थ है जीवों को भोजन प्रदान करना तथा नृयज्ञ का अर्थ है आतिथ्य-सत्कार करना। ये सारे कार्य गृहस्थाश्रम में ही सम्पादित किये जा सकते हैं। गृहस्थाश्रम धर्म के अर्जन का प्रधान स्रोत है।

---

१. मनुस्मृति ३/७७

२. मनुस्मृति ६/९०

३. वानप्रस्थाश्रम—पचीस वर्ष तक गृहस्थाश्रम में धर्मार्जन करने के बाद लोग वानप्रस्थ में प्रवेश करते थे। यह आश्रम मनुष्य को भोग से योग की ओर तथा राग से त्याग की ओर प्रवृत्त करता है। संसार या परिवार का पूर्ण त्याग तो संन्यासआश्रम में ही सम्भव है। वानप्रस्थाश्रम तो उस परित्याग की तैयारी मात्र है। इसमें व्यक्ति इन्द्रियजन्य सुखों से दूर हो अपना पवित्र जीवन व्यतीत करता था। न केवल गृह व कुल का, बल्कि गाँव का भी आश्रय छोड़कर मनुष्य जंगल में अपनी कुटिया बनाकर रहता था। मनु के अनुसार जब गृहस्थ देख ले कि शरीर की त्वचा ढीली पड़ गयी और सिर के बाल सफेद हो गये, सन्तान की सन्तान हो गयी, तब उसे घर-बार का मोह छोड़कर जंगल की राह लेनी चाहिए।[१] यह निष्काम-कर्म का आश्रम है। वानप्रस्थी अपने को सम्पूर्ण समाज का सदस्य मानता है।

४. संन्यासाश्रम्—यह अन्तिम आश्रम है जो व्यक्ति को मोक्ष-पुरुषार्थ की प्राप्ति कराता है। इसमें मनुष्य सभी वस्तुओं, यहाँ तक कि अपने नाम का भी परित्याग कर देता है। इस अवस्था में उसके सारे सांसारिक बन्धन छूट जाते थे और वह परिव्राजक बन जाता था। संन्यासी वानप्रस्थी की भाँति एक जगह कुटिया बनाकर नहीं रहता था, बल्कि एक स्थान से दूसरे स्थान को घूमता-फिरता था। मनु[२] ने कहा है—आयु के तीसरे भाग में वनों में रहकर साधना में व्यतीत कर चौथे भाग में स्थान तथा सम्बन्ध के सब प्रकार के संगों को तोड़कर परिव्राजक हो जाय। संन्यासी को संसार भर के कल्याण के लिए कार्य करना चाहिए। इसीलिए वह एक स्थान पर स्थायी नहीं रहता।

३. पुरुषार्थ

जीवन के उद्देश्यों एवं अन्तिम लक्ष्य के विषय में संसार में दो प्रकार की परस्पर विरोधी विचारधाराएँ प्रचलित हैं—१. भौतिक विचारधारा जो भोगों की प्राप्ति को ही जीवन का एकमात्र लक्ष्य समझती है और दूसरी आध्यात्मिक विचारधारा जो भोगों को हेय एवं मोक्ष को श्रेय समझती है। प्रथम विचारधारा इहलोक को और द्वितीय परलोक की सिद्धि को अपना लक्ष्य समझती है। पर हिन्दू-विचारधारा भोग और योग तथा प्रेयस् और श्रेयस् दोनों के समन्वय में विश्वास करती है। सांख्य-योग दर्शन के अनुसार प्रकृति भोग और कैवल्य दोनों का माध्यम है। हिन्दू चिन्तन-प्रणाली अर्थ और काम को अन्तिम लक्ष्य तो नहीं मानती, पर उनके साधन-मूल्य को अस्वीकार भी नहीं करती। हिन्दू-संस्कृति के अनुसार जीवन के चार पुरुषार्थ हैं—१. अर्थ, २. धर्म, ३. काम और ४. मोक्ष। इनमें प्रथम तीन अर्थ, धर्म और काम साधन-पुरुषार्थ हैं और अन्तिम पुरुषार्थ मोक्ष साध्य-पुरुषार्थ है। इनका नीचे संक्षिप्त विवरण दिया जाता है। पुरुषार्थ क्या है? पुरुषार्थ का शाब्दिक अर्थ

---

१. गृहस्थस्तु यदा पश्येत् वलीपालितमात्मनः।
अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत्॥

२. वनेषु च विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः।
चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा संगान् परिव्रजेत्॥

है, जीवन के मूल्य अथवा उद्देश्य। भारतीय संस्कृति का विशाल भवन पुरुषार्थ-चतुष्टय (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) पर आधारित है। मोक्ष की प्राप्ति तभी हो सकती है जब धर्मानुकूल अर्थ तथा काम का सेवन किया जाय। आचार्य कौटिल्य ने अपने अर्थ-शास्त्र में लिखा है कि मनुष्य को धर्मानुकूल अर्थ और काम का भोग करना चाहिए।[१] वात्स्यायन ने भी अपने कामशास्त्र में धर्म की सर्वोच्चता को स्वीकार किया है।[२] धर्म, चारों पुरुषार्थों के मध्य की कड़ी है। एक ओर यह अर्थ और काम पर अंकुश रखता है और दूसरी ओर मोक्ष को सरल बनाता है।

१. **धर्म**—धर्म का वास्तविक अर्थ कर्त्तव्य, सत्कार्य या गुण होता है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'धर्म' शब्द 'धृ' धातु से बना है जिसका अर्थ है—धारण करना। अर्थात् वह जो धारण करता है अथवा किसी वस्तु के अस्तित्व को बनाये रखता है, वही धर्म है। धर्मशास्त्र में स्पष्ट कहा गया है कि धारण करने वाले को धर्म कहते हैं।[३] इसी प्रकार वैशेषिक दर्शन के अनुसार जिससे इस लोक में अभ्युदय और परलोक में परम कल्याण की प्राप्ति हो, वही धर्म है।[४]

धर्म के दो पहलू हैं—१. सार्वभौमिक पहलू और २. सामाजिक पहलू। सार्वभौमिक पहलू का अर्थ यह है कि धर्म के नैतिक कर्त्तव्यों का क्षेत्र केवल किसी विशेष समूह, जाति या प्रान्त, देश या काल तक ही सीमित नहीं है। धर्म सम्पूर्ण विश्व के प्रति कर्त्तव्य-पालन का आवाहन करता है। गौतम के अनुसार सब प्राणियों पर दया, क्षमा, अनसूया, शुचिता अतिश्रमवर्जन, शुभ में प्रवृत्ति, दानशीलता और निर्लोभता ये आठ सार्वभौमिक धर्म के लक्षण हैं।[५] जहाँ तक धर्म के सामाजिक पहलू का सम्बन्ध है, वह व्यक्ति के सामाजिक जीवन के नियमों और कर्त्तव्यों की ओर संकेत करता है। इसमें वर्ण-धर्म, आश्रम-धर्म, कुल-धर्म, कालगत एवं देशगत धर्म, राज-धर्म, स्व-धर्म, इत्यादि धर्मों का समावेश पाया जाता है।

२. **अर्थ**—हिन्दू संस्कृति ने जीवन के व्यावहारिक पक्ष की कभी भी उपेक्षा नहीं की है। उदाहरण के लिए धर्म का पालन तब तक सम्भव नहीं, जब तक कि व्यक्ति के पास पर्याप्त अर्थ न हो। पंचमहायज्ञों की सिद्धि बिना अर्थ के सम्भव नहीं है। अतः 'अर्थ' भी जीवन का एक महत्त्वपूर्ण पुरुषार्थ है।

पर यहाँ 'अर्थ' का तात्पर्य केवल धन, सम्पत्ति या मुद्रा नहीं है। यह भौतिक सुखों की सभी आवश्यकताओं और साधनों का द्योतक है। अर्थ मनुष्य की शक्ति एवं ऐश्वर्य प्राप्त करने की इच्छा के लिए प्रयुक्त हुआ है।

जीवन में अर्थ का पर्याप्त महत्त्व है। गोस्वामी तुलसीदास ने दरिद्रता को महापाप

---

१. धर्मानुकूलौ अर्थकामौ सेवेत्।

२. शरीरस्थितिहेतुत्वात् आहार सधर्मः कामः।

३. धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयति प्रजाः।

४. यतोऽभ्युदयनिः श्रेयससिद्धिः स धर्मः।

५. अथाष्टावात्मागुणाः। दया सर्वभूतेषु क्षान्तिरनुसूया शौचमनायासो मंगलमकार्पण्यमस्पृहेति॥

माना है। धर्मानुसार धन-संग्रह करना कोई बुरी बात नहीं है। किन्तु व्यक्ति को वहीं तक धन-संग्रह करना चाहिए जहाँ तक कि उसकी आवश्यकताओं की तुष्टि हो सके। अतिरिक्त धन का तो वह केवल समाज की ओर से संरक्षक (Trustee) है। अतिरिक्त धन का व्यय समाज-कल्याण के लिए करना चाहिए।

३. काम—'काम' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया जाता है—१. संकुचित अर्थ जिसके अनुसार काम केवल इन्द्रिय-सुख या यौन-प्रवृत्तियों की संतुष्टि मात्र है। २. व्यापक अर्थ में 'काम' का प्रयोग मनुष्य की समस्त प्रवृत्तियों, इच्छाओं एवं कामनाओं के लिए किया जाता है। 'काम' मनुष्य की प्राणिशास्त्रीय आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। इसका एक सांस्कृतिक पक्ष भी है और वह है 'जीवन का आनन्द'। आनन्द केवल भौतिक ही नहीं, वरन् मानसिक, हृदयसम्बन्धी एवं कलात्मक भी हो सकता है। 'काम' शब्द इन सभी संकलित अर्थों को अभिव्यक्त करता है। यौनसुख, इन्द्रियसुख, नाटक, साहित्य, संगीत, नृत्य, कविता, चित्रकला, मूर्तिकला आदि सभी वस्तुएँ 'काम' के भीतर आ जाती हैं।

'काम' से शारीरिक सुख मिलता है, मानसिक शान्ति प्राप्त होती है और संतान उत्पन्न होने पर पारमार्थिक लाभ की सम्भावना भी बढ़ जाती है। समुचित भोगों की तृप्ति के बाद योग या विरक्ति की भावना का भी उदय होता है। मनुस्मृति[1] के अनुसार वेद का अध्ययन एवं कर्त्तव्य-पालन काम पर आधारित है। गीता[2] में भी भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है कि "मैं वही काम हूँ जो धर्म के विरुद्ध नहीं है।" इस प्रकार धर्म-अविरुद्ध काम का जीवन में पर्याप्त महत्त्व है।

४. मोक्ष—'मोक्ष' जीवन का अन्तिम पुरुषार्थ है। भौतिक सुख हमें शाश्वत आनन्द की प्राप्ति नहीं करा सकते। वह अनित्य एवं क्षणिक होता है। नित्य एवं शाश्वत आनन्द की प्राप्ति मोक्ष द्वारा ही सम्भव है।

'मोक्ष' का वास्तविक अर्थ है—आत्मा का परमात्मा के साथ एकीकरण। सांख्य के अनुसार, पुरुष की नैसर्गिक स्थिति की प्राप्ति ही मोक्ष है। गीता[3] के अनुसार जिन्हें पूर्ण आत्म-ज्ञान प्राप्त है, उन्हें ब्रह्मनिर्वाणरूपी मोक्ष आप ही आप मिल जाता है। "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति" अर्थात् जिसने ब्रह्म को जान लिया वह ब्रह्म (मुक्त) ही हो जाता है। अद्वैत-वेदान्त के अनुसार मोक्ष : पूर्ण ज्ञान, पूर्ण सत्य और अनन्त ज्ञान की वह स्थिति है जिसमें कि आत्मा अपने चरम लक्ष्य परमात्मा को प्राप्त कर लेता है। संक्षेप में—सत्यं, शिवं एवं सुन्दरं की प्राप्ति ही मोक्ष है।

कर्म-मार्ग, भक्ति-मार्ग एवं ज्ञान-मार्ग मोक्ष-प्राप्ति के तीन साधन हैं। पर तीनों में कोई विरोध नहीं है। तीनों मोक्ष प्राप्त कराने में सक्षम हैं।

●

---

१. काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः। —मनुस्मृति
२. धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ। —गीता
३. अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् —गीता ५/२६

है, जीवन के मूल्य अथवा उद्देश्य। भारतीय संस्कृति का विशाल भवन पुरुषार्थ-चतुष्टय (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) पर आधारित है। मोक्ष की प्राप्ति तभी हो सकती है जब धर्मानुकूल अर्थ तथा काम का सेवन किया जाय। आचार्य कौटिल्य ने अपने अर्थ-शास्त्र में लिखा है कि मनुष्य को धर्मानुकूल अर्थ और काम का भोग करना चाहिए।[१] वात्स्यायन ने भी अपने कामशास्त्र में धर्म की सर्वोच्चता को स्वीकार किया है।[२] धर्म, चारों पुरुषार्थों के मध्य की कड़ी है। एक ओर यह अर्थ और काम पर अंकुश रखता है और दूसरी ओर मोक्ष को सरल बनाता है।

१. धर्म—धर्म का वास्तविक अर्थ कर्त्तव्य, सत्कार्य या गुण होता है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'धर्म' शब्द 'धृ' धातु से बना है जिसका अर्थ है—धारण करना। अर्थात् वह जो धारण करता है अथवा किसी वस्तु के अस्तित्व को बनाये रखता है, वही धर्म है। धर्मशास्त्र में स्पष्ट कहा गया है कि धारण करने वाले को धर्म कहते हैं।[३] इसी प्रकार वैशेषिक दर्शन के अनुसार जिससे इस लोक में अभ्युदय और परलोक में परम कल्याण की प्राप्ति हो, वही धर्म है।[४]

धर्म के दो पहलू हैं—१. सार्वभौमिक पहलू और २. सामाजिक पहलू। सार्वभौमिक पहलू का अर्थ यह है कि धर्म के नैतिक कर्त्तव्यों का क्षेत्र केवल किसी विशेष समूह, जाति या प्रान्त, देश या काल तक ही सीमित नहीं है। धर्म सम्पूर्ण विश्व के प्रति कर्त्तव्य-पालन का आवाहन करता है। गौतम के अनुसार सब प्राणियों पर दया, क्षमा, अनसूया, शुचिता अतिश्रमवर्जन, शुभ में प्रवृत्ति, दानशीलता और निर्लोभता ये आठ सार्वभौमिक धर्म के लक्षण हैं।[५] जहाँ तक धर्म के सामाजिक पहलू का सम्बन्ध है, वह व्यक्ति के सामाजिक जीवन के नियमों और कर्त्तव्यों की ओर संकेत करता है। इसमें वर्ण-धर्म, आश्रम-धर्म, कुल-धर्म, कालगत एवं देशगत धर्म, राज-धर्म, स्व-धर्म, इत्यादि धर्मों का समावेश पाया जाता है।

२. अर्थ—हिन्दू संस्कृति ने जीवन के व्यावहारिक पक्ष की कभी भी उपेक्षा नहीं की है। उदाहरण के लिए धर्म का पालन तब तक सम्भव नहीं, जब तक कि व्यक्ति के पास पर्याप्त अर्थ न हो। पंचमहायज्ञों की सिद्धि बिना अर्थ के सम्भव नहीं है। अतः 'अर्थ' भी जीवन का एक महत्त्वपूर्ण पुरुषार्थ है।

पर यहाँ 'अर्थ' का तात्पर्य केवल धन, सम्पत्ति या मुद्रा नहीं है। यह भौतिक सुखों की सभी आवश्यकताओं और साधनों का द्योतक है। अर्थ मनुष्य की शक्ति एवं ऐश्वर्य प्राप्त करने की इच्छा के लिए प्रयुक्त हुआ है।

जीवन में अर्थ का पर्याप्त महत्त्व है। गोस्वामी तुलसीदास ने दरिद्रता को महापाप

---

१. धर्मानुकूलौ अर्थकामौ सेवेत्।

२. शरीरस्थितिहेतुत्वात् आहार सधर्मः कामः।

३. धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयति प्रजाः।

४. यतोऽभ्युदयनिः श्रेयससिद्धिः स धर्मः।

५. अथाष्टावात्मागुणाः। दया सर्वभूतेषु क्षान्तिरनसूया शौचमनायासो मंगलमकार्पण्यमस्पृहेति॥

माना है। धर्मानुसार धन-संग्रह करना कोई बुरी बात नहीं है। किन्तु व्यक्ति को वहीं तक धन-संग्रह करना चाहिए जहाँ तक कि उसकी आवश्यकताओं की तुष्टि हो सके। अतिरिक्त धन का तो वह केवल समाज की ओर से संरक्षक (Trustee) है। अतिरिक्त धन का व्यय समाज-कल्याण के लिए करना चाहिए।

३. काम—'काम' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया जाता है—१. संकुचित अर्थ जिसके अनुसार काम केवल इन्द्रिय-सुख या यौन-प्रवृत्तियों की संतुष्टि मात्र है। २. व्यापक अर्थ में 'काम' का प्रयोग मनुष्य की समस्त प्रवृत्तियों, इच्छाओं एवं कामनाओं के लिए किया जाता है। 'काम' मनुष्य की प्राणिशास्त्रीय आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। इसका एक सांस्कृतिक पक्ष भी है और वह है 'जीवन का आनन्द'। आनन्द केवल भौतिक ही नहीं, वरन् मानसिक, हृदयसम्बन्धी एवं कलात्मक भी हो सकता है। 'काम' शब्द इन सभी संकलित अर्थों को अभिव्यक्त करता है। यौनसुख, इन्द्रियसुख, नाटक, साहित्य, संगीत, नृत्य, कविता, चित्रकला, मूर्तिकला आदि सभी वस्तुएँ 'काम' के भीतर आ जाती हैं।

'काम' से शारीरिक सुख मिलता है, मानसिक शान्ति प्राप्त होती है और संतान उत्पन्न होने पर पारमार्थिक लाभ की सम्भावना भी बढ़ जाती है। समुचित भोगों की तृप्ति के बाद योग या विरक्ति की भावना का भी उदय होता है। मनुस्मृति[१] के अनुसार वेद का अध्ययन एवं कर्त्तव्य-पालन काम पर आधारित है। गीता[२] में भी भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है कि "मैं वही काम हूँ जो धर्म के विरुद्ध नहीं है।" इस प्रकार धर्म-अविरुद्ध काम का जीवन में पर्याप्त महत्त्व है।

४. मोक्ष—'मोक्ष' जीवन का अन्तिम पुरुषार्थ है। भौतिक सुख हमें शाश्वत आनन्द की प्राप्ति नहीं करा सकते। वह अनित्य एवं क्षणिक होता है। नित्य एवं शाश्वत आनन्द की प्राप्ति मोक्ष द्वारा ही सम्भव है।

'मोक्ष' का वास्तविक अर्थ है—आत्मा का परमात्मा के साथ एकीकरण। सांख्य के अनुसार, पुरुष की नैसर्गिक स्थिति की प्राप्ति ही मोक्ष है। गीता[३] के अनुसार जिन्हें पूर्ण आत्म-ज्ञान प्राप्त है, उन्हें ब्रह्मनिर्वाणरूपी मोक्ष आप ही आप मिल जाता है। "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति" अर्थात् जिसने ब्रह्म को जान लिया वह ब्रह्म (मुक्त) ही हो जाता है। अद्वैत-वेदान्त के अनुसार मोक्ष : पूर्ण ज्ञान, पूर्ण सत्य और अनन्त ज्ञान की वह स्थिति है जिसमें कि आत्मा अपने चरम लक्ष्य परमात्मा को प्राप्त कर लेता है। संक्षेप में—सत्यं, शिवं एवं सुन्दरं की प्राप्ति ही मोक्ष है।

कर्म-मार्ग, भक्ति-मार्ग एवं ज्ञान-मार्ग मोक्ष-प्राप्ति के तीन साधन हैं। पर तीनों में कोई विरोध नहीं है। तीनों मोक्ष प्राप्त कराने में सक्षम हैं।

●

---

१. काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः। —मनुस्मृति

२. धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ। —गीता

३. अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् —गीता ५/२६

परिशिष्ट–२

सामाजिक परिवर्तन

१. ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

यदि समाज-परिवर्तन के इतिहास पर दृष्टि डाली जाय तो हम देखेंगे कि समाज-परिवर्तन का कार्य सर्वप्रथम धर्म ने अपनाया। धर्म की मान्यता है कि समाज व्यक्तियों से मिलकर बना है। अत: यदि आध्यात्मिक साधना द्वारा व्यक्तियों को दिव्य बना दिया जाय तो समाज स्वत: दिव्य हो जायगा। धर्म मूलत: व्यक्ति-केन्द्रित है। किन्तु ढाई हजार वर्षों के धर्म के इतिहास का यह अनुभव है कि धर्म ने आदर्श व्यक्ति बनाने में चाहे जितनी सफलता पाई हो, आदर्श समाज के निर्माण में उतना सफल नहीं रहा। वास्तविकता यह है कि संसार में धर्म के नाम पर जितने संघर्ष, शोषण और प्रताड़न हुए हैं उतने अन्य कारण से नहीं। यही कारण है कि मार्टिन लूथर, कबीर, दयानन्द इत्यादि ने धर्म-सुधार के ऊपर सर्वाधिक बल दिया। स्वामी विवेकानन्द ने व्यक्तिगत धर्म के स्थान पर विश्व-धर्म की स्थापना पर बल दिया। महर्षि अरविन्द ने व्यक्तिगत मुक्ति एवं व्यक्तिगत साधना के स्थान पर 'सामूहिक मुक्ति' एवं 'सामूहिक साधना' पर बल दिया।

एक दूसरी कठिनाई यह है कि व्यक्ति अनन्त हैं। अनन्त व्यक्तियों का पृथक्-पृथक् सुधार करना सम्भव नहीं है। अत: व्यक्ति-सुधार की अपेक्षा समाज-सुधार पर विशेष बल देना चाहिए। इसी सन्दर्भ में सामाजिक परिवर्तन की समस्या उत्पन्न होती है। जो लोग सामाजिक परिवर्तन की बात करते हैं, उनके अनुसार समाज में परिवर्तन करके ही व्यक्तियों में परिवर्तन लाया जा सकता है। यदि दो-चार व्यक्ति दिव्य बन ही जायँ तो वे 'नुमाइश' की वस्तु भले ही बन जायँ, उनसे समाज को कोई लाभ नहीं होता। गाँधीजी ने सत्य और अहिंसा का उपदेश दिया। विश्व की बात तो जाने दीजिए, आज भारत में ही गाँधीजी के उपदेशों का पालन करने वाले कितने हैं? जब तक सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन नहीं किया जाता, समाज का कोई भला नहीं हो सकता।

२. प्रतिक्रियावाद अथवा क्रान्तिवाद

संसार में दो प्रकार के समाज-विचारक पाए जाते हैं। प्रथम वे जो समाज में आमूल परिवर्तन (Radical Change) के पक्षधर हैं। उनके अनुसार जब तक समाज में आमूल या उत्कट परिवर्तन नहीं किया जाता तब तक उसमें किसी प्रकार के सुधार की आशा करना व्यर्थ है। ऐसे विचारों को 'क्रान्तिकारी' कहा जाता है। इसके विपरीत कुछ ऐसे भी समाज-विचारक हैं जो परिवर्तन या क्रान्ति-विरोधी होते हैं। उनके अनुसार वर्तमान समाज ही सर्वोत्तम समाज है। वर्तमान सामाजिक व्यवस्था अनन्त काल के

अनवरत प्रयोग व असीम प्रयत्न के परिणामस्वरूप विकसित हुई है। उसकी कुछ मान्यताएँ हैं और कुछ स्थायी मूल्य हैं। किसी भी व्यक्ति को इन मान्यताओं और मूल्यों से समाज को वंचित करने का अधिकार नहीं दिया जा सकता। इस प्रकार के परिवर्तन-विरोधी विचारकों को 'प्रतिक्रियावादी' कहा जाता है।

अब हमारे समक्ष विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या क्रान्तिवाद और प्रतिक्रियावाद परस्पर-विरोधी विचारधाराएँ हैं? क्या इनके बीच समन्वय नहीं किया जा सकता? क्या अतिवादी विचार सत्य के अधिक समीप है या समन्वयवादी विचार? इन सारी बातों पर विचार करने के पूर्व हमें समाज के उस तत्त्व-विज्ञान पर विचार करना होगा जिस पर कोई समाज आधारित हो सकता है।

३. समाज के तात्त्विक आधार

समाज के कुछ तात्त्विक आधार होते हैं जिनकी अवहेलना करने से समाज विकृत और विशृंखलित हो जाता है। समाज के दो-तीन शाश्वत तत्त्व होते हैं जिन पर यहाँ पृथक-पृथक् विचार किया जायेगा।

(क) परस्परपूरकता

सत् वही हो सकता है जिसका अस्तित्व अनिवार्य हो, अर्थात् जिसके न होने की कल्पना भी न की जा सके। सत् स्वयम्भू, आत्म-स्वतन्त्र और पूर्ण होता है।

जगत् की जितनी भी वस्तुएँ दृष्टि, कल्पना या विचार में आती हैं, उनमें से कोई भी इस कसौटी पर पूरी नहीं उतरती। कोई भी वस्तु अनिवार्य, स्वयंभू और पूर्ण नहीं है। हो भी नहीं सकती क्योंकि जगत् नानात्वपूर्ण व विविधतापूर्ण है। 'पूर्ण सत्' का अर्थ है 'सब कुछ' जिसके अतिरिक्त संसार में किसी वस्तु की कल्पना नहीं की जा सकती। परन्तु नाना वस्तुओं में से कोई भी एक वस्तु 'सब कुछ' कैसे हो सकती है? प्रत्येक 'कुछ न कुछ' तो अवश्य है किन्तु उसे 'सब कुछ' कभी नहीं कहा जा सकता। 'जो कुछ हैं' वह पूर्णतया असत् भी नहीं है क्योंकि वह इन्द्रियों को प्रतीत होता है।

अतः जगत् की वस्तुएँ ऐसी हैं कि उनमें सत् पूर्णतः प्रकट नहीं होता; वे सत् की केवल आंशिक अभिव्यक्तियाँ हैं। यदि सत् अंशतः एक रूप में व्यक्त हुआ है तो यह स्वाभाविक है कि उसके शेषांश की अभिव्यक्ति किसी अन्य रूप में होगी। इस प्रकार पूर्णता विभाजित होकर जिन दो या अधिक रूपों में प्रकट होगी वे स्वभावतः एक दूसरे के पूरक होंगे, अर्थात् एक में जिसका अभाव होगा, दूसरे में वह गुण विद्यमान होगा। स्थूल दृष्टि से वे परस्पर-विपरीत या द्वन्द्वात्मक प्रतीत होंगे पर वास्तव में वे एक दूसरे के विरोधी न होकर परिपूरक होंगे। संसार में सत् परिपूरकता के द्वारा व्याप्त है। सृष्टि का यह आधारभूत तथ्य है।

वेद के पुरुष-सूक्त में इसी परस्पर-पूरकता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। समाज के चारों वर्ण—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की उत्पत्ति क्रमशः ब्रह्मा के सिर, भुजाओं, कन्धे और पैर से हुई है। यह कोई काल्पनिक उपमा नहीं है वरन् इसके

माध्यम से समझाने का प्रयत्न किया गया है कि मानव-समाज एक ही परम पुरुष के विभिन्न अंगों की अभिव्यक्ति है। मनुष्य और प्रकृति परम सत्ता के ही प्रतीक एवं अभिव्यक्तियाँ हैं। जिस प्रकार किसी शरीर के अंग-प्रत्यंगों में भिन्नता होते हुए भी उनमें परस्पर-पूरकता पाई जाती है, उसी प्रकार समाज के विभिन्न अंगों में आभासिक विरोध होते हुए भी लक्ष्य में एकता पाई जाती है। यही मानव-समाज का तात्विक आधार है।

(ख) धर्म

सामान्यतः धर्म का अर्थ रिलिजन, मजहब, पंथ अथवा उपासना-विधि से लगाया जाता है। इस अर्थ में धर्म पर्याप्त सीमित, संकुचित और विकृतियों से पूर्ण लगता है। यूरोप में 'रिलिजन' के नाम पर जो भी संघर्ष, द्वेष, पार्थक्य, अत्याचार व दमन हुए, आलोचक उन्हें धर्म पर आरोपित करके देखते हैं और उनका धर्म भेद उत्पन्न करने वाला, सीमित एवं दमनकारी लगता है पर वास्तव में 'रिलिजन' धर्म नहीं है। धर्म बहुत व्यापक तत्त्व है। साधारणतः धर्म की व्याख्या 'धारणात् धर्मम् इत्याहुः' की गई है जिसका अर्थ है, धारणा से ही धर्म नाम प्रचलित हुआ है। "धारणा से धर्म है। अर्थात् जिस वस्तु के कारण, जिस शक्ति के कारण, जिस भाव के कारण, जिन नियमों के कारण अथवा जिस व्यवस्था के कारण कोई वस्तु टिके, वह धर्म है। इसलिए, सम्पूर्ण जन-समाज, प्रजा और उससे भी यदि आगे बढ़ना हो तो सृष्टि की धारणा धर्म के कारण होती है।"

धर्म के मूलभूत तत्त्व सनातन और सर्वव्यापी होते हैं तथापि उनका प्रयोग देश, काल और परिस्थिति के सापेक्ष होता है। समाज में तात्त्विक आधार पर बने नियम ही धर्म होते हैं। स्वभावतः ये नियम मनमाने नहीं हो सकते। ऐसी स्थिति में किसी राज्य का इन नियमों से विरोध होने का कोई प्रश्न ही पैदा नहीं होता।

धर्म भेदकारक नहीं, सामञ्जस्यकारक है। व्यक्ति-व्यक्ति में अनेक सम्बन्धों के बीच, समाज और व्यक्ति में, राज्य और व्यक्ति के बीच, राज्य और समाज के बीच तथा राष्ट्र-राष्ट्र के बीच सामञ्जस्य स्थापित करने का आधार धर्म प्रस्तुत करता है। धर्म व्यक्ति और प्रकृति के बीच भी सामञ्जस्य स्थापित करता है। इस रूप में धर्म का मूल कार्य संघर्ष की स्थिति को टालना और सामञ्जस्य स्थापित करना है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि धार्मिक समाज का तात्पर्य पंथिक समाज या मजहबी समाज के साथ जोड़ दिया जाता है, तथा समाज-व्यवस्था को मजहब के नियमों के आधार पर ही संचालित किया जाता है। इस प्रकार के समाज में मजहब-विशेष जो कहे वह ठीक है और मजहब-विशेष जिसका विरोध करे वह गलत समझा जाता है। इस कारण, ऐसे समाज में अन्य मतावलम्बियों की स्थिति अत्यन्त दयनीय होती है। उन्हें वे अधिकार व सुविधाएँ नहीं प्राप्त होतीं जो उस समाज के पंथ-विशेष के अनुयायियों को प्राप्त होती हैं। पंथिक समाज में कठोरता, असहिष्णुता और अन्य मतावलंबियों के प्रति आक्रामक और उग्र व्यवहार होता है। धार्मिक समाज की कल्पना इसके विपरीत है। धर्म पर आधारित समाज व्यक्ति के विकास, उसके सुख और शान्ति में सम्प्रदाय के स्थान को

स्वीकार करता है। वह सम्प्रदाय की स्वतन्त्रता को भी स्वीकार करता है पर ऐसी स्वतन्त्रता दूसरे सम्प्रदाय के मार्ग में बाधक नहीं बनती।

यदि धर्म की उपर्युक्त व्याख्या स्वीकार की जाय तो क्या कोई समाज या राज्य धर्म-निरपेक्ष हो सकता है? इस प्रश्न का स्पष्ट उत्तर है—कदापि नहीं। समाज या राज्य सम्प्रदाय या मजहब से निरपेक्ष हो सकता है पर धर्म-निरपेक्ष कदापि नहीं हो सकता। धर्म-निरपेक्षता एक आत्मघाती सिद्धान्त है। राज्य का तो काम ही धर्म-व्यवस्था स्थापित करना है। ऐसा कोई राज्य नहीं हो सकता जो समाज में विधि और व्यवस्था स्थापित न करे। यही उसका धर्म है। हमारे देश की यही विडम्बना है कि जो साम्प्रदायिक और मजहबी समाज में जितना ही अधिक विश्वास करता है वह धर्म-निरपेक्षता की उतनी ही अधिक नसीहत देता है।

सच पूछिए तो धर्म का स्थान ईश्वर से भी ऊँचा है। ईश्वर का अवतार ही अधर्म के विनाश और धर्म की स्थापना के लिए होता है। ईश्वर जो सर्वशक्ति-सम्पन्न है, सब कुछ कर सकता है पर अधर्म नहीं कर सकता। धर्म जो व्यक्ति, समाज और यहाँ तक कि सृष्टि का आधार है, उससे निरपेक्ष होने की बात करना आत्मघात करने के समान है। समाज के तात्त्विक आधार में परिवर्तन करने की बात करना समाज को नष्ट करना है। यदि संसार में सब कुछ परिवर्तनशील मान लिया जाय तो फिर परिवर्तन ही किसका होगा? परिवर्तन की सार्थकता के लिए शाश्वत आधार होना नितान्त आवश्यक है।

(ग) धार्मिक सहिष्णुता

समाज के तात्त्विक आधारों में धार्मिक सहिष्णुता का विशेष महत्त्व है पर इस धार्मिक सहिष्णुता का विकास तभी सम्भव है जब समाज सर्वधर्म-समभाव में विश्वास करे। हिन्दू तो स्वभावतः सभी धर्मों का आदर करता है क्योंकि उसके अनुसार **'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'** अर्थात् सत् एक ही है जिसे लोग नाना प्रकार वर्णित करते हैं। समाज में समस्या तब उत्पन्न होती है जब कुछ धर्मावलम्बी विश्वास करने लगते हैं कि उनका धर्म सर्वश्रेष्ठ है, अतः उन्हीं के धर्म का विश्व में साम्राज्य होना चाहिए। इस्लाम व ईसाई धर्म इसी **धार्मिक श्रेष्ठतावाद** (Religious Fundamentalism) में अटूट विश्वास करते हैं। इसी विश्वास के कारण वे छल-छद्म द्वारा हिन्दुओं के धर्मान्तरण (Conversion) का उपक्रम रचते रहते हैं। इस्लाम जेहाद के द्वारा एवं ईसाई धर्म प्रलोभन देकर लोगों का धर्मान्तरण कर अपने साम्राज्य की वृद्धि करने में संलग्न हैं। इसीलिए ऐसे धर्मों को साम्राज्यवादी धर्म के नाम से अभिहित किया जाता है। ऐसी परिस्थिति में धार्मिक सहिष्णुता के लिए कहाँ अवकाश रह जाता है?

भारतवर्ष की विडम्बना यह है कि जो धर्म धार्मिक श्रेष्ठतावाद में विश्वास करते हैं वे धर्म-निरपेक्षता की विशेष रट लगाते हैं। यह उनकी कूटनीति का एक भाग होता है। वे भली-भाँति जानते हैं कि भारत हिन्दू बहुल राष्ट्र होने के कारण न मुस्लिम राष्ट्र हो सकता है और न ईसाई राष्ट्र। अतः जब तक वे देश में अल्पसंख्यक रहेंगे तब तक धर्म-

निरपेक्षता की रट लगाते रहेंगे पर जिस दिन धर्मान्तरण के कारण वे देश में बहुसंख्यक हो जायँगे, धर्म-निरपेक्षता का परित्याग करके भारत को धार्मिक राज्य (Theocratic State) घोषित कर देंगे।

विधर्मियों को धर्म-निरपेक्षता का एक विशेष लाभ है। इसकी आड़ में वे धर्मान्तरण का कार्य बड़ी आसानी से कर लेते हैं। धार्मिक स्वतन्त्रता का दुरुपयोग कर विधर्मी देश में नाना प्रकार के कुकर्म करते रहते हैं और हम सहिष्णुता के नाम पर उन्हें सहन कर लेते हैं। वास्तव में धार्मिक स्वतन्त्रता में धर्मान्तरण की स्वतन्त्रता शामिल नहीं है। धार्मिक स्वतन्त्रता का तात्पर्य केवल इतना है कि प्रत्येक धर्म को अपने धर्म के प्रचार व प्रसार का पूरा अधिकार है किन्तु दूसरे धर्म को विकृत करने का उसे कोई अधिकार नहीं है।

सच पूछा जाय तो सर्वधर्म समभाव मानने वाले ही धर्म-निरपेक्ष हो सकते हैं। धार्मिक श्रेष्ठतावादी कभी भी धर्म-निरपेक्ष नहीं हो सकते। उनकी धर्म-निरपेक्षता आन्तरिक विश्वास के कारण नहीं वरन् कूटनीतिक विवशता है। धार्मिक राज्य में सबसे बड़ा दोष यह होता है कि उसमें केवल एक धर्म-विशेष के लोग ही निवास कर सकते हैं। मुस्लिम राज्य में केवल इस्लाम धर्म मानने वालों को ही सभी मूल अधिकार प्राप्त हैं, अन्य धर्मावलम्बियों को केवल द्वितीय श्रेणी का नागरिक माना जाता है—क़ाफिरों के लिए उसमें कोई स्थान नहीं है। केवल नीच-टहल के लिए ख़िराज गुजार के रूप में मुसलमानों की सेवा के लिए रह सकते हैं। ऐसे क़ाफिरों को जिम्मी कहा जाता है। उन्हें समानता के अधिकार नहीं दिए जा सकते। पाकिस्तान, अफगानिस्तान सऊदी अरब धार्मिक राज्य के उत्तम उदाहरण हैं। भला ऐसे देशों में धार्मिक सहिष्णुता की कभी कल्पना की जा सकती है? कभी नहीं। धार्मिक सहिष्णुता के अभाव में वे राज्य कभी भी स्थिर नहीं रह सकते। संक्षेप में—इस्लाम अपने नागरिकों को तीन भागों में विभाजित करता है—प्रथम मोमिन्स जो इस्लाम के अनुयायी हैं; द्वितीय क़ाफिर जो इस्लाम को न मानकर दूसरे धर्मों के अनुयायी हैं। उन्हें संसार में जिन्दा रहने का कोई अधिकार नहीं है; तृतीय जिम्मी जो इस्लाम की छत्रछाया में द्वितीय श्रेणी के नागरिक के रूप में निवास कर सकते हैं।

४. कार्ल मार्क्स और सामाजिक परिवर्तन

मार्क्स ने समाज के शाश्वत मूल्यों की अवहेलना करके द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और वर्ग-संघर्ष की अनिवार्यता के आधार पर इतिहासमूलक आर्थिक समाजदर्शन का प्रतिपादन किया। उसने मानव-इतिहास को द्वन्द्वात्मक, पक्ष-विपक्ष के उत्तरोत्तर क्रम के रूप में दिखाने का प्रयास किया। मानव समाज दास-वर्ग, स्वामी वर्ग, सम्पन्न वर्ग, सेवक वर्ग, उद्योगपति वर्ग एवं श्रमिक वर्ग के द्वन्द्वों से गुजरता हुआ साम्यवादी समाज की ओर अग्रसर होगा जिसमें कोई वर्ग-भेद शेष नहीं रहेगा और वह पुनः विकृत भी नहीं होगा। वैज्ञानिक ऐगल्स के सहयोग से प्रतिपादित अपने मत को पूर्णतः वैज्ञानिक घोषित करते

हुए मार्क्स ने इसके द्वारा निर्दिष्ट परिणाम को अपरिहार्य बताया है।

मार्क्स के अनुसार पूँजीवाद में ही पूँजीवाद के विनाश के बीच सन्निहित हैं। यह कल्पना साम्यवादी कार्यकर्ताओं को अपनी अन्तिम विजय का विश्वास दिलाने के लिए चाहे लाभप्रद प्रतीत हो किन्तु उससे मानव की सुधारवादी एवं क्रान्तिकारी प्रेरणा नष्ट हो जाती है। वह न तो युग का निर्माता हो सकता है और न क्रान्ति का स्रष्टा ही। जो कुछ पूर्व-निर्धारित है, मनुष्य उसका निमित्त मात्र है, उसका काम विधि के विधान को मात्र त्वरित कर देना है। इसलिए वह मजदूरों का संगठन करके भी उनके हित की चिन्ता नहीं करता बल्कि उन्हें साधन के रूप में ही प्रयोग करता है। मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद भी तव तक काम करता है जब तक पूँजीवाद समाप्त होकर सर्वहारा के अधिनायक के रूप में राज्य सर्वेसर्वा नहीं बन जाता। इसके बाद राज्य इस नियम को काम में नहीं आने देता। प्रतिक्रान्ति को रोकने के नाम पर राज्य अधिकाधिक निरंकुश वनता जाता है तथा जिस दिन राज्य समाप्त होकर राज्यविहीन समाज-व्यवस्था जन्म लेगी, वह एक कल्पनामात्र रह जाता है।

पूँजीवाद एवं समाजवाद दोनों में मानव के सही एवं पूर्ण रूप को नहीं समझा गया। एक में उसे स्वार्थी, अर्थपरायण, संघर्षशील एवं मात्स्यन्याय-प्रवण प्राणी माना गया है तो दूसरी में परिस्थितियों का दास, अकिञ्चन एवं अनास्थामय प्राणी माना गया है। दोनों में मानव का अवमूल्यन है।

५. मानववाद

पूँजीवाद और समाजवाद दोनों भारत के लिए अनुपयुक्त हैं। दोनों एकांगी मत हैं। पाश्चात्य विचारक प्रायः अतिवादी रहे हैं, क्योंकि उन्होंने जीवन की किसी एक ही आवश्यकता पर अधिक बल दिया। फ्रायड ने केवल काम तथा मार्क्स ने केवल अर्थ को ही समस्त मानवीय व्यवहार एवं सामाजिक सम्बन्धों का नियामक घोषित किया। भारत ने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के पुरुषार्थ-चतुष्टय से समुचित समग्र जीवन का दर्शन प्रस्तुत किया है जिसमें सभी दृष्टियों से न केवल मनुष्य की सन्तुष्टि का प्रावधान है अपितु समस्त मानवीय सम्बन्धों का सबल आधार भी है।

पूँजीवाद और साम्यवाद दोनों भोगवादी संस्कृति पर आधारित हैं तथा दोनों में मनुष्य की कल्पना 'आर्थिक मनुष्य' की कल्पना है। पर 'आर्थिक मनुष्य' का प्रत्यय एक अमूर्त प्रत्यय है। भारतीय अर्थनीति में अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष चारों पुरुषार्थों को महत्त्व दिया गया है। भारतीय चिन्तन 'सम्पूर्ण मानव' को इकाई मानकर चलता है। पूँजीवाद का आधार 'आर्थिक मनुष्य' माना गया है तो उसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप समाजवाद ने 'सामूहिक मनुष्य' (Mass Man) की कल्पना की। दोनों व्यवस्थाओं में मनुष्य का अमानवीकरण किया गया। मनुष्य के समग्र रूप का किसी भी व्यवस्था ने विचार नहीं किया। समाजवाद और पूँजीवाद दोनों ने मनुष्य को व्यवस्था के निर्जीव यन्त्र का पुर्जा मात्र बना डाला।

६. परिवर्तन और निरन्तरता

हमें क्रान्तिवाद और प्रतिक्रियावाद दोनों के बीच का मार्ग अपनाना है। केवल परिवर्तन के लिए परिवर्तन करना समाज के लिए उपयोगी नहीं हो सकता है। जहाँ तक जीवन के शाश्वत मूल्यों एवं स्थायी तत्त्वों का सम्बन्ध है उनमें परिवर्तन की कल्पना करना समाज के स्थायी स्तम्भों को ध्वस्त करना है। सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह, त्याग इत्यादि जीवन के शाश्वत मूल्य हैं जिनका परिर्वतन नहीं हो सकता। इनमें परिवर्तन करने से समाज में विग्रह और संघर्ष के लिए पृष्ठभूमि तैयार करना है जिससे आदर्श समाज की स्थापना नहीं की जा सकती। भविष्य के परिवर्तनवादी साम्यवादिता के विषय में गोस्वामी तुलसीदास ने बहुत पहले रामचरितमानस में इस प्रकार व्यक्त किया है—

परत्रिय लम्पट कपट सयाने।
मोह द्रोह ममता लपटाने।
तेइ अभेदवादी ज्ञानी नर।
देखा मैं चरित्र कलिजुग कर।

हमें परिवर्तन केवल उनका करना है जो आदर्श समाज की स्थापना के लिए बाधक हैं। जीर्णशील परम्पराओं, जातिवाद, सम्प्रदायवाद एवं रूढ़िवाद में परिवर्तन करना आवश्यक है। श्रीमती इन्दिरागाँधी की 'अन्तरात्मा की पुकार', मधुलिमये की तथाकथित 'धर्म-निरपेक्षता' तथा श्री चरणसिंह के तथाकथित 'आदर्शवाद' में परिवर्तन ही नहीं वरन् विनाश अनिवार्य है।

इसी को हम सांस्कृतिक क्रान्ति की संज्ञा दे सकते हैं। अन्य देश व समाज की अच्छाइयों को ग्रहण करके भी हम अपने समाज में परिवर्तन ला सकते हैं, यदि उन्हें देशानुकूल ढाला जा सके। जो हमारा है उसे युगानुकूल व जो हमारा नहीं है उसे देशानुकूल बनाकर आगे चलने का विचार करना चाहिए। अत: परिवर्तन निरन्तरता के परिप्रेक्ष्य में ही होना चाहिए अन्यथा हम अराजकता की ओर ही अग्रसर होंगे।

७. सामाजिक परिवर्तन के सिद्धान्त

गतिशीलता और स्थिरता सामाजिक प्रणाली की दो विशेषताएँ हैं। इन दोनों में संतुलन स्थापित करने की प्रक्रिया से सामाजिक प्रणाली विकसित होती है। इसी बात को ध्यान में रखकर आगस्त कॉम्त (Auguste Comte) ने समाजशास्त्र को दो भागों में विभाजित किया है—प्रथम सामाजिक गतिकी (Social Dynamics) एवं द्वितीय सामाजिक स्थैतिकी (Social Statics)। इनमें सामाजिक गतिकी का मुख्य विषय सामाजिक परिवर्तन है तथा सामाजिक स्थैतिकी समाज की निरन्तरता और स्थिरता से सम्बन्धित कारकों का विचार करता है।

समाज परिवर्तनशील है। मनुष्य समाज में जन्म लेता है और समाज में ही उसका विकास होता है। जन्म से मृत्युपर्यन्त मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्राचीन मान्यताओं एवं कार्य प्रणालियों में परिवर्तन लाता रहता है। मनुष्य की

आवश्यकताओं में परिवर्तन के साथ सामाजिक संस्थाओं और संगठनों में भी परिवर्तन होता है। जैसे-जैसे मनुष्य की आवश्यकता में वृद्धि होती है उत्पादन-प्रणाली और प्रौद्योगिकी में भी तदनुरूप परिवर्तन होता है। इसके फलस्वरूप मनुष्य तथा यन्त्र के पारस्परिक सम्बन्ध बदलते रहते हैं। जनसंख्या, पीढ़ी, आवश्यकता, यंत्र तथा मनुष्य के पारस्परिक सम्बन्धों के बीच परिवर्तन के साथ संस्कृति, कार्यप्रणाली, मूल्य पद्धति तथा संगठनों में भी परिवर्तन होता है। इस प्रकार सामाजिक परिवर्तन एक अपरिहार्य सामाजिक यथार्थ है।

पर यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि समाज में सतत परिवर्तन ही होता हो तो यह परिवर्तन किसमें और किसका होता है? सामाजिक प्रणाली की निरन्तरता और विकास के लिए सापेक्ष्य स्थिरता का होना अनिवार्य है। विशुद्ध परिवर्तन एक अमूर्त और काल्पनिक विचार है। किसी स्थिर तत्त्व के परिप्रेक्ष्य में ही परिवर्तन की सार्थकता सिद्ध होती है। समाज इसी स्थिरता और परिवर्तन के बीच सतत संतुलन बनाए रखने की चेष्टा करता है। समाज में यह चिन्ता सदैव बनी रहती है कि परिवर्तन इतना आकस्मिक और क्रान्तिकारी न हो जाय कि किसी संकुल अथवा संगठन की स्थापना ही असम्भव हो जाय तथा समाज इतना स्थिर भी न हो कि उसमें आन्तरिक विकृतियाँ उत्पन्न हो जाय।

किसी भी समूह के सदस्यों के लिए आवश्यक है कि वे जानें कि उनके समूह के लिए क्या वांछनीय और क्या अवांछनीय है। समूह के लिये जो वांछनीय है उसे करने के लिए नवजात शिशु को प्रोत्साहित किया जाता है। समाजशास्त्र में इस प्रक्रिया को **समाजीकरण** कहा गया है। इसके विपरीत समूह जिन क्रियाओं को अवांछनीय समझता है उन पर वह रोक लगाने की चेष्टा करता है। समाजशास्त्र में इस प्रक्रिया को सामाजिक **नियन्त्रण** कहते हैं। इस प्रकार समाज में एक ही साथ परिवर्तन और नियन्त्रण की क्रियाएँ चलती रहती हैं। सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया और कारकों से समाज में बदलाव आता है। समाजीकरण और नियन्त्रण की पद्धति द्वारा समाज निरन्तरता और स्थिरता स्थापित करने की चेष्टा करता है।

सामाजिक परिवर्तन के सिद्धान्तों के अन्तर्गत हम (अ) सामाजिक परिवर्तन की दिशा एवं (ब) सामाजिक परिवर्तन के कारणों से सम्बन्धित सिद्धान्तों का वर्णन का वर्णन करेंगे।

(अ) सामाजिक परिवर्तन की दिशा

प्रारम्भिक समाजशास्त्री आदिम लोगों की संस्कृति को नितान्त गतिहीन समझते थे परन्तु समाजों के वैज्ञानिक अध्ययन से यह विचार त्याग दिया गया है। मानवशास्त्री अब इस बात पर सहमत हैं कि आदिम संस्कृतियों में भी परिवर्तन हुए हैं। यद्यपि उनकी गति इतनी धीमी थी कि वे गतिहीन दिखाई पड़ते थे। पिछले वर्षों में सामाजिक परिवर्तन की गति पर्याप्त तीव्र रही है। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद अनेक देशों की न केवल राजनीतिक संस्थाओं अपितु उनकी वर्गीय रचनाओं, आर्थिक व्यवस्थाओं एवं जीवनशैलियों में महान

परिवर्तन हुए हैं। सामाजिक परिवर्तन की दिशा को व्याख्या करने के लिए अनेक सिद्धान्त प्रस्तुत किए गए हैं जिनमें प्रमुख सिद्धान्त निम्न हैं।

(१) अपकर्षण का सिद्धान्त (Theory of Deterioration)—कुछ समाज दार्शनिकों ने सामाजिक परिवर्तन का ह्रास अथवा अपकर्षण के साथ तादात्म्य स्थापित किया है। उनके अनुसार प्रारम्भिक अवस्था में मनुष्य स्वर्ण-युग सुख की पूर्ण अवस्था में रहता था। कुछ समय के उपरान्त अपकर्षण या ह्रास आरम्भ हो गया जिसके परिणामस्वरूप मनुष्य अपेक्षाकृत पतित अवस्था में पहुँच गया। भारत, फारस एवं सुमेरिया के महाकाव्यों में इसी विचार का प्रतिपादन किया गया है। भारतीय पुराणों के अनुसार मनुष्य चार युगों—सतयुग, त्रेता, द्वापर एवं कलियुग के बीच से गुजरा है। सतयुग सर्वोत्तम चरण था जिसमें मनुष्य ईमानदार, नेक़ एवं पूर्णतया सुखी था। तदपुरान्त पतन प्रारम्भ हो गया। वर्तमान युग कलियुग का युग है जिसमें मनुष्य धोखेबाज, झूठा, बेइमान, स्वार्थी और परिणामतः दुःखी है। प्रारम्भ में इतिहास की ऐसी विचारधारा थी यह समझने योग्य है क्योंकि आजकल जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में हम पतन देख रहे हैं।

(२) चक्रिक सिद्धान्त (Cyclic Theory)—इस सिद्धान्त के अनुसार मानव-समाज कुछ चक्रों के अनुसार गुजरता है। जिस प्रकार दिन के बाद रात्रि एवं रात्रि के बाद दिन अथवा जिस प्रकार प्रकृति के भीतर ऋतुओं का चक्र चलता है, उसी प्रकार समाज का भी पूर्व निर्धारित जीवन-चक्र है और प्रत्येक सभ्यता जन्म, युवावस्था और मृत्यु के चक्र से गुजरती है। स्पेंगलर (Spengler) के अनुसार आधुनिक समाज का अपकर्ष प्रारम्भ हो गया है। यह अपनी वृद्धावस्था को प्राप्त कर चुका है। पर चूँकि इतिहास अपने को दुहराता है, अतएव समाज अपने सभी चरणों से गुजरने के उपरान्त पुनः अपनी प्रारम्भिक अवस्था को लौट आएगा। हिन्दू पुराणों में इसी विचारधारा की पुष्टि प्राप्त होती है जिसके अनुसार कलियुग समाप्त होने के बाद सतयुग पुनः प्रारम्भ हो जायगा। यूनान के स्टोइक (Stoic) दार्शनिकों एवं रोमन दार्शनिकों विशेषकर मार्क्यूस आरिलियस (Marcus Aurelius) की शिक्षाओं में भी इसी विचारधारा का प्रतिपादन किया गया है।

स्पेंगकर ने सामाजिक परिवर्तन के चक्रिक सिद्धान्त की एक अन्य व्याख्या भी प्रस्तुत की है। उनसे आठ बड़ी एवं उच्च सभ्यताओं यथा मिश्री, यूनानी एवं रोमन आदि का अध्ययन करने के बाद निष्कर्ष निकाला कि सभी सभ्यताएँ जन्म, विकास एवं मृत्यु के समान चक्र से गुजरती हैं। उसके अनुसार 'पाश्चात्य सभ्यता का पतन आरम्भ हो चुका है जो अपरिहार्य है।

विभिन्न सभ्यताओं के इतिहास से प्राप्त तथ्यों के आधार पर सोरोकिन (Sorokin) ने निष्कर्ष निकाला कि सभ्यताओं की तीन प्रमुख श्रेणियाँ हैं—काल्पनिक (Ideational), आदर्शात्मक (Idealistic) एवं संवेदनात्मक (Sensate)। काल्पनिक श्रेणी में वास्तविक तथ्यों एवं मूल्यों की व्याख्या किसी अतीन्द्रिय तत्त्व यथा ईश्वर, के माध्यम से करने की चेष्टा की जाती है। इसमें इन्द्रिय-जगत मिथ्या प्रतीत होता है। आदर्शात्मक श्रेणी की सभ्यता में वास्तविकता और मूल्यों को ऐन्द्रिक एवं अतीन्द्रिय दोनों

समझा जाता है। यहाँ संवेदनात्मक एवं काल्पनिक दोनों का समन्वय होता है। इसमें न तो भौतिक सुख को ही सब कुछ मान लिया जाता है और न ही आध्यात्मिक कल्पना की धारा में प्रवाहित हुआ जाता है। संवेदनात्मक श्रेणी की संस्कृति में जीवन पूर्णतया भौतिकवादी मनोवृत्ति से प्रभावित होता है। इसमें इन्द्रिजनित आवश्यकताओं व इच्छाओं की पूर्ति के साधनों की प्रधानता होती है। सोरोकिन के अनुसार पाश्चात्य सभ्यता संवेदनात्मक अवस्था की अविपरिपक्व स्थिति में है जिसे नई काल्पनिक अवस्था में संक्रमित होना चाहिए। अर्नाल्ड टायनवी (Arnold Toynbee) का भी ऐसा ही विचार है।

(३) रेखीय सिद्धान्त (Linear Theory)—कुछ लेखकों ने सामाजिक परिवर्तन के रेखीय सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। उनके अनुसार समाज क्रमशः उच्च श्रेणी के उच्चतर श्रेणी की ओर अग्रसर होता है और वह सदा उन्नति की दिशा में ही आगे बढ़ता है। यह जहाँ से प्रारम्भ होता है वहीं से आगे बढ़ता है, पीछे हटकर उस स्थान को कभी नहीं लौटता। **आगस्त कॉम्टे (August Comte)** ने सामाजिक परिवर्तन की तीन अवस्थाओं की कल्पना है है—प्रथम धार्मिक (Thelogical), द्वितीय आध्यात्मिक (Metaphysical) एवं तृतीय प्रत्यक्षात्मक (Positive)। मनुष्य ने प्रथम दो अवस्थाएँ पार कर ली हैं तथा तीसरी प्रत्यक्षात्मक अवस्था की ओर धीरे-धीरे बढ़ रहा है। प्रथम अवस्था में मनुष्य विश्वास करता है कि किसी पारलौकिक सत्ता ने संसार का निर्माण किया है और वही इसे नियन्त्रित भी करता है। आगे चलकर धार्मिक अवस्था ने आध्यात्मिक अवस्था को जन्म दिया जिसके अनुसार मनुष्य ने सांसारिक घटनाओं की व्याख्या काल्पनिक वस्तुओं के माध्यम से करने की चेष्टा की। प्रत्यक्षात्मक अवस्था में मनुष्य परम कारणों की खोज व्यर्थ समझकर व्याख्यात्मक तथ्यों की खोज करता है जिनका साक्षात प्रत्यक्ष किया जा सके। यह प्रगति की उच्चतम अवस्था है। हर्बर्ट स्पेंसर (Herbert Spencer) का भी लगभग यही विचार था।

(ब) सामाजिक परिवर्तन के कारण

अब तक लेखकों के अनुसार सामाजिक परिवर्तन द्वारा गृहीत दिशाओं का वर्णन किया गया। परन्तु ऊपर कोई भी सिद्धान्त परिवर्तन के कारणों का उल्लेख नहीं करता। सामाजिक परिवर्तन के कारणमूलक सिद्धान्तों में नियतिवादी सिद्धान्त सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है जिसका उल्लेख नीचे किया जायगा।

(४) नियतिवादी सिद्धान्त (Deterministic Theory)—इस सिद्धान्त के अनुसार कुछ निश्चित तत्त्व सामाजिक परिवर्तन के कारण होते हैं। हेगल के वस्तुनिष्ठ विज्ञानवाद से प्रभावित होकर कार्ल मार्क्स (Karl Marx) ने कहा कि जीवन की भौतिक अवस्थाएँ ही सामाजिक परिवर्तन के निश्चयात्मक कारण होते हैं। उसके सिद्धान्त को आर्थिक नियतिवाद (Economic Determinism) अथवा 'इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या' (Materialistic Interpreation of History) के नाम से अभिहित किया जाता है। मार्क्स का विचार था कि मानव इतिहास की गतिविधियाँ भौतिक अवस्थाओं और

आर्थिक अवस्थाओं द्वारा निर्धारित होती हैं तथा उन्हीं के आधार पर समाज की राजनीतिक, बौद्धिक एवं नैतिक संस्थाओं का निर्माण होता है। मानवीय प्रक्रियाएँ जितनीं आर्थिक एवं भौतिक तत्त्वों द्वारा निर्धारित होती हैं उतनी न तो नैतिकता द्वारा और न धर्म या राष्ट्रीयता द्वारा ही निर्धारित होती है। इतिहास की सभी घटनाएँ आर्थिक तत्त्वों द्वारा संचालित होती हैं। इसी को आर्थिक नियतिवाद (Economic Determinism) कहते हैं।

मार्क्स के अनुसार सामाजिक व्यवस्था पाँच अवस्थाओं—प्राच्य, प्राचीन, सामन्ती, पूँजीवादी एवं साम्यवादी से गुजरती हैं। आधुनिक पूँजीवादी व्यवस्था अपने विनाश की ओर अग्रसर हो रही है क्योंकि इसके द्वारा उत्पन्न अवस्थाओं तथा इसके द्वारा उन्मुक्त शक्तियों ने इसके विनाश को अपरिहार्य बना दिया है। इससे वर्ग-संघर्ष सरल हो गया है जिसमें दो वर्गों पूँजीपति और सर्वहारा के मध्य संघर्ष अनिवार्य है। मार्क्स ने लिखा है "जिन शस्त्रों से पूँजीवादियों ने सामन्तवाद को ध्वस्त किया था वही शस्त्र अब स्वयं पूँजीवादियों के विरुद्ध कार्य कर रहे हैं। पूँजीवादियों ने न केवल अपनी मृत्यु के जनक शस्त्रों को उत्पन्न किया अपितु उस सर्वहारा वर्ग को भी जन्म दिया है जो इन शस्त्रों का प्रयोग करेंगे।"

मार्क्स के अनुसार अन्तिम सामाजिक व्यवस्था अपने पूर्ण विकास को तुरन्त प्राप्त नहीं कर लेगी अपितु यह दो अवस्थाओं से गुजरेगी। प्रथम अवस्था में सर्वहारा वर्ग का अधिनायक तन्त्र स्थापित होगा जिसके चलते सर्वहारा वर्ग निरंकुश रूप में शासन करेगा तथा पूँजीवाद के सभी अवशेषों को समाप्त कर देगा। दूसरी अवस्था में, वास्तविक साम्यवाद का उदय होगा जिसमें न कोई राज्य होगा, न वर्ग, न संघर्ष और न शोषण। मार्क्स एक ऐसे समाज की कल्पना करता है जिसमें सामाजिक व्यवस्था ने पूर्णता प्राप्त कर ली हो। उस समाज में **"प्रत्येक से उनकी सामर्थ्यानुसार प्रत्येक को उसकी आवश्यकतानुसार"** का नियम लागू होगा।

मार्क्स के नियतिवादी सिद्धान्त में निस्संदेह एक महान सत्य का प्रतिपादन किया गया परन्तु इसमें पूर्ण सत्य निहित नहीं है। यह ठीक है कि आर्थिक तत्त्व जीवन की सामाजिक अवस्थाओं को प्रभावित करते हैं परन्तु कोई भी प्रबुद्ध व्यक्ति इस मान्यता को स्वीकार नहीं करेगा कि आर्थिक तत्त्व अकेले ही मानव-इतिहास के एकमात्र सक्रिय कारण हैं। अन्य तत्त्व भी इतिहास को प्रभावित करते रहते हैं। मैक्स वेबर (Max Weber) का विचार था कि धर्म सामाजिक परिवर्तन का प्रमुख कारण है। कुछ अन्य समाजशास्त्री संस्कृति को सामाजिक परिवर्तन का प्रधान कारण स्वीकार करते हैं।

(५) उद्विकासीय सिद्धान्त (Evolutionary Principle)—समाजशास्त्र में उद्विकास की अवधारणा का समावेश प्राणिशास्त्रीय अध्ययनों के प्रभाव के कारण हुआ। मार्क्स, स्पेन्सर और दुर्खीम के चिन्तन पर उद्विकासीय सिद्धान्तों का स्पष्ट प्रभाव दिखाई पड़ता है। सामाजिक उद्विकास की अवधारणा की क्रमबद्ध व्याख्या करने में स्पेन्सर का योगदान महत्त्वपूर्ण है। डार्विन के अनुसार जिस प्रकार प्राणियों का विकास हुआ, स्पेंसर के अनुसार उसी प्रकार समाज का भी विकास हुआ है। उद्विकास की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं—

(i) समाज अनवरत रूप में लम्बवत् (Vertical) अर्थात् नीचे से ऊपर की ओर अग्रसर होता है।

(ii) नीचे के स्तर पर सामाजिक संरचना सरल और सजातीय होती है।

(iii) जैसे-जैसे समाज ऊपर के स्तर की ओर बढ़ता है, सामाजिक संरचना की जटिलता तथा विजातीयता बढ़ती जाती है।

(iv) स्पेंसर के अनुसार जैविकीय विकास का सिद्धान्त ही सभी प्रकार के विकास पर लागू होता है।

(v) नीचे के स्तर से ऊपर के स्तर की ओर बढ़ने के पीछे स्पेंसर के अनुसार जनसंख्या की वृद्धि और सामाजिक विभेदीकरण ये दो कारण प्रमुख हैं।

आगे चलकर उद्विकास की अवधारणा की पर्याप्त आलोचना हुई है। सर्वप्रथम तो समाज की प्रकृति एक जैसी है। उद्विकास में विश्वास करने वाले लेखकों द्वारा दिए गए विकास के स्तर एवं उद्विकास के सोपानों के बीच समानता नहीं पाई जाती। फिर भी समाजशास्त्र में उद्विकास सिद्धान्त की पर्याप्त महत्ता है।

परिशिष्ट-३

परम्परा एवं आधुनिकता

मानव समाज एक सतत् गतिशील, विकासशील तथा प्रवहमान संस्था है जो जीवन-मूल्यों के निरन्तर परिवर्तन में परिलक्षित होती है। जीवन-मूल्यों में परिवर्तन के कारण समाज के स्वरूप, उसकी संस्थाओं एवं परम्पराओं में भी तदनुसार परिवर्तन स्वभावत: होते रहते हैं। देश, काल और परिस्थिति के साथ कतिपय मूल्यों, आदर्शों और सिद्धान्तों में भी परिवर्तन हुआ है। प्राचीन परम्पराएँ, विश्वास और रीति-रिवाजों ने नवीन परम्पराओं, विश्वासों और रीति-रिवाजों को जन्म दिया है। कुछ समाज-दार्शनिक इन नवीन परम्पराओं, विश्वासों और रीति-रिवाजों में परिवर्तन को आधुनिकता की संज्ञा प्रदान करते हैं पर यहाँ उल्लेखनीय है कि केवल परिवर्तन को ही आधुनिकता की संज्ञा प्रदान नहीं की जा सकती। दूसरी बात यह है कि परम्परा और आधुनिकता परस्पर सापेक्षिक अवधारणाएँ हैं। प्राचीन सामाजिक परम्पराएँ, प्रथाएँ, आदर्श और रीजि-रिवाज परम्परा के अन्तर्गत आते हैं तो वर्तमान अथवा समकालीन रीति-रिवाज, आदर्श, मूल्य एवं प्रथाएँ आधुनिकता के भीतर समाहित की जाती हैं। समाज के गतिशील होने के कारण यही आधुनिकता कुछ समय पश्चात परम्परा का रूप ले लेती हैं। अत:, यह स्पष्ट है कि परम्परा और आधुनिकता के बीच किसी प्रकार का अन्तर्विरोध नहीं है जैसा कि सामान्यत: सोचा जाता है। परम्पराएँ आधुनिकता का पथ-प्रदर्शन और मार्ग-दर्शन करती हैं।

परम्परा की व्युत्पत्ति और परिभाषा

परम्परा को अंग्रेजी भाषा में ट्रेडिशन (Tradition) कहा जाता है जिसकी व्युत्पत्ति ट्रैडियर (Tradere) शब्द से हुई है। इस शब्द का अर्थ आदान-प्रदान अथवा हस्तान्तरण से है। जीन्सबर्ग ने परम्परा की निम्न परिभाषा दी है, "परम्परा से तात्पर्य उन सभी विचारों, आदतों तथा रिवाजों के योग से है जो एक समाज में पाए जाते हैं तथा जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होते रहते हैं।"[१] रॉस (Ross) ने परम्परा को निम्न प्रकार परिभाषित किया है "परम्परा एक भूला हुआ तथ्य है जिसे लोग पीढ़ी-दर-पीढ़ी संचरित करते रहते हैं।"[२]

---

1. By tradition is meant the sum of all ideas, habits and customs that belong to a people and are transmitted from generation to generation.
2. Tradition is a forgotten fact, is handed down to the people from one generation to another generation.

परम्पराओं का सामाजिक व्यवस्था में बड़ा योगदान होता है जिनमें प्रमुख योगदान निम्न है—

(i) सामाजिक संस्थाओं के क्रिया-कलाप तथा समाज में रहने वाले व्यक्तियों के व्यवहार परम्पराओं द्वारा ही निर्धारित किए जाते हैं। परम्पराओं की मर्यादा का उल्लंघन करना किसी व्यक्ति के लिए बहुत कठिन होता है।

(ii) परम्पराएँ समाज में संयम और नियन्त्रण स्थापित करती हैं। कभी-कभी वे समाज का मार्गदर्शन भी करती हैं।

(iii) समाज में प्रतिमानों, आदर्शों एवं मूल्यों की स्थापना में परम्पराओं का बड़ा महत्त्व होता है। वैसे देखा जाता है कि नवीन मूल्यों की स्थापना में परम्परा कभी-कभी बाधक सिद्ध होती है। पर यदि नवीन मूल्य प्राचीन मूल्य के संशोधित रूप ही हैं तो उस मूल्य को स्वीकार करने में समाज को कोई कठिनाई नहीं होती।

(iv) परम्पराएँ व्यक्ति और समाज के जीवन में एकरूपता स्थापित करने में सहायक होती हैं।

(v) परम्परा द्वारा मनुष्य के व्यवहार-पद्धतियों का ज्ञान और विश्वास प्राप्त होता है। व्यक्ति और समाज दोनों की मनोवृत्तियों, विचारों और व्यवहारों में परम्परा का अनोखा प्रभाव परिलक्षित होता है।

बृहत् परम्परा एवं लघु-परम्परा

रॉबर्ट रेडफील्ड ने परम्परा को दो वर्गों में विभाजित किया है—प्रथम वृहत् परम्परा एवं द्वितीय लघु परम्परा। समाज-दर्शन में इस भेद को कई प्रकार से वर्णित किया गया है—यथा 'उन्नत संस्कृति और निम्न संस्कृति', 'लोक संस्कृति और शास्त्रीय संस्कृति', अथवा 'सोपानात्मक और जन संस्कृति'। रेडफील्ड के अनुसार समाज में थोड़े से चिन्तनशील व्यक्तियों की एक वृहत् परम्परा होती है तथा मुख्यतः अचिन्तनशील बहुसंख्यकों की एक लघु परम्परा होती है। दार्शनिक, धार्मिक तथा साहित्यिक मनुष्य की परम्परा एक ऐसी परम्परा होती है जो विचारपूर्वक संस्कारबद्ध की जाती है तथा संततियों को संचरित की जाती है। इसके विपरीत लघु लोगों की परम्परा अधिकतर सहजसिद्ध मानकर स्वीकार की जाती है तथा इसका विशेष परिष्कार या संस्कार नहीं किया जाता। इस प्रकार बृहत् परम्परा 'उन्नत संस्कृति', 'शास्त्रीय संस्कृति' अथवा 'शिक्षित परम्परा' कही जाती है। इसके विपरीत, लघु परम्परा 'अवनत संस्कृति' अशास्त्रीय संस्कृति अथवा 'अशिक्षित परम्परा' के नाम से अभिहित किया जाता है।

मैकिम मैरियट के अनुसार बहत् परम्परा प्राचीन धर्म-ग्रन्थों में वर्णित व्यवहार-विधि के अनुरूप होती है और वह पूर्ण समाज द्वारा स्वीकार्य होती है। बृहत् परम्परा का संरक्षण और पोषण राम, कृष्ण, बुद्ध, महाबीर, शंकराचार्य तथा मनु आदि दार्शनिकों, चिन्तकों तथा आभिजात्य वर्ग द्वारा किया जाता है। बहत परम्पराओं की अभिव्यक्ति तथा संचालन धार्मिक कर्मों, त्योहारों और राष्ट्रीय कार्यक्रमों द्वारा सम्पादित किया जाता है।

इसके विपरीत लघु परम्परा साधारण, अचिन्तनशील बहुसंख्यक लोगों की परम्परा होती है। यह परम्परा अशिक्षितों के ग्रामीण सामुदायिक जीवन में अपना विकास करती है तथा जीवित रहती है। मुख्य रूप में यह परम्परा सहज सिद्ध मानकर स्वीकार की जाती हैं तथा इसका विशेष संस्कार और परिष्कार नहीं किया जाता। ऐसी परम्परा देवी-देवता, धार्मिक क्रिया-कलाप, रीति-रिवाज, मेले, लोकगीत, लोक-नृत्य इत्यादि में देखने को मिलती है। ऐसी परम्परा मौखिक रूप से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में हस्तान्तरित होती है। परन्तु व्यापकता और प्रभावकता के साथ-साथ इस प्रकार की परम्परा में अन्धविश्वास का भी समावेश होता हैं। रेडफील्ड के अनुसार ''लघु परम्परा व्यापक अन्तर्धारा के आकार के समान है। इसके बल को बुद्धिजीवी लोग अभी भी अनुभव करते हैं किन्तु अधिकृत रूप से इसका निषेध अथवा निन्दा करते हैं। जबकि बृहत् परम्परा को पूर्व-धारणाओं का विश्वास की संज्ञा दी जाती है तथा लघु परम्पराओं को अन्धविश्वास का नाम दिया जाता है।''

परम्पराएँ शास्त्रों, दार्शनिकों तथा चिन्तकों की रचनाओं में एवं लोक-जीवन में संरक्षित रहती हैं किन्तु इनके प्रचार-प्रसार का मार्ग-दर्शन और संप्रेषण भी महत्त्वपूर्ण होता है। इसी से सामाजिक संगठन और मूल्यों का संरक्षण सम्भव होता है। रेडफील्ड ने राजाओं, मन्दिरों, पुजारियों, कथावाचकों तथा सामाजिक संस्थाओं को इसका प्रमुख आधार माना है। प्रो० राघवन ने उन क्रियाओं तथा संस्थाओं का विवरण दिया है जिनके द्वारा वैदिक ऋचाएँ एवं दार्शनिकों तथा धार्मिकों द्वारा स्थापित विधान सामान्य जनों तक प्रेषित किए जाते हैं। यह संप्रेषण सहज रूप में भी होता है और संगठित प्रयास द्वारा भी सम्भव बनाया जाता है।

परम्परा के सम्बन्ध में पाश्चात्य विचारकों का मत

पाश्चात्य दार्शनिकों में परम्परा के विषय में रूसो, ह्यूम एवं बर्क के विचारों का पर्याप्त महत्त्व है जिन पर यहाँ पृथक्-पृथक् विचार किया जायगा। रूसो (Rousseau) के अनुसार परम्परा का आधार विश्वास, श्रद्धा, सहजता और सरलता है। उनकी दृष्टि में मनुष्य के सबसे महत्त्वपूर्ण भाव हैं—पारिवारिक सुख, सौन्दर्य और मातृत्व का आनन्द, भूमि की जुताई, बुवाई इत्यादि से प्राप्त होने वाली तृप्ति, धार्मिक श्रद्धा की सार्वभौम भावना, समान विपत्ति झेलने का सहभाव। रूसो उपर्युक्त सामाजिक सम्पदा को मनुष्य-जीवन की दैनिक वास्तविकताओं के रूप में स्वीकार करता था। इसके विपरीत, विज्ञान निष्क्रियता का प्रतीक है, दर्शन बौद्धिक विलास है तथा शिष्ट जीवन की सभ्यता और संस्कृति अलंकरण मात्र है। रूसो ने देखा कि मनुष्य का सरल जीवन तर्क, विज्ञान और बाह्य आडम्बर में विकृत हो जाता है। उन्होंने स्पष्ट घोषित किया ''विचारशील मनुष्य पतित पशु है।'' इसी कारण उन्होंने बुद्धि, ज्ञान और विज्ञान के विकास का विरोध किया और उनके स्थान पर प्रवुद्ध भावों, सद्भावना और श्रद्धा को प्रतिष्ठित किया। परम्परा व्यक्ति को शिक्षित ही नहीं करती वरन् उसे शिक्षित होने का अवसर भी प्रदान करती है। रूसो जिस बात पर सर्वाधिक बल देता है वह है परम्परा और रूढ़ि की सत्ता के प्रति

आदर-भाव। उसका कथन है "साधारण लोग ही मानव जाति का निर्माण करते हैं।" साधारण व्यक्ति की नैतिकता चाहे वह कितनी ही श्रेष्ठ भावना से युक्त क्यों न हो, अनिवार्य रूप से उसके देश और काल की नैतिकता होती है। अतः वह अधिक प्रामाणिक होती है। इसका आदर्श व्यक्ति नहीं वरन् समुदाय होता है। इस प्रकार की नैतिकता सदैव यही शिक्षा देती है कि समुदाय के रूढ़िगत कर्त्तव्यों के परिपालन करने में ही मनुष्य का कल्याण सुरक्षित रहता है।

सुप्रसिद्ध अनुभववादी दार्शनिक डेविड ह्यूम (David Hume) यद्यपि ज्ञानमीमांसा में संशयवादी (Sceptic) है पर व्यावहारिक जीवन में वे विश्वास पर अधिक वल देते हैं। विश्वास ही वह आधार है जिसके द्वारा हम वाह्य वस्तुओं के सतत और स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार कर लेते हैं और तदनुसार आचरण करते हैं। ह्यूम इस विश्वास को बौद्धिक न मानकर भावात्मक मानते हैं जिसका जन्म प्रथा (Custom) या आदत (Habit) के फलस्वरूप होता है। आनुभविक अथवा सामाजिक विज्ञानों में भी वे तत्त्व और रूढ़ियाँ उपस्थित रहती हैं। वे रूढ़ियाँ इस अर्थ में अटल और अनिवार्य है कि आनुभविक निष्कर्ष और व्यावहारिक वुद्धि इन दोनों के लिए इन रूढ़ियों की आवश्यकता होती है। वे इस कारण उपयुक्त मालूम पड़ती हैं कि मनुष्य अभ्यासवश उनका उपयोग करते हैं और वे इस अर्थ में उपयोगी हैं क्योंकि उनके आधार पर कर्म के न्यूनाधिक स्थायी नियमों का निर्माण किया जा सकता है। पर इन्हें आवश्यक व अनिवार्य नहीं कहा जा सकता। वे विवेक पर कम कल्पना पर अधिक निर्भर होते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि समाज और प्रकृति में जितनी नियमितता पाई जाती है वे उसमें उससे अधिक की कल्पना कर बैठते हैं।

एडमण्ड बर्क (Edmund Burke) जो एक ब्रिटिश दार्शनिक थे, परम्परा के वहुत बड़े पोषक थे। उन्होंने अपने लेखों और पुस्तकों द्वारा स्पष्ट घोषित किया कि मनुष्य को अपनी तत्कालीन परम्पराओं, रीति-रिवाजों और मान्यताओं का खुलकर समर्थन करना चाहिए। परम्परा का निर्माण एक दिन में नहीं होता; वह दीर्घकाल से प्रचलित शुभ विचारों का समुच्चय होता है। अतः, इनका समर्थन करने में कोई हानि नहीं है। परम्परावादिता मनुष्य का नैसर्गिक गुण होता है। जाति, धर्म, राजा, चर्च इत्यादि की जड़ें बड़ी गहरी होती हैं, इसलिए वे सम्मान योग्य हैं। बर्क ने कहा है, "यदि मैं सुधार नहीं कर सकता तो सुधार बिलकुल नहीं करूँगा।" इसकर निहितार्थ यह है कि जब तक किसी व्यक्ति के भीतर समाज को श्रेष्ठतर दिशा-निर्देश करने की क्षमता विद्यमान न हो, तव तक उसे परम्परा का समादर करना चाहिए। आगे अपनी बात को और स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है, "प्राचीन इमारत में यदि कुछ परिवर्तन आवश्यक हो तो उसे पूरी तरह गिराकर नई इमारत का निर्माण करने के स्थान पर उसी के स्वरूप के अनुसार सुधार, संशोधन और परिवर्तन करना अधिक श्रेयस्कर है।" आगे चलकर उन्होंने पुनः लिखा है, "नैतिक संहिताओं और संस्थाओं के बिना मनुष्य या तो पशु है या देवता। वह मनुष्य नहीं है इसलिए राष्ट्रीय जीवन की परम्पराओं की ऐसी उपयोगिता होती है जिसे व्यक्तिगत सुविधा अथवा व्यक्तिगत अधिकारों के आधार पर नहीं मापा जा

सकता। राष्ट्रीय जीवन की परम्पराओं में सम्पूर्ण सभ्यता, नैतिकता, धर्म और विवेक निहित होता है। राजनीतिक संस्थाएँ निहित अधिकारों और रूढ़िगत प्रथाओं की एक जटिल व्यवस्था है। वे प्रथाएँ भूतकाल से उत्पन्न होती हैं और अपनी निरन्तरता को अक्षुण्ण रखते हुए अपने को वर्तमान के अनुकूल बना लेती हैं। समाज तथा संविधान की परम्परा को धर्म की भावना से देखना चाहिए क्योंकि उसमें सामूहिक बुद्धि और सभ्यता निहित हैं। ह्यूम की अपेक्षा वर्क को कहीं अधिक विश्वास था कि समाज की कुछ रूढ़ियाँ अलंघ्य होती हैं पर वे अलंघ्य व अचल सिद्धान्त क्या थे, बर्क ने उन्हें स्पष्ट करने की कभी चेष्टा नहीं की। ह्यूम की भाँति ही उसका विश्वास था कि वे सिद्धान्त विशुद्ध रूप से रूढ़िपरक होते हैं। उसका निहितार्थ यह है कि वे प्रकृति अथवा मानव जाति से सम्बद्ध किसी वस्तु के कारण पैदा नहीं होते प्रत्युत नागरिक समाज में निवास करने वाले मनुष्यों के स्वभाव अथवा अभ्यास के कारण उत्पन्न होते हैं। बर्क का कथन है कि "प्रथा, परम्परा और समाज की सदस्यता मानव प्रकृति को व्यक्ति की अपेक्षा कहीं अधिक गरिमा प्रदान करती है।" सभ्यता व्यक्तियों की सम्पत्ति नहीं है बल्कि समुदायों की सम्पत्ति है। मनुष्य की समस्त आध्यात्मिक सम्पदाएँ संगठित समाज की सदस्यता से प्राप्त होती हैं। जाति ने जो कुछ अब तक अर्जित किया है नैतिक आदर्श, कला, ज्ञान और विज्ञान समाज और सामाजिक परम्परा उस सबकी रक्षक है। समाज की सदस्यता ही मनुष्य को संस्कृति के समस्त कोषों तक पहुँचाती है। यही बर्बरता और सभ्यता के बीच अन्तर है। यह कोई भार नहीं बल्कि मानवीय मुक्ति का खुला द्वार है।

परम्परा के सम्बन्ध में भारतीय अवधारणा

भारत को प्राचीन काल से परम्परावादी विशिष्टताओं, शाश्वत मूल्यों एवं अक्षुण्ण संस्कृतियों के देश के रूप में मान्यता प्राप्त है। भारत की विशिष्ट पहचान स्थापित करने में हिमालय पर्वत, गंगा नदी एवं तीर्थ-स्थलों का विशेष योगदान है। यहाँ के त्योहारों और पर्वों का भी सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक महत्त्व है। यहाँ के जनमानस का चिन्तन, व्यवहार, आचरण सभी परम्परावादी है। उक्त सभी परम्पराओं की विशिष्टता यह है कि उनका सम्बन्ध जीवन के ऐसे शाश्वत सत्य और पुरुषार्थ से जुड़ा हुआ है जो भारतीय जीवन की सार्थकता को चरितार्थ करता है। वे पुरुषार्थ हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इनमें मोक्ष चरम पुरुषार्थ है जिसे लक्ष्य करके मनुष्य की सम्पूर्ण क्रियाएँ संचालित होती हैं। पाश्चात्य जीवन-दर्शन भोगवादी दर्शन है जिसमें अर्थ और काम का विशेष आनयन होता है पर भारतीय जीवन दर्शन मोक्षवादी दर्शन है जिसमेंआधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति अथवा मोक्ष को ही जीवन का परम लक्ष्य स्वीकार किया गया है।

भारतीय परम्परा में शुचिता अर्थात् पवित्रता को विशेष महत्त्व प्रदान किया गया है। इस पवित्रता को सुरक्षित रखने के लिए काम्य एवं निषिद्ध कर्मों को वर्जित किया गया है तथा नियत कर्मों यथा पूजन, सन्ध्या-वन्दन इत्यादि को प्रोत्साहित किया जाता है। इस

पवित्रता को बनाए रखने के लिए धर्म और नैतिकता को आचरण में शामिल किया जाता है। नैतिकता की व्याख्या कर्म, अकर्म तथा विकर्म के आधार पर की जाती है। नैतिक संप्रत्ययों के अन्तर्गत सत्य, अहिंसा, सेवा, दान, त्याग आदि आते हैं। वर्णाश्रम धर्म नैतिकता को प्रदर्शित करता है। इसी प्रकार भारतीय परम्परा में अनेक संस्कारों को स्वीकार किया गया हैं जो हमारे आचरण का सुधार और परिष्कार करते हैं।

भारतीय परम्परा का कर्मवाद, आत्मा की अमरता एवं पुनर्जन्म में अटूट विश्वास है। कर्मवाद के अनुसार मनुष्य के कर्म का फल उसे अवश्य प्राप्त होता है। यदि उसके कर्म का फल इस जन्म में प्राप्त नहीं हुआ, तो उसे उसके कर्म का फल परलोक में अवश्य प्राप्त होगा। भारतीय परम्परा में लोक-परलोक की अवधारणा बड़ी उपयोगी है। परलोक की भावना मनुष्य के अच्छे कर्मों को करने के लिए प्रेरित करती हैं तथा बुरे कर्मों के करने से उसे विरत करती है। इस्लाम और ईसाई धर्म जो पुनर्जन्म में विश्वास नहीं करते, नाना प्रकार के अशुभ कार्यों के करने में लिप्त हो जाते हैं जिनसे छुटकारा पाना कठिन हो जाता है।

यद्यपि भारतीय समाज पुरुष-प्रधान है पर इसमें नारी को सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। उसे लक्ष्मी, सरस्वती, दुर्गा और काली रूप माना जाता है। वह लक्ष्मी के रूप में गृह-प्रबन्ध का काम देखती है, सरस्वती के रूप में पति को ज्ञान देती है, दुर्गा के रूप में पति की रक्षा करती है तथा काली में रूप में परिवार के शत्रुओं का संहार करती है। पाश्चात्य जगत संयुक्त परिवार की अवधारणा का बहुत पहले परित्याग कर दिया है पर भारतीय परम्परा में वह अभी तक जीवित है। संयुक्त परिवार अपने सदस्यों में त्याग, बलिदान, बंधुत्व और आज्ञाकारिता के भाव को उत्पन्न करता है।

भारतीय परम्परा की एक अन्य विशेषता है जो बौद्धिकता और वैज्ञानिकता के नाम से जानी जाती है। भारत में तात्त्विक चिन्तन और व्यापक दृष्टिकोण का विशेष महत्त्व है। वह विश्व-संस्कृति का पुजारी है तथा विश्व-बन्धुत्व की भावना को विकसित करना चाहता है। भारत दकियानूसी विचारों और संकुचित दृष्टिकोण का पुजारी कभी भी नहीं रहा है। इसी कारण भारत में मुसलमान, ईसाई, पारसी सभी धर्मों को समान अधिकार प्राप्त है। यहाँ किसी को द्वितीय श्रेणी का नागरिक नहीं माना जाता।

आधुनिकता

आज का विश्व परम्परा का परित्याग कर आधुनिकता की ओर उन्मुख हो रहा है। विज्ञान और प्रौद्योगिकी के विकास के कारण कोई भी समाज या व्यक्ति परम्परा की सीमा में अपने को आबद्ध नहीं करना चाहता। प्रत्येक व्यक्ति के मन में अपने को आधुनिक रूप में घोषित करने की लालसा बनी रहती है। यहाँ तक कि ज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र यथा राजनीति शास्त्र, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, मानव-विज्ञान, साहित्य, दर्शन, कला इत्यादि विगयों के अन्तर्गत विज्ञान और गणित का खुलकर प्रयोग किया जाने लगा है। बात यह है कि वैज्ञानिक चिन्तन के अभाव में आधुनिकता को स्थापित नहीं किया जा सकता।

वैज्ञानिक चिन्तन के अन्तर्गत तार्किक, समीक्षात्मक और समन्वयात्मक प्रवृत्ति का समावेश होता है। आज प्रत्येक मानव आधुनिक दृष्टिकोण का पोषक तथा आधुनिक विचारधारा का समर्थक है। आधुनिक युग औद्योगिक क्षेत्र में मशीनीकरण के युग के रूप में देखा जाता है। सामाजिक परिवेश में भी नवीन परम्पराओं और नूतन मूल्यों की स्थापना की जा रही है। किसी विचारक ने आधुनिकता का वर्णन निम्न प्रकार से किया है; गाँवों से शहर की ओर (नगरीकरण), लघु और कुटीर उद्योगों से कल-कारखानों की ओर (औद्योगीकरण), निम्न संस्कृति से उच्च संस्कृति की ओर (संस्कृतिकरण), अतीत से भविष्य की ओर (सर्वव्यापीकरण), धर्मान्धता से धर्म-निरपेक्षता की ओर (धर्मनिरपेक्षीकरण) अग्रसर होने की प्रक्रिया को आधुनिकता कहा जाता है। वर्तमान युग में नवीन मूल्यों, नूतन आदर्शों तथा नए परिवर्तनों को ग्रहण करना तथा तदनुरूप आचरण करना एवं अपने जीवन को व्यवस्थित करना आधुनिकता कही जाती है।

आधुनिकता की व्युत्पत्ति एवं परिभाषा

'आधुनिकता' शब्द की व्युत्पत्ति 'आधुनिक' शब्द से हुई है जिसको अंग्रेजी में मॉडर्न (Modern) शब्द से सम्बोधित किया जाता है। 'मॉडर्न' (Modern) शब्द की व्युत्पत्ति लैटिन भाषा के 'Modo' शब्द से हुई है जिसका अर्थ 'प्रचलन' से है। इस प्रकार वर्तमान में जो प्रचलित है उसी को आधुनिकता कहते हैं। समाज-वैज्ञानिकों ने भी प्राय: इसी सन्दर्भ में आधुनिकतावाद, आधुनिकीकरण या आधुनिकता के संप्रत्यय को विकसित किया है। आधुनिकीकरण के सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि आधुनिकता बाहर से थोपी जाने वाली वस्तु नहीं है अपितु व्यक्तियों द्वारा स्वेच्छा से स्वीकार की जाती है। स्वेच्छा से स्वीकार किए जाने के कारण 'आधुनिकता' शब्द का प्रयोग 'अच्छाई' के अर्थ में ही किया जाता है। इसका कारण यह है कि जो वस्तु अच्छी और शुभ होती है, उसी को सामान्यतया स्वीकार किया जाता है। **जेम्स० एस० कोलमैन** के अनुसार आधुनिकता समाज के विभिन्न क्षेत्रों में होने वाला परिवर्तन है। **एस०एन० आइजनस्टैड** (S.N. Eisenstad) ने आधुनिकता के दो विभिन्न पक्षों का वर्णन किया है। आधुनिकता का प्रथम पक्ष संरचनात्मक विशेषताओं के सन्दर्भ में व्यक्त किया गया है जिसके अनुसार आधुनिकीकरण समाज में नवीन संरचनाओं तथा व्यवहार के आदर्शों और मानदण्डों का विकास करती है। दूसरे आधुनिकीकरण की प्रक्रिया सामाजिक-सांस्कृतिक विकास और परिवर्तन की प्रक्रिया से सम्बद्ध होती है। यह प्रक्रिया सतत परिवर्तनों का बोध कराती है। आज़नस्टैड का कथन है कि ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में आधुनिकीकरण सामाजिक परिवर्तन की वह प्रक्रिया है जो उत्तरी अमेरिका और पश्चिमी यूरोप में विकसित सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक व्यवस्थाओं की ओर प्रेरित करती है।[1] **भारतीय आधुनिकीकरण** नामक पुस्तक में

1. Historical modernisation is the process of change towards those types of social, economic and political systems that were developed in Western Europe and North America. *– S.N. Eisenstad*

प्रो० योगेन्द्र सिंह ने भारतीय परम्परा के सन्दर्भ में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को समझाने की चेष्टा की है। एक समन्वित विधा के रूप में उन्होंने आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को भारतीय परम्परा के सन्दर्भ में सांस्कृतिक संरचनाओं एवं सामाजिक संरचना के प्रतिमानों के आधार पर परिवर्तनों की व्याख्या करने की प्रक्रिया के रूप में व्यक्त किया है। उन्हीं के शब्दों में—"आधुनिकीकरण की प्रक्रिया एक सांस्कृतिक प्रतिवाद का स्वरूप है जो मूलत: सार्वभौम और विकासात्मक लक्षणों से युक्त होता है जो सर्व-मानवीय, परा-जातीय और अ-सैद्धान्तिक हैं।"[1]

यद्यपि विचारकों ने ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखते हुए आधुनिकता को परिभाषित करने की चेष्टा की है तथापि **'परम्परागत समाज का आधुनिकीकरण'** में स्मिथ (C.W. Smith) ने लिखा है कि आधुनिकता एक सतत् प्रयास है क्योंकि इतिहास एक निश्चित दिशा की ओर बढ़ रहा है, अत: उस दिशा का अनुसन्धान करना उसके लिए अति आवश्यक है। इस परिवर्तित होते हुए इतिहास की दिशा में अनेक विकल्प है। इन विकल्पों में जो विकल्प परम्परा व पूर्वजों द्वारा अपनाए गए मार्ग के अनुकूल हो उसका चयन करना चाहिए अथवा जान-बूझकर उत्तरदायित्व पूर्ण जो विकल्प श्रेयस्कर लगे उसका चयन करना चाहिए। यदि स्वतन्त्रतापूर्वक जान-बूझकर किसी नवीन मार्ग का चुनाव करते हैं तो आधुनिकता कही जायगी। स्मिथ के अनुसार मानव-जीवन को 'क्या हो रहा है' से 'क्या बनाना चाहते हैं' की ओर क्रमिक रूपान्तर की प्रक्रिया का नाम आधुनिकता है। पुन: स्मिथ की परिभाषा के अनुसार आधुनिकता ध्येय नहीं वरन् एक प्रक्रिया है, अपनाने की नहीं अपितु भाग लेने की वस्तु है।[2]

"परम्परागत समाज की समाप्ति एवं मध्यपूर्व का आधुनिकीकरण" (The Passing of Traditional Society, Modernising the Middle East) में डेनियल लर्नर ने आधुनिकीकरण को **पाश्चात्यीकरण** (Westernisation) के रूप में स्वीकार किया है। उनके अनुसार "यह एक मस्तिष्क की स्थिति है, प्रगति की अपेक्षा बुद्धि की ओर झुकाव है, और परिवर्तन के अनुरूप अपने को ढालने की तत्परता है।" इसी प्रकार कुछ पाश्चात्य और भारतीय समाज वैज्ञानिकों ने आधुनिकता को बहुआयामी प्रक्रिया (Multi-dimensional process) के रूप में स्वीकार किया है जो पश्चिमी यूरोप तथा उत्तरी अमेरिका से सत्रहवीं सदी में विकसित सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक व्यवस्थाओं से बीसवीं सदी तक सम्पूर्ण यूरोप-अमेरिका आदि देशों की ओर अग्रसर हुई है। आइजनस्टैड, हटिंगटन इत्यादि पाश्चात्य विचारकों तथा बी०बी० शाह और ए०आर० देसाई इत्यादि भारतीय समाज दार्शनिकों ने यह माना है कि आधुनिकता मानव जीवन के सभी क्षेत्रों में,

---

1. Modernisation as a form of cultural response involves attributes which are basically universalistic and evolutionary, they are pan-humanistic, transethnic and non ideological.
2. Modernity is no longer a goal but a process, no longer something to adopt but something to participate.

विचारों और क्रियाओं में होने वाले परिवर्तनों की एक प्रक्रिया है। उन्होंने नगरीकरण (Urbanisation), औद्योगीकरण (Industrialisation), धर्मनिरपेक्षीकरण (Secularisation), प्रजातन्त्रीकरण (Democratisation), शिक्षा (Education) एवं संचार-माध्यमों (Communication-Media) के विस्तार को आधुनिकता में सम्मिलित किया है। आधुनिक विचारकों ने पश्चिमीकरण एवं संस्कृतिकरण के बीच अनुलोम सम्बन्ध स्थापित किया है। इसका तात्पर्य यह है कि एक की बृद्धि से दूसरे में बृद्धि तथा एक में ह्रास में दूसरे में ह्रास स्वत: उत्पन्न हो जाता है। 'आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन' नामक पुस्तक में प्रो० एम०एन० श्रीनिवास ने संस्कृतिकरण को परिभाषित करते हुए लिखा है ''संस्कृतिकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा कोई निम्न हिन्दू जाति या कोई जनजाति अथवा अन्य समूह किसी उच्च और प्राय: द्विज जाति की दिशा में अपने रीति-रिवाज, कर्मकाण्ड, विचारधारा और जीवन-पद्धति को परिवर्तित करता है।'' संस्कृतिकरण की अवधारणा का विकास भारत में धार्मिक, सांस्कृतिक और सामाजिक परिवर्तनों की विशेषताओं की व्याख्या के लिए हुआ है। इस प्रक्रिया का प्रमुख लक्ष्य लौकिक और कर्मकाण्डीय स्थिति के मध्य खाई को कम करना रहा है।

डॉ० योगेन्द्र सिंह के अनुसार संस्कृतिकरण की प्रक्रिया हिन्दू सामाजिक व्यवस्था, सामाजिक सांस्कृतिक गतिशीलता की प्रक्रिया है। यह सामाजिक परिवर्तन का अन्तर्गामी स्रोत है। उनका कथन है, ''मनो-सामाजिक दृष्टि से संस्कृतिकरण सांस्कृतिक रूप से सार्वभौम प्रेरणा का एक विशिष्ट रूप है जो भविष्य में उच्च जातीय समूहों की स्थिति को प्राप्त करने की आशा में उच्चजातीय समूह की संस्कृति के पूर्व समाजीकरण की ओर प्रेरित करती है। इस प्रकार संस्कृतिकरण संस्कृति-संक्रमण (Acculturation) की सामान्य प्रक्रिया की एक अद्वितीय ऐतिहासिक अभिव्यक्ति है।''

कुछ समाज दार्शनिकों ने आधुनिकता को मनोवैज्ञानिक एवं वैज्ञानिक दृष्टि से व्याख्या करते हुए इसके भीतर तर्क-शक्ति में वृद्धि, घटनाओं की तार्किक व्याख्या ईश्वर को आधार मानकर किसी घटना की स्वीकृति का खण्डन, धर्मनिरपेक्षता तथा इहलौकिकता की अवधारणाओं को सम्मिलित किया है। राजनीतिक दृष्टिकोण से आधुनिकता के अन्तर्गत वे कल्याणकारी राज्य की स्थापना, सरकार चुनने की स्वतन्त्रता, प्रजातान्त्रिक प्रणाली की स्वीकृति आदि को शामिल करते हैं। आधुनिकता और आधुनिकीकरण के बीच अन्तर स्पष्ट करते हुए कुछ विचारक आधुनिकीकरण के अन्तर्गत साक्षरता, नगरीकरण, आर्थिक विकास, जीवन-स्तर में वृद्धि आदि को सम्मिलित करते हैं। इसके विपरीत आधुनिकता किसी न किसी संस्कृति का द्योतक है जिसमें तार्किकता, बौद्धिकता, स्वतन्त्र दृष्टिकोण, धर्म-निरपेक्षता, मत-वैभिन्य, उदार दृष्टिकोण, मानवता आदि सन्निहित है।

अब हमारे समक्ष प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि वे कौन-कौन तत्त्व हैं जो सांस्कृतिक, राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक आधुनिकीकरण को प्रेरित करते हैं तथा इसे गतिशील बनाते हैं? 'परम्परावादी समाज का आधुनिकीकरण' (Modernisation of Traditional Society) पुस्तक में सी०डब्ल्यू० स्मिथ (C.W. Smith) ने

जिन तत्त्वों का विशेष उल्लेख किया है उनमें वैज्ञानिक बुद्धिवाद (Scientific Rationalism), स्वेच्छावाद (Voluntarism) और प्रजातान्त्रीकरण प्रमुख कारक है। सैमुअल एच० बीअर का भी बहुत कुछ यही विचार है। उनके अनुसार बुद्धिवाद आधुनिकता की महत्त्वपूर्ण विशेपता होती है। बुद्धिवाद में परम्परा से प्राप्त विश्वासों और धारणाओं के स्थान पर नवीन ज्ञान और धारणाओं की स्थापना होती है। वैज्ञानिक बुद्धिवाद न केवल एक दृष्टिकोण है वरन् एक मनोवृत्ति और कार्य करने की पद्धति है। इसके अनुसार वैज्ञानिक सत्य एक सर्वोच्च मूल्य है। औद्योगीकरण और आर्थिक परिवर्तन का प्रमुख कारण वैज्ञानिक बुद्धिवाद ही है। बीअर ने बुद्धिवाद के साथ स्वेच्छावाद (Voluntarism) को भी आधुनिकता को गतिशील बनाने में सहायक माना है। स्वेच्छावाद अनिवार्यता, बाध्यता, पूर्वाग्रह और अन्धविश्वास को मान्यता नहीं प्रदान करता। इसी भावना के फलस्वरूप प्रजातान्त्रिक मूल्यों की स्थापना होती है। आधुनिक समाज में समानता, स्वतन्त्रता और विश्व बन्धुत्व जैसे मूल्यों की स्थापना में स्वतन्त्र चिन्तन का विशेष योगदान होता है। बौद्धिकता, विज्ञान, तकनीकी शिक्षा, जनतात्रिकीकरण इत्यादि नवीन क्रियाओं, विधियों का प्रादुर्भाव स्वेच्छावाद से ही सम्भव हुआ है। इससे आधुनिकता की प्रवृत्ति को पर्याप्त बल प्राप्त होता है।

उपर्युक्त तत्त्वों के अतिरिक्त आधुनिकीकरण को गतिशील बनाने में समकालीन विचारकों, कवियों, अर्थशास्त्रियों और इतिहासकारों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। सैमुएल बीअर के अनुसार अट्ठारहवीं शताब्दी के दर्शन से लेकर वर्तमान समय के क्रान्तिकारी बुद्धिजीवियों ने समाज और राजनीति के ढाँचे में पर्याप्त नवीनता उत्पन्न की है। बुद्धिजीवियों ने सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्रों में नए प्रतिमानों, नवीन सिद्धान्तों, नूतन पद्धतियों एवं नई मान्यताओं की स्थापना की तथा इनका प्रसार और प्रचार अध्यापकों, पत्रकारों तथा विज्ञापनकर्त्ताओं ने किया। बीअर ने आर्थिक क्षेत्र में प्रतिस्पर्धा को एक महत्त्वपूर्ण भूमिका दी है जो आधुनिकीकरण को त्वरित गति प्रदान करती है। इसके अतिरिक्त विभेदीकरण, विशेषज्ञता एवं श्रमविभाजन द्वारा आधुनिकीकरण को बल मिलता है।

राजनीतिक क्षेत्र में गत्यात्मक तत्त्वों का उल्लेख करते हुए सैमुअल बीअर ने 'शक्ति-रुचि' तथा राज्य द्वारा कल्याणकारी कार्य (Welfare-activities) का विशेष महत्त्व दिया है। हण्टिंगटन ने राजनीतिक आधुनिकता के लिए निम्न तीन कारकों को स्वीकार किया है (१) शक्ति का विवेकीकरण, (२) संरचना का विभेदीकरण, (३) राजनीतिक सहभागिता का प्रसार। राजनीतिक एवं सामाजिक आधुनिकता के कारण ही लोगों में सामाजिक चेतना की जागृति होती है। कल्याणकारी मार्ग मनुष्य और समाज दोनों के लिए प्रगति का मार्ग प्रशस्त करता है।

परम्परा और आधुनिकता के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में विचारकों में पर्याप्त विरोध है। कुछ विचारक परम्परा और आधुनिकता को परस्पर विरोधी विचारधाराओं के रूप में लेते हैं। परम्परा की आधुनिकता (Modernity of Tradition) में रुडॉल्फ तथा रुडाल्फ ने परम्परा तथा आधुनिकता को परस्पर विरोधी विचार मानते हैं। प्रसिद्ध

समाजवादी विचारक कार्ल मार्क्स ने द्वन्द्वात्मक पद्धति (Dialectical Method) का प्रयोग करते हुए परम्परा, प्राचीन मूल्यों, आदर्शों और मान्यताओं का तिरस्कार किया हैं तथा क्रान्ति के द्वारा नवीनता तथा परिवर्तन को सम्भव बनाया है। इसी प्रकार नव-चेतनावादी दार्शनिकों ने भी परम्परा और आधुनिकता के बीच विरोध को स्वीकार किया है। इस प्रकार की धारणा के पोषण का प्रमुख कारण परम्परा को गतिहीन और संकीर्ण मानने की प्रवृत्ति ही है। इसके विपरीत आधुनिकता को प्रगतिशील एवं सार्वभौम माना जाता है।

पर अनेक समाजदार्शनिक परम्परा और आधुनिकता को परस्पर विरोधी नहीं मानते। उनके अनुसार आधुनिक समाज में भी परम्परा के तत्त्व देखे जा सकते हैं, उसी प्रकार परम्परागत समाज में आधुनिकता के कुछ तत्त्व अवश्य विद्यमान रहते हैं। सभ्यता और संस्कृति में चाहे वह परम्परागत हो अथवा आधुनिक, कुछ ऐसे आदर्श, मानक या भावनाएँ होती हैं जो परिवर्तन के बीच सामान्य तत्त्व के रूप में विद्यमान रहती हैं। परिवर्तन समाज में ही होता है तथा परिवर्तन द्वारा ही आधुनिकता का पदार्पण होता है। अतः, परम्परा और आधुनिकता के बीच कोई विरोध नहीं है। सच पूछा जाय तो आधुनिक समाज परम्परागत समाज का ही एक संशोधित और परिष्कृत रूप है। इस सन्दर्भ में एडवर्ड शील्स का यह कथन पर्याप्त प्रासंगिक है—"परम्परागत समाज किसी भी तरह पूर्ण रूप में परम्परागत नहीं है और आधुनिक समाज किसी भी प्रकार पूर्ण रूप में परम्परा मुक्त नहीं है।"[१] शील्स ने आधुनिकता को निरन्तरता के रूप में चित्रित किया है।

भारत में परम्परा और आधुनिकता

(Tradition and Modernity in India)

यह सर्वविदित है कि भारतीय दर्शन में श्रुतियों को ज्ञान के प्रमाणों में सर्वाधिक प्रामाणिकता और वैधता प्राप्त है पर श्रुतियाँ अनुभव और तर्क के कभी भी विरुद्ध नहीं रही हैं। उसमें तर्क को एक विशेष स्थान दिया गया है। भारतीय दर्शन की यह विशिष्टता परम्परा और आधुनिकता के सन्दर्भ में भी परिलक्षित होती है। भारतीय संस्कृति में परम्परागत मूल्यों, आदर्शों, सिद्धान्तों, प्रतिमानों और सामाजिक मान्यताओं को सदा आदर की दृष्टि से देखा जाता है पर इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि भारतीय संस्कृति आधुनिकता के बिलकुल विरुद्ध है। भारत में आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण का सम्यक् और समुचित विकास हुआ है। आप जानते हैं कि भारतीय संस्कृति में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों को विशेष मान्यता प्राप्त है। इन पुरुषार्थों की अभिव्यक्ति क्रियावाद, इहलौकिक दृष्टि, आर्थिक सम्पन्नता, मानवतावाद, प्रजातान्त्रीकरण, धर्म-निरपेक्षता, समानतावाद, तार्किकता, इत्यादि के माध्यम से भारतीय समाज में दिखाई पड़ती है। सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक सभी क्षेत्रों में परिवर्तन के साथ-साथ आधुनिकीकरण की प्रक्रिया परिलक्षित होती है। सामाजिक क्षेत्र में

---

1. The traditional society is not by any means entirely traditional and modern society is not by any means free of tradition.

सामाजिक संस्थाओं के स्वरूप में परिवर्तन हुआ है। विवाह के सभी संस्कार अति सरलीकरण द्वारा दिन में ही सम्पूर्ण कर लिए जाते हैं। राजनीतिक क्षेत्र में स्वतन्त्रता, समानता, प्रजातान्त्रीकरण और भ्रातृत्व के द्वारा सभी लोगों के बीच एकता स्थापित करने की चेष्टा की गई है। आर्थिक क्षेत्र में औद्योगीकरण और विज्ञान को प्रोत्साहित करके उत्पादन को बढ़ाने का प्रयत्न किया गया है। धार्मिक क्षेत्र में, धार्मिक संस्थाओं द्वारा सुधार आन्दोलन चलाकर सामाजिक बुराइयों को दूर करने का प्रयास किया गया है। भारतीय सन्दर्भ में धर्म का विशेष महत्त्व है। धर्म का सामाजिक संस्थाओं, रूढ़ियों, विश्वासों, मूल्यों, रीति-रिवाज, प्रथाओं, भौतिक मान्यताओं कलाओं और विचारों से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। पाश्चात्यीकरण (Westernisation) के कारण भारत में आधुनिकता का प्रवेश हुआ, पर इसके कारण परम्परागत मूल्यों और आदर्शों का पूर्ण उन्मूलन नहीं हो पाया। वस्तुत: यहाँ की शक्तिशाली परम्परा ने आधुनिकता को आत्मसात कर लिया। योगेन्द्रसिंह ने इस सम्बन्ध में ठीक ही कहा है कि भारतीय संस्कृति प्रतिस्थापन (Replacement) में नहीं वरन् आत्मसात्करण (Assimilation) में विश्वास करती है।[१]

हम भारतीयों की यह पुरानी आदत है कि अपने को केवल 'आधुनिक' कहलाने के लिए अपनी अच्छी परम्पराओं का परित्याग कर नवीन मूल्यों और प्रतिमानों को ग्रहण कर लेते हैं। हमारे परम्परागत आधारों—धर्म, कर्मवाद, पुनर्जन्म, वर्ण, आश्रम, संस्कार इत्यादि में तमाम अच्छाइयों के होते हुए भी भारत के लोग उनका तिरस्कार करते हुए देखे जा सकते हैं। प्रौद्योगिकीय ज्ञान, शिक्षा, संचार एवं गतिशीलता के केन्द्र के रूप में नगर, नगरीकरण एवं नगरवाद की प्रक्रिया ने व्यापक रूप से भारतीय सामाजिक संस्थाओं एवं प्रतिमानों को प्रभावित किया है। इसके परिणामस्वरूप विवाह, परिवार, जाति, धर्म एवं राजनीतिक विचारों में परिवर्तन के लक्षण प्रगट हो रहे हैं।

भारत में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को सक्रिय व गतिशील रूप प्रदान करने में अनेक कारक उत्तरदायी रहे हैं। मुख्य कारणों में विज्ञान, प्रौद्योगिकीय विकास संचार व यातयात सुविधाओं का विकास, शिक्षा प्रसार, नगरीकरण, सम्पर्क सूत्रों का विस्तार, औद्योगीकरण, पाश्चात्यीकरण एवं संस्कृतिकरण का विशेष महत्त्व है। इनके अतिरिक्त नियोजित परिवर्तन, प्रजातान्त्रिक मूल्य, समाजवादी आदर्शों का समीकरण आदि कारण प्रमुख रूप से सहायक हुए हैं। आधुनिकीकरण ने भारतीय सांस्कृतिक प्रतिमानों को गतिशीलता प्रदान की है। लघु परम्पराओं ने बृहद् परम्पराओं का रूप ग्रहण कर लिया है। ब्राउन (Brown) के अनुसार भारतीय ग्रामीण संरचना में परम्परा और आधुनिकता को ग्रहण करने की अपार क्षमता है।

जहाँ तक बुद्धिजीवियों की बात है, शील्स के अनुसार, परम्परा और आधुनिकता

1: Modernity has entered into Indian Character and society but it has done so through assimilation not replacement.

– *Modernity of Indian Tradition*

के बीच कोई विरोध नहीं है। प्रो० श्रीनिवास ने भी परम्परा और आधुनिकता के बीच समन्वय का समर्थन किया है। वे लिखते हैं "भारत में दशहरे के वार्षिक त्योहार के अवसर पर अपने व्यवसाय के औजारों की सफाई करने और उनके आगे सिन्दूर-धूप तथा फूल चढ़ाने का आम रिवाज है। यह न केवल गाँव के बढ़ई, सुनार और कुम्हार के बारे में, बल्कि मिलों और कारखानों के शहरी मजदूरों के बारे में सही है। कारों और मोटरों को धोकर उन पर सिन्दूर लगाया जाता है, उन्हें फूलों के हारों से सजाया जाता है। सिलाई मशीनों, टाइपराइटरों और पुस्तकों के साथ भी यही व्यवहार किया जाता है। मिल्टन सिंगर के अनुसार एक ही व्यक्ति के जीवन में परम्परा और आधुनिकता का स्पष्ट विभाजन देखा जा सकता है। एक ही व्यक्ति का वाह्य जीवन आधुनिक है तो घर की संस्कृति परम्परावादी है। प्राय: सभी विचारक स्वीकार करते हैं कि परम्परा की आधारशिला पर ही आधुनिकता का प्रासाद खड़ा किया जा सकता है। परम्परावादी व्यक्ति भी कुछ क्षेत्रों में आधुनिकता से प्रभावित होता है और आधुनिकता के क्षेत्र में भी परम्परा के सूत्र परिलक्षित होते हैं। प्रो० शील्स ने परम्परा और आधुनिकता के इस सातत्य को स्वीकार किया है। समकालीन भारतीय समाज परम्परा और आधुनिकता के मध्य संक्रमण की स्थिति में है। मिल्टन सिंगर ने भी वताया है कि कुछ लोगों का जीवन तो आधुनिक है परन्तु घरों में परिवार, जाति, धर्म, भाषा, रिश्तेदारी आदि में परम्परागत संस्कारों, मूल्यों और मान्यताओं का ही राज्य है। इसका तात्पर्य यह है कि भारतीय जीवन परम्परा तथा आधुनिकता का समन्वय है।

कुछ समाज-दार्शनिकों के अनुसार भारतीय समाज में आज भी कुछ ऐसी पारम्परिक आस्थाएँ और मान्यताएँ हैं जो आधुनिकीकरण के प्रक्रिया में अवरोध उत्पन्न कर रही हैं। कर्मवाद, धर्मान्धता, परलोकवाद, वर्णाश्रम व्यवस्था तथा मोक्ष की अवधारणाएँ भारतीय समाज में आज भी प्रचलित हैं जो आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को गतिहीन बना देती हैं। इसी प्रकार जातिवाद, स्वार्थपरता, वोट-बैंक की राजनीति संकुचित दृष्टिकोण इत्यादि कुछ ऐसी कमजोरियाँ हैं जो समाज में अपेक्षित रूप से आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को गति नहीं प्रदान कर सकतीं। अब, बुद्धिजीवियों, सामाजिक कार्यकर्त्ताओं, राजनीतिज्ञों और विचारकों का यह कर्त्तव्य बनता है कि वे आधुनिकता के मार्ग में आने वाली सभी दुर्वलताओं का निवारण करके समाज में उच्चतम आधुनिक आदर्शों एवं मूल्यों को स्थापित करें।

●

परिशिष्ट-४

पारिस्थितिकी दर्शन

(Philosophy of Ecology)

आज मानव के मस्तिष्क में पर्यावरण के विपय में जितनी चिन्ता व्याप्त है उतनी चिन्ता पहले कभी नहीं रही है। इसका कारण यह है कि मनुष्य पर्यावरण का ही एक भाग है। उससे पृथक् मनुष्य की कल्पना भी नहीं की जा सकती। हमारे चारों ओर जो मूल तत्त्व—वायु, जल, भूमि, वनस्पति, पेड़-पौधे, पशु इत्यादि विद्यमान हैं वे सव मिलकर पर्यावरण का निर्माण करते हैं। प्रकृति में इन सभी तत्त्वों की मात्रा इस प्रकार व्यवस्थित की गई थी कि उसमें परस्पर सन्तुलन अक्षुण्ण रहे और सभी जीव जन्तु निरापद जीवन व्यतीत कर सकें। पर आज विज्ञान और प्रौद्योगिकी के विभिन्न प्रयोगों और परीक्षणों ने इस सन्तुलन को भंग कर दिया है जिसके परिणामस्वरूप आज पर्यावरण का संकट विश्व की एक ज्वलन्त समस्या वन गई है। इसी समस्या ने ज्ञान के क्षेत्र में एक नवीन विज्ञान को जन्म दिया जिसे **पर्यावरण-विज्ञान** (Environmental Science) कहा जाता है। आज इस विज्ञान ने धर्मयुद्ध का रूप धारण कर लिया है। इस शाखा ने नारा दिया **'प्रकृति की रक्षा करो'** (Nurture nature) और इसके अन्तर्गत प्रकृति को बिना हानि पहुँचाए इसका अध्ययन करने, संरक्षण करने और इसका प्रयोग करने के लिए सभी प्रकार के वैज्ञानिक प्रयास किए गए। परिभाषा की दृष्टि से 'पर्यावरण' शब्द जीवों संक्रियाओं को प्रभावित करने वाली समस्त भौतिक (Physical) एवं जीवीय (Biotic) परिस्थितियों का समुच्चय है। दूसरे शब्दों में इसे जीवमण्डल (Biosphere) भी कहा जा सकता है जो जल-मण्डल (Hydrosphere), स्थल-मण्डल (Lithosphere) तथा वायु-मण्डल (Atmosphere) का योग होता है। अर्थात् प्रकृति में हमें जो कुछ भी परिलक्षित होता है—जल, वायु, पृथ्वी, पादप तथा प्राणी सभी संकलित रूप में पर्यावरण का निर्माण करते हैं।

पर्यावरण की व्युत्पत्ति

पर्यावरण एवं पारिस्थितिकी को समझने के लिए सर्वप्रथम हमें इनकी व्युत्पत्ति पर ध्यान केन्द्रित करना होगा। पर्यावरण अंग्रेजी शब्द 'एनवायरनमेण्ट' (Environment) का हिन्दी रूपान्तर है जो दो शब्दों 'एनवायरन' (Environ) तथा मेण्ट (Ment) से मिलकर निर्मित है जिसका अर्थ है चारों ओर का घेरा (Encircle) अथवा परिधि जिसका तात्पर्य पर्यावरण है। संस्कृत भाषा में इसकी व्युत्पत्ति निम्न प्रकार है—परि + आ + वरण अर्थात् 'वरण' मूल शब्द से पहले 'आ' उपसर्ग लगाकर 'आवरण'

शब्द का निर्माण हुआ और पुनः आवरण में परि उपसर्ग लगाकर इसकी सन्धि से 'पर्यावरण' शब्द उत्पन्न हुआ। इस प्रकार पर्यावरण का अर्थ उस बाह्य आवरण से है जो हमारे चारों ओर आवृत किए हुए है। विश्वकोश के अनुसार "पर्यावरण के अन्तर्गत उन सभी दशाओं, संगठन एवं प्रभावों को सम्मिलित किया जाता है जो किसी जीव अथवा प्रजाति के उद्‌भव, विकास एवं मृत्यु को प्रभावित करते हैं।"[1]

ऊपर पर्यावरण के अर्थ को स्पष्ट किया गया। इसी पर्यावरण के विज्ञान को पारिस्थितिकी (Ecology) का नाम दिया गया है। एकॉलॉजी (Ecology) शब्द ग्रीक भापा के ऑइकॉज (Oikos) शब्द जिसका अर्थ आवास तथा लोगस (Logos) जिसका अर्थ अध्ययन से मिलकर व्युत्पन्न हुआ है। इस प्रकार पारिस्थितिकी शब्द का अर्थ घर अथवा आवास का अध्ययन। यदि हम 'पारिस्थितिकी' शब्द को परिभापित करना चाहें तो इसकी परिभापा निम्न प्रकार से दी जा सकती है—**पारिस्थितिकी किसी भी जीवधारी का उसके पर्यावरण के साथ सम्बन्ध का अध्ययन है।** पारिस्थितिकी वनस्पति, पशु, मानव तथा उनके पर्यावरण के सम्बन्धों का प्रतिमान आंर संतुलन है।[2]

पारिस्थितिकी दर्शन
(Philosophy of Ecology)

चार्ल्स एच० साउथविक (Charles H. Southwick) ने जीवों और उनके पर्यावरण के पारस्परिक सम्बन्धों तक ही पारिस्थितिकी को सीमित नहीं किया बल्कि उसके क्षेत्र का विस्तार करते हुए लिखा है—पारिस्थितिकी जीवधारियों के पारस्परिक और उनके पर्यावरणों के सम्बन्धों का वैज्ञानिक अध्ययन है।[3] समकालीन युग में पर्यावरण और पारिस्थितिकी का महत्त्व इतना बढ़ गया है कि अब यह केवल वनस्पति विज्ञान एवं जीव विज्ञान तक ही सीमित न रहकर अपने भीतर प्राकृतिक विज्ञानों (Natural Sciences) आंर सामाजिक विज्ञानों (Social Sciences) को भी समाहित कर लिया है। यहाँ तक कि दर्शन-शास्त्र भी पर्यावरण के प्रभाव से अछूता नहीं रह गया है। आज दर्शन केवल सैद्धान्तिक, अमूर्त और अव्यावहारिक नहीं रह गया है वरन् जीवन और जगत से सम्बन्धित व्यावहारिक समस्याओं और मूर्त सिद्धान्तों का भी अध्ययन करता है। दर्शन के क्षेत्र में बौद्धिक दृष्टिकोण अपनाते हैं तथा बिना किसी पूर्वाग्रह तथा पक्षपातपूर्ण धारणा के समस्या का सम्यक् मूल्यांकन करते हैं तथा इसके बौद्धिक समाधान के अनुसंधान का प्रयास करते

---

1. The sum of all the conditions, agencies and influences which affect the development, growth, life and death of on organism, species or race.
2. Ecology is the pattern and balance frelationships between plants, animals, people and their environment.
3. "Ecology is the scienctific study of the relationship of living organisms with each other and their environment". Ecology and the quality of our Environment" Charles H. Southwick. D. Van No Straud Company, NewYork, 1972.

हैं। पारिस्थितिकी दर्शन में सर्वप्रथम हम पारिस्थितिकी के घटक-तत्त्वों का विश्लेपण करेंगे तथा उसके उपरान्त उनके पारस्परिक सम्वन्धों की व्याख्या करनी होगी। पारिस्थितिकी के वर्तमान असन्तुलन के मूल कारण का अनुसन्धान किए बिना इसका समाधान प्रस्तुत करना कठिन होगा। दार्शनिक दृष्टिकोण से मनुष्य और प्रकृति के पारस्परिक सम्वन्ध का विश्लेपण करके देखना होगा कि प्राचीन काल में पर्यावरण संकट अथवा पारिस्थितिकी असंतुलन क्यों नहीं था तथा आज वे कौन-सी परिस्थितियाँ आ गई हैं जिनके कारण मानव-अस्तित्व के समक्ष यह भयावह संकट उत्पन्न हो गया है ? सामान्य दृष्टि से देखने पर यही बात सिद्ध होती है कि हमने धार्मिक कारणों से अथवा आध्यात्मिक कारणों से प्रकृति के साथ पूर्ण सामञ्जस्य स्थापित कर लिया था। पाश्चात्य और प्राच्य दोनों संस्कृतियों में प्राचीन काल में प्रकृति के शोषण पर उतना बल नहीं दिया गया जितना प्रकृति के दोहन पर बल दिया गया। यह भी मत प्रकट किया गया कि वास्तव में प्रकृति और मनुष्य दो नहीं वरन् एक ही तत्त्व के बाह्य और आभ्यान्तरिक पक्ष का प्रतिनिधित्व करते हैं। भारत में वेदों और उपनिषदों में प्रकृति को अत्यन्त उच्च स्थान दिया गया है तथा मानव प्रगति के लिए प्राकृतिक शक्तियों की अनिवार्यता को स्वीकार किया गया है। आधुनिक काल में जब से मनुष्य ने भौतिकवाद और प्रत्यक्षवाद को आधार मानकर अतिप्राकृतिक, आध्यात्मिक और पारलौकिक सत्ताओं का निषेध कर केवल विज्ञान और प्रौद्योगिकी को मानव प्रगति का एकमात्र कारण मान लिया तभी से हमने प्रकृति का शोषण प्रारम्भ कर दिया। प्रकृति को मनुष्य के समान स्थान न देकर उसे केवल साधन मानकर हमने उसका शोषण करना प्रारम्भ किया। इसके परिणामस्वरूप हमारा पर्यावरण हमारे जीवन के लिए संकटपूर्ण हो गया। अस्तित्व के समक्ष उत्पन्न संकट के निवारण के लिए ही मानवतावादियों और पर्यावरणविदों का ध्यान इस समस्या के प्रति आकृष्ट हुआ तथा मनुष्य और प्रकृति के पारस्परिक सम्बन्धों के पुनर्मूल्यांकन की आवश्यकता हुई।

पारिस्थितिकी का इतिहास
(History of Ecology)

पारिस्थितिकी का इतिहास बहुत प्राचीन है। ऐसा नहीं है कि बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ही मनुष्य ने पर्यावरण के विषय में रुचि लेना प्रारम्भ किया। इतिहास के प्रारम्भ से ही मनुष्य ने अपने चारों ओर के वातावरण के प्रति रुचि प्रदर्शित की है। आदिम समाज में प्रत्येक व्यक्ति को अपने अस्तित्व को अक्षुण्ण रखने के निमित्त अपने पर्यावरण के समुचित ज्ञान की आवश्यकता का अनुभव हुआ है। मनुष्य ने अग्नि तथा विविध औजारों और उपकरणों का प्रयोग अपने पर्यावरण को नियन्त्रित और परिवर्तित करने के लिए किया। प्रयत्न और भूल (Trial and Error) सिद्धान्त द्वारा वह अपने पर्यावरणीय ज्ञान में निरन्तर वृद्धि करता गया और एक ऐसा समय आया जबकि पर्यावरणीय ज्ञान इतना विशद और विस्तृत हो गया कि इसे सुरक्षित रखने के लिए एक विशिष्ट विज्ञान की आवश्यकता हुई। इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए इस शताब्दी के

प्रारम्भ में पर्यावरण विज्ञान या पारिस्थितिकी का जन्म हुआ।

पारिस्थितिकी विज्ञान का विकास अन्य विज्ञानों की अपेक्षा बहुत मन्द गति से हुआ। प्राचीन काल में हिप्पोक्रेटीज (Hippocrates), अरस्तू (Aristotle) तथा अन्य यूनानी दार्शनिकों के लेखों में उनके पारिस्थितिक ज्ञान का आभास मिलता है। ई०पू० चौथी शताब्दी में अरस्तू के एक मित्र तथा सहयोगा थियोफ्रेस्टस (Theophrastus) ने जीवों एवं उनके पर्यावरण के परस्पर सम्बन्धों का सर्वप्रथम वर्णन किया है। इस दृष्टि से थियोफ्रेस्टस विश्व का प्रथम पारिस्थितिक वैज्ञानिक माना जा सकता है।

यूनानी काल के बाद कई शताब्दियों तक पारिस्थितिकी से सम्बन्धित ज्ञान का विकास अवरुद्ध रहा। जीव-विज्ञान के पुनरुत्थान काल में अठारहवीं व उन्नीसवीं शताब्दी के वैज्ञानिकों ने पुनः इस क्षेत्र में रुचि लेना प्रारम्भ किया। इसी बीच फ्रांस के प्राकृतिक वैज्ञानिक रूमर (Reaumer, 1683-1757) ने 'कीटों का प्राकृतिक विज्ञान' छः खण्डों में प्रकाशित कराया जिसे प्राकृतिक विज्ञान का प्रस्थान कहा जा सकता है। इसी समय एक अन्य प्राकृतिक वैज्ञानिक जार्ज बफोन (George Buffon 1707-1788) ने प्राणियों के विश्वव्यापी वितरण का सामान्यीकरण प्रस्तुत कर भौगोलिक पारिस्थितिकी की आधारशिला रखी।

आधुनिक पारिस्थितिकी की आधारभूत परिकल्पना के अनुसार पौधे और प्राणी एकीकृत समुदाय (Integrated Community) के ही अंग हैं। इस परिकल्पना की स्थापना जिन वैज्ञानिकों के प्रयोगों एवं अध्ययन से हुई उनके नाम हैं—अगस्त ग्रिसबेक (August Grisebach 1838), के मोबियस (K. Mobius 1877), स्टीफेन फोर्बस (Stephen Forbes 1887) तथा जे० वार्मिंग (J. Warming 1895)। इसके बाद १९०६ तथा १९०९ में सी० एडम्स (C. Adams) ने उत्तरी मिशिगन तथा सुपीरियर झील के सर्वेक्षण के आधार पर अनेक जीव-समुदायों का वर्णन किया। सन् १९१५ में वी०ई० शेफर्ड (V.E. Sheford) ने शीतोष्ण अमेरिका के जीव-समुदायों का शास्त्रीय अध्ययन प्रस्तुत किया। सन् १९२७ में चार्ल्स इल्टन (Charles Elton 1927) के द्वारा समुदाय गतिकी (Population Dynamics) का श्रेष्ठ विश्लेषण प्रकाशित हुआ। सन् १९३९ में में शेफर्ड की पुस्तक जैव पारिस्थितिकी (Bio-Ecology) प्रकाशित हुई जिसमें पूर्व-स्थापित तथ्य का समर्थन किया गया कि "सम्पूर्ण जीव-समुदाय एक इकाई है"। बीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक में पर्यावरण विज्ञान केवल कक्षा तक सीमित न रहकर जन-सामान्य में चर्चा तथा वाद-विवाद का विषय हो गया है। जन-सामान्य में परिस्थिति के प्रति जागरूकता का मुख्य कारण तीव्र औद्योगीकरण तथा बढ़ती जनसंख्या से उत्पन्न विभिन्न पर्यावरणीय समस्याओं की अनुभूति है जिसने जन-मानस को भीतर से झकझोर दिया है।

पारिस्थितिकी की विषयवस्तु
(The Subject-Matter of Ecology)

१९६३ में फ्रेजर डार्लिंग ने पारिस्थितिकी की विषय-वस्तु के विषय में लिखा

है—"पारिस्थितिकी समस्त पर्यावरण के सन्दर्भ में जीवों तथा उनके अन्तर्जातीय एवं परस्पर अन्तर्सम्बन्धों का विज्ञान है।"[१] सी०एस० साउथविक ने पारिस्थितिकी को जीवधारियों का परस्पर और उनके पर्यावरणीय अन्तर्प्रक्रिया का अध्ययन कहा है।[२] पारिस्थितिकी के अध्ययन के दो स्पष्ट भेदों का वर्णन किया गया है (क) स्वपारिस्थितिकी (Autecology) एवं (ख) समुदाय पारिस्थितिकी (Synecology)। स्वपारिस्थितिकी के अन्तर्गत किसी विशेष क्षेत्र के एकल जैव जाति (Species) का उसके पर्यावरणीय अन्तर्प्रक्रिया का अध्ययन किया जाता है। इसके विपरीत, समुदाय पारिस्थितिकी के अन्तर्गत किसी तन्त्र विशेष में सम्पूर्ण जातीय समुदायों का परस्पर और पर्यावरण से अन्तर्प्रक्रिया का अध्ययन किया जाता है।

प्राचीन समय में पारिस्थितिकी के अध्ययन में मनुष्य को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं था परन्तु पर्यावरण के ह्रास से उत्पन्न समस्याओं के कारण वैज्ञानिकों का ध्यान मनुष्य की ओर आकृष्ट हुआ क्योंकि पर्यावरण के ह्रास में मनुष्य की भूमिका प्रमुख पाई गई। आगे चलकर सुप्रसिद्ध जीवशास्त्री ओडम को पारिस्थितिकी की पूर्व परिभाषा को विस्तृत करना पड़ा। इस अवधि में लोगों को स्पष्ट ज्ञान हो गया कि मनुष्य के क्रिया-कलापों के कारण ही पर्यावरण का ह्रास हो रहा है जो पारिस्थितिकी को असंतुलित कर सम्पूर्ण विश्व के लिए संकट उत्पन्न कर रहा है। इसी सन्दर्भ में पर्यावरण और पारिस्थितिकी के अध्ययन को व्यापक बनाने के लिए उसमें मानव-समाज को भी समाहित किया गया। ओडम से भी आगे बढ़कर ट्रूसोव (Y.P. Trusov) ने पारिस्थितिकी के अध्ययन के क्षेत्र में मनुष्य-जगत के साथ सम्पूर्ण जीव जगत को भी सम्मिलित करना आवश्यक बताया। उनके मत के अनुसार पारिस्थितिकी के अध्ययन में न केवल पेड़-पौधों और जीव-जन्तुओं तथा उनके पर्यावरण को ही शामिल करना चाहिए अपितु मानव-समाज और उसके भौतिक पर्यावरण (जैव-अजैव) के बीच अन्तःप्रक्रिया का भी अध्ययन होना चाहिए।[३]

आज के पारिस्थितिकीय असन्तुलन की गम्भीरता को परखते हुए 'पृथ्वी बचाओ' आन्दोलन का प्रारम्भ हुआ। १९९२ के रियोडिजेनरो शिखर सम्मेलन में पर्यावरण और पारिस्थितिकी के विषय में गम्भीर विचार-विमर्श हुआ तथा उनके दुष्परिणाम से विश्व को बचाने के उपायों पर मंत्रणा की गई। उस शिखर-सम्मेलन का अन्तिम निष्कर्ष यह था कि मानव-समाज की भौतिक अवधारणाओं के कारण ही

---

1. Ecology is the science of organism in relation to their environment and interrelationship of organisms interspecificale and between themselves.
2. Ecology is the scientific study of the relationship of living organisms with each other and with their environment.
3. The concept of ecology has been extended to the corresponding range of the phenomena, research and problems. In that connection, ecology has been quite logically extened as well to the field of the interaction of society and its physical environment.

पारिस्थितिकी में असन्तुलन व्याप्त है। आज आधुनिक मानव आध्यात्मिक मानव न होकर केवल आर्थिक मानव के रूप में परिणत हो गया है। दार्शनिक दृष्टिकोण से आर्थिक मानव की अपेक्षा आध्यात्मिक मानव का विशेष महत्त्व है। आर्थिक मानव की परिकल्पना समाज में भोगवाद को प्रोत्साहित करती है जिसके कारण पर्यावरण में सन्तुलन कभी भी स्थापित नहीं किया जा सकता। आध्यात्मिक मानव ही समाज में संयम, त्याग और बलिदान का पाठ पढ़ा सकता है जिनके कारण हमारी पारिस्थितिकी में पर्याप्त सन्तुलन स्थापित किया जा सकता है। आध्यात्मिक मानव की परिकल्पना ने ही व्यावहारिक पारिस्थितिकी (Applied Ecology) को जन्म दिया। वस्तुतः बढ़ती जनसंख्या, अधिक संसाधन शोषण अनियंत्रित आर्थिक विकास, कृत्रिम रसायनों का अन्धाधुन्ध प्रयोग और सर्वश्रेष्ठ बनने की ललक के कारण पर्यावरण प्रदूषण समस्त जीवमण्डल के लिए खतरे का संकेत है। अतः, जीवमण्डलीय पारिस्थितिकी का अध्ययन आज समय की पुकार है। सभी वैज्ञानिकों का उद्देश्य पारिस्थितिकी तन्त्र की नैसर्गिकता, संतुलन और भविष्य के खतरों के निवारण में निहित है। विविध विज्ञान अपने-अपने ढंग से पर्यावरण और पारिस्थितिकी के गूढ़ रहस्यों को समझने और सुलझाने में संलग्न हैं जिनके कारण इसका अध्ययन-क्षेत्र पर्याप्त विस्तृत और व्यापक होता जा रहा है तथा नए-नए पक्ष जुड़ते जा रहे हैं यथा मानव पारिस्थितिकी (Human Ecology), सामाजिक पारिस्थितिकी (Social Ecology), जनसंख्या पारिस्थितिकी (Population Ecology), नगरीय पारिस्थितिकी (Urban Ecology), औद्योगिक पारिस्थितिकी (Industrial Ecology) इत्यादि। हाल के दशकों में अन्तरिक्ष कार्यक्रम के कारण पर्यावरण और जैव जगत के सम्बन्धों में नवीन परिस्थितियाँ उत्पन्न हो रही हैं। इस प्रकार अन्तरिक्ष पारिस्थितिकी (Space Ecology) को भी इसकी विषय-वस्तु में सम्मिलित करना पड़ा। महासागरों पर बढ़ते मानव अत्याचार के कारण नई परिस्थितियाँ प्रगट होने लगीं जिससे एक अन्य आयाम सामुद्रिक पारिस्थितिकी (Ocean Ecology) को जन्म लेना पड़ा। इन परिवर्तनों के परिप्रेक्ष्य में कुछ विचारक पारिस्थितिकी के अध्ययन को विज्ञान न मानकर एक दृष्टिकोण मान रहे हैं जिसका प्रमुख उद्देश्य सभी प्रकार के प्राकृतिक विकास का अध्ययन करना है जो जीवन और पर्यावरण को प्रभावित करते हैं तथा जिसका सम्बन्ध मानव-समाज और उसके क्रिया-कलापों से है। इस सन्दर्भ में पारिस्थितिकी का उद्देश्य एक ऐसी प्रणाली का विकास करना है जिससे पर्यावरण के समस्त जीवधारी और मानव-समाज के मध्य इन सभी पक्षों का विश्लेषण और सीमांकन किया जा सके जिससे सृष्टि का सन्तुलन और उसकी ऊर्जा अक्षुण्ण रहे।

मानव पारिस्थितिकी
(Human Ecology)

मानव और प्रकृति के पारस्परिक सम्बन्धों की व्याख्या करना ही मानव पारिस्थितिकी है। वास्तव में पृथ्वी के जैव-अजैव के सन्दर्भ में मानव के उपयुक्त स्थान

का निर्धारण करना मानव-पारिस्थितिकी का मूल उद्देश्य है। सृष्टि की जैविक-अजैविक व्यवस्था में मनुष्य की स्थिति अन्य जीवधारियों से बिलकुल भिन्न है। मानव सृष्टि का एकमात्र ऐसा प्राणी है जो अपने विशिष्ट गुणों के कारण अन्य प्राणियों की अपेक्षा विशिष्ट प्रकार की अन्तर्प्रक्रिया करता है। वह पृथ्वी का अकेला प्राणी है जिसके पास पूर्ण विकसित मस्तिष्क, सुगठित शरीर, समाज संगठन की अपूर्व क्षमता और तकनीकी निपुणता द्वारा उच्चस्तरीय जीवन-यापन की क्षमता विद्यमान है। इसी गुण के कारण मनुष्य को सामाजिक प्राणी माना जाता है। सृष्टि के अन्य प्राणी प्रकृति के अधीन कार्य करते हैं जबकि मनुष्य अपने भौतिक परिवेश में मनोवांछित परिवर्तन कर अपने अनुकूल बनाने की चेष्टा करता है। मनुष्य की यही सामर्थ्य उसे अन्य जीवधारियों से पृथक् करती है। रूसी विद्वान् लिसिट्सिन (Lisitsin) पारिस्थितिकी के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए लिखा है—"मानव पारिस्थितिकी का परम उद्देश्य मानव पर्यावरण की अन्तर्प्रक्रियाओं में शोध द्वारा मानव के जीवन और उसकी भौतिक व आध्यात्मिक योग्यता के विकास हेतु आवश्यक प्रतिबन्धों का अनुसन्धान करना है।"[१]

मनुष्य अपने पर्यावरण के ऊपर अपना आधिपत्य जमाकर अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित करने में युगों से सचेष्ट रहा है। इसके लिए वह आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और तकनीकी क्रिया द्वारा अपने भौतिक परिवेश में परिवर्तन करके सांस्कृतिक परिवेश की रचना करता है। सृष्टि के जीवधारियों में मनुष्य एकमात्र प्राणी है जिसे यह क्षमता प्राप्त हो सकी है जो उसकी गुणात्मक श्रेष्ठता का प्रतीक है। इसका परिणाम यह होता है कि मनुष्य को एक साथ दो प्रकार के परिवेशों भौतिक-सांस्कृतिक से सामंजस्य स्थापित करने की अनिवार्यता हो जाती है। इसके लिए उसे दोहरी भूमिका निभानी पड़ती है। जिन सुविधाओं को वह भौतिक पर्यावरण को प्राप्त नहीं कर पाता उन्हें वह कृत्रिम रूप से निर्माण कर लेता है। यदि किसी कारणवश वह सांस्कृतिक परिदृश्य की रचना में भौतिक पर्यावरण की अवहेलना करता है तो उसे कठिनाइयों का सामना भी करना होता है। सच पूछा जाय तो मनुष्य भी अन्य प्राणियों की तरह प्रकृति की सन्तान है, किन्तु अन्य प्राणियों की अपेक्षा उसकी आवश्यकताएँ अनन्त हैं। इसके फलस्वरूप उसे प्राकृतिक तत्त्वों के साथ संघर्ष करना पड़ता है क्योंकि उसकी आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और जैविक आवश्यकताएँ उसे ऐसा करने के लिए बाध्य करती हैं। विज्ञान और तकनीकी के आधार पर अधिक उत्पादन और भौतिक सुख की ललक सें वशीभूत मानव का प्रकृति के ऊपर दबाव बढ़ता जाता है जिसका दुष्परिणाम पर्यावरण के ह्रास से उत्पन्न प्रदूषण, दैवीय आपदा और सांस्कृतिक विकृतियों के रूप में अभिव्यक्त होता है। मानव पारिस्थितिकी के मूल्यांकन में जर्मन विद्वान हम्बोल्ट की विचारधारा का उल्लेख करना नितान्त आवश्यक

---

1. The prime purpose of human ecology is to find through research into interaction between man and his environment, the optional conditions necessary for man to survive and develop his physical and spiritual ability.

है। उनके अनुसार प्रकृति एक जैविक इकाई है जिसका एक प्राकृतिक दर्शन (Natural Philosophy) और नैतिक दर्शन (Moral Philosophy) होता है जिनके नियमों का उल्लंघन करने से मनुष्य जीवन में नाना प्रकार की विकृतियाँ उत्पन्न होती हैं।

मानव और पर्यावरण के पारस्परिक सम्बन्ध
(Man-Environment Relationship)

मानव और उसके पर्यावरण के पारस्परिक सम्बन्ध की व्याख्या के लिए समाज-दार्शनिकों ने कई सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। वे सिद्धान्त इस बात पर आधारित हैं कि मानव और पर्यावरण में कौन-सा तत्त्व अधिक शक्तिशाली है—मानव अथवा पर्यावरण अथवा दोनों की समान भूमिका। अब हम इन विकल्पों से सम्बन्धित सिद्धान्तों का वर्णन करेंगे। उन सिद्धान्तों में निम्न सिद्धान्त प्रमुख हैं—(१) नियतिवाद या पर्यावरणवाद (Determinism or Environmentalism), (२) सम्भववाद (Possibilism), (३) नव-नियतिवाद (Neo-Determinism), (४) संकल्पवाद (Voluntarism), (५) मानकीय दृष्टिकोण (Normative Approach), (६) पारिस्थितिकीय दृष्टिकोण (Ecological Approach)।

१. नियतिवाद (Determinism)—इस सिद्धान्त के अनुसार मानव की अपेक्षा पर्यावरण को अधिक शक्तिशाली व प्रभावी माना गया है। प्राकृतिक पर्यावरण ही मानव के अस्तित्व को निर्धारित करता है तथा उसकी शारीरिक और मानसिक क्षमता को नियंत्रित करता है। ऐसी मान्यता है कि ब्रिटिश दार्शनिक सामुद्रिक वातावरण के कारण अनुभववादी विचारधारा के अनुयायी होते हैं। इसके विपरीत यूरोपीय महाद्वीप के दार्शनिक बुद्धिवादी विचारधारा के समर्थक होते हैं। यह सब उनकी पर्यावरणीय विभिन्नता के कारण ही सम्भव होता है। सुप्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक अरस्तू ने लिखा था, "यूरोप के ठण्डे देशों के निवासी बहादुर होते हैं किन्तु विचारों तथा तकनीकी कौशल में उनमें कमी पायी जाती है। इसके विपरीत एशिया के लोग विचारशील और कुशल होते हैं किन्तु वे उत्साही नहीं होते।" स्ट्रैबो ने रोम साम्राज्य की सम्पन्नता का कारण इटली की जलवायु को बताया। सोलहवीं शताब्दी के विचारक बोदिन ने ठण्डे देशों के निवासियों को निर्दयी तथा साहसिक बताया जबकि गर्म देशों के निवासियों को प्रतिशोधी, कुटिल किन्तु सच और झूठ में अन्तर करने वाला बताया। आधुनिक काल में जर्मन विचारक हम्बोल्ट तथा कार्लरिहर पर्यावरण के महत्त्व को स्वीकार करते थे। प्रसिद्ध वैज्ञानिक चार्ल्स डार्विन ने जीवों के विकास का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। उन्होंने जीव-विकास तथा पर्यावरण के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध प्रगट करते हुए घोषित किया कि जीव के विकास में पर्यावरण की अहं भूमिका होती है। रेटजल के अनुसार मानव अपना मस्तिष्क आकाश में चाहे जितना ऊँचा उठा ले किन्तु उसके पैर सदा धरती पर ही टिके रहेंगे। पर्यावरणवाद के समर्थक ई०सी० सैम्पल ने मानव को पृथ्वी की उपज कहा क्योंकि पृथ्वी ही उसे प्रश्रय और भोजन देती है तथा उसकी शारीरिक और मानसिक क्षमता का विकास करती है। उनके

अनुसार पर्वतीय क्षेत्र के निवासियों के पैर मजबूत होते हैं जबकि समुद्र के निवासियों का सीना और हाथ चौड़े होते हैं। इसी प्रकार नदी की घाटी के निवासी आलसी होते हैं।

पर्यावरणवाद जहाँ तक अपना समर्थन करता है वहाँ तक तो ठीक है पर मनुष्य के विकास में जो मानव के पुरुषार्थ का निषेध करता है वह उपयुक्त नहीं कहा जा सकता। मानव के भीतर ऐसी अपार क्षमता होती है जिसके द्वारा वह अपनी शक्ति, बुद्धि, विज्ञान और तकनीकी का प्रयोग कर अपने पर्यावरण में परिवर्तन कर अधिक से अधिक लाभ अर्जित कर सकता है। पर्यावरण मनुष्य को प्रभावित अवश्य करता है पर वह उसके व्यवहार को निर्धारित नहीं करता। इजराइल ने अपनी वैज्ञानिक प्रतिभा तथा तकनीकी कौशल का प्रयोग कर मरुस्थल को उर्वरा भूमि में परिवर्तित कर दिया है। यहाँ तक कि जलवायु को अनेक प्रकार के वातानुकूलन से अनुकूल बनाया जा रहा है। इस प्रकार पर्यावरण के साथ मनुष्य के कार्यकौशल का कम महत्त्व नहीं है।

२. सम्भववाद (Possibilism)—नियतिवाद के विरुद्ध आक्षेपों का परिहार करने के लिए ही समाज-दार्शनिकों ने सम्भंववाद का प्रतिपादन किया है। इस मत में पर्यावरण की सर्वोच्चता का निषेध किया गया है और मानव की सर्वोच्च सत्ता का विधान किया गया है। फेब्बरे, ब्लाश, कार्ल सावर इत्यादि विचारकों ने पर्यावरण और मनुष्य के बीच सामंजस्य स्थापित करने की बात कही है। इनके अनुसार मनुष्य प्रकृति का दास न होकर उसका अधिपति है और उस पर विजय प्राप्त करने की क्षमता रखता है। मनुष्य उतना अकिंचन नहीं है जितना नियतिवाद मानता है। मानव अपने ज्ञान, कौशल और बुद्धि के बल पर पर्यावरण का उपयोग करता है। मशीनीकरण ने प्रकृति के अनेक तत्त्वों पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया है।

यद्यपि इस मत में मानव को सर्वोच्च सत्ता के रूप में मान्यता प्रदान की गई है किन्तु नियतिवाद की तरह यह मत भी एकांगी ही कहा जायगा क्योंकि पर्यावरण व प्रकृति से पृथक् मनुष्य की कल्पना नहीं की जा सकती। पृथ्वी पर अनेक ऐसे स्थल हैं जहाँ मनुष्य उन पर विजय प्राप्त नहीं कर पाया है। आज भी आर्कटिक, एण्टार्कटिक एवं टुण्ड्रा का हिममण्डित क्षेत्र, भूमध्यरेखीय प्रदेश तथा गर्म मरुस्थलीय प्रदेश मानव निवास के लिए सर्वथा अनुपयुक्त है। फसलों का उत्पादन मूलतः जलवायु पर निर्भर है; सूखा, बाढ़, ज्वालामुखी का विस्फोट तथा भूकम्प की प्राकृतिक विपदाओं पर मनुष्य का तनिक भी नियन्त्रण नहीं है।

३. नव-नियतिवाद (Neo-Determinism)—नियतिवाद पर्यावरण को सर्वोच्च मानता है और सम्भववाद मनुष्य की सर्वोच्चता का प्रतिपादन करता है जबकि नव-नियतिवाद दोनों के बीच सामञ्जस्य और सहयोग पर विशेष बल देता है। इस सिद्धान्त के पुरस्कर्ता ग्रिफिथ टेलर थे जिन्होंने प्राकृतिक वातावरण को महत्त्व प्रदान करते हुए मानवीय क्षमता तथा सामर्थ्य को समुचित स्थान दिया है। टेलर के अनुसार न तो प्रकृति का मानव के ऊपर पूर्ण नियन्त्रण है और न ही मानव प्रकृति का पूर्ण विजेता है। दोनों का एक दूसरे से क्रियात्मक सम्बन्ध है। प्रगति के लिए आवश्यक है कि मानव प्रकृति से

सहयोग प्राप्त करे और उसके साथ सामञ्जस्य स्थापित करे। मानव विकास की गति को मन्द या तेज कर सकता है पर पर्यावरण व प्रकृति के दिशा-निर्देशों की अवहेलना नहीं कर सकता। मानव-प्रगति में दोनों का समान योगदान होता है।

(३) संकल्पवाद (Voluntarism)—नियतिवाद पर्यावरण को अधिकतम महत्त्व देता है। सम्भववाद मानव को महत्त्व देते हुए भी कुछ परिस्थितियों में उसकी क्षमता को सीमित कर देता है पर संकल्पवाद मानव की अपरिमित क्षमता में किसी भी स्थिति में सीमित नहीं करता। संकल्पवाद मानव की असीम क्षमता में विश्वास करता है। उसके अनुसार मनुष्य के भीतर ऐसी अपार शक्ति है जिसके बल पर वह विपरीत परिस्थितियों के ऊपर विजय प्राप्त कर उनमें अनुकूल परिवर्तन कर सकता है। उदाहरणस्वरूप मानव सिंचाई की सुविधा द्वारा रेगिस्तान को भी हरा-भरा बना सकता है। अमेरिका में विपरीत जलवायु में भी 'ग्रीन हाउस' में सीमित उत्पादन किया जा रहा है। गहरे समुद्र से वह तेल का उत्पादन कर रहा है जिसके द्वारा औद्योगिक जगत के कार्य संचालित किए जा रहे हैं। यह ठीक है कि तेल के उपयोग से पर्यावरण दूषित हो रहा है पर साथ ही वह इसके संरक्षण के लिए भी प्रयत्नशील है। मनुष्य के संकल्प व शक्ति के सदुपयोग से उपर्युक्त सारी विकृतियों का परिहार किया जा सकता है।

ऊपर मानव-पर्यावरण के पारस्परिक सम्बन्ध को लेकर तीन मूल-सिद्धान्तों—नियतिवाद, सम्भववाद और संकल्पवाद का विस्तृत विवेचन किया गया। पर समकालीन विचार-धारा अपने को किसी सिद्धान्त के चौखटे में आबद्ध नहीं करना चाहती। वह सिद्धान्त की अपेक्षा दृष्टिकोण में अधिक विश्वास करती है। इस प्रकार से समाज-दार्शनिकों ने दो दृष्टिकोणों की चर्चा की है—प्रथम पारिस्थितिकीय दृष्टिकोण एवं द्वितीय नियामक दृष्टिकोण।

पारिस्थितिकीय दृष्टिकोण (Ecological Approach)—मानव-पर्यावरण के सम्बन्ध की आधुनिकतम अभिव्यक्ति पारिस्थितिकीय दृष्टिकोण द्वारा अभिव्यंजित होती है जिसमें मानव को पारिस्थितिकीय तन्त्र का एक घटक माना जाता है। वास्तविक रूप में पारिस्थितिकीय-तन्त्र एक त्रिकोण की स्थिति में होता है जिसके एक बिन्दु पर पर्यावरण, दूसरे पर जनसंख्या तथा तीसरे बिन्दु पर संगठन विद्यमान होते हैं। मानव तथा पर्यावरण एक-दूसरे के पूरक हैं। मानवीय कृति पर्यावरण से प्रभावित होती है और वही कृति पर्यावरण को प्रभावित तथा दूषित करती है। वायु, जल, भूमि का दोहन तो ठीक है पर उनके शोषण से प्रदूषण उत्पन्न होता है जिससे मानव को हानि होती है। नगरीकरण हरित क्रान्ति, औद्योगीकरण आदि ने पर्यावरण को प्रदूषित कर दिया है।

नियामक दृष्टिकोण (Normative Approach)—इस विचारधारा के अन्तर्गत उस आदर्श अर्थात् मानक की स्थापना पर बल दिया जाता है जिसमें मानव और पर्यावरण के बीच सामञ्जस्यपूर्ण या समन्वयपूर्ण सम्बन्ध स्वीकार किया गया है। मानव पर्यावरण के साथ सामञ्जस्य स्थापित करके ही अपना सर्वाङ्गीण विकास कर सकता है। मानव प्रकृति को नियंत्रित करता है, दोनों विचार एकांगी हैं। मनुष्य जब अपने अविवेक,

अदूरदर्शिता, स्वार्थ और लोभ के कारण प्रकृति का दुरुपयोग करता है अथवा शोषण करता है तो वह विकास के नाम पर अपने विनाश को आमन्त्रित करता है। वर्तमान समय में बृहत् औद्योगीकरण, वाहनों, कल-कारखानों, आणविक संयन्त्रों की स्थापना करके, पर्यावरण को मानव ने अपना प्रतिरोधी वना दिया है। नियामक दृष्टिकोण के अनुसार पर्यावरण और मानव एक-दूसरे के प्रतिरोधी न होकर परस्पर सहयोगी हैं। फिक्टे, शेलिंग, हेगल और बैडले के अनुसार मानव और प्रकृति एक ही परम तत्त्व की आन्तरिक और बाह्य अभिव्यक्तियाँ हैं। अत:, उनके परस्पर विरोधी होने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। वायु-प्रदूषण, वनों की अन्धाधुन्ध कटाई, जल-स्रोतों में गिरता औद्योगिक कचरा, वन्य प्राणियों की हत्या, पारमाणविक विस्फोट, युद्ध में प्रयुक्त रासायनिक अस्त्र-शस्त्र इत्यादि सभी क्रियाएँ पर्यावरण को असंतुलित करने में पर्याप्त योगदान करती हैं। इन्हीं बातों को ध्यान में रखकर भारतीय ऋषियों ने कहा है—"प्रकृति हमारी माता है जो सभी कुछ अपने बच्चों को अर्पित कर देती है।"

पर्यावरण के सम्बन्ध में भारतीय दार्शनिक परम्परा
(Environment and Indian Philosophical Tradition)

भारतीय दार्शनिक परम्परा में मानव और प्रकृति के पारस्परिक सम्बन्ध को लेकर विस्तारपूर्वक गहन विचार किया गया है। मानव समाज के ऐतिहासिक विकास क्रम के अनुसार जब तक मनुष्य प्रकृति पर आधारित था, मानव और प्रकृति के बीच समन्वयात्मक और सामञ्जस्यपूर्ण सम्बन्ध था और उसके समक्ष कोई संकट उत्पन्न नहीं हुआ था किन्तु जब से मनुष्य भौतिकवादी सुविधाभोगी और आर्थिक व्यक्ति बन गया उसकी आवश्यकताओं में अतिशय वृद्धि हो गयी और उसके भीतर प्रकृति के शोषण की प्रवृत्ति बढ़ती चली गई। इसी के परिणामस्वरूप पारिस्थितिकी में असन्तुलन होना प्रारम्भ हुआ और मनुष्य के समक्ष संकट की स्थिति बनने लगी। प्रकृति के विषय में पहले यह विचारधारा थी कि प्रकृति हमारी माँ है और वह स्वत: उपहार देकर हमें नाना प्रकार से उपकृत करती है पर जब उसके स्थान पर नवीन विचारधारा उत्पन्न हुई जिसके अनुसार प्रकृति हमारी दासी है जिसका अधिकतम शोषण करके उसका उपयोग करना चाहिए। भारतीय दर्शन और संस्कृति के अनुसार मनुष्य और प्रकृति के बीच द्वैत नहीं है वरन् अद्वैत सम्बन्ध है। मनुष्य प्रकृति का ही एक भाग है। उससे पृथक् उसके अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती। प्रकृति का ही अंश होने के कारण, मनुष्य ने अपने कल्याण के साथ समस्त जीवों, वनस्पतियों इत्यादि के कल्याण की भी कामना की है। वैदिक काल में सृष्टि की उत्पत्ति की जो अवधारणा है, वहीं से मनुष्य और प्रकृति के समन्वयात्मक सम्बन्ध की झलक दिखाई पड़ती है। सृष्टि को एक यज्ञीय पुरुष की रचना के रूप में स्वीकार किया गया है जिसने अपने शरीर से पृथ्वी, वायु, जल, प्रकाश और अन्तरिक्ष की रचना की और उसके उपरान्त इन तत्त्वों के साथ उसने मनुष्य का निर्माण किया। उपर्युक्त वर्णन में मनुष्य को अन्य तत्त्वों के समकक्ष ही स्वीकार किया गया है और

मनुष्य को अन्य तत्त्वों की अपेक्षा कहीं भी विशिष्ट और श्रेष्ठ नहीं माना गया है। यही कारण है कि मनुष्य ने अपने कल्याण के साथ अन्य प्राणियों के कल्याण की कामना की है। यज्ञीय उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह वृक्षों को काटता अवश्य है पर साथ-साथ सोचता भी है कि इससे स्वर्ग व अन्तरिक्ष की किसी प्रकार हानि न हो।[१] वह यह नहीं चाहता है कि पौधों की जड़ों का विनाश हो।[२]

वैदिक काल में मनुष्य ने प्रकृति के प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करने के लिए उसके अंगों को देवी-देवताओं के रूप में मान्यता प्रदान की है। द्यावा-पृथ्वी, अग्नि, पर्जन्य (Rain), उषा (Dawn), मित्र (Sun), वरुण (Supervision of the Cosmic order) सभी को दैवी रूप प्रदान किया गया है। इन्हें केवल प्राकृतिक शक्ति के रूप में ही नहीं वरन् अति-प्राकृतिक सत्ता के रूप में अभिव्यक्त किया गया है। उदाहरण के लिए उसने सूर्य को विश्व की आत्मा कहा है।[३] जल को उसने 'देवी आप:' के रूप में प्रदर्शित किया है। उसने पृथ्वी को माता, जल को माता का स्थान दिया।[४] कहीं-कहीं उसने जल और वृक्षों को मित्र के रूप में मान्यता दी है।[५] ऋत् की अवधारणा से भी वैदिककालीन ऋषियों की उस धारणा का पोषण होता है जिसके अनुसार वे प्राकृतिक सत्ताओं में सन्तुलन और सामञ्जस्य स्थापित करने के लिए देवताओं की आराधना करते थे। वैदिक ग्रन्थों में पशुओं की समृद्धि की भी कामना की गई है।

भारतीय अध्यात्मवाद ने प्राकृतिक और चेतन शक्तियों को कभी भी एक दूसरे से पृथक् सत्ताओं के रूप में स्वीकार नहीं किया। उसने प्रकृति और आत्मा को एक ही परमतत्त्व के दो—बाह्य और आन्तरिक फलक के रूप में ही स्वीकार किया। बृहदारण्यक उपनिषद में वृक्ष और मनुष्य की तुलना करते हुए कहा गया है कि मनुष्य के बाल पत्तियाँ हैं। जब वृक्ष काट दिया जाता है तो अपनी जड़ से एक नए रूप में उगता है, मृत्यु द्वारा काट दिया जाने पर मनुष्य किस जड़ से पुन: पनपता है ?[६] एक अन्य उपनिषद् में कहा गया है कि प्रारम्भ में प्रजापति अकेले थे। अकेले रहने के कारण वे प्रसन्न नहीं थे। ध्यानमग्न होकर उन्होंने अनेक सत्ताओं को उत्पन्न किया। उन्होंने अपने को पाँच भागों में विभक्त किया जिन्हें प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान कहा जाता है। उपनिषद् कालीन ऋषियों ने वायु को अन्तरिक्ष का अध्यक्ष कहा है।[७] वैदिककालीन ऋषियों को

---

१. द्यां मा अभिलेखी: अन्तरिक्षं मा हिंसी: पृथिव्या सम्भव।
२. हे औषध्य: तव मूलं मा हिंसिषम्।
३. सूर्य: आत्मा जगत: तस्थुष: च।
४. नमो मात्रे पृथिव्यै 'आपो अस्मान् मातर: शुन्धयन्तु'।
५. सुमित्रिय: आप: ओषधयश्च न: ।
६. यथा वृक्षो वनस्पति स्तथैव पुरुषोऽमृषा।
तस्य लोमानि पर्णानि खगस्यो त्पाटिका बहि: ।
यद् बृक्षो वृक्णेंरोहति मलान्नवतर: पुन: ।
मर्त्य: स्विन्मृत्युना वृक्ण: कस्यान्मूलात् प्ररोहति।
७. वायुर्वा अन्तरिक्षस्याध्यक्ष: ।

ज्ञात था कि विशुद्ध और प्रदूषणरहित वायु स्वास्थ्य, प्रसन्नता और दीर्घ जीवन का स्रोत है। ऋग्वेद में ऋषियों ने कामना की है कि वायु अपने औषधीय गुणों के साथ प्रवाहित हो।

ऋग्वेदकालीन ऋषि जल के औघधीय गुणों से परिचित थे। ऋग्वेद में जल को समस्त औषधियों का आगार कहा गया है। ऋग्वेद में जल और मनुष्य के बीच माँ और पुत्र के बीच सम्बन्ध की तुलना की गई है।

आरण्यक ग्रन्थों में पर्यावरण की शुद्धता को ध्यान में रखते हुए जल में शौच करने का निषेध किया गया है। इसी प्रकार जल में नग्न स्नान का भी निषेध किया गया है क्योंकि जल में अग्नि की शक्ति निहित होती है। वैदिक ग्रन्थों में जल को गन्दगी दूर करने वाला तत्त्व माना गया है। इसके अतिरिक्त वैदिक ऋषि जल के औषधीय गुणों से भी परिचित थे।

कौटिल्य ने पर्यावरण के विभिन्न घटकों के संरक्षण पर वल दिया है। राजा का प्रमुख कर्त्तव्य वनों, वन्य जीवों, पशुओं आदि को संरक्षण प्रदान करना है। वाढ़, सूखा तथा मारक रोग की समस्याओं के निवारण का भी इस ग्रन्थ में प्रमुखता से उल्लेख किया गया है। कौटिल्य ने प्रकृति के सन्तुलन को नष्ट करने वालों के लिए दण्ड का विधान भी किया है।

पौधों और वृक्षों को भी भारतीय संस्कृति में पर्याप्त उच्च स्थान दिया गया है। ऋग्वेद में ही पौधों को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। पतंजलि के महाभाष्य में पौधों को भोजन, ऊर्जा, वस्त्र, आश्रय और औषधि का स्रोत माना गया है।[१] पौधों को औषधियुक्त भी माना गया है।[२]

महाभारत में पर्यावरण की शुद्धता और स्वच्छता की स्थापना पर विशेष बल दिया गया है। इसी क्रम में अशुद्धता और अस्वच्छता की निन्दा की गई है।[३] इसी ग्रन्थ में कहा गया है कि हमें अन्य जीवों के साथ शान्तिपूर्ण ढंग से रहना चाहिए तथा किसी भी जीव के प्रति पाप नहीं करना चाहिए।[४] महाभारत में कहा गया है कि दैवीय शक्तियाँ विश्व में सन्तुलन और सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास करती हैं जबकि आसुरी शक्तियाँ विश्व में असन्तुलन और विसंगति उत्पन्न करने का प्रयास करती हैं। इसी महाभारत में जीवन के प्रति समष्टिवादी दृष्टिकोण अपनाया गया है तथा कहा गया है कि जीवन केवल भौतिक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं है अपितु मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक क्षेत्र को भी अपने भीतर समाहित करता है। मनुष्य, पशु-पौधे, प्रकृति की शक्तियाँ, ईश्वर, नक्षत्र, पृथ्वी तथा अन्य ग्रह एक समष्टि के ही भाग हैं। महाभारत के अनुसार अच्छे समाज और स्वच्छ पर्यावरण के लिए मनुष्य को अपने जीवन को इस प्रकार व्यवस्थित करना चाहिए कि

१. महाभाष्य, ४.१.६४ पाककर्णपर्ण पुष्प फलमूल वालोत्तर पदाच्च।
२. वही १.२.४४ सुसस्या औषधी स्कृधि सुपिप्पला औषधी स्कृधि।
३. वही, अध्याय ९२ अशौचं मलिनत्वम् च शद्रा ह्येते प्रमीर्तिताः आश्वमेधिक।
४. वही, मा विघ्नं मा च मे पापं माच मे परिपन्थिनः।
ध्रुवो जयो मे नित्यं स्यात् परत्र च शुभागतिः॥

समाज के सभी सदस्यों के बीच आन्तरिक सामञ्जस्य स्थापित किया जा सके। आन्तरिक सामञ्जस्य से ही स्वस्थ पर्यावरण का निर्माण सम्भव है। वैश्विक व्यवस्था में यज्ञ की अवधारणा और लोक-संग्रह के आदर्श से भी पारिस्थितिकीय सन्तुलन स्थापित किया जा सकता है।

उत्तर महाभारत के ग्रन्थों-पञ्चतन्त्र और हितोपदेश में कहानियों के माध्यम से प्राकृतिक सन्तुलन का पाठ पढ़ाया गया है। 'जीवो जीवस्य भोजनम्' के द्वारा प्रकृति स्वयं अपना सन्तुलन स्थापित करती है। पक्षी अपना भोजन आकाश से प्राप्त करते हैं, पशु पृथ्वी पर अपना भोजन प्राप्त करते हैं; मछलियाँ जल में अपना भोजन प्राप्त करती हैं पर लालची मनुष्य सभी जगह अपने भोजन की तलाश करता है। 'जीओ और जीने दो' का सिद्धान्त सभी जीवों के सहअस्तित्व में विश्वास करता है। इसी कारण जैन और बौद्ध-दर्शनों में अहिंसा को सर्वोच्च धर्म माना गया है।

भारतीय दर्शन और संस्कृति में आध्यात्मिक दृष्टिकोण अपनाते हुए 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म' द्वारा प्रेम, बलिदान, सामञ्जस्य जैसे मूल्यों का प्रतिपादन किया गया है जहाँ मनुष्य और प्रकृति के बीच संघर्ष को समूल नष्ट कर दिया जाता है।

पारिस्थितिकी असंतुलन के निवारण के उपाय

पारिस्थितिकीय असंतुलन का मुख्य कारण हमारी भौतिकवादी दृष्टि, प्रयोगवादी मानसिकता, उपभोक्तावादी प्रवृत्ति तथा प्रकृति के सम्बन्ध में एकांगी दृष्टिकोण है। इस असन्तुलन के लिए स्वयं मनुष्य उत्तरदायी है, अतः इसका निवारण भी उसे ही करना होगा। बीसवीं शताब्दी की अतिशय वैज्ञानिक एवं प्रौद्योगिकी प्रगति ने मनुष्य की आध्यात्मिक दृष्टि को भ्रमित कर दिया है जिसके कारण मनुष्य और प्रकृति के पारस्परिक सम्बन्ध में प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। पहले प्रकृति को माँ का दर्जा प्राप्त था पर अब प्रकृति को माँ न कहकर दासी का दर्जा दिया जाता है। सच पूछा जाय तो मनुष्य और प्रकृति एक ही परम सत्ता के आन्तरिक और बाह्य फलक हैं। प्रकृति निरा जड़-पदार्थ नहीं है वरन् महान चेतन सत्ता की बाह्य अभिव्यक्ति है। प्रकृति के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण न रखने के कारण ही पारिस्थितिकीय संकट उत्पन्न हुआ है। आज प्रकृति का दोहन नहीं बल्कि शोषण हो रहा है। भारत की वह विचारधारा जिसमें प्रकृति को माँ मानकर सम्बोधित किया जाता था, आज आधुनिकता की दौड़ में ओझल कर दिया गया है। पश्चिम के अन्धाधुन्ध अनुकरण के कारण ही आधुनिक समय में पारिस्थितिकीय असन्तुलन और पर्यावरणीय संकट की समस्या हमारे समक्ष मुँह बाए खड़ी है। अतः वैज्ञानिक और औद्योगिकीय प्रगति के साथ मनुष्य यह भी सोचने को विवश हो चुका है कि किन उपायों के द्वारा पारिस्थितिकीय असन्तुलन का निवारण किया जा सकता है।

यदि मनुष्य की असीम महत्त्वाकांक्षा ने पर्यावरण में असन्तुलन उत्पन्न किया है तो वह अपनी बुद्धि के कौशल व चातुर्य का प्रयोग करके उसमें सन्तुलन भी स्थापित कर सकता है। मानव के उज्ज्वल भविष्य के लिए निम्न तथ्यों पर विचार करना आवश्यक है—

(१) चूँकि मनुष्य और प्रकृति एक ही परम तत्त्व के दो फलक हैं, अतः प्रकृति के साथ हमारा संवेदनशील सम्बन्ध होना चाहिए। प्रकृति हमारी विरोधी नहीं वरन् सहयोगी है।

(२) पर्यावरण के अनुरूप ही औद्योगिक तकनीकी का विकास और संवर्धन होना चाहिए।

(३) परिवार के प्रति नव-चेतना का विकास। बढ़ती जनसंख्या पर यथा सम्भव नियन्त्रण। यह नियन्त्रण कृत्रिम उपायों द्वारा न करके नैतिक और चारित्रिक नियमों के अनुपालन द्वारा किया जाना चाहिए जिससे पर्यावरण में असंतुलन न आ जाए।

(४) प्राकृतिक संसाधनों के शोषण के स्थान पर उसके दोहन की व्यवस्था होनी चाहिए। यह तभी सम्भव है जबकि राजनीतिक प्रतिस्पर्धा के स्थान पर राजनीतिक सहयोग स्थापित किया जाय।

(५) शिक्षा के माध्यम से प्रकृति के प्रति आध्यात्मिक दृष्टिकोण का विकास किया जाय। यह तभी सम्भव है जब प्रकृतिवादी शिक्षा का प्रचार व प्रसार किया जाय।

(६) औद्योगिक तकनीकी में इस प्रकार सुधार किया जाय कि प्रदूषण की मात्रा को निम्नतम स्तर पर लाया जा सके तथा अवशिष्टों का पुर्नप्रयोग सम्भव बनाया जा सके।

(७) महानगरों के विस्तार की अपेक्षा वाटिका-नगरों की स्थापना को प्रोत्साहित करना चाहिए जिससे कि पौधों की संख्या में वृद्धि किया जा सके तथा परिणामतः पर्यावरण में सुधार सम्भव हो सके।

(८) ऊर्जा संसाधनों का संरक्षण तथा वैकल्पिक साधनों का विकास होना चाहिए।

(९) भौतिकवादी और भोगवादी संस्कृति को त्याग कर आध्यात्मिक दृष्टिकोण को अपनाना चाहिए जिससे कि मनुष्य और प्रकृति के बीच पूर्ण सामंजस्य स्थापित हो सके।

(१०) विज्ञान विज्ञान के लिए न होकर मनुष्य के सुख-समृद्धि का साधन होना चाहिए। अर्थात् विज्ञान को मानवतावादी दृष्टिकोण अपनाना चाहिए।

(११) प्रत्येक मनुष्य को 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना से कार्य करना चाहिए जिसमें अधिकार की अपेक्षा कर्त्तव्य पर विशेष ध्यान दिया जाता है।

पर्यावरण के भयावह संकट से बचने के लिए संसार के सभी देशों का संकलित प्रयास होना चाहिए। इस संकट से जूझने में संयुक्त राष्ट्रसंघ की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। १९७२ में स्टॉकहोम में हुए सम्मेलन के बाद १९९२ में संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा **'पर्यावरण और विकास सम्मेलन'** आयोजित किया गया। इसे पृथ्वी सम्मेलन के नाम से भी जाना जाता है जिसमें पर्यावरण संरक्षण पर विशेष बल दिया गया। इसमें दुनिया के १७६ देशों की भागीदारी थी जिसमें पृथ्वी की गुणवत्ता की बहाली पर विशेष ध्यान दिया गया। इस सम्मेलन को निर्णय लेना था कि पर्यावरण की सुरक्षा के साथ भविष्य में किस प्रकार विकास की तकनीक अपनाई जाय जिससे कि पृथ्वी की गुणवत्ता सुरक्षित रहे।

उपर्युक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिए राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय हित को ध्यान में रखते हुए अनेक प्रस्ताव सर्वसम्मति से पारित किए गए जिनका सम्बन्ध पर्यावरण की गुणवत्ता

बनाए रखने के लिए प्रकृति और मानव-समाज के रिश्तों में सुधार लाना था। विचारार्थ प्रस्तुत प्रस्तावों में ऐसे तीन अहम् प्रस्ताव असहमति की परिधि में आ गए जिनका सम्बन्ध सम्पूर्ण मानवता से है—

(१) पृथ्वी की जैविक विविधता (Bio-diversity) के संरक्षण और परिरक्षण का प्रारूप।

(२) विकसित देशों की प्रौद्योगिकी का अन्य देशों विशेषकर विकासशील देशों में स्थानान्तरण की क्रिया-विधि और

(३) पर्यावरण उन्नयन और प्रबन्धन में विकसित देशों में उत्तरदायित्व वहन करने का प्रारूप। ऐसे अहम प्रश्नों पर परस्पर असहमति यह प्रदर्शित करती है कि अहंकार और स्वार्थ के वशीभूत होकर विकसित राष्ट्र विकासशील राष्ट्रों के साथ सद्भावना और सहानुभूति प्रकट करना नहीं चाहते। अभी भी राजनीतिक दाँव-पेंच के कारण वे विज्ञान को मानवतावादी दृष्टिकोण अपनाने से वंचित रखना चाहते हैं। अपने-अपने निजी स्वार्थों तथा पारस्परिक अविश्वास के कारण आज भी आणविक अस्त्र अप्रसार-सन्धि वर्षों से अधर में लटकी हुई है।

वास्तव में हमें पर्यावरण-संरक्षण के प्रयास के साथ विकास के लिए भी प्रयास करना चाहिए। प्राकृतिक संसाधनों का शोषण नहीं वरन् दोहन होना चाहिए। वनों का विनाश रोकना होगा। मनुष्य के लालच के कारण समुद्र न केवल प्रदूपित हुए हैं वरन् उनकी प्राकृतिक सम्पदा धीरे-धीरे नष्ट हो रही है। ओजोन परत के नाश के कारण वातावरण को गम्भीर खतरा बना हुआ है। आगे आने वाली पीढ़ी को क्या हम यही उत्तराधिकार प्रदान करेंगे।

निष्कर्षत:, हम कह सकते हैं कि विकास और पर्यावरण एक दूसरे के विरोधी नहीं बल्कि पूरक हैं। विकास और पर्यावरण के बीच कोई विरोध नहीं है। पर्यावरण प्रदूषित होने से विकास कार्यों की लागत बढ़ जाती है। **प्रदूषण नियन्त्रण द्वारा पर्यावरणीय मुद्दों को आर्थिक नीति से सम्बद्ध कर यह समस्या हल की जा सकती है।** मानव विकास और राष्ट्र की समृद्धि के लिए विकास और पर्यावरण दोनों ही आवश्यक हैं। एक संतुलित और स्वच्छ पर्यावरण के माध्यम से ही विकास की प्रक्रिया जारी रह सकती है। स्वच्छ वातावरण होने से प्रदूषण कम होगा जिससे बीमारी और दु:ख दूर होगा तथा उत्पादकता में वृद्धि होगी और विकास में गति आएगी। विकास और पर्यावरण की पारस्परिक निर्भरता के विषय में लोगों को प्रशिक्षित कर जागरूक बनाना होगा। विकास के लक्ष्यों को पूरा करने के लिए आर्थिक उदारीकरण की प्रक्रिया के सन्दर्भ में पारिस्थितिकीय आधुनिकीकरण को प्राकृतिक संसाधनों के दोहन, भौतिकवादी और उपभोक्तावादी संस्कृति के त्याग तथा ऊर्जा के सार्थक प्रयोग द्वारा सम्भव बनाया जा सकता है। उपर्युक्त लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए मानव और प्रकृति के बीच मैत्री भाव निहित होना चाहिए तथा मनुष्य के सभी कार्य **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** की भावना से प्रेरित होना चाहिए। तभी आत्म-संतोष प्राप्त किया जा सकता है।

●

अनुक्रमणिका



'समाज-दर्शन की भूमिका' हिन्दी में मौलिक रूप से लिखी गयी अपने विषय की प्रथम कृति है। सरल तथा प्रवाहपूर्ण शैली में लेखक ने इस कृति में समाज-दर्शन की प्रमुख समस्याओं एवं महत्त्वपूर्ण प्रवृत्तियों का ऐतिहासिक, वैज्ञानिक तथा मूल्यात्मक विवेचन प्रस्तुत किया है। समाज, परिवार, राज्य, सम्पत्ति, न्याय, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, सभ्यता, संस्कृति, धर्म इत्यादि समस्याओं की वैज्ञानिक एवं निष्पक्ष व्याख्या इस पुस्तक में है। इसी प्रकार पूँजीवाद, समाजवाद, साम्यवाद, गांधीवाद, एकात्म-मानववाद, व्यक्तिवाद, राष्ट्रवाद, अन्तर्राष्ट्रीयवाद, कट्टरवाद-उदारवाद, धार्मिक श्रेष्ठतावाद, धर्मनिरपेक्षतावाद, एक संस्कृतिवाद-बहुसंस्कृतिवाद इत्यादि विभिन्न सामाजिक विचारधाराओं का सम्यक्, निर्भीक एवं दार्शनिक विश्लेषण लेखक ने प्रस्तुत किया है। विद्वान् [illegible]खक का विचार है कि दार्शनिकों का काम केवल चिन्तन और मनन करना नहीं है वरन् उन्हें सक्रिय रूप से व्यावहारिक जीवन में भी प्रवेश करना [illegible] [illegible]ल परिवर्तन के संसार में सामाजिक तथ्यों एवं सामाजिक विचारधाराओं में जो परिवर्तन हुए हैं उनकी सम्यक् अभिव्यक्ति का प्रयास है। [illegible] एवं राजनीतिक समस्याओं के समाधान के लिए राजनीतिज्ञों पर [illegible]श्रित होना अविवेकपूर्ण कार्य होगा। इस प्रकार दर्शन-साहित्य में अपने ढंग [illegible] यह प्रथम मौलिक रचना है।

पुस्तक का मुख्य उद्देश्य भौतिकवादी विचारधारा का उच्छेदन एवं अध्यात्मवादी विचारधारा का समर्थन करना है। जगत् अन्ध भौतिक परमाणुओं की सृष्टि न होकर एक चेतन सृष्टि है। जीवन संघर्ष के मूल में परस्परावलम्बन व परस्पर-परकता परिव्याप्त है। जीवन से घृणा, हिंसा, द्वेष इत्यादि अस्वस्थ एवं विघटनात्मक प्रवृत्तियों का निर्मूलन कर उनके स्थान पर प्रेम, अहिंसा, सहयोग इत्यादि स्वस्थ एवं सृजनात्मक प्रवृत्तियों के आधार पर 'दिव्य जीवन' के उच्चादर्शों की स्थापना ही पुस्तक का लक्ष्य है।

यह पुस्तक दर्शन, समाजशास्त्र तथा राजनीतिशास्त्र के आई०ए०एस०, पी०सी०एस०, बी०ए० तथा एम०ए० छात्रों तथा अध्यापकों के लिए विशेष रूप से उपयोगी है।



विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी